दुःखमुक्ति की साधना

लक्ष्मीनारायण राठी बी. एस्सी.

१९८४

२८ मुकुंदनगर, पुणे ४११०३७

•

प्रकाशक :

श्री रामचंद्र राठी
ट्रस्टी, श्री जगन्नाथ राठी चॅरिटी ट्रस्ट,
२७ शंकरशेठ रोड,
पुणे ४११ ००९ (महाराष्ट्र)

•

बुद्ध पौर्णिमा
१५ मई १९८४
प्रथम संस्करण
प्रतिया १०००

मूल्य ५० रुपये

•

मुद्रक :

श्री सुरेश जगताप,
जनसेवा मुद्रणालय,
१९२, शुक्रवार पेठ,
पुणे ४११ ००२

दुःख-मुक्ति की साधना

चार आर्य-सत्य

(१) यह दुःख है—

—शारीरिक व्याधि एवं मानसिक पीडा।

(२) यह दुःख का कारण है—

—तृष्णा।

(३) यह दुःख का निरोध है—

—निर्वाण।

(४) यह दुःख-निरोध का मार्ग है—

—शील, समाधि, प्रज्ञा।

यही दुःख-मुक्ति का मार्ग है,

जो 'विपश्यना' साधना से साध्य है।

फिर से जागे धर्म जगत मे, फिर से होवे जन-कल्याण।

जागे जागे धर्म जगत मे, होवे होवे जन-कल्याण ।

राग द्वेष और मोह दूर हो, जागे शील समाधि ज्ञान ।

जन जन के दुखडे मिट जाएं, फिर से जाग उठे मुस्कान।

जागे जागे धर्म जगत मे, होवे होवे जन-कल्याण ।।

— पूज्य गुरुजी **श्री सत्यनारायणजी गोएन्का**

मेरी अपनी बात

१९७१ की बात है। पूना की हमारी फैक्टरी मे कर्मचारियो के साथ उनके वेतन और अन्य मागो के सबध मे पाच वर्षो के लिए एक करार हो चुका था। आगे शीघ्र ही इस करार का भंग कर उन्होने नयी युनियन के जरिए नयी वेतन-वृद्धि की तथा अन्य मागे उपस्थित की और हडताल पर जाने की तैयारी की। वातावरण तग बन गया। हम सभी मे अत्यधिक तनाव उत्पन्न हो गया। कर्मचारियो के गैर-जिम्मेदाराना वर्ताव के कारण मुझ मे भी क्रोध और अस्वस्थता उत्पन्न हुई। रक्तचाप बढ गया, नीन्द हराम हो गयी और चित्त बडा व्याकुल तथा बेचैन हो गया। अनन्तर मे आपसी लवाद नियुक्त हो कर यह हगामा समाप्त हुआ। फिर भी, अत्यधिक मानसिक अस्वस्थता तो बनी ही रही।

इसी दरमियान, मेरे मित्र श्री रामसुखजी मत्री बम्बई मे सपन्न 'विपश्यना साधना शिविर मे जाकर लौटे ही थे, तब उन्होने मुझ से पूना मे ऐसा ही एक शिविर लगाने की बात कही, तो मैंने भी इसे स्वीकृति दी। दिसबर १९७१ के अन्त मे पूना के समीप आलदी ग्राम मे शिविर आयोजित हुआ। विदेशी ७९ और भारतीय ७० ऐसे लगभग १४९ साधको का यह शिविर लगा था। दस दिनो के इस शिविर मे मैंने बडी लगन के साथ इस साधना का अभ्यास किया। शिविर के दसवे दिन के समापन पर पूज्य गुरुजी श्री गोएन्काजी के प्रति कृतज्ञता-भाव व्यक्त करने के लिए मै खडा हुआ और भाव-विभोर वक्तव्य मे मेरे मुह से यकायक निकल पडा 'मेरी मृत्यु हो गयी है और अब नया जन्म हुआ है।' बाद मे पूज्य गुरुजी से मैंने कहा कि ये उद्गार निकल पडे, जो मेरी समझ मे ही नही आया। तब पूज्य गुरुजी ने बताया, ' ठीक ही कहा है तुमने। पक्षी का जन्म प्रथम अडे के रूप मे हो कर फिर पक्षी जन्मता है, उसी प्रकार मनुष्य का भी पहला जन्म अज्ञान की खोल मे होता है और वह फटकर बाहर निकलता है तो प्रज्ञा के क्षेत्र मे जन्मता है।' शिविर मे प्राप्त विपश्यना साधना के अभ्यास से बडी प्रसन्नता मिली और उसके प्रति एक बडी प्रेरणा भी मन मे जाग उठी। मैंने अभ्यास की निरन्तरता बनाये रखी। छ माह तक लगातार हर महिने मे मैं डॉक्टरी परीक्षण करवाता रहा। मेरा रक्तचाप सामान्य हो गया, बेचैनी तथा व्याकुलता समाप्त हो गयी, कब्जीयत मिट गयी, चित्त मे शान्ति आने लगी और काम मे उत्साह बढने लगा। इस बाबत का डॉक्टरी रिपोर्ट 'विपश्यना' पत्रिका मे भी प्रकाशित हुआ है। साधना जीवन मे उतरने लगी और उसके अभ्यास मे उत्साह बढने लगा। प्रतिदिन सुबह—शाम एक एक घटा अभ्यास बना रहा और वर्ष मे एक दो शिविर भी होने लगे।

मार्च १९७६ मे पूज्य गुरुजी के लीव्हर का ऑपरेशन हुआ था । वे बीमार रहे थे। मैंने मई १९७६ मे एक माह का स्वय–शिविर लगाया था, जब कि इगतपुरी मे विद्यापीठ का निर्माण–कार्य हो ही रहा था । वहा झोपडियां बनी ही थी । चार छः विदेशी एव दो चार भारतीय साधक दस दस दिनो के स्वयं–शिविर लगा कर काम करते थे । पू गुरुजी बम्बई मे थे। मार्गदर्शक कोई नही था । प्रवचन की टेप हीं केवल थी। तभी पू गुरुजी का पत्र मिला, उसमे लिखा था कि पीडा का होना मंगलकारी है और मेरी समस्त मैत्री सतत तुम्हारे साथ है, अभ्यास मे लगे रहो। मैंने अभ्यास बनाये रखा । जैसे ही मै आगे बढा, असह्य पीडा निकलने लगी। मैं सहता रहा, जैसे बिना भूल दिये ही ऑपरेशन होने लगा हो। प्रतिदिन यह क्रम जारी रहा । अकेला था, बडी उदासीनता छा गयी थी । किन्तु मन मे अत्यंत दृढनिश्चय था और मैं अभ्यास मे लगा रहा। विद्यापीठ के व्यवस्थापक यह महसूस कर रहे थे कि मै शिविर अधूरा छोडकर शायद चला जाऊगा, इतनी अत्यधिक पीडा मैं भुगत रहा था। किन्तु ३० दिनो का शिविर पूरा करके ही मैं घर लौटा। घर पर मुझे इतनी थकान आ गयी थी कि नस नस दर्द कर रही थी, चलने को भी नही आ रहा था । असंख्य कर्म-सस्कारो की निर्जरा हुई। तब तो अभ्यास मे दैनिक मार्गदर्शन भी नही था और मैं अपने से ही जूझता रहा, मैं अपना ही गुरु था। आगे भी मै निरंतर अभ्यास मे लगा रहा, स्थूल प्रगति होती रही । किन्तु एक भी शिविर ऐसा नही गुजरा जिसमे मुझे आनद मिला हो. केवल पीडा का ही भुगतना होता रहा। ' अरे, इस साधना मे काहे का आनन्द है, इसमे तो दु ख ही दु ख भोगना पड रहा है।' फिर भी, मैंने अभ्यास नही छोडा।

साधना के अभ्यास के साथ साथ मैने पढने का काम भी बनाये रखा, लिखने का काम भी करता रहा। 'विपश्यना' साधना पर कोई साहित्य नहीं मिला। मन मे भाव जाग उठा कि इस साधना पर सामग्री एकत्र कर साधको के लिए एक ग्रन्थ का निर्माण होना लाभप्रद होगा। पढना और लिखने का काम जैसा भी हो, मै हर रोज रात्रि मे९बजे के बाद समय निकालता रहा । वर्ष पर वर्ष बीतते गये । अब कहीं यह ग्रन्थ छप कर तैयार हुआ है । यह एक अनमोल संग्रह है, साधको के लिए अति-उपयुक्त मार्गदर्शक है । इस के पथप्रदर्शन मे साधक अपने अभ्यास मे प्रगति-पथ पर अवश्य बढते रहेंगे ।

पू. गुरुजी से समय समय पर चर्चा करता रहा और मार्गदर्शन पाता रहा। अत्यधिक व्यस्तता के कारण इसकी पाडुलिपी देखने को उन्हे समय नही मिल सका । किन्तु उनकी मंगल कामना सदा साथ बनी रही ।

मेरा जन्म दि. २६ नवंबर १९१६ को अकोला (जि अहमदनगर) मे हुआ । बचपन के दस वर्ष यही पर पू. नानी के पास बीते । बाद मे पूना मे शिक्षा ग्रहण करते

हुए मैंने सन १९३९ मे वी एस्सी पदवी प्राप्त की और व्यवसाय-उद्योग में लग गया।

पूज्य पिताजी श्री जगन्नाथजी ने अपनी उम्र के १६ वे वर्ष मे कपडे का व्यवसाय प्रारम्भ किया था। पूजी पास मे नही थी। पू दादा—दादी वचपन में ही गुजर चुके थे। सन १९३९ मे मेरी पू माताजी का उम्र के ३५ वे वर्ष में निधन हो गया। इस समय पू. पिताजी की उम्र ४० वर्ष की थी, किन्तु उन्होने फिरसे विवाह नही किया। हम छः भाई और एक वहन है। पिताजी ने सभी को उच्च शिक्षा दिलाने का ही लक्ष्य रखा। मेरे भाई रामचद्र, रामविलास, वालकृष्ण, हरिनारायण और नारायणदास इन सभी ने उच्च शिक्षा सम्पन्न की है।

मेरे तीन पुत्र चि किशोर, मधुसूदन एव सुदर्शन तथा भतीजे चि. वसंत, विजयकुमार, प्रदीप और अजय इन सभी ने भी उच्च शिक्षा सम्पादन की और वे भी व्यवसाय-उद्योग मे सलग्न हो गये।

मेरा भाई डॉ. रामविलास सन १९४६ मे वी एस्सी. की पदवी ले कर उच्च शिक्षा के लिए अमरीका गये। वहा पर केमिकल इजिनियरिग मे पी. एचडी करके सन १९५० मे वे स्वदेश लौटे। सन १९५२ मे पूना मे 'सुदर्शन केमिकल इन्डस्ट्रीज लि.' स्थापित कर के रग एवं केमिकल्स का उत्पादन हमने प्रारम्भ किया। हमारे स्वयं के रुपये पांच हजार और रिश्तेदारो के रुपये ३५ हजार की पूजी से यह काम शुरू हुआ। हम सभी भाई जैसे जैसे शिक्षा-सम्पन्न होते गये, वैसे वैसे इसी व्यवसाय मे सलग्न होते गये। मेरे पुत्र एव भतीजे भी शिक्षा—सम्पन्न होने पर हमारे साथ ही काम मे लग गये। हमने सन १९७२ मे सुदर्शन केमिकल्स का और एक नया कारखाना रायगड जिला स्थित रोहा मे स्थापित किया। प्रारम्भ से ही वर्षप्रतिवर्ष कारोवार वढता रहा। आज पूना के एव रोहा के कारखानो की लागत पूजी पद्रह करोड की है। हम छः भाई, मेरे तीन पुत्र एव चार भतीजे, ऐसे १३ व्यक्तियो की टीम एकसाथ काम कर रही है। सुदर्शन केमिकल्स मे रग और केमिकल्स वनते है, ये भारत मे तो मशहूर है ही, विदेशो मे भी निर्यात होते है। इसके अलावा इजिनियरिंग का भी एक कारखाना कार्यरत है।

इस सारी प्रगति का श्रेय टीमवर्क को तो है ही, किन्तु विशेप रूप से भाई डॉ. रामविलास को है। परिवार को एकसाथ वान्धे रखने मे कडा अनुशासन एव आपसी स्नेह चाहिए, जो हमारे यहा वना रहा है। हम सभी विपश्यी साधक है और परिवार के सभी सदस्य भी विपश्यी साधक हैं। सभी मे वडा ही मेल है। निवास अलग अलग हैं, किन्तु काम सव का एकसाथ है, प्रगति-पथ पर अग्रसर है। विपश्यना साधना का भी जीवन मे उत्कर्पदायी प्रभाव है।

बचपन से ही मेरी धार्मिक प्रवृत्ति में लगन रही है। रामायण, महाभारत, भागवत, गीता, उपनिषद् आदि धर्मग्रन्थो का पठन-पाठन का अभ्यास रहा है। समाज-सेवा में भी रुचि रहकर संघ स्थापित करना, लोगो को विविध क्षेत्रो में आगे बढाना, समाज-सुधार मे सहभागी होना आदि कार्यों मे भी मै रस लेता रहा हू। वैसे ही, राष्ट्रीय सेवा-कार्यों में भी संलग्न रहा हू। सन १९४८ से १९७८ तक तीस वर्ष मैंने होमगार्ड्स् में सेवाए प्रदान की है।

सन १९७१ के बाद विविध कार्यों की जिम्मेदारी बढती गयी। सन १९७६ मे पू. पिताजी चल बसे। कारखाने के विकास का कार्य, अखिल भारतीय माहेश्वरी महासभा के सभापति-पद का भार, होमगार्ड मे डिस्ट्रिक्ट कमाडंट का भार और अन्य विविध क्षेत्रो का भार मैं एकसाथ वहन करता रहा और वह सफलतापूर्वक बनाये रखने मे 'विपश्यना' साधना के निरंतर अभ्यास से भी मुझे मनोबल मिलता रहा। इससे शान्त एवं संतुलित चित्त की अवस्था बनी रही और शारीरिक स्वास्थ्य भी ठीक बना रहा। जीवन में इस साधना का यह दृश्य फल अवश्य उपलब्ध हुआ।

सन १९६४ में ही मेरे पू. पिताजी ने 'जगन्नाथ राठी चॅरिटी ट्रस्ट' निर्माण किया था। इसी ट्रस्ट के मातहत रोहा में स्कूल, टेक्निकल स्कूल, पूना मे क्लिनिकल लॅबोरेटरी तथा अन्य सेवाकार्य संचालित है।

शुद्ध धर्म में सब का मंगल है, सब की स्वस्ति है, मुक्ति है। शुद्ध धर्म में सभी प्रवृत्त हों और अपना परम् कल्याण साधें, यही सद्भावना है।

'सुलक्ष्मी,'
२८ मुकुंदनगर,
पूना ४११०३७

— लक्ष्मीनारायण राठी

प्राक्कथन

मै कोई लेखक नही हूं, परन्तु परिस्थितियो वश यह पुस्तक तैयार करने का माध्यम वन गया हूं।

जव लोग पूज्य श्री. गोयन्काजी के 'विपश्यना' साधना के शिविरो मे सम्मिलित होते है, तो भगवान वुद्ध द्वारा सिखाये हुए शुद्ध धर्म से वहुत प्रभावित होते है। भगवान वुद्ध हमारे देश के एक महापुरुप थे, अत: उनके प्रति लगभग सभी भारतियों के मन मे एक पूज्य भाव है, परन्तु उनकी शिक्षा के वारे मे वहुत अनभिज्ञता है। आस्तिकवाद और नास्तिकवाद के मिथ्या जंजाल ने उनकी परम पावन शिक्षा के वारे मे लोगो के मन मे अनेक भ्रांतियां पैदा की है। मै स्वयं भी इस भ्रांति का शिकार था। अत. पहले शिविर के वाद ही मन मे यह तीव्र जिज्ञासा जागी कि भगवान वुद्ध की सही शिक्षा के वारे मे जो भी पुस्तके उपलव्ध हो उन्हे पढू। भगवान के उपदेश मूल पालि भाषा मे है। उन सव का हिन्दी अनुवाद प्राप्य नही है। जो भी अन्य पुस्तके उनकी शिक्षाओं के वारे मे वाद मे लिखी गयी है, पूज्य गोयन्काजी उन्हें पूर्णतया प्रामाणिक नही मानते। उनके कथनानुसार स्वय साधना किये विना कोई भी व्यक्ति वुद्धवाणी को यथाभूत नही समझ सकता। अधिकाश पुस्तके ऐसे पंडितो द्वारा लिखी गयी है, जिन्होने कभी स्वयं ऐसी साधना नही की है। पू. श्री. गोयन्काजी की व्यस्त दिनचर्या को देखते हुए यह आशा नही की जा सकती कि निकट भविष्य मे वुद्धवाणी पर वे स्वयं कोई अनुभवसिद्ध प्रामाणिक ग्रथ लिख पायेंगे।

दुसरी ओर, जैसे मेरे मन मे वुद्ध की शिक्षा पर कुछ पढने की जिज्ञासा जागी, वैसे ही अन्य अनेको के मन मे जागते हुए देख कर मैने यह निश्चय किया कि भले पूर्णतया प्रामाणिक न भी हो सके, परन्तु इस विषय मे थोडी–वहुत जानकारी देने वाली कोई तो पुस्तक पाठको को मिलनी चाहिए। अत:, जो भी साहित्य उपलव्ध हो सका, उसे पढ कर और अनेक स्थानो के उद्धरण एकत्र करके उनमे पू. श्री गोयन्काजी के लेखो और प्रवचनो के भी लम्वे उद्धरण जोड कर मुझ से जेसे भी वन पडा, पाठकों की जिज्ञासा-पूर्ति के लिए यह सकलन तैयार किया है। सुधी पाठक इसे न तो वुद्ध की शिक्षा का और न ही विपश्यना साधना का कोई प्रामाणिक ग्रंथ माने। वहुत सभव है कि इसमे ऐसे विवरण भी आये हो जो कि

बुद्ध-शिक्षा के पूर्णतया अनुकूल न हो। अत: पाठक इस पुस्तक को केवल प्रारंभिक जानकारी के लिये ही पढे। आशा करते हैं कि भविष्य मे कोई मेधावी अनुभवी साधक बुद्धवाणी का शोधन करके कोई प्रामाणिक ग्रंथ लिखे, जिससे लोगो की सही जिज्ञासा-पूर्ति होकर जनकल्याण का कार्य सिद्ध हो।

नाम परिवर्तन

इस ग्रथ का नाम पहले 'विपश्यना साधना' रखने का निश्चित किया गया था, लेकिन विपश्यना यह शब्द अभी जनसाधारण मे इतना प्रचलित नही हुआ है।

इस साधना का प्रमुख्य लक्ष्य है दु.खो से मुक्ति। अत· यह उचित समझा गया कि इस ग्रथ का नाम 'दु·ख-मुक्ति की साधना' रखा जाए, जिससे लोगो को इस साधना का स्पष्ट आशय समझने मे आसानी होगी। यह नाम सरल, सुबोध एव अर्थपूर्ण भी है। इसलिए इसका नाम 'विपश्यना साधना' के बजाय 'दु.ख मुक्ति की साधना' रखना अधिक उपयुक्त समझकर नाम मे परिवर्तन किया गया है।

विनीत

लक्ष्मीनारायण राठी

भूमिका

"आदि मे कल्याणकारी, मध्य मे कल्याणकारी, अन्त में कल्याणकारी।"

कोई भी मनुष्य दुःख नही चाहता। सभी सुख ही सुख चाहते है और सुख-प्राप्ति के लिए विना रुके दौड लगा रहे हैं। किन्तु सुख तो क्षितिज के जैसा आगे आगे ही सरकता है और सुख-प्राप्ति के अथक् परिश्रमो के वावजूद भी दु ख ही दु.ख भोगना पडता है। मनुष्य नही सोचता कि वह सचमुच मे क्या कर रहा है, जीवन का सही लक्ष्य क्या है। सुख-प्राप्ति की एव भोगने की उसकी तीव्र लालसा एक मीठा, मादक नशा है और इसी नशे मे सारा जीवन वह विता देता है। किसी मित्र या प्रिय व्यक्ति के मरने पर वह स्मशानघाट जाता है, आसू वहा लेता है, क्षण भर के लिए उसमे वैराग्य भी जाग उठता है, किन्तु फिर से वह इस ससारचक्र मे उलझ ही जाता है। मुझे भी इसी प्रकार एक दिन मृत्यु आने वाली है, यह विचार ही उसे तीव्रता के साथ उत्पन्न नही होता। उर्वरित आयु का सदुपयोग इस जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा पाने के लिए, इस दु.खमय ससारसागर से मुक्ति के उपाय के लिए अथक् प्रयास मे लगाना चाहिए, यह समझ मनुष्य के चित्त की गहराई मे उतरती ही नही। फिर से लग जाता है वह अपने परिवार के भरण-पोपण मे, व्यवसाय मे और धन जुटाने मे तथा पद, प्रतिष्ठा और अधिकार प्राप्त करने मे, जिसका कभी कोई अन्त ही नही है।

आज के इस वैज्ञानिक और यत्र-तत्र युग मे 'समय' नाम की चीज ही अत्यत दुर्लभ हो गयी है। प्रात काल से सायकाल तक मनुष्य इतना व्यस्त, इतना व्यस्त रहता है, इतनी दौड, इतनी दौड लगाता रहता है, जिसका कही अन्त नही है। एक इच्छा, वासना या तृष्णा की पूर्तता होती नही कि तुरत दूसरी जाग उठती है। लगातार एक के वाद एक, अनेक तृष्णाएँ जागती ही रहती है। 'तृष्णा तो जागती ही रहनी चाहिए' यह उसके जीवन मे एक व्यसन हो जाता है, भले ही वह अपने परिवार के लिए चीजे जुटाने मे हो, या खानेपीने मे हो, या साधन-सामग्री प्राप्त करने मे हो, या कोई सुख-सुविधा मिलाने मे हो, या यातायात के लिए वाहन मिलाने मे हो, या निवास के लिए फ्लॅट, घर, वगला, वाग-वगीचा निर्माण करने मे हो; या व्यवसाय-उद्योग वढाने मे हो, या सपत्ति का सग्रह करने मे हो, या नेता, मत्री, अध्यक्ष, मठाधीश वनने मे हो; या पद, प्रतिष्ठा, कीर्ति, वैभव, ऐश्वर्य सपादन करने मे हो, या स्कूल, रुग्णालय आदि सेवाकार्य के जरिए अह जगाते रहने मे हो, मनुष्य सारा जीवन इन्हीमे व्यतीत कर देता है। वह स्वस्थ हुआ तो इनके लिए भाग-दौड और रुग्ण

हुआ तो रोग के इलाज के लिए भाग दौड ! घर-गृहस्थी, वच्चो का लालन-पालन, मातापिता, पत्नी आदि की देखभाल के लिए वह सघर्ष करता ही रहता है। कहाँ फुरसत है ? उसे सुरक्षा भी तो नही है, कव कौनसा संकट आ खडा होगा ! धन की चोरी हो जायगी, हत्यारा खडा हो जायगा, कानूनी कार्यवाही खडी हो जायगी, व्यापार-धंधा डूब जायगा, नौकरी चली जायगी, प्रिय व्यक्ति मर जायगा, व्याधि से जर्जरित हो जायगा, मनुष्य कुछ भी तो नही जानता। वह सघर्ष चलता ही रहता है, दु.खो से पीडित ही रहता है और सुख की तीव्र लालसा उसे वनी ही रहती है।

व्यापार, उद्योग, व्यवसाय मे भी मनुष्य की इतनी व्यस्तता वनी रहती है, इतनी उथलपुथल वनी रहती है कि हर क्षण उसमे तनाव ही तनाव, भय ही भय, चिंता ही चिंता का उत्पाद होते रहता है। सारी ट्रेने, वसे आदि भीड से भरी जा रही है। अरे ! ये सभी लोग कहाँ भागदौड लगा रहे है ? वे स्वयं अपनी ही इस सच्चाई को नही जान रहे है !

चाहते सभी है कि जीवन सुखपूर्वक जिएँ, किन्तु सभी के पल्ले दु ख, सन्ताप, तनाव, भय, व्याधि और सघर्ष ही पडता है। हर एक को यही तो अनुभव है।

जीवन सुख से जीने के लिए है, किन्तु मनुष्य के पास इसके चिंतन के लिए भी समय कहाँ है ? मनुष्य मानसिक एव शारीरिक व्यथाओ से स्वय तो ग्रस्त है ही, अपितु परिवार के, समाज के और राष्ट्र के भी सभी लोग त्रस्त है। और फिर, इस व्याकुल अवस्था मे मानव भागता है देवी-देवताओ के मन्दिर, पाठ-पूजा, तीर्थयात्रा और उपवास के पीछे और चमत्कार दिखाने वाले साधु-सन्यासी के पास। उसे चाह उत्पन्न होती है कि वह कुछ योगाभ्यास करे, आध्यात्मिक अभ्यास करे, दर्शनशास्त्र पढे, धर्मग्रन्थो को देखे और इसी प्रकार के वुद्धिविलास और वुद्धि-किलोल मे वह फंसा जाता है। तव उसे आभास हो जाता है कि उसने वहुत कुछ पा लिया है। मनुष्य जानता ही नही कि वह कर्मसस्कारो के कितने ढेर लगा रहा है और भुगतता भी रहा है। कहाँ है छुटकारा इस दु खचक्र से ? कहाँ है छुटकारा इस जन्म-मरण के चक्र से ? कहाँ है छुटकारा इस दु खसागर ससार से ? कहाँ है छुटकारा इस दु ख-दलदल से ? जैसे जैसे वह उसके वाहर निकलना चाहता है, वैसे वैसे वह अन्दर ही अन्दर धसता जाता है। न जाने आगे मनुष्य-जन्म मिलेगा या नही, और नही मिला तो फिर, अनेको जन्म पशु, पक्षी, प्रेत-पिशाच्च आदि अधोगति की योनियो में अविरत भुगतना ही उसके लिए अनिवार्य होता है।

मनुष्य-जन्म वडा दुर्लभ है। मनुष्य-जन्म मे ही परम श्रेयस्, कल्याण के साधन उपलब्ध है। इसे हमे व्यर्थ खोना नही चाहिए। पाप अति प्रवल होता है और पुण्य वहुत दुर्वल होता है। किञ्चित् भी पुण्य यदि जाग जाय, तो प्रवल पाप पर मनुष्य

विजय प्राप्त कर सकता है। इसीका प्रयास तीव्र लगन के साथ करना हमे श्रेयस्कर है, जो कि हमें मुक्ति के मार्ग पर ले जाता है।

आज तो वैज्ञानिक-सशोधनो की गति इतनी तेज है कि मनुष्य इसको पकड पाने मे असमर्थ हो रहा है। आधुनिक विज्ञान के और तत्वज्ञान के अमाप गति से हो रहे अनुसन्धान से मनुष्य चकरा गया है। आज जो चीज नयी दीखती है, आकर्षक और उपयुक्त प्रतीत होती है, उसका स्थान दूसरी नयी चीजे, जो कि अधिक सुन्दर, आकर्षक तथा तृष्णा पैदा करने वाली हैं, शीघ्र ले रही हैं। बदलती परिस्थितियों में व्यवसाय-उद्योग भी चलाये रखना कठिन हो रहा है। नये नये तरीके, नये नये उत्पादन, नयी नयी उद्योग-क्षमता, नयी नयी मशिनरी यदि अपनायी नही जाय, तो व्यवसाय ठप हो जाय और दुनिया आगे बढ जाय, ऐसी उलझती परिस्थितियाँ आज हमारे सन्मुख हैं। परिणामस्वरूप, मनुष्य संघर्षमय स्थिति से गुजर रहा है और वह मानसिक तनाव, भय, चिता का अधिकाधिक शिकार बनता जा रहा है। कहाँ शान्ति है?

अमरीका मे अभी अभी मेडिकल रीसर्च असोसिएशन ने अनेक अस्पतालो मे रुग्णो की जाँच करके निष्कर्ष निकाला है कि ७५ प्रतिशत रुग्ण मनोविकारो से ग्रस्त हैं।

हृदयरोग, रक्तचाप, नसों मे तनाव-खिचाव, साधो मे दर्द, पीठ मे, गर्दन मे, कमर मे तनाव व दर्द, सिरदर्द, मायग्रेन, पेट मे कब्जीयत, अल्सर, त्वचा-रोग, आदि आदि विकार मनुष्य के चित्त मे उत्पन्न होने वाले क्रोध, द्वेष, ईर्ष्या, मत्सर, लोभ, मद, मोह, आसक्ति, तीव्र लालसा, भय, कामवासना, अहकार, प्रति-द्वद्विता आदि कारणो से उत्पन्न होते रहते हैं, बढते रहते हैं और मनुष्य मानसिक तथा शारीरिक सतुलन खो बैठता है तथा मनोरोग का शिकार हो जाता है। वह स्वय भी दुःखी होता है और अपने इर्दगिर्द के सभी को दुःख ही बाटता है। वह यह नही जानता कि ये रोग अपने ही मनोविकारो से उत्पन्न हुए हैं। वह डॉक्टरो के पास जा कर अपने ही रोगो की अलग अलग जाँच करवाता रहता है, दवाइया लेते रहता है और धन का नाश करता ही रहता है। डॉक्टर भी इसकी सही स्थिति को नही जानता और निष्फल इलाज करता रहता है। फलत, रोग दबते रहते हैं जो पुनरपि उभरते रहते हैं। इस तरह, उसका सारा जीवन ही दुखदर्द से भरा रहता है।

अभी इस शताब्दी मे विज्ञान ने जो अजोड और अमूल्य प्रगति सूक्ष्म परमाणु क्षेत्र (Sub-atomic particle world) मे की है, इसमे वह इस सच्चाई तक पहुँचा है कि भौतिक जगत् मे सभी वस्तु, स्थिति, घटना, अवस्था, प्राणी तथा व्यक्ति केवल तरङ्ग ही तरङ्ग मात्र है, ठोस कुछ भी नही है। जगत् मे सारा तरङ्गों का ही तरङ्गो का जाल बना हुआ है, यहाँ अलग कहने को या समझने को कुछ है ही नही। आज २०वी शताब्दी मे वैज्ञानिको ने अपनी प्रयोगशालाओ में तरङ्गो का यह आश्चर्य-

जनक सशोधन करके ही ग्रहो तक पहुँचने मे सफलता प्राप्त की है। प्राणी-जगत् के लिए कल्पनातीत अनगिनत सुख-सुविधाएँ उत्पन्न करने में वे यशस्वी ही वने नही, अपितु साथ ही साथ विध्वसक साधन भी वनाने की होड मे वे संलग्न हो गये हैं। यह चितनीय स्थिति कहाँ जा कर पहुँचेगी, इसकी कल्पना करना ही असम्भव है। सर्वनाश की शक्ति अवश्य एकत्र हो रही है।

यह तो हुआ आज के वैज्ञानिक-प्रयोगशालाओ के कल्पनातीत सशोधन, किन्तु भगवान वुद्ध ने अपने ही चित्त की समाधि की प्रयोगशाला मे रूप की, चित्त की, चैतसिक वृत्तियो की सूक्ष्मतम सच्चाई तक के साक्षात्कार मे, जो कि केवल सूक्ष्म सूक्ष्म तरङ्गे ही तरङ्गे मात्र है, इसके भी परे इन्द्रियातीत निर्वाण का, परम सत्य का साक्षात्कार कर लिया था और 'विपश्यना' साधना को उन्होने खोज निकाला। यही दु ख-मुक्ति की, परम सत्य तक पहुँचने की, इस भवसागर के जन्ममरण-चक्र से वाहर निकलने की अनमोल, अनूठी साधना है। मनुष्य को अपनी प्रगति के लिए वैज्ञानिक-प्रयोगशाला की आवश्यकता है और चित्त की 'विपश्यना' प्रयोगशाला की भी उसे आवश्यकता है। दोनो ही एक दूसरे से जुडे हुए है और महत्व रखते है।

हम यह नही कहते कि सुख है ही नही। हम वीच-वीच मे ऊपर ऊपर सुख अवश्य भोगते है, किन्तु उसके भीतर दु ख का ही वीज समाया हुआ हे, यह हम नही जानते। और फिर, सुख की घडियाँ तो वीत जाती है, फिर हमे लगता है कि ऐसा सुख तो वना ही रहना चाहिए, जिसे पुनरपि प्राप्त करने के पीछे हम अविश्रात प्रयास करते ही रहते है और फिर से दु ख भोगते ही रहते है। हम यह भी नही कहते कि दु ख आये तो हमे रोते ही वैठना है। नही, नही ! दु ख की स्थिति मे हमे सजग हो उठना है, भोक्ताभाव को छोडकर साक्षीभाव को लाना है और जानना भी है कि यह दु ख हमारे किसी पूर्वसचित कर्म-सस्कारो का ही फल है। किन्ही दूसरो को दोप देकर हमे क्रोध और द्वेप को कतई नही जगाना है, अन्यथा नये कर्म-सस्कारो का ढेर लगाने का काम हो जायगा और इनको भी भविष्य मे भुगते विना छुटकारा नही होगा। इस प्रकार, हम लगेंगे दु खचक्र मे वन्धने और करने लगेंगे अपना ही वहुत अहित !

इसलिए, ऐसी विद्या हमारे हाथ आ जाय, जिससे हमारे नये सस्कार तो वने नही और जन्म-जन्मो के पुराने सस्कार भी क्षीण होते चले जाय, हमे सही माने में शान्ति की उपलब्धि हो जाय। हम यदि चित्त सतुलित रख सके, तो अपने दैनदिन आपत्ति मे और उलझनो मे सही निर्णय ले सकेंगे। अन्यथा, गलत निर्णय लेकर हम आपत्ति को ही वढाने का काम करते रहेंगे, यह हमे ठीक से समझ लेना चाहिए।

यह काम इतना सरल भी नही है और सहज-साध्य भी नही है। मनुष्य शान्ति के लिए चित्त की एकाग्रता के अभ्यास का प्रयास कभी कभी करता है। वह किसी

मंत्र का जप करता है, या फिर, किसी रूप या आकृति का या अपनी इष्ट देवी-देवता का ध्यान करने लगता है । तव कुछ समय के लिए उसके ऊपरी ऊपरी चेतन-चित्त पर कुछ शान्ति प्राप्त होती है । फलत चित्त स्थिर भी होता है, भले ही १५ मिनट ही क्यो न हो । इस प्रकार के ध्यान द्वारा वह त्वरित शान्ति मिलाने का उपाय अवश्य खोजता है । सारे जगत् मे ऐसे योगाभ्यास के, ध्यान के नानाविध मार्ग और उपाय चल ही रहे है और लोग उनके पीछे भागदौड कर ही रहे है । ये योगाभ्यास और ध्यान कुछ अवधि के लिए भले ही चित्त को शान्त करने का उपाय हो सकता है, परतु वे अन्तर्मन की गहराई मे जाकर सञ्चित कर्म-सस्कारो को उखाड फेकने मे समर्थ नही होते, केवल उन पर एक मीठा सा आवरण छा जाता है, जिससे अभ्यासक को वडा आनन्द सा जान पडता है । अपितु, जव तक सचित कर्म-संस्कार भरे पड़े है, तव तक विकार तो जागते ही रहेंगे और दु ख उत्पन्न होता ही रहेगा । इसलिए, इन सञ्चित कर्म-सस्कारो को उखाड फेकने की विधि हाथ आनी चाहिए । केवल चित्त की एकाग्रता से और अस्थायी शान्ति से काम नही वनता ।

ऐसी चित्त-शुद्धि प्राप्त होती रहे, जिससे सही माने मे चित्त-शान्ति अपने आप वढती रहे, नये कर्म-सस्कार बनें नही और पुराने सस्कार क्षीण होते जाय । और यह, विपश्यना साधना से ही सहज साध्य है । इसमे शील-सदाचार का अभ्यास है, सम्यक् समाधि द्वारा अर्थात् अपने ही स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास के राग-द्वेष-विहीन आलम्बन से चित्त की एकाग्रता का अभ्यास है और प्रज्ञा द्वारा अन्तर्मुखी होकर यथाभूत दर्शन अर्थात् स्थूल सच्चाई से लेकर अन्तिम सच्चाई तक साक्षीभाव से दर्शन का अभ्यास है । यह शरीर की, चित्त की एव चैतसिक वृत्तियो की अन्तिम सच्चाई तक और इसके परे इन्द्रियातीत निर्वाण के साक्षात्कार तक पहुचने का आर्य-अष्टाङगिक मार्ग है । इस तरह, चित्तशुद्धि के इस अभ्यास से, असीम मैत्री, असीम करुणा, असीम मुदिता और असीम समता से चित्त भरने लग जाता है ।

जीवन मे ऐसा अनमोल विद्यारत्न 'विपश्यना' साधना के अभ्यास से ही प्राप्त हो सकता है तथा दस दिनो के प्रथम शिविर मे ही इसकी स्वानुभूति होने लगती है।

यह अनमोल विद्या भगवान गौतम वुद्ध ने अपने अनेक जन्मो की तपश्चर्या से, अपने कठोर तप के साक्षात्कार से २५०० वर्षो के पूर्व पुनश्च खोज निकाली और उन्होने सारे विश्व को शान्ति का मार्ग दिखा दिया है ।

भगवान वुद्ध के परिनिर्वाण के लगभग ५०० वर्षो तक यह विद्या भारत मे शुद्ध रूप में चलती रही और वाद मे लुप्त हो गयी । परतु पडोसी वर्मा देश मे यह विद्या उसी शुद्ध रूप मे गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा गत २५०० वर्षो से जतन की गयी है । भगवान वुद्ध के २५०० वर्ष वाद यह विद्या फिर से सारे विश्व मे फैलेगी, इस

मान्यता के अनुसार वर्मा मे सारी जनता को यह विद्या खुले रूप मे देने का कार्य प्रारम्भ हो गया है। भारत के श्री सत्यनारायणजी गोएन्का, जिनका जन्म वर्मा में हुआ था और जो वडे प्रतिभाशाली, सफल व्यवसायी, उद्योगपति एव दानशूर रहे हैं, उन्होंने इस विद्या को शुद्ध रूप में आचार्य सयाजी ऊ वा खिन से सन १९५५ में प्राप्त की और इसमे पारंगत होकर सन १९६९ मे वे भारत आये। वे यहाँ पर दस दस दिनो के शिविर लगाते रहे हैं और इस विद्या का लाभ अनेक लोगो को मिलने लगा है। भारतीय तो क्या, अनेक विदेशो के लोग भी यहाँ आ कर इस विद्या का लाभ उठाने लगे है। अव तो विदेशो मे भी अनेक स्थानो मे शिविर लगने लगे है। इसका विवरण इस ग्रन्थ के 'परिचय दर्शन' विभाग में दिया गया है।

गत १४ वर्षो से लोग हजारो की सख्या मे 'विपश्यना' साधना के शिविरों मे सम्मिलित होकर इस साधना के अभ्यास मे लगे है। साधको को इस साधना के विभिन्न विषयो को जानने की सहज उत्सुकता तो प्रारम्भ से ही होने लगी थी, किन्तु इसका ऐसा सग्रहित साहित्य अभी तक उपलब्ध नही था। इस तीव्र उत्सुकता को महसूस करके ऐसे ग्रन्थ के निर्माण की भावना मेरे मन मे कुछ वर्षो से जाग उठी और मैने ऐसी उपयुक्त सामग्री एकत्र कर लिखना प्रारम्भ किया। मैंने पहला शिविर दिसम्वर १९७१ मे लिया था और तव से मै निरन्तर इस अभ्यास मे रत रहा हूँ तथा अपनी अनुभूति मे उतारता रहा हूँ। इस ग्रन्थ के लिखने का कार्य अपनी अनुभूति के साथ साथ हुआ हे। इस ग्रन्थ के लेखन का कार्य मै लगभग तीन वर्षो से करता रहा हूं और अव यह निर्माण-कार्य पूरा हुआ है। यह ग्रन्थ साधको की जिज्ञासापूर्ति के विविध अंगो को भी सही रूप मे समझने के लिए और अपनी अन्तर्मुखी प्रगति के लिए अवश्य सहायभूत होगा, ऐसा मुझे विश्वास है।

ग्रन्थ–संदर्भ

इस ग्रन्थ-लेखन मे सुत्त पिटक के दीघ निकाय, मज्झिम निकाय, संयुत्त निकाय; अंगुत्तर निकाय एवं खुद्दक निकाय तथा अभिधम्म पिटक का आधार एवं उद्धरण लिये है। इनके हिन्दी अनुवाद राहुल साकृत्यायन, भिक्षु धर्मरक्षित, भदन्त आनन्द कौसल्यायन और भदन्त रेवत धम्म ने किये है, जिनका यथावश्यक उपयोग किया गया है। विशुद्धि मग्ग का अनुवाद भिक्षु धर्मरक्षित ने किया है, उसका भी उपयोगा किया गया है। अभिधम्मत्थ सग्रहो का अनुवाद भदन्त रेवतधम्म ने किया है, जिसका अच्छा उपयोग किया है। राहुल सांकृत्यायन द्वारा बुद्धचर्या का हिन्दी अनुवाद का भी ठीक उपयोग हुआ है। आचार्य नरेन्द्रदेव कृत बौद्धधर्म दर्शन का भी वहुत उपयोग किया है। इनकी हिन्दी भाषा अस्खलित और आकर्षक है और इसके भी उद्धरण दिये है।

'The Tao of physics' by Fritjof Capra, ' The Doctrine of Patticcasamuppada,' by U Than Daing and ' Physical Chemistry' by Walter J. Moore ' इन ग्रंथो का भी वहुत उपयोग हुआ है। अन्य अनेक ग्रन्थो का भी आधार एवं उपयोग जो किया गया है, उनकी सूचि इस ग्रन्थ के अन्त मे परिशिष्ट १ मे दी गयी है।

प्रमुखत. तो पूज्य गुरुजी गोएन्काजी के शिविरो मे होने वाले प्रवचन, ' विपश्यना' पत्रिका मे प्रकाशित उनके उद्‌वोधन एवं उनसे प्रत्यक्षत. हुई चर्चा का पूरा उपयोग इस ग्रन्थ मे किया गया है, जो अत्यत ही महत्वपूर्ण है।

इस ग्रन्थ मे जो भी विवेचन और सग्रह हुआ है, वह साधको की केवल जिज्ञासा-पूर्ति के लिए ही है, न कि इसको पढ कर विना शिविर लिए ही साधना सीखने का अभ्यास करने लग जाय। साधना सीखने के लिए तो शिविर मे सम्मिलित होना परमावश्यक है। यह ग्रन्थ तो साधना को ठीक प्रकार समझने के लिए है।

इस ग्रन्थ मे जो भी प्रतिपादन किया गया है, वह आज की अनुभूति के आधार पर है। हो सकता है कि इसमे आगे चलकर कही विशेप रूप से स्पष्टीकरण की आवश्यकता महसूस हो जाय या कुछ वदल भी हो जाय। पाठक इस वात को अवश्य ध्यान मे रखे।

पूज्य गुरुजी गोएन्काजी को इस ग्रन्थ के लेखन का समीक्षण करने को, उनकी अति-व्यस्तता के कारण, समय नही मिल सका। मैने समय समय पर उनसे समक्ष मिल कर विविध अंगो पर चर्चा करके स्पष्टीकरण प्राप्त किया है।

वौद्ध धर्म एवं दर्शन का स्पष्टीकरण

आज वौद्ध धर्म एव दर्शन तो एक सन्प्रदाय-धर्म वन गया है और लोगो मे इसी नाम से एक अलग धर्म प्रचलित हुआ है।

वास्तव मे भगवान वुद्ध ने ऐसा कोई सम्प्रदाय-धर्म का निर्माण नही किया था और न उसका कोई दर्शन स्थापित किया था। पाठको को यह स्पष्टीकरण समझ लेना आवश्यक है।

जो भी व्यक्ति सम्यक् सम्वोधि प्राप्त कर 'वुद्ध' हो जाता है, वह कभी कोई सम्प्रदाय स्थापित नही करता। वह लोगो को केवल शुद्ध धर्म ही सिखाता है और शुद्ध धर्म कभी साम्प्रदायिक नही होता। शुद्ध धर्म केवल सार्वजनीन, सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक होता है।

कालान्तर मे लोग वुद्ध की ऐसी सार्वजनीन धर्मशिक्षा के व्यवहार से च्युत

हो जाते हैं, तो वे उसका सार खो वैठते है और उसे एक या अनेक सम्प्रदायों का रूप दे देते हैं। तो फिर, शुद्ध धर्म वौद्ध धर्म के नाम से पुकारा जाने लगता है।

इसी प्रकार जव कोई व्यक्ति 'वुद्ध' वनता है, तो अपनी ओर से कोई साम्प्रदायिक दर्शन नही स्थापित करता। वह सभी दर्शनो (Philosophy) को मिथ्या-दृष्टि ही मानता हे, क्योकि वे कल्पनाओ पर आधारित होते है, स्वानुभूतियो पर नही। सम्यक् सम्वुद्ध सम्यक् दर्शन सिखाता है, जो कि कल्पनाओ पर आधारित नही है, अपितु स्वानुभूतियो पर ही आधारित होता है और स्वानुभूतियो पर आधारित ही 'सत्य' होता है। ऐसा सम्यक् दर्शन शुद्ध धर्म की तरह साम्प्रदायिक न होकर सार्वजनीन, सार्वदेशिक एव सार्वकालिक होता है। अनुभूतियो वाले सम्यक् दर्शन का अभ्यास जव लुप्त हो जाता है, तो वुद्ध की वाणी के आधार पर माने गये दर्शन को वौद्धदर्शन का नाम दिया जाने लगा, जो कि भ्रामक ही है।

पिछले अनेक शताब्दियो से वुद्ध की सम्प्रदाय-विहीन शिक्षा को वौद्ध धर्म और वौद्धदर्शन की संज्ञा दिये जाने के कारण इसने एक सम्प्रदाय का रूप ले लिया है, जो कि वुद्ध की वास्तविक शिक्षा के विपरीत है।

इस ग्रन्थ के निर्माण-काल मे समयाभाव के कारण परम्परा के प्रभाव में कही ऐसे शव्दो का प्रयोग हो गया हो अथवा किसी कथन मे साम्प्रदायिकता का आभास भी होता हो, तो सूज्ञ पाठकगण उसे सही परिप्रेक्ष्य मे समझने की कृपा करेंगे।

आभार

इस ग्रन्थ के निर्माण मे भाषा-शुद्धि, तीन-तीन, चार-चार वार प्रुफ-रीडिंग आदि कार्य मेरी व्यस्तता के कारण मेरे लिए वहुत ही कठिन था। किन्तु, मेरे साथी और सहयोगी साधक-मित्र पूना के श्री रामसुखजी मन्त्री एव श्री माणकचंदजी कावरा इन्होंने अत्यत आत्मीयता से इस परिश्रम-साध्य कार्य को कुशलता पूर्वक सम्भाला। उनकी इस मैत्रीपूर्ण भावना एव अथक् प्रयास के लिए मै सचमुच उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ। वैसे ही, डॉ ज. र. जोशी, जो पुणे विद्यापीठ के सस्कृत तथा प्राकृत भाषा-विभाग मे पालि भाषा के पदव्युत्तर अध्यापन और सशोधन का कार्य संभालते है, इन्होंने इस ग्रन्थ मे पालि भाषा का शुद्धिकरण मेरे हस्तलिखित सभी फाईल पढ कर सदर्भ के साथ वडे ही स्नेहपूर्ण भाव से किया है और इस ग्रन्थ के प्रकाशन मे भी मार्गदर्शन किया है। ऐसे अनायास सहयोगी मिलना अवश्य कठिन है। भविष्य मे भी इनका सहयोग एव मार्गदर्शन अमूल्य रहेगा। उनका भी मै हृदय से कृतज्ञ हूँ।

इसी प्रकार, मेरे हस्तलिखित लेखन की व्याकरण-शुद्धि करने मे मेरे सहयोगी मित्र श्री व्रिजेद्र प्रसाद जी पालीवाल इन्होंने भी अपना समय देकर मुझे उपकृत किया है, उनका भी मैं अत्यत आभारी हूँ।

इस ग्रन्थ की छपाई मे जनसेवा मुद्रणालय के प्रमुख श्री सुरेशजी जगताप ने भी अत्यंत आत्मीयता एवं स्नेहभाव से सहयोग दिया है, इसलिए उनका और उनके साथियो का भी मैं अनुग्रहीत हूँ।

इसी तरह, इस ग्रन्थ-निर्माण मे मेरे पांचो बंधुओं का और मेरे तीन पुत्र चि. किशोर, मधुसूदन एव सुदर्शन तथा पुत्रवधू चि. सौ. अरुणा, सौ प्रेमा एवं सौ. निर्मला इन सभी का पूरा पूरा सहयोग प्राप्त रहा है । विशेषत , मेरी धर्म-पत्नी सौ सुदरदेवी का इस महान् कार्य-सफलता मे महत्वपूर्ण आत्मभाव रहा है। ये सभी 'विपश्यना' साधक है। मेरे सभी वधु, उनकी धर्मपत्निया एव मेरे भतीजे, भतीजी भी साधक है। इन सव के प्रति मेरी हृदय से सतत समस्त मङ्गल कामनाएँ है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन का भार श्री जगन्नाथ राठी चॅरिटी ट्रस्ट ने सम्भाला है। यह ट्रस्ट मेरे पूज्य पिताजी श्री जगन्नाथजी ने निर्माण किया था। ट्रस्ट के ट्रस्टी के नाते मैं अन्य ट्रस्टियो का भी उनके सहयोग के लिए हार्दिक आभारी हूँ।

अनेक साधको ने यह ग्रन्थ कव प्रकाशित होकर मिलेगा, इसकी वार वार आतु-रता प्रदर्शित की है। अव उनकी आतुरता-पूर्ति मे यह ग्रन्थ प्रकाशित हो गया है, इसकी मुझे अत्यंत प्रसन्नता है। सव के प्रति मेरी समस्त मगल कामनाएँ सतत वनी रहेगी।

सब्बे सत्ता सुखी होन्तु
सब्बे होन्तु च खेमिनो ।
सब्बे भद्राणि पस्सन्तु
मा कञ्चि दुक्खमागमा ॥

'सुलक्ष्मी'
२८ मुकुदनगर,
पूना ४११ ०३७

— लक्ष्मीनारायण राठी

कृतज्ञता समर्पण

"नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स"

भगवान गौतम बुद्ध, जिन्होने विश्वशाति के लिए 'विपश्यना' साधना का पावन पथ अपने अनेक जन्मो के अथक् कठोर तपश्चर्या से साक्षात्कार कर सारे प्राणी-मात्र की दु खमुक्ति के लिये प्रदान किया है, उनके प्रति अटूट, परम श्रद्धा भाव प्रकट करते हुए मै उनके चरणो मे सदा नतमस्तक हूँ।

दिवंगत परमश्रद्धेय गुरुवर्य महाविपश्यनाचार्य सयाजी ऊ बा खिन, रगून (वर्मा), जो 'विपश्यना' साधना को भारत का ऋण चुकाने के लिए भारत का यह अनमोल रत्न असीम करुणा के साथ शुद्ध रूप मे भारत को लौटाने मे पूज्य गुरुजी गोएन्काजी को भेज कर परम सफल बने है, उनके हम सभी भारतवासी अत्यत ऋणी है। मै उनके चरणो मे अत्यत श्रद्धाभाव से नतमस्तक हूं।

परमश्रद्धेय पूज्य गुरुदेव डॉ. सत्यनारायणजी गोएन्का, जिन्होने वर्मा से भारत की 'विपश्यना' साधना की यह अनमोल विद्या शुद्ध रूप मे भारत मे लाकर सन १९६९ से अविश्रात, अथक् परिश्रम द्वारा सभी जीवो की दु.खमुक्ति के लिए सब को खुले आम बाँटने का कार्य सतत बनाये रखा है। फलस्वरूप, उनके नेतृत्व मे देश-विदेश मे विभिन्न स्थानो मे शिविर पर शिविर लग रहे है। सारे विश्व मे इस विद्या का फैलाव करने की कठोर तपश्चर्या मे वे अविरत संलग्न है। उनके इस धर्मकार्य मे उनकी धर्मपत्नी भी बराबर सहभागिनी, सहयोगिनी और सहचारिणी रही है। इन दोनो के चरणो मे मैं अत्यत श्रद्धाभाव प्रकट करते हुए हृदयपूर्वक नतमस्तक हूँ। ये दोनो महान् विभूतियाँ मुझे मातापिता के स्थान पर है, जिनका ऋण चुकाना इस जन्म मे मेरे लिए शायद ही संभव हो। इन दोनो के लिए शुद्ध धर्म उन्हे दीर्घायु, अखड आरोग्य और शाश्वत सुख प्रदान करता रहे, जिससे सभी दृश्य-अदृश्य जीवो का कल्याण हो सके, यही उनके प्रति मेरी समस्त मगल कामनाएँ समर्पित है।

पू. गुरुदेव के प्रति कृतज्ञता भाव व्यक्त करने के लिए मेरे पास शब्द नही है, केवल अन्तर्मुखी हो कर सभी के प्रति मैत्री, करुणा, मुदिता एवं समता का प्रवाह हृदय मे उमड कर आते रहना ही ऋण चुकाने का एकमेव मार्ग शेष है।

भवतु सब्ब मङ्गलं, रक्खन्तु सब्ब देवता।
सब्बे धम्मानुभावेन, सदा सुखी भवन्तु ते ॥

— लक्ष्मीनारायण राठी

विषय प्रवेश

इस ग्रन्थ के प्रारंभ मे (१) मेरी अपनी वात (२) प्राक्कथन (३) भूमिका (४) कृतज्ञता समर्पण (५) विषय प्रवेश और (६) विपय सूचि है।

विपय के ३२ अध्याय है और वे चार विभागो मे विभक्त है – (१) जीवन दर्शन – १ से ६ अध्याय, (२) विज्ञान दर्शन – ७ से १२ अध्याय, (३) विपश्यना दर्शन – १३ से २७ अध्याय और (४) विशुद्धि दर्शन – २८ से ३२ अध्याय, इस प्रकार है। अन्त मे, 'परिचय दर्शन' पाचवा विभाग है, जिसमे (१) विपश्यना साधना शिक्षा केन्द्र, (२) गुरुदेव श्री सत्यनारायणजी गोएन्का, (३) गुरुवर्य सयाजी ऊ वा खिन, (४) आचार्य परम्परा और (५) वुद्धवाणी एवं सगायन – एक ऐतिहासिक दृष्टिक्षेप, ऐसे पांच परिचय है। वाद मे 'उपसहार' है।

फिर, ग्रन्थ सदर्भ, शद्वानुक्रम, शद्वार्थ आदि का संक्षेप मे परिचय है।

प्रथम विभाग – जीवन दर्शन

हमारे जीवन मे प्रतिदिन कैसी घटनाएं घट रही है! हम नही समझते कि हम रोजाना क्या कर रहे है, कैसी हमारी मानसिक स्थिति है! सुख–प्राप्ति के लिए भाग दौड चल रही है और हम दु ख ही भोगते रहते है। जीवन का वास्तविक लक्ष्य क्या है और हमे सही क्या प्राप्त करना है, इन विपयो का इस विभाग मे मूलभूत विशदीकरण है।

दु ख · जीवन मे दु ख सदा साथ है। प्रिय व्यक्ति के या प्रिय स्थिति के विछुड जाने पर हम विलाप करते है, सिर पीटते है और वेचैन, व्याकुल हो जाते है। इसी प्रकार, अप्रिय स्थिति से हमारा संयोग हो जाता है। दोनो भी दु खदायी है। हर व्यक्ति यह कामना करता रहता है कि मै अन्य जनो से सदा ऊचा और श्रेष्ठ वना रहू, फिर चाहे धन-वैभव से हो या प्रतिष्ठा – अधिकार – पद से हो। हमारी कामनाओ का अन्त ही नही है, क्योकि उसके पेदी नही है, कभी पूर्ति होती ही नही। 'मैं' 'मेरे' के प्रति गहरी आसक्ति सदा वनी रहती है। शरीर को व्याधि से और चित्त मे काम, क्रोध, भय, अहं आदि विकार जागने से दु ख ही दु ख उत्पन्न होता रहता है। जीवन मे चारो ओर दु ख का समुद्र लहराता है।

दु·ख, परिवर्तनशीलता का दु ख, और संस्कार–दु ख, इसतरह तीन प्रकार के दु·ख है।

दुःख-दर्शन ही क्यो, सुख-दर्शन क्यो नही ? मनुष्य की उत्क्रान्ति वह व्याकुल रहने से नही होती। भौतिक विज्ञान की जो कल्पनातीत प्रगति हो रही है, वह दुःख-दर्शन ही करते रहे तो कैसे होगी ? तो हम अपने परिवार का, मातृभूमि का सरक्षण कैसे करेगे ? दु ख-दर्शन से तो नैराश्य की भावना ही पनपेगी और प्रगति कुंठित हो जायगी। ये प्रश्न बिलकुल ठीक हैं, किन्तु दु.ख तो जीवन मे भरा पडा है! उससे पराङमुख होकर छुटकारा कैसे हो सकता हे ! व्याधि का, राग-द्वेष का भय का, असुरक्षा का, चिंता-तनाव का, अपमान का, पद–प्रतिष्ठा–सम्पत्ति–अधिकार प्राप्त न होने का, निर्धनता का, प्रिय स्थिति या प्रिय व्यक्ति के वियोग का, आदि अनगिनत दु खो का पर्वतप्राय ढेर लगा ही रहता है। इसमे सुखदर्शन कैसे; हो सकता है ? सुखदर्शन के लिए ही दु ख की वास्तविक सच्चाई का दर्शन करना होगा, उससे पलायन नही किया जा सकता। दु ख की गहराई मे उतर कर उसके कारणो का दर्शन ही दुःख का निवारण है और तभी हम सुख का दर्शन कर सकते है। इसका मतलब यह नही कि सुख आए तो हम व्याकुल हो उठे। नही ! सुख भोगते समय हमे सजग रहना चाहिए, यह समझते हुए कि यह स्थिति नित्य नही है, क्योकि सुख के भीतर दु ख का ही बीज समाया हुआ होता है। यही सच्चाई का दर्शन है। दुःख के मूल मे समायी हुई अपनी ही तृष्णा रूपी आसक्ति का दर्शन करना, यही सच्चाई का दर्शन करना हे। यही आर्य-सत्य है।

जो पास मे है, उससे सतोप नही और जो नही है, वह चाहिए, जिसकी पूर्ति मे तीव्र लालसा एव व्याकुलता ही 'तृष्णा' है। तृष्णा मधुर-मादक नशा है, विप है और इसी नशे मे हम सदा बेहोप रहते है, हमे यह पता ही नही चलता कि हम दु ख का ही सृजन कर रहे है।

तृष्णा : (१) काम–तृष्णा, (२) भव–तृष्णा, (३) विभव–तृष्णा, ऐसी तीन प्रकार की तृष्णाए है। ऐन्द्रिय सुखो के प्रति आसक्त होना और विभिन्न विषय, सुखो की कामना करना 'काम–तृष्णा' है। जीवित रहने की, मरने पर भी 'मै' कायम रहू, मुक्ति का भोग भोगने के लिए भी 'मै' बना रहू, देवलोक, ब्रह्मलोक का सुख भोगने के लिए 'मै' कायम रहू, यह 'भव-तृष्णा' है। मरने के बाद कोई लोक नही है, इसी जीवन मे सुख-वैभव को भोगता रहू, फिर पाप-पुण्य-नैतिक-अनैतिक की कोई परवाह नही है, यह 'विभव-तृष्णा' है।

तृष्णा से मुक्त हुए बिना दुःख से मुक्ति नही हो सकती। तृष्णा के उत्पन्न होते ही तन तथा मन पर अत्यत सूक्ष्म स्पंदन होने लगता है और यही स्पदन अर्थात् सवेदना स्नायु – ततुओ मे तनाव उत्पन्न करती है, विकारो की गाठे बाधती है। इस सवेदना मे एक सम्मोहन-शक्ति होती है, जिससे अर्धचेतन मन इसमे डूबे रहने का आदी हो जाता है। वह चाह के संपादन मे चिपक जाता है, बेचैन हो

जाता है और उसे व्यसन सा लग जाता है। कामना-पूर्ति होती है, तो अंतर्मन पर एक स्फुरण-सिहरन की सुखद सवेदना जाग उठती है, जो वडी प्रिय लगती है। किन्तु यह अनित्य होने के कारण समय पाकर यह नष्ट हो ही जाती है। फिर से पूर्ववर्ती स्पंदन–सवेदन जाग उठता है, जो कामना के प्रति व्याकुल, वेचैन वनता रहता है, और इस प्रकार, यह दु.खचक्र अविरत चलता रहता है। तृष्णा के प्रति गहरा चिपकाव, 'तृष्णा तो वनी ही रहनी चाहिए' ऐसी तीव्र लालसा जगी ही रहती है और इसीको उपादान (आसक्ति) कहते हैं।

और, यह सव चित्तधारा पर घटता रहता है, इसलिए मन कैसा है इसको ठीक से समझ लेना चाहिए।

मन कैसा है ? हमारा मन अत्यंत चञ्चल है। या तो वह भूतकाल की याददाश्त मे डूवा रहता है या भविष्य की कल्पनाओ मे रमण करता रहता है। वह वर्तमान मे रहता ही नही। और, भूत-भविष्य की ये वाते मन में जो उठती हैं, उनमे भी तारतम्य नही रहता। एक वात उठी ही नही, तो वीच ही मे छलाग लग कर दूसरी ही वात उठ खडी होती है। उनका परस्पर मे कोई तालमेल ही नही होता, मन पागल की तरह काम जो करता रहता है। और यदि मन में सिल-सिलेवार वात चली भी, तो फिर वह या तो रागरञ्जित या द्वेष-दूषित या मोह-मूढित ही रहता है। मन मे सपत्ति, पद, प्रतिष्ठा, अधिकार, प्रसिद्धि, यश-गौरव आदि के प्रति तीव्र लालसा ही भरी रहती है। काम, क्रोध, द्वेष, मद, मत्सर, ईर्ष्या, भय, अहंकार, मोह, जिन्हे सक्षेप मे राग – द्वेप – मोह कहा है, इन्हीसे हमारा मन भरा रहता है। हर क्षण मन मे ये विकार जागते रहते है और फलत, कर्म–संस्कारो के ढेर वनते ही रहते हैं, जो कि दु:ख ही दु ख उत्पन्न करते रहते हैं।

तृष्णा से व्याप्त मन ही विकारो की वृद्धि करता रहता है, परिणामत., दु.ख का ही उत्पाद करता है। ऐसा हमारा मन ही दु ख का कारण है, इसीसे जीवन दु.खी होता है। दु ख का कारण अपना ही मन है, वाहरी कोई वस्तु, व्यक्ति या स्थिति दु ख का कारण नही है। यदि मन निर्विकार रह जाय, तो फिर वेचैनी कैसी ? दु ख कैसा ? वह दु खमुक्त होगा ही। मन को निर्विकार वनाने के लिए ही 'विपश्यना' साधना का अभ्यास है।

शुद्धधर्म . व्यावहारिक जगत् मे प्रचलित धर्म हिन्दु, मुस्लिम, ईसाई, वौद्ध, जैन आदि नामो से केवल सप्रदाय ही है। प्रत्येक सम्प्रदाय मे अपने अपने सिद्धान्त, ईश्वर, देवता, पूजा, पाठ, उपवास, जप-जाप, मन्त्र, कर्मकाण्ड, तीर्थ, विचार-दर्शन, वेशभूषा, आचार, मदिर, आदि अलग अलग मान्यताए रूढ है। इन

सम्प्रदायों मे भी भिन्नभिन्न पंथ हैं। मनुष्यप्राणी इन सम्प्रदायों की रूढियों की वेडियो मे इतना जकडा हुआ है कि इन्हें तोडना असम्भव सा हो गया है। सारा मनुष्य समाज इनकी अन्धश्रद्धाओं से सारा जीवन व्यतीत करता है, यही मानता है कि मेरा सम्प्रदाय ही सर्वश्रेष्ठ है और इसलिए, अन्य सम्प्रदायो के प्रति वह द्वेष और घृणा ही जगाते रहता है। फिर भी इन सम्प्रदायों मे आपसी सघर्ष, हत्याएं, युद्ध आदि सतत वने रहते है और इस प्रकार, निर्दयता, क्रूरता, वैमनस्यता का कोई अन्त ही नही है।

शुद्ध धर्म तो सभी प्राणियो के लिए एक सा ही होता है। वह सा... ...न, सार्वकालिक और सार्वदेशिक होता है। प्रकृति के अटूट नियमो से वह वन्धा हुआ होता है। शुद्ध धर्म शील और सदाचार है, समाधि (मन को वश मे करना) है, और प्रज्ञा (मन को निर्मल करना) है। शील, सम... ...र प्रज्ञा सार्वजनीन है, सार्वकालिक है, सार्वदेशिक है। इन्हीका अभ्यास ... साधना है। यही शुद्ध धर्म है, जो निर्वाण, मुक्ति या सत्य के साक्षात्कार ... पहुंचाता है। यही साधना दु खचक्र और भवचक्र से वदल कर ... परिवर्तित करती है।

जीवन का लक्ष्य . मानवी जीवन का अन्तिम लक्ष्य क्या है ? परिव... भरण-पोषण, उद्योग-व्यवसाय, समाज तथा देश की सेवा और सुरक्षा आदि तो के... कर्तव्यमात्र है, वास्तविक लक्ष्य नही है। सही लक्ष्य तो यही है कि हमारे मन भ... भरे विकारों की समाप्ति हो जाय, हमारे सञ्चित संस्कार समाप्त हो जाय तथा नये संस्कार वने नही, हमारा चित्त नितान्त निर्मल होकर अनन्त मैत्री--करुणा--मुदिता--उपेक्षा से भर जाय और फिर जीवो की सच्ची, शुद्ध सेवा मे वह लग जाय। इसी लक्ष्यपूर्ति मे हमारे इस अनमोल, दुर्लभ मनुष्य-जीवन का सार्थक है, इसी जीवन मे हमे मुक्ति मिल सकती हे, सत्य का, निर्वाण का साक्षात्कार हो सकता है और हम दु खमुक्त हो सकते हैं। इसी लक्ष्यपूर्ति के लिए 'विपश्यना' साधना है।

द्वितीय विभाग – विज्ञान दर्शन

वुद्ध की खोज : 'विपश्यना' साधना यह पूर्ण वैज्ञानिक (Scientific) है। इसको समझने के लिए इस २० वी सदी मे विज्ञान मे जो सशोधन हुए है, वे अत्यत ही महत्वपूर्ण है। २५०० वर्ष पूर्व भगवान वुद्ध अपने अनेक जन्मो की कठोर तपश्चर्या द्वारा, अपनी समाधि के साक्षात्कार से तन को और मन को विभाजित करते हुए सूक्ष्मतम तक पहुंच कर जो सिद्धात पाये है, उनके नजदीक ही आज के वैज्ञानिक भी पहुच रहे है। इसका स्पष्टीकरण विशद करने के लिए ही 'विज्ञान दर्शन' विभाग का प्रतिपादन किया गया है।

भगवान वुद्ध अपनी समाधि मे परमाणुओ के भी टुकडे करते करते इस अवस्था तक पहुचे, जव कि आगे उनके और भी टुकडे नही हो सकते और उस इकाई को उन्होने 'कलाप' नाम दिया। उन्होने यह भी पाया कि यह इकाई आठ वातो से जुडी हुई रहती है, अलग नही होती, जिसको उन्होने 'अष्टकलाप' कहा। इसमे पृथ्वी-धातु, अग्नि-धातु, वायु-धातु एवं जल-धातु तथा इन चारो के गुणधर्म इस तरह, आठ को लेकर यह अष्टकलाप वना है, जो इस भौतिक ससार की अन्तिम इकाई है। उन्होने यह भी पाया कि यह सूक्ष्मतम इकाई केवल तरङ्ग मात्र है और ... निरन्तर उत्पाद व्यय होता रहता है, यह अविरत परि-वर्तन ... है, अनित्य ही है। इन अष्टकलापो मे परस्पर मे वडी पोल है और उन मे आपस मे वडा आकर्पण विकर्षण भी निरन्तर वना रहता है, वे अलग होते ही नही। यह सारा भौतिक ससार इन तरङ्गो का जाल मात्र है, यह अभेद्य ही है। भगवान ... ने यह भी पाया कि इसमे सतत एक नृत्य सा चलता रहता है, एक ... ना है और इस तरह, सारा ससार ही ऊर्ज्या का प्रवाहमात्र है। ठोस ... ठोस लोहा और पत्थर भी तरङ्गो का ही पुन्जमात्र है। प्राणीमात्र का शरीर ... मात्र है। इतना ही नही, हमारा मन भी तरङ्गमात्र है, विकार भी ... मात्र है, कर्म-सस्कार भी तरङ्गमात्र है। ये सभी प्रवाहमात्र है। हमारा ... ही शरीरधारा एव चित्तधारा की मिलीजुली धारा है, प्रवाहमात्र है। ... रा शरीरधारा मे और शरीरधारा चित्तधारा मे नित्य वदलती रहती है। ... गहराई मे जाकर ही इस मूलभूत सिद्धात का साक्षात्कार भगवान वुद्ध ने किया और दु ख-मुक्ति का मार्ग खोज निकाला।

अपने ही शरीर के भीतर अन्तर्मुखी होकर इस शरीर को, चित्त एव चित्त वृत्तियो को तथा चारों महाभूतो को, उनके गुणधर्म—स्वभाव के स्तर पर जानना और अनुभव करना और उनकी सही सही प्रवृति को जानते हुए उनके वन्धनो से मुक्त रहना ही 'विपश्यना साधना' है और यही मगल पथ है।

२० वीं शताब्दी का संशोधन इस २० वी सदी मे पाश्चात्य वैज्ञानिक अपने अथक् संशोधनो द्वारा भगवान वुद्ध के २५०० वर्ष पूर्व किये हुए साक्षात्कार के सिद्धातो के समीप पहुचने मे सफलता पा रहे है। यह एक आश्चर्यजनक अनुसधान है। इस संशोधन को पाश्चात्य वैज्ञानिको ने सव-अटॉमिक पार्टिकल वर्ल्ड (Sub–Atomic particle world) कहा है, अर्थात् लघुकण-क्षेत्र कहा है। एक वात विशेप रूप से समझ लेनी चाहिए और वह यही है कि विज्ञान (Science) मे हो रहे सशोधन अनुमान नही होते, अपितु वे गणित-सूत्र से ही सिद्ध किये जाते है। विज्ञान मे कल्पना और अनुमान को कतई स्थान नही है। इसी प्रकार, विपश्यना साधना मे भी स्थूल सच्चाई से लेकर सूक्ष्मतम सच्चाई तक अपनी

अनुभूति से ही पहुचना होता है और अन्ततः इंद्रियातीत सच्चाई का साक्षात्कार करना होता है, इसमे भी कल्पना का कतई आधार नही है।

१९ वी सदी के उत्तरार्ध मे लघुकण क्षेत्र के अपूर्व संशोधनो के संबंध मे विज्ञान जगत् मे यही सिद्धात रहा कि इस भौतिक जगत् की अन्तिम इकाई परमाणु (Atom) है। यह परमाणु कण अभेद्य, ठोस एव अपरिवर्तनशील है और इसके आगे टुकडे नही हो सकते। यह जडतत्व है और चैतन्य जगत् अलग है, यह भी मान्यता चलती थी। और, इसीके आधारपर सारे संशोधन होते रहे। यांत्रिक क्षेत्र मे वैज्ञानिको ने अपूर्व प्रगति की और तब विज्ञान का विकास 'न्यूटेनियन मेकॅनिकल मॉडेल' को लेकर हुआ। वैज्ञानिक न्यूटन की यही मान्यता रही थी।

२० वी सदी के प्रारंभ मे वैज्ञानिको ने अभूतपूर्व नये सिद्धान्तो का पता लगाया। सापेक्ष सिद्धान्त (Relativity theory) और अण्विक भौतिकी (Atomic Physics) के नये संशोधन ने न्यूटेनियन मूल सिद्धान्तो को ठुकरा दिया तथा आकाश (Space) और काल (Time) अलग अलग नही है, जुडे हुए है, यह सिद्ध किया और परमाणु (Atom) के भी टुकडे हो सकते है, यह भी सिद्ध किया। और, परमाणु के टुकडे कर के न्यूट्रॉन, प्रोटॉन, इलेक्ट्रॉन आदि लघुकण सामने आये। अब यह भेद सामने आया कि ये सभी लघुकण भी आपस मे अविरत टकराव करते रहते है, और सब परिवर्तनशील है, सब अनित्य है, तथा इनके आपस मे आकर्षण विकर्षण निरतर बना रहता है। यह भी ज्ञात हुआ कि लघुकणो मे आपस में बडी पोल है और ये सभी तरङग मात्र ही है, ठोस है ही नही तथा एक-दूसरे मे बदलते रहते है, जैसे बिना रुके, अविरत गति से इस सृष्टि मे एक अनूठे ताल पर इन लघुकणो का नृत्य चलता रहता है और उनमे आपस मे एक जाल सा बना रहता है, कोई अलग है ही नही। इनका उदय और व्यय सदा होता रहता है, जैसे, प्रचंड शक्ति का यह प्रवाह लगातार बहता रहता है।

परमाणु मे इलेक्ट्रॉन की सख्या, उनके वृत्तो की सख्या, नाभिक बिन्दु और इलेक्ट्रॉन के बीच की विद्युत्तीय आकर्षण शक्ति तथा इलेक्ट्रॉन की तरङगें (Waves) ये सब मिलकर इस जगत् के अनेक विभिन्न रूपो की रचना निर्माण होती है। इनके अन्दर ही अन्दर की तीव्र गति जो चल रही है, आकर्षण विकर्षण जो चल रहा है, उसीके कारण हमे ठोस रूप की भ्रान्ति होती है, जो वास्तव मे 'माया' है।

सुख और दुःख ये एक ही सिक्के के दो पहलू है. ये विभक्त हो ही नही सकते। सारे ससार-जगत् मे एक ही इकाई के दो पहलू है, दो विरोधी छोर बने हुए है, जैसे–जन्म - मरण, नर-नारी, आरोग्य-व्याधि, यौवन-जरा, पाप-पुण्य, भलाई-

बुराई, शत्रु-मित्र, हार-जीत, प्रकाश-अन्धेरा, दिन-रात्रि आदि। इन्ही द्वैत के कारण ही यह सारा ससार चल रहा है, व्यवहार चल रहे है और जीवन–प्रवाह चल रहा है। इस विरोधाभास की वास्तवता को समझ कर जो चलता है, वही समता को प्राप्त हो सकता है, इस मायाजाल का भेदन कर सकता है। कोई भी मनुष्य एक को छोड कर दूसरे को प्राप्त नही कर सकता। कोई कहे, सुख ही सुख चाहिए तो नही मिल सकता, दु ख उसके साथ चिपका हुआ रहेगा ही, अलग अलग नही हो सकते। सुख और दुःख, दोनो समय समता मे रहना ही जीवन जीने की कला है और यही ' विपश्यना ' साधना से साध्य है।

भगवान बुद्ध ने यही बताया कि इस एकरस भौतिक जगत् मे अलग अलग रूप, पदार्थ, वस्तु, प्राणी, मनुष्य को देखना और उसके प्रति आसक्ति या चिपकाव होना, यही दु ख का कारण है। भिन्नता मे ही अविद्या का उद्गम है, मनोविकारो के उद्गम है। यही तो कर्म के बन्धन बनाते हैं। इसलिए हमें प्रकृति के नियमों को समझ कर स्वयं को ढालना चाहिए। विपश्यना साधना के अभ्यास से ही यह साध्य हो सकता है।

प्रकृति के नियम . प्रकृति के नियम अटूट है और उन्हीसे सारा विश्व बन्धा हुआ है। कोई सम्प्रदाय या धर्म इन नियमो को नही बदल सकता। निरन्तर उत्पाद–व्यय होना यही सृष्टि का नियम है। सभी अनित्य है, परिवर्तनशील है। नित्य कुछ है ही नही। कारण के बिना कार्य उत्पन्न नही होता। कार्य-कारण, कार्य-कारण की परम्परा नित्य चल रही है। जैसा बीज वैसा ही फल आता है। कर्मफल की भी यही अवस्था है। बीज-फल, बीज-फल यह परम्परा निरन्तर चल रही है। सारे चेतन और अचेतन प्रकृति के अटूट नियमो के बाहर नहीं है। इन नियमो को हम ठीक से समझ कर चले, तो जीवन अवश्य सुखदायी, यशदायी हो सकता है।

तृतीय विभाग – विपश्यना दर्शन

इस २० वी शताब्दी मे वैज्ञानिको ने अपने अनुसन्धान द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि यह सारा भौतिक जगत् अविभाज्य तरङ्गो से और उनमे उत्पन्न असामान्य ऊर्जा से जाल-रूप मे बन्धा हुआ है।अलग अलग कुछ भी नही है। सारे सजीव तथा निर्जीव वस्तु, प्राणी, स्थिति, घटना के तरङ्गों से हमारे शरीर की तरङ्गे एकजाल मे बन्धी हुई है।

२५०० वर्ष पूर्व भगवान बुद्ध ने भी अपने साक्षात्कार मे यही पाया है। आज का विज्ञान भी अब इसके समीप आ रहा है। हम भी विपश्यना साधना द्वारा अपने शरीर की इन्ही तरङ्गो को देखने का अभ्यास कर सकते है। हमारे

विकार–सञ्चित कर्म-संस्कारो की गाठे भी तरङ्गो का पुञ्जमात्र हैं । इनको खोलना आ जाय, तो इन सस्कारो की निर्जरा हो कर हम दु:खो से मुक्ति पा सकते हैं । 'विपश्यना' साधना यही अभ्यास करवाती है ।

भगवान बुद्ध कहते हैं, "तुम किसी बात को इसलिए मत स्वीकार करो कि यह बात हमारे परम्परा की है, हमारे धर्मशास्त्र के अनुसार है, तर्क-सम्मत है, न्याय-सगत है, आकार-प्रकार सुन्दर है, हमारे मत के अनुकूल है और कहनेवाला व्यक्ति बुद्धिमान है, प्रभावी है, हमारे पूज्य है । जब तुम स्वानुभव से जानो, तभी स्वीकार करो ।" भगवान बुद्ध ने त्रिशिक्षा का धर्म-मार्ग बतलाया है . शील, समाधि एवं प्रज्ञा । यही विशुद्धि का मार्ग है, निर्वाण तक ले जानेवाला मार्ग है । चूकि सभी जीव तृष्णारूपी जटा से विजटित हैं, इसलिए तृष्णा का नाश किए बिन, दु.ख का अत्यत निरोध नही हो सकता । यही विशुद्धि-मार्ग तृष्णा-जटा का नाश कर सकता है । 'विपश्यना' साधना की भावना मे साधक प्रज्ञा से जब देखता है कि सभी सस्कार अनित्य हैं, सभी सस्कार दु ख हैं और सभी धर्म अनात्म हैं, तभी निरोध होता है । विपश्यना साधना द्वारा ही इस ज्ञान का स्वानुभव प्राप्त हो सकता है, जो निर्वाण तक ले जाता है ।

पञ्चस्कन्ध – नामरूप

मन को 'नाम' कहा है और शरीर को 'रूप' कहा है । मन के चार भाग एव शरीर मिलाकर सत्त्व (व्यक्ति) पञ्चस्कन्ध कहलाता है । मन अर्थात् चित्त के चार खण्ड है: विज्ञान-स्कन्ध, सज्ञा-स्कन्ध, वेदना-स्कन्ध और संस्कार-स्कन्ध । स्कन्ध का अर्थ है 'समुच्चय' और शरीर को 'रूप-स्कन्ध' कहा है । रूप-स्कन्ध अष्टकलापो का सञ्चयमात्र है । वैसे, सारे भौतिक पदार्थ, वस्तु, घटना, स्थिति तथा सारा भौतिक जगत् अष्टकलाप ही है, तरङ्ग मात्र है, जो प्रतिक्षण अत्यत तीव्र गति से प्रकम्पित, परिवर्तित होते रहता है । इन रूप-कलापो का, इस अनित्य, परिवर्तनशील स्वभाव का स्वानुभूतिजन्य साक्षात्कार नाम-रूप याने शरीर और चित्त के भीतर अन्तर्मुखी हो कर ही जाना जाता है, और यही 'विपश्यना' साधना है ।

चित्त का विज्ञान-खण्ड केवल जानने का काम करता है, संज्ञा-खण्ड मूल्यांकन करता है, (जैसे, प्रिय है या अप्रिय है) वेदना-खण्ड सवेदनशील होना है और सस्कार-खण्ड कर्म-संस्कार बनाता है ।

वैसे तो भगवान बुद्ध ने चित्त को १२१ खण्डो मे विभाजित कर उनको अलग अलग जाना है । यह बहुत कठिन काम उन्होने किया है । अरूपी, एक ही आलम्बन मे होने वाले चित्त-चैतसिक धर्मो को अलग अलग कर के 'यह स्पर्श है

यह वेदना है, यह संज्ञा है, यह चेतना है, यह चित्त है, ऐसा उन्होने स्वय अनुभूत किया ।

चित्त-चैतसिक वृत्तियाँ भी तरङग मात्र है । एक क्षण मे जितनी वार रूप कलाप उत्पन्न हो कर नष्ट होता है, उसक १७ गुना चित्तज-कलाप उत्पन्न होकर नष्ट होता है । रूप-कलाप एक क्षण मे एक पर २२ शून्य इतनी वार उत्पन्न हो कर नष्ट होता है, जो भगवान बुद्ध ने अपने साक्षात्कार से जाना था और यही, सन १९६४ मे वर्कले युनिवर्सिटी के वैज्ञानिक डॉ. अल्वरिस ने भी अपनी प्रयोगशाला मे यत्न द्वारा जाना है ।

इस भौतिक जगत् मे ठोस कुछ भी नही है । जो ठोसपन प्रतीत होता है वह केवल प्रज्ञप्ति-सत्य है, सवृत्ति-सत्य है, माया है । सभी तरङगो के पुञ्जमात्र, है और यही अन्तिम सच्चाई है, यही परामार्थ सत्य है ।

आयतन : हमारी छ. इन्द्रियाँ है – आँख, कान, नाक, जिव्हा, काया और मन । ये आयतन 'षडायतन' (पालि मे 'सळायतन') कहे जाते है । इनके विपय इस प्रकार है – चक्षु याने आँख का आलम्वन रूप (दृश्य), श्रोत्र याने कान का शब्द, घ्राण याने नाक का गन्ध, जिव्हा का रस, काया का स्पर्शव्य पदार्थ और मन का आलम्वन धर्म याने विचार है । इस तरह, ये भीतर के छ. और वाहर के छ , कुल वारह आयतन है । अपने स्वभाव को धारण करने वाले धम को 'धातु' कहते है । मन मे विचार करना 'मनस्कार' है ।

चार आर्य–सत्य . यह वुद्धदेशना का हृदय है । प्रथम आर्य–सत्य 'दु ख सत्य' है । इस पञ्चस्कन्ध के प्रति (शरीर और मन के प्रति) उपादान (आसक्ति) ही 'दु ख' है । द्वितीय आर्य-सत्य है 'दु ख-समुदय'। दु ख के उत्पाद का कारण 'तृष्णा' है । तृतीय आर्य-सत्य 'दु ख-निरोध' है । अर्थात् तृष्णा का यदि अत्यत निरोध हो जाय, तो निर्वाण का ही साक्षात्कार है । चतुर्थ आर्य-सत्य 'दु.ख–निरोध-मार्ग' है । यह आर्य-अष्टागिक मार्ग है शील, समाधि और प्रज्ञा: । शील के अन्तर्गत तीन अग, समाधि के अन्तर्गत तीन अग और प्रज्ञा के अन्तर्गत दो अग, इस तरह आठ अगोवाला यह मार्ग है, जो 'विपश्यना' साधना द्वारा निर्वाण तक पहुचाता है ।

शील के तीन अग है – (१) सम्मा वाचा (२) सम्मा कम्मन्तो (३) सम्मा आजीवो । सम्मा याने सम्यक्, शुद्ध, पवित्र । इन सभी अगो का विवरण 'शील-निर्देश' अध्याय मे दिया गया है ।

समाधि के तीन अंग है – (१) सम्मा वायामो (२) सम्मा सति-(३) सम्मा समाधि। इनका विवरण 'समाधि-निर्देश' अध्याय मे दिया गया है ।

प्रज्ञा के दो अग हैं– (१) सम्मा दिट्ठि (२) सम्मा सकप्पो। इनका विवरण 'प्रज्ञा-निर्देश' अध्याय मे दिया गया है।

प्रज्ञा के तीन भाग हैं— (१) श्रुतमयी प्रज्ञा (२) चिंतनमयी प्रज्ञा (३) भावनामयी प्रज्ञा।

प्रज्ञा के चार लक्षण है– (१) अनित्य (२) अनात्म (३) दु.ख (४) अशुभ।

'विपश्यना' साधना मे सर्वप्रथम शील मे प्रतिष्ठित हो कर सम्यक् समाधि का अभ्यास है, जिसके परिणामस्वरूप चित्त वश मे होता है। फिर, भावनामयी प्रज्ञा याने अपने ही भीतर अन्तर्मुखी हो कर स्थूल सच्चाई से सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम सच्चाई तक यथाभूत दर्शन अनित्य, अनात्म एवं दु ख के लक्षणो के साथ करना और उसके परे इन्द्रियातीत निर्वाण के साक्षात्कार तक पहुंचना है; जैसे, स्थूल के टुकडे करते करते सूक्ष्मतम तक साक्षात्कार करते हुए अशुभ को समाप्त करना है।

इस साधना मे व्यत्यय (विघ्न) उत्पन्न करने वाले पाच नीवरण (शत्रु) है – (१) कामछन्द - लोभ, काम - वासना (२) व्यापाद - हिंसा, द्वेष (३) स्त्यान-मिद्ध - आलस्य, निद्रा (४) औद्धत्य कौकृत्य - बेचैनी, व्याकुलता (५) विचिकित्सा - सशय। इन नीवरणो से साधक को वचना चाहिए।

आनापान–स्मृति समाधि के लिए साधन ४० कर्मस्थान हैं। भगवान बुद्ध ने सर्वोपरि कर्मस्थान 'आनापान' का दिया है, जो अपना ही स्वभाविक आश्वास-प्रश्वास है। इसी को आनापान-स्मृति कहा गया है। इसका विवरण 'शमथ-भावना' अध्याय मे दिया गया है।

विपश्यना . साधक आनापान-स्मृति के आलम्बन द्वारा समाधि मे प्रतिष्ठित हो कर प्रज्ञा क्षेत्र मे विपश्यना द्वारा प्रवेश करता है। 'विपश्यना' यह प्रज्ञा का कर्मस्थान है। विपश्यना-ज्ञान भासमान्, संवृति-सत्य का भेदन करके अन्तिम परमार्थ सत्य तक ले जाने वाला धर्म है। इसीलिए इसको 'विशेष देखना' याने 'विपश्यना' कहा गया है। जो जैसा है उसको स्थूल सच्चाई से सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम सच्चाई तक अनित्य, अनात्म, दु ख लक्षणो के बोध से केवल जानना

इसी अभ्यास द्वारा इंद्रियातीत निर्वाण का साक्षात्कार होता है, मुक्ति का या परम सत्य का साक्षात्कार होता है और वह इसी जीवन मे हो सकता है। चित्त नितान्त निर्मल होता है। इस विषय का विस्तार से वर्णन 'विपश्यना भावना' अध्याय मे दिया गया है।

स्मृति और सम्प्रजन्य विपश्यना साधना के दो पंख हैं, जैसे पंछी के होते हैं,

दोनो पंख साथ रहने ही चाहिए। स्मृति हर क्षण की सजगता है। सम्प्रजन्य याने प्रज्ञा के साथ समता भाव से प्रतिक्षण का निरीक्षण है । ये दोनो भी तीव्र आदर के साथ सम्पन्न करते रहने से ही साधक प्रगति पथ पर चल सकता है और यही विशुद्धि-मार्ग है।

प्रतीत्यसमुत्पाद – संसारचक्र —— दु ख की उत्पत्ति कैसे होती है, इसका यथाभूत ज्ञान-दर्शन दु खनिरोध के लिए अत्यंत आवश्यक है। कारण के विना इस भौतिक जगत् म, इस भवससार मे कुछ भी कार्य घटता नही है और जो घटता हे, वह आगामी घटना का कारण होता है। यह कारण-कार्य-कारण-फल परम्परा का चक्र अविरत चल रहा है। यही हेतु-फल परम्परा है। इस क्रम को 'प्रतीत्य समुत्पाद' कहा गया है। वुद्धदेशना मे इसका वहुत ऊँचा स्थान है। इसको समझे विना साधना मे प्रगति नही हो सकती। प्रतीत्यसमुत्पाद के ज्ञान के विना निर्वाण की प्राप्ति स्वप्न मे भी सम्भव नही है। इसलिए, इसका विस्तार से अभ्यास करना चाहिए।

प्रतीत्यसमुत्पाद के वारह अङग इस प्रकार हैं — (१) अविद्या (२) संस्कार (३) विज्ञान (४) नाम-रूप (५) षडायतन (६) स्पर्श (७) वेदना (८) तृष्णा (९) उपादान (१०) भव (११) जाति (१२) जरा-मरण।

प्रतीत्यसमुत्पाद-चक्र के मूल मे अविद्या और तृष्णा है, इसकी ये दो जडे है। इस भवससार मे पुष्ट होने वाले 'सत्त्व' (जीव) नामक नाम-रूपात्मक स्कन्ध-वृक्ष के अविद्या और तृष्णा इन दो जडो का विपश्यना-प्रज्ञा-शस्त्र से उच्छेद कर दिया जाय, तो ही यह स्कन्ध-वृक्ष समूल विनष्ट होता है, ससारचक्र से यह सत्त्व वाहर निकलता है, निर्वाण को प्राप्त होता है और फिर, इस चक्र के परे निकल जाता है।

अविद्या के आवरण के कारण ही सत्त्व सस्कार वनाता है और इसी का पुञ्ज विज्ञान है, और इस कारण ही नामरूप की, इस शरीर और मन की, जीवनधारा वनती है। फिर साथ मे षडायतन याने हमारी छ इन्द्रियाँ (आँख, कान, नाक, जिव्हा, काया और मन) होती है। ससार मे सारे विषय भरे है और इन विषयो का अपने-अपने इन्द्रियो से टकराव निरन्तर होता ही रहता है, जैसे — आँख पर दृश्य, कान पर शब्द, नाक पर गन्ध, जिव्हा पर रस, काया पर स्पर्शव्य पदार्थ और मन पर विचार चलते ही रहते हैं। यह टकराव होते ही वेदना याने सवेदना (सुखद, दुखद या असुखद-अदुखद) जाग उठती है और फिर, चाहिए, नही चाहिए की तृष्णा, पैदा होती है। फिर, उसके प्रति तीव्र लालसा याने उपादान जागता है और फिर भवकर्म वनता है। इसीसे जाति (जन्म) होता हे और जन्म के कारण ही व्याधि, जरा, मरण घटते है। परिणामत , शोक, रोना, दु ख, व्याकुलता, वेचैनी आदि क

मिच्छा दिट्ठि — मिथ्या-दृष्टि की पकड-जकड ही अपायगति (अधोलोक) मे पडने का मूल कारण है। घृणा से घृणित काम करने मे मिथ्या-दृष्टि से जकडा हुआ व्यक्ति डरता नही। जीवन मे मिथ्यादृष्टि ही हुक्म चलाती है। वितरीत रूप से जो देखती है, वह मिथ्या-दृष्टि है। यह मिथ्या-दृष्टि रूप, वेदना, सज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान नामक पाच स्कन्धो मे से किसी एक स्कन्ध मे 'मै हूँ, यह मेरा आत्मा है' इस प्रकार उपादान करने वाली सत्काय-दृष्टि, वैसे ही 'नास्तिक-दृष्टि' आदि ६२ प्रकार की मिथ्या-दृष्टियाँ होती है। सत्काय-दृष्टि के अलावा नास्तिक-दृष्टि, अहेतुक-दृष्टि, अक्रिय-दृष्टि ये तीन दृष्टियाँ ही कर्मपथ होती है। शेप-दृष्टियाँ सामान्य है। सत्काय-दृष्टि एव शाश्वत-दृष्टि एक सी ही है। सभी दृष्टियाँ सत्काय दृष्टि से सम्वद्ध होकर उत्पन्न होती है, अत' सत्काय-दृष्टि ही सभी ६२ मिथ्या-दृष्टियो की मूलवीज कही गयी है।

सत्काय-दृष्टि रखने वाला जीव दान, शील आदि से देवलोक आदि अवश्य प्राप्त कर सकता है, किन्तु मार्गफल प्राप्त नही कर सकता जो निर्वाण है। अत., वह ससारचक्र से छुटकारा नही पा सकता। अह के कारण ही तो मनुष्य अकुशल कर्मो मे प्रवृत्त हो जाता है। धन के लोभ से या राजसत्ता की अभिलाषा से पुत्र अपने पिता की भी हत्या कर देता है। कारण, 'मै', 'मेरा', 'मुझे', 'अह' की ही भावना तव उसमे स्थापित रहती है। मिथ्या-दृष्टि के कारण ही पन्चस्कन्ध के प्रति आत्म-भाव और 'मै-मेरा' के भाव के कारण ही अविद्या एव तृष्णा का उत्पाद होता है। अविद्या और तृष्णा से भी मिथ्या-दृष्टि खतरनाक है, क्योकि इसीसे अपाय भूमि का वीज गिरता है।

शीलव्रत-परामर्श — व्रत, अनुष्ठान, तीर्थ-यात्रादि, स्तोत्र-पाठ, मन्त्र-पाठ आदि से पापक्षालन मानना और उसमे चिपकाव उत्पन्न होना, पशुयज्ञ करना, अग्नि-प्रवेश या जलप्रवेश से आत्महत्या के अनुष्ठानो से स्वर्ग-फल-प्राप्ति होगी यह मान लेना, अमार्ग मे मार्ग-दृष्टि होना और उसमे अभिनिवेष होना 'शीलव्रत परामर्श है। यह आत्मकल्याण मे वडी वाधा है।

मनुष्य की चेतना जैसी है, चित्त और कर्म वैसे ही होते है, वैसा ही मनुष्य होता है।

मिथ्या-दृष्टि का प्रहाण किये विना मार्गफल सम्भव नही है और निर्वाण तो असम्भव ही है।

सतिपट्ठान — साधना के क्षेत्र मे 'सम्मासति' अर्थात् सम्यक् स्मृति का अत्यंत महत्व है। हर क्षण की सच्चाई मे, यथाभूत मे, कल्पना के सहारे नही, सजगता मे, जो इस क्षण सच्चाई अपने आप प्रकट हो रही है, उसके प्रति हम ज्ञानपूर्वक सजग रहते

है, साक्षीभाव से जान रहे है, सजगता में प्रतिष्ठित हो रहे है, यह 'सतिपट्ठान' है। सम्यक् उसको कहते है, जो एक के साथ संयुक्त हो जाय और एक तो केवल सत्य ही है। कल्पनाएँ अनेक होती है। इसलिए, जो स्मृति सत्य के साथ जुड गयी और सजगता प्रतिक्षण की आयी, वही सम्यक् स्मृति है, सम्मासति है। हमारी अनुभूति मे ईस क्षण जो सत्य प्रकट हुआ, उस सत्य के प्रति स्मृति सयुक्त हो गयी, तो सम्मासति हुई। सति का, सजगता का धर्म के क्षेत्र मे, साधना के क्षेत्र मे विशेष महत्व है।

'विपश्यना' साधना मे स्थूल शरीर के टुकडे करते करते, विभाजन करते करते, हम अन्तिम सत्य तक पहुँचते है। पहले तो स्थूल सत्य ही अनुभव मे आता है। स्थूल सत्य के प्रति सजग रह कर केवल, साक्षी-भाव से हम जान रहे है, न उसे अच्छा मानते है, न उसे बुरा मानते है, केवल जो हो रहा है उसके प्रति सजग, तथा समता-भाव से जान रहे है, तो विघटन होने लगता है, सूक्ष्म से सूक्ष्म सच्चाई अनुभव मे आने लगती है और इस काया के अन्तिम सच्चाई तक हम जा पहुँचते है। हम तब जानते है कि सब केवल तरङ्ग ही तरङ्ग, प्रकम्पन ही प्रकम्पन मात्र है। वैसे ही, हम चैतसिक याने चित्तवृत्तियो के अन्तिम सत्य तक जा पहुँचते है और वे भी तरङ्ग ही तरङ्ग मात्र अनुभूत होते है। और फिर, इस अवस्था का भी अतिक्रमण होकर निर्वाण सत्य का साक्षात्कार हो जाता है। ऐसे तो विपश्यना साधना मे सम्मासति प्रतिभेदन करती है, जब कि उसके साथ प्रज्ञा जुडती है और तभी स्मृति प्रस्थापित होती है। यही स्मृतिप्रस्थान है, सतिपट्ठान है।

सतिपट्ठान चार है (१) कायानुपस्सना (२) वेदनानुपस्सना (३) चित्तानुपस्सना (४) धम्मानुपस्सना। ये स्मृति को प्रस्थापित करने के चार तरीके है। यह चार तरह की विपश्यना है। साधना मे ये चारो एक साथ ही रहती है और इनमे से किसी एक का विशेष प्रभाव होकर साधक आगे बढता है। ये चारों ऐसी है, जो साधक को मुक्त अवस्था तक, निर्वाण तक पहुँचा देती है और दु खो के बाहर निकाल देती है।

एक ही मार्ग है — 'विकारो को दूर करने के लिए हम राग-द्वेष-मोह को दूर करे।' राग भी रहे, द्वेष भी रहे और साधक मुक्त अवस्था तक पहुँच जाय, यह असम्भव है। राग, द्वेष और मोह को दूर करना ही एकमात्र मार्ग है, यही मुक्ति तक ले जा सकता है और यह 'सतिपट्ठान' से साध्य है।

इस विषय का विस्तार से वर्णन 'सतिपट्ठान' अध्याय में दिया गया है। इसका साधको को बहुत लाभ होता है।

मेत्ताभावना ब्रह्मविहार — चित्त की सर्वोत्कृष्ट और दिव्य अवस्थाएँ 'मैत्री' करुणा', 'मुदिता' और 'उपेक्षा' है। इनको ही 'चार ब्रह्मविहार' कहते है। जो साधक

इन चार ब्रह्मविहारो की भावना करता है, उसकी सम्यक् प्रतिपत्ति (मार्ग) होती है। वह सब प्राणियो के हित-सुख की कामना करता हुआ, दूसरो के दु खो को दूर करने की चेष्टा करता है। जो समभाव-सम्पन्न होता है, वह किसी के साथ पक्षपात नही करता।

'मैत्री' की प्रवृत्ति परहित-साधन के लिए है। जीवो का उपकार करना, उनके सुख की कामना करना, द्वेष और द्रोह का परित्याग करना, ये इसके लक्षण है। हमे सदा स्मरण रहे कि मैत्री का सौहार्द तृष्णावश नही होता, किन्तु जीवो की हित-साधना के लिए होता है।

पराये दु ख को देख कर सत्पुरुषो के हृदय का जो कम्पन होता है, उसे 'करुणा' कहते हैं। साधु-पुरुष दूसरे के दु ख को सह नही सकता। करुणा एक कुशल धर्म है।

'मुदिता' का लक्षण हर्ष है। जो मुदिता की भावना करता है, वह दूसरो को सम्पन्न देख कर हर्ष करता है, उनसे ईर्ष्या या द्वेष नही करता। दूसरो की सम्पत्ति, पुण्य और गुणोत्कर्ष को देखकर उसको असूया और अप्रीति उत्पन्न नही होती। मुदिता-भावना मे शान्त प्रवाह होता है।

'उपेक्षा' जीवो के प्रति उदासीन-भाव है। जीवो के प्रति सम-भाव रखना, प्रिय-अप्रिय मे भेद नही करना, यह 'उपेक्षा' की भावना है। उपेक्षा-भावना द्वारा इस ज्ञान का उदय होता है कि सभी जीव कर्माधीन है। वे कर्म के अनुसार ही सुख से सम्पन्न है या दु ख से मुक्त होते है या प्राप्त सम्पत्ति से च्युत नही होते। सभी अपने कर्मानुसार फल भोगते हैं।

मैत्री-भावना की साधना मङ्गल मैत्री की साधना है। विपश्यना साधना का यह अन्तिम चरण है। इसको पुण्य-वितरण की साधना भी कहते है। इसका विस्तार से वर्णन 'मेत्ताभावना' अध्याय मे दिया गया है।

चतुर्थ विभाग – विशुद्धि दर्शन

'विपश्यना साधना' ही विशुद्धि का सही मार्ग है, जो निर्वाण के साक्षात्कार तक पहुँचता है। इसमे महत्वपूर्ण विषय — तीन लक्षण, तीन अनुपश्यनाएँ, सात विशुद्धियाँ, दस ज्ञान, तीन मोक्ष और तीन विमोक्षमुख इस प्रकार हैं।

तीन लक्षण — (१) अनित्य लक्षण, (२) दु.ख लक्षण, (३) अनात्म-लक्षण, इस प्रकार हैं।

तीन अनुपश्यनाएँ — (१) अनित्यानुपश्यना, (२) दु खानुपश्यना, (३) अनात्मानुपश्यना, इस प्रकार हैं।

सात विशुद्धियाँ — विपश्यना साधना मे (१) शील-विशुद्धि (२) चित्त-

विशुद्धि (३) दृष्टि-विशुद्धि (४) काङ्क्षावितरण-विशुद्धि (५) मार्गामार्गज्ञान-दर्शन-विशुद्धि (६) प्रतिपदा ज्ञानदर्शन-विशुद्धि एवं (७) ज्ञानदर्शन-विशुद्धि, इस प्रकार विशुद्धि-सग्रह है।

काङ्क्षावितरण-विशुद्धि— 'मै अतीत भव मे था या नही, अथवा भगवान बुद्ध 'सर्वज्ञ' हुए या नही इत्यादि प्रकार की शंकाएँ (कङ्खा) कही जाती है। जिस ज्ञान द्वारा इस प्रकार की शकाओ का अतिक्रमण किया जाता है, वह 'काङ्क्षावितरण' है।

'यह मार्ग है', 'यह अमार्ग है' इस प्रकार, मार्ग और अमार्ग को जान कर प्राप्त हुआ ज्ञान 'मार्गामार्ग-ज्ञानदर्शन-विशुद्धि' है।

प्रथम चार विशुद्धियो के क्षण मे अनित्य, दु ख, अनात्म रूप से विपश्यना नही की जाती। शील-विशुद्धि के क्षण मे केवल शील की विशुद्धि का ही प्रयास होता है। चित्त-विशुद्धि मे समाधि को प्राप्ति के लिए प्रयत्न होता है। दृष्टि-विशुद्धि मे नाम-रूप धर्मो का परिच्छेद कर के उनका सम्यक् ज्ञान किया जाता है, तथा काक्षावितरणविशुद्धि के समय नाम-रूप धर्मो के मुख्य कारणो का अन्वेषण किया जाता है।

मार्गामार्ग-दर्शन-विशुद्धि की उत्पत्ति के लिए नाम-रूप धर्मो का कारणो के साथ परिच्छेद कर के अनित्य आदि तीन लक्षणो मे आरोपित कर के उनका विचार मनन के सम्मर्शन-ज्ञान द्वारा किया जाता है।

आठ ज्ञानो के अनुसार सिरे को प्राप्त हुई विपश्यना और नववाँ सत्य के अनुलोम जाने वाला ज्ञान यह 'प्रतिपदा-ज्ञानदर्शन-विशुद्धि' है। इसमे आठ ज्ञान इस प्रकार है— (१) उदय-व्यय ज्ञान (२) भङ्गानुपश्यना ज्ञान (३) भयतोप-स्थान ज्ञान (४) आदीनव ज्ञान (५) निर्वेद ज्ञान (६) मुञ्चितुकम्यता ज्ञान (७) प्रति-सङ्ख्या ज्ञान (८) सस्कारोपेक्षा ज्ञान। नववाँ सत्य के अनुलोम जाने वाला 'अनुलोभ' ज्ञान है। इनके अनन्तर 'गोत्रभू ज्ञान' हो कर दसवाँ 'मार्गफल' ज्ञान है।

१) उदय-व्यय ज्ञान — विपश्यना मे सवेदना के आधार पर उत्पाद और व्यय की अनुभूति होती है। स्थूल से ले कर सूक्ष्म तक ज्ञान होता है। नाम-रूप धर्मो मे केवल उत्पाद-व्यय, उत्पाद-व्यय ही है।

२) भङ्ग ज्ञान — उत्पाद-व्यय इतने शीघ्र गति से अनुभूत होने लगता है जब स्थूल सवेदना सूक्ष्म हो जाती है और केवल धारा–प्रवाह ही अनुभूत होता है, भङ्ग ही भङ्ग का ज्ञान होता है।

३) भयतोपस्थान ज्ञान — भङ्ग ज्ञान से सभी सस्कार-धर्म भयावह प्रतीत होते हैं।

४) आदीनव ज्ञान — नामरूप-धर्मो मे दोषो की अनुभूति होती है।

(५) निर्वेद ज्ञान — नाम-रूपात्मक संस्कार-धर्मो के प्रति उदासीनता, विराग उत्पन्न होता है।

(६) मुञ्चितुकम्यता ज्ञान — सस्कार-धर्मो से मुक्ति चाहने वाला ज्ञान उत्पन्न होता है।

(७) प्रतिसख्या ज्ञान — सस्कार-धर्मो मे अनित्य, दु ख और अनात्म लक्षणो की पुन. पुन विपश्यना करने वाला ज्ञान है।

(८) सस्कारोपेक्षा ज्ञान — सस्कार-धर्मो को अनित्य,दु ख, अनात्म लक्षणो से जान कर भय, आदीनव, निर्वेद-मुञ्चिता द्वारा न देख कर उनकी उपेक्षा करने मे समर्थ ज्ञान 'सस्कारोपेक्षा' ज्ञान है।

(९) अनुलोम ज्ञान — पूर्व के आठ ज्ञानो की तरह अनित्य, दु ख, अनात्म लक्षणो द्वारा ही साधक विपश्यना करता है और मार्ग-ज्ञान एव फल-ज्ञान की ओर वढता है।

इस प्रकार, उदय-व्यय ज्ञान से लेकर अनुलोम-ज्ञान तक क्रमश उत्पन्न होने वाले उपर्युक्त नौ विपश्यना-ज्ञानो को प्रतिपदा-ज्ञानदर्शन-विशुद्धि कहते हैं। इसके अनन्तर गोत्रभूज्ञान होता है।

गोत्रभू ज्ञान—उपरोक्त ज्ञान परिपक्व होने पर गोत्रभू-ज्ञान उत्पन्न होता है, जिसमे गोत्र वदल जाता है। तव सत्काय-दृष्टि एव विचिकित्सा से विरहित स्कन्ध-सन्तति हो जाती है और यहाँ से मार्गफल की ओर छलाग लगाने का काम होता है।

मार्गफल — मार्ग-चित्त उत्पन्न होता है और फल-चित्त की प्राप्ति होती है यही निर्वाण का साक्षात्कार है। चार मार्ग और चार फल इस प्रकार है —(१) स्रोतापन्न। (२) सकृदागामी (३) अनागामी (४) अर्हत्।

निर्वाण — वुद्ध-शिक्षा का एकमात्र रस 'निर्वाण' है। निर्वाण मुक्ति का साक्षात्कार है, परमसत्य का साक्षात्कार है, फिर इसे चाहे कोई ईश्वर कहे या और किसी नाम से कहे। यह परमसत्य इन्द्रियातीत है। इसके साक्षात्कार का वर्णन शब्दो से नही किया जा सकता, केवल अपने स्वय की अनुभूति से ही यह अवस्था जानी जा सकती है। शब्द इन्द्रियजन्य स्थिति मे होते है और निर्वाण की स्थिति इन्द्रियातीत है, जो नित्य, ध्रुव, शाश्वत, परमसुख, अमृत और सत्य है।

विपश्यना साधना द्वारा चित्त के मैल उतरते उतरते, अनेक जन्मो के संस्कार समाप्त होते होते, चित्त मे निर्मलता वढते वढते,सत्कायदृष्टि एव विचिकित्सा समाप्त

होने पर किसी भी क्षण निर्वाण मे डुबकी लग सकती है। इसी जीवन मे भी यह डुबकी लग सकती है, निर्वाण का साक्षात्कार हो सकता है और फिर, स्रोत के मार्ग मे साधक पड जाता है, जो पहला मार्गफल है। वह स्रोतापन्न हो जाता है, जो कि इसके बाद केवल सात ही जन्म हो सकते है। यह अवस्था अपने अपने पूर्वजन्मो के सञ्चित कर्म-सस्कार, साधना मे उनकी उदीर्णा तथा निर्जरा, अभ्यास की निरन्तरता, सजगता एव समता का चित्त-भाव और चित्त की निर्मलता, इन बातो पर निर्भर है। यह एक अनमोल रत्न है, जो कि इस अनमोल साधना द्वारा साधक को इसी जीवन मे भी प्राप्त हो सकता है; उसका मङ्गल, कल्याण, स्वस्ति, मुक्ति हो सकती है।

बोधिपक्षीय धर्म— इसमे ३७ धर्म है। चार स्मृतिप्रस्थान, चार सम्यक् प्रधान, चार ऋद्धिपाद, पाच इन्द्रिय, पाच बल, सात बोध्यङ्ग और आर्य-अष्टाङ्गिक मार्ग, इस तरह बोधिपक्षीय कुल ३७ धर्म है।

पारमिताएँ— पारमी याने पार लगानेवाली, अर्थात् गुणो की पराकाष्ठा। पारमिता का अर्थ है 'पूर्णता'।

पारमिताएँ दस है— (१) निष्क्रमण (घर छोडना) (२) अधिष्ठान (दृढ निश्चय) (३) दान (बदले मे प्राप्ति की कतई भावना नही रखने वाला दान) (४) शील (सदाचार) (५) क्षान्ति (कितना भी अपकार होते हुए चित्त की अकोपनता, सहिष्णुता) (६) वीर्य (पुरुषार्थ, परिश्रम) (७) ध्यान (स्थूल सच्चाई से सूक्ष्मतम सच्चाई तक अपनी अनुभूति से जानना और निर्वाण के साक्षात्कार तक पहुँचना) (८) प्रज्ञा (यथाभूत ज्ञान-दर्शन) (९) मैत्री (मैत्री, करुणा, मुदिता का भाव पुष्ट करना) (१०) उपेक्षा (सुख-दु ख मे समता-भाव)।

अपने जीवन मे इन पारमिताओ की पूर्ति का जो सकल्प करता है, वह "बोधिसत्त्व' कहलाता है। उपर्युक्त पारमिताओ की परिपूर्णता मे अनेक जन्मो की तपश्चर्या होती है और तभी, बुद्धत्व की प्राप्ति होती है।

पारमिताओ की साधना जीवन मे उतारना हर गृहस्थ के लिए अत्यत लाभ प्रद है। यह भी अनमोल साधना है। इसका विस्तार से वर्णन 'पारमिताओ की साधना' अध्याय मे दिया है।

अन्तत ३२ वे अध्याय मे बोधि-चित्त, बोधिचर्या एव सम्यक् सम्बुद्ध का वर्णन सक्षेप मे दिया गया है। भगवान बुद्ध की जीवनी भी सक्षेप मे दी गयी है।

पांचवां विभाग —परिचय दर्शन

इस विभाग मे विपश्यना साधना के शिक्षण-केंद्र इस समय कहाँ कहाँ पर है, इसकी जानकारी दी गयी है। प्रमुख केन्द्र इगतपुरी (जि नाशिक, महाराष्ट्र) स्थान है। हैद्राबाद (आन्ध्र) एव जयपूर (राजस्थान) मे भी केन्द्र स्थापित हुए है।

भारत मे भी और अन्य स्थानो मे केन्द्र-स्थापना का कार्य-प्रारम्भ उत्साह के साथ हो रहा है। वैसे ही, विदेशो मे भी कतिपय केन्द्रो की स्थापना हुई है और अनेक स्थानो पर भी नये केन्द्र निर्माण हो रहे हैं। इस अध्याय मे शिक्षा सम्वन्धी जानकारी तथा नियम, निवास आदि की जानकारी दी गयी है।

इसी विभाग मे पूज्य गुरुजी श्री सत्यनारायणजी गोएन्का एव सयाजी ऊ वा खिन की जीवनी पर भी सक्षेप मे प्रकाश डाला गया है। आचार्य-परम्परा का भी परिचय दिया गया है।

भगवाग वुद्ध की वाणी की रक्षा गत २५००वर्ष कैसे कैसे हुई, इसकी भी जानकारी दी गयी है। आज तक वुद्धवाणी को लेकर छ सगायन हो चुके है, इस वारे मे एक ऐतिहासिक दृष्टिक्षेप भी किया गया है। वुद्धवाणी के मूल-ग्रन्थो की जानकारी भी दी गयी है।

'उपसहार' मे विपश्यना साधना की हमारे जीवन मे अत्यत महत्वपूर्ण उपयोगिता पर एव अत्यावश्यकता पर सक्षिप्त मे प्रकाश डाला गया है।

अन्त मे, ग्रन्थ-सदर्भ, शव्दानुत्रमण ' एव शव्दार्थ-सचय दिये गये हैं। साधको को विपय समझने के लिए इनका वहुमूल्य उपयोग होगा।

ग्रन्थ का प्रारम्भ 'मेरी अपनी वात' से हुआ है। मेरे सम्प्रदाय से इतना कठोरतापूर्वक चिपका हुआ मैं विपश्यना साधना मे कैसे और क्यो मुडा, मुझे क्या लाभ हुआ इसका सक्षेप मे मेरी अपनी जीवनी की लघुकथा है।

भूमिका मे, ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा एव लोकोपयोगिता की भावना आदि विशदीकरण प्रस्तुत किया गया हैं।

ग्रन्थ छपते समय यद्यपि अत्यत कटाक्षता के साथ लेखन-शुद्धि की ओर ध्यान रखा गया है, फिर भी कुछ-न-कुछ गलतियाँ रह ही गयी हैं। पालि भाषा की अशुद्धिया पूर्णतया शुद्धि-पत्र मे दी गयी हैं और साथ ही हिन्दी भापा की शुद्धि जहाँ शव्द का अर्थ वदलता है, उतना ही शुद्धि-पत्र मे दिया गया है।

मुझे विश्वास है कि यह ग्रन्थ 'विपश्यना' साधको को अपने अभ्यास की प्रगति मे अत्यत सहायभूत सिद्ध होगा। कोई त्रुटिया रह गयी हो, तो मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।

पाठक–साधको के प्रति मेरी अनत मगल कामनाएँ प्रस्तुत हैं।

'सुलक्ष्मी'
२८ मुकुदनगर
पूना ४११०३७

— लक्ष्मीनारायण राठी

विषय सूची

प्रथम विभाग – जीवन दर्शन

द्वितीय विभाग – विज्ञान दर्शन

तृतीय विभाग -- विपश्यना दर्शन

चतुर्थ विभाग -- विशुद्धि दर्शन

पञ्चम विभाग -- परिचय दर्शन

◻ ◻

पालि भाषा

भगवान बुद्ध के उपदेश 'पालि' भाषा मे है। उस समय यह जनता की भाषा थी। भगवान बुद्ध के वचन 'त्रिपिटक' मे सग्रहित है। पालि-साहित्य के ग्रन्थो को मुख्य रूप से छ. विभागो मे विभक्त किया जा सकता है :-

(१) त्रिपिटक (२) अनुपिटक (३) अर्थकथा (अट्ठकथा-टीका-ग्रंथ) (४) काव्य (५) वश (६) व्याकरण, छन्द: शास्त्र, कोश आदि.

वर्ण–परिचय

स्वर –

अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ

सरल व्यञ्जन –

क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न,
प फ व भ म, य र ल व, स ह ळ अं

संस्कृत के चार स्वर ऋ, लृ, ऐ तथा औ पालि मे प्रयुक्त नही होते। ऋ के वदले अ या इ या उ का प्रयोग होता है। लृ के वदले उ का प्रयोग होता है। ऐ के वदले इ या ए का प्रयोग होता है। औ के वदले उ या ओ का प्रयोग होता है।

रास्कृत के श, ष, ड, ढ, क्ष, ज्ञ पालि भाषा मे नही पाये जाते।

श के वदले छ या स का प्रयोग होता है।

ष के वदले छ या स का प्रयोग होता है।

ड के वदले ळ का प्रयोग होता है।

ढ के वदले ळ्ह या ल्ह का प्रयोग होता है।

क्ष के वदले क्ख या ख का प्रयोग होता है।

ज्ञ के वदले ञ्ञ का प्रयोग होता है।

संस्कृत मे विसर्ग 'अ.' है, वह पालि भाषा मे नही है। सस्कृत मे 'म्' है, उसके वदले पालि मे अनुस्वार होता है। जैसे, मङगलम् के वदले मङ्गल

संस्कृत मे शव्द के अत मे आनेवाला 'न्' है, उसका पालि मे लोप हो जाता है– जैसे,'भगवान्' के वदले 'भगवा'।

पालि मे द्विवचन नही है।

पालि मे तृतीया एवं पञ्चमी विभक्तियो के रूपो मे समानता है। इसी प्रकार, चतुर्थी एव षष्ठी विभक्तियो के रूपो मे भी समानता है।

इस ग्रन्थ मे स्थान स्थान पर पालि भाषा का प्रयोग आया है; इसलिए अति संक्षेप मे पालि भाषा का यह परिचय दिया गया है।

प्रथम विभाग

जीवन-दर्शन

अध्याय १

जीवन का यथार्थ चित्रण

भौतिक विज्ञान की प्रगति के कारण प्राप्त सुख-सुविधाएं

बीसवी शताब्दी मे विज्ञान की प्रगति क्रातिकारी और आश्चर्यजनक गति से हो रही है। ससार के सभी लोग अपने जीवन मे सुख की कामना करते हुए, उसके पीछे विना समझे-बूझे द्रुत गति से दौड रहे है। विज्ञान की अनेकानेक खोजो ने अनगिनत भौतिक सुख-सुविधाए मानव को आज उपलब्ध कर दी है। मानव-जीवन के नित्य परिचय के सुखो की तालिका या सूचि बनाते हुए उनका वर्णन यहा करना सभव नही है और इस ग्रन्थ का वह उद्देश्य भी नही है। तथापि, कुछ प्रमुख सुख-सुविधाओ का उल्लेख मात्र यहा जरुरी समझा गया है।

आज हमारे घरो मे स्टील के बर्तन है, आकर्पक आधुनिक कटलरी, क्रोकरी, बिजली और गैस के ओवन है, मिक्सर, फ्रीज, धुलाई की मशीन, सफाई की मशीन, रेडिओ, टी व्ही, कॅसेट, स्टीरिओ, आदि सुख-सामग्रिया भी है।

आफिस मे आकर्षक फर्निचर, काम्प्यूटर-कैल्क्यूलेटर, टेलेक्स-टेलिफोन-इन्टरकॉम आदि आधुनिक सुविधाए है। दूकानो मे आकर्पक तथा नवनवीन डिजाईन के टेरीलीन कपडे, साडिया, कार्पेट, फर्निचर, प्लास्टिक चीजे, रगीन फोटो-चित्र आदि भी है।

कारखानो मे अत्याधुनिक और आश्चर्यकारी मशीने हमारी मति कुठित कर देती है। यातायात के क्षेत्र मे विविध डिजाइनो की कारे, बसे, रेलगाडिया, विमान आदि सेवाओ द्वारा सुख-आराम पूर्वक प्रवास किया जा सकता है। अस्पतालो मे रोग-निवारण के लिये आधुनिकतम विभिन्न उपकरण, दवाइया और यान्त्रिक सुविधाए भी उपलब्ध है।

आज मानव चद्र पर पहुच चुका है, पृथ्वी से अन्य ग्रहो तक पहुंच रहा है, यहा तक कि, उपग्रहोद्वारा अतरिक्ष मे उडान की प्रगति मे वह सफल हो रहा है। यही नही, उसने अति-विध्वसक और सर्व-सहारक बम का भी निर्माण किया है।

इस प्रकार से, मनुष्य की बुद्धि को चकित करा देनेवाले विभिन्न अनुसधानो द्वारा वैज्ञानिक भौतिक प्रगति के पथ पर आगे बढ रहे है। परतु इन लगातार निर्मित सुख-सुविधाओ के प्राप्त होने पर भी, क्या हम वास्तविक सुख को प्राप्त कर रहे है? क्या हमारे दुख-दर्द, चिन्ताए और आपत्तिया कम हुई है? हमारे इन प्रश्नो का

उत्तर निराशाजनक है । हमें कहना पडता है कि, जितने भौतिक सुख, जितनी सुविधाएं हमे प्राप्त हो रही है, दु ख उनसे कई गुना बढ रहा है, वह किंचित भी कम नही हो पाया है ।

दु.ख और यातनाओं का स्वरूप

गरीबी निरंतर बढती जा रही है । किसी को रोटी मिल नही रही है, तो किसी को पहनने-ओढने को कपडा नही है। किसी को रहने-आसरे को जगह नही है, तो किसी को परिवार-गुजारे के लिये काम-धदा या नोकरी नही है । अनेक लोग मदिरा के अड्डो के बारबार चक्कर काट रहे है, व्यसनाधीन बन गये है । झोंपडियो की सख्या दिन-प्रतिदिन बढ रही है और चारों ओर गन्दगी फैल रही है । चोरी-डकैती, खून-हत्या, दगे-फिसाद बढ रहे हैं । असख्य लोग पादचारी-रास्तोपर रहते हैं, पास-पडोस मे लूटमार हो रही है, कोई भी सुरक्षित नही है । अनगिनत लोग अनेकों व्याधियों से पीडित है, चिन्ता से बिलख रहे हैं, रोते चिल्लाते रहते है ।

जिसको घर है, उसे नोकरी नही है । नोकरी है तो काम से सतोष नही है । वेतन मिलता है तो परिवार-निर्वाह के लिये वह अधूरा है और फिर, नोकरी बंद होने का सदा भय बना रहता है । परिवार के परिवार चिन्ता-मग्न है, उन्हे सुख-समाधान किसी प्रकार से सभव नही हो पा रहा है ।

जिस किसी के पास धन-सम्पत्ति है और जो व्यौपार-उद्योग मे सलग्न है, वे अपना धन सुरक्षित रखने मे ही चिन्तातुर है । व्यौपार-उद्योग मे उन्हे नफा-नुकसान का भी सोच है । वे अनेको कारणो से फिक्र से घिरे हुये है । कोई घरके लोगो की बीमारी से त्रस्त है, तो कोई शासकीय कठोर नियमो से बचने के उपायो मे व्यस्त है । कोई अपने कारखाने से निर्मित वस्तुओ के लिये आवश्यक कच्चे माल के अभाव से चिंतित है, तो कोई तैयार माल की बिक्री न होने से त्रस्त है । कोई अपने कारखाने की यंत्र-सामग्री पुरानी होने से उत्पादन मे खलल पहुचने से हो रही नुकसानी से अस्वस्थ है, तो कोई मजदूर-समस्या से अत्यंत तग है । इन अनेकानेक कारणो से व्यौपार-उद्योगो मे रत हर व्यक्ति चिंतित है, पीडित है, व्याकुल है और वह सुख-चैन से कोसो दूर है ।

जिस किसी को यात्रा-प्रवास करना है, उसे भी नाना कठिनाइयो का सामना करना पडता है और अस्वस्थ मन से समय समय पर जूझना पडता है । सदा भीड है और आरक्षण के लिये दौड-धूप हो रही है । भीड से बचने की कोशिश और सुरक्षित पहुचने की चिंता सवार है । सदा हो रही दुर्घटनाओ के भय से हर समय मानसिक तनाव बढ रहा है । यात्रा-प्रवास मे कही भी सुख-शाति नही है ।

हर किसी के घर मे शारीरिक अस्वस्थता नजर आ रही है । परिवार-प्रमुख स्वयम्, माता-पिता, पत्नी, बच्चे, इनमे से किसी न किसी को बीमारी लगी हुई ही

है। लोग अनेक रोगो से त्रस्त है, दु:ख से तडपते देखे जाते है, तो इधर, अस्पतालो मे भीड है और भर्ती होना भी कठिन है।

बच्चो को पाठशालाओ मे प्रवेश प्राप्त करा देने की समस्या भी गंभीर है। उन्हे स्कूल मे सुरक्षित पहुचाना और लौटा लाना चिता का विषय बन गया है। चिता और त्रास के अनेकानेक रूप है, जिनसे चित्त सदा बेचैन है। अदालतो मे झगडे, समाजमे मनमुटाव, मित्रो मे अनबन, राजनीति मे झगडे, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे पगपग पर अनगिनत सघर्ष ही दीखते है। कही आत्मीय जन के निधन से तीव्र व्याकुलता है। मन की उद्विग्नता बढ रही है। दु ख, चिता और तनाव से जीवन ग्रसित है।

फिर सुखी कौन है ?

तो फिर, क्या साधु-सन्यासी और मठाधीश सुखी है ? क्या वे चिता और तनाव से मुक्ति पा चुके है ? नही, नही ! वे भी अपना दल बनाने मे तथा परस्पर इर्ष्या-द्वेष करने मे व्यस्त है और निरतर चिंतित ही रहते नजर आते है। यदि राजा-महाराजाओ को देखे, तो वे भी कतई सुखी नही है। शत्रु के आक्रमण-भय से वे भी हर क्षण सत्रस्त है, सदा दु खी ही है। तो क्या नेतागण सुखी है ? जी, नही ! बेचारे वे तो अपनी प्रतिष्ठा के लिये मारे मारे फिरते है, स्पर्धा से पीडित है और एक दूसरे पर हावी होने मे प्रयत्नशील है, कुटिलता के वे भी शिकार है।

अत , पूरे विश्व की प्रवृत्तियो का हमारी आँखो के सामने चित्रण करने पर यही सिद्ध होता है कि, ससार मे सुख क्षणिक और अनित्य है, दु ख चिरकाल और नित्य जैसा अनुभव होता है। सुख की प्राप्ति के लिये उसके पीछे हर कोई दौड रहा है और उस प्राप्ति की प्रतीक्षा मे वह दु ख ही दु ख भोग रहा है। और फिर, सत्रस्त होकर उसका मानसिक तनाव या दबाव यदि सीमा से अधिक बढ जाता है, तो क्षणमात्र के छुटकारे के लिये वह समाचारपत्र पढता है, ताश खेलता है, रेडिओ सुनता है, टी व्ही. देखता है, सिनेमा जाता है, उद्यान मे चक्कर काटता है या मित्रो मे गपशप लगाने कही बैठ जाता है। इस तरह के अनेको प्रयास मे व्यक्ति मानसिक दबाव कम करने का रास्ता ढूँढता है, परतु लाख प्रयत्न करने पर भी उसकी मानसिक अवस्था मे अपेक्षित परिवर्तन तो नही होता, अपितु, मन का दु ख बढता ही जाता है। दु ख का बोझ हल्का करने के लिये, उसे भुलाने के लिये वह समय समय के त्योहार भी मनाता है और क्षणिक ही क्यो न हो, वह सुख की सामग्री जुटाने का प्रयत्न करता है। फिर भी उसका दु ख मिटता नही है और तब, रक्तचाप, हृदय की कमजोरी, निद्रानाश, मधुमेह, अपचन, नसोकी दुर्बलता, शारीरिक अनेको पीडाएं और रोगों का वह भक्ष्य बन जाता है। यह मानसिक अस्वस्थता घर के भीतर और बाहर, मित्रो मे और परिवार मे दु ख ही दु ख बढाती है और सुख गायब हो जाता है। मानसिक दुर्बलता का परिणाम दु ख ही है, यह उसे पगपग पर अनुभव होता है।

इस दयनीय अवस्था से छुटकारा पाने के लिये मनुष्य अन्य और उपायों को अपनाने की खतरनाक चेष्टा करता है। सिरदर्द तथा मानसिक तनाव को कम करने के लिये वह मदिरापान, एल एस डी., मार्जुना आदि मादक पदार्थों का सेवन करने लगता है, सिगरेट-पान करने लगता है और परिणामत , वह अधिक दुखी ही बनता है।

परिवारो मे भाई-भाइयो मे, पति-पत्नी मे सघर्ष दिखायी देते है। बच्चे बडे होते है तब वे भी अपनी मनमानी करने लग जाते है। उनका स्वैराचार माता-पिता को नापसद रहता है। धर्म के बाह्य आडम्बरो के कारण विवाह एक गभीर समस्या बन गयी है और प्रेम-विवाह, अतरजातीय विवाह, विवाह-विच्छेद आदि बातो मे माता-पिता, परिवार और समाज-जीवन सभी त्रस्त और उध्वस्त हो रहे है। मनुष्य यह समझ ही नही पाता कि, सभी सुख-सुविधाएँ होते हुये भी जीवन दु खमय क्यों बन जाता है।

इन बातो से यह स्पष्ट होता है कि, मनुष्य का मन सदा ही विकारो से भरा हुवा है। कभी उसमे तीव्र अभिलाषा या आसक्ति उत्पन्न होती है, तो कभी द्वेष-क्रोध उसपर सवार होते है। कभी वह मोह-लोभ के वश मे चला जाता है, तो कभी वह ईर्ष्या-मत्सर का शिकार बन जाता है। कभी, किसी भी क्षण, वह विकार-शून्य नही पाया जाता।

जन्म ही दुःख है

ससार मे यह स्पष्ट देखा गया हे कि, मानव-जीवन दु ख मे भरा पूरा है और यह अनुभव-सिद्ध वास्तविकता है। अत इस दु ख को ठीक से पहचानना, शात और अविचल चित्त से उसकी गहराई मे जाना, बारीकी से उसका निरीक्षण करना और उसके मूलभूत कारणो का पता लगाते हुये, उससे साक्षात्कार करना ही दु ख का यथार्थ दर्शन-आर्य दर्शन-करना है।

यह जीवन तो आदि से अन्ततक, जन्म से मृत्यु तक, एक समरभूमि का-सा नाटक बन गया है। उसमे जन्म ही दु खद है। जन्म के बाद जीवन मे अनेकानेक व्याधिया है और बादमे वृद्धावस्था है। अत., दु ख बढता ही जाता हे। अन्त मे, मरण तो अत्यत दु खदायी है ही। अन्य अनेको कारणो से भी दु ख उत्पन्न हो जाता है। मनचाही बातो का न होना, अनचाही बाते हो जाना, प्रिय वस्तु या स्थिति का वियोग होना, अप्रिय वस्तु या स्थिति का सयोग होना, वाछित वस्तु की प्राप्ति न होना आदि क्रियाए भी तो दु ख ही उत्पन्न करती है।

केवल मनुष्य ही नही, अपितु ससार के समस्त प्राणी प्राणांतक पीडा से कराह रहे है। छोटे जीव बडे जीवो का भक्ष्य बनते है, उनके चगुल से छूट नही सकते है।

वे निर्दयी के पत्थर-कलेजे को द्रवित नही कर पाते है, उल्टे, मरणातक पीडा से तडफडाते है और अपने प्राणो को खो बैठते है। मनुष्य भी किसी से कम निर्दयी और क्रूर नही है, उसकी क्रूरता की पूर्ण कल्पना भी नही की जा सकती।

सच तो यह है कि, दु ख के वास्तविक साक्षात्कार से हमारा जी घवडा उठता है। तो क्या मनुष्य जीवन इसी नैराश्य मे विताए ? क्या मनुष्य अपनी गृहस्थी को छोड दे और जगल मे चला जाय ? क्या सन्यासी वनकर हिमालय की गुफाओं का आश्रय लेते हुये मनुष्य को दु खो से छुटकारा मिल सकता है ? नही, यह संभव नही है। उसे तो गृहस्थी मे रहकर ही दु खो से मुक्ति पा लेनी है। यह कैसे सभव है, यही उसके सन्मुख विचारणीय समस्या है, प्रश्न है।

अत: पहले पहले तो दु.ख के मूल कारणो को हमे ढूढना है, समझना है और उन कारणो को दूर करने का सही रास्ता अपनाना है।

आइये और समझे ।

□ □ □

अध्याय २

दुःख और दुःख का मूल कारण

सब कुछ परिवर्तनशील है

परिवर्तनशीलता, अविरत वदलते रहना, सदा गतिमान् रहना ही इस सृष्टि का तथा प्रकृति का अटूट नियम है। यही हमारे जीवन का भी गुणधर्म है। और यही हमारा प्रमुख दु.ख है। परिवर्तनशीलता का यह क्रम एक क्षण के लिये भी नही रुकता। यह कालचक्र प्रतिक्षण तीव्र गति से चलता ही रहता है। इस काल-प्रवाह मे कोई व्यक्ति, कोई वस्तु, कोई स्थिति या अवस्था एक जैसी नही रहती, वह क्षण-क्षण वदलती ही रहती है। अनागत या भविष्य वर्तमान वन जाता है और वर्तमान अतीत या भूतकाल मे चला जाता है। परिवर्तनशीलता का यह क्रम अवाध गति से प्रवाहित रहता है। यही कारण है कि, जिस वर्तमान को हम प्रयत्नपूर्वक अपनी मुट्ठी मे रखना चाहते है, वह देखते देखते हमारे हाथो से छूट जाता है। वर्तमान सुख को प्रिय मानकर हम जितना कसके उसे पकडकर रखना चाहते है, हम से छूटने पर वह उतना ही दु.खदायी वन जाता है। यही कारण है कि, प्रिय व्यक्ति से विछुड जानेपर हम विलाप करते है, प्रिय स्थिति के वदल जाने पर हम सिर पीटते है। जैसे प्रिय स्थिति से वियोग हो जाता है, वैसे ही अप्रिय स्थिति से सयोग भी हो जाता है। हम प्रिय का वियोग रोकने मे असमर्थ है, अप्रिय का सयोग रोकने मे भी सर्वथा असमर्थ रहते हे। अतः प्रिय का वियोग और अप्रिय का सयोग दोनो वस्तुत· दु खदायी ही है।

दुःख का वास्तव स्वरूप

दु ख का और एक पीडाजनक स्वरूप है। 'असतोप' भविष्य के प्रति उत्पन्न कामना, वर्तमान के प्रति असतोष उत्पन्न करती है। वैसे ही, अप्राप्त के प्रति जगी कामना, प्राप्त के प्रति असतोप पैदा करती है। यह कामना जितनी प्रवल होती है, असतोप उतना ही तीव्र होता है और दु ख भी उतना ही असह्य हो उठता है। जवतक कामना की पूर्ति नही होती, तव तक असतोप तो रहेगा ही और साथ ही साथ दु ख भी दु ख रहेगा। तो क्या हमारी अनगिनत कामनाओ की पूर्ति कभी सभव हो सकेगी ? यह अति कठिन है, क्योकि उसके कोई पेंदी है ही नही। हम मे से हर व्यक्ति यह कामना या इच्छा करता है कि, मै अन्य जनो से सदैव ऊचा और श्रेष्ठ वना रहूं, फिर चाहे धन-वैभव से हो या प्रतिष्ठा-अधिकार-पद से हो। यहाँ हमे इस वात का ध्यान रखना है कि, हमारी कामनाओ का कोई अन्त ही नही है। सच तो यही है कि, कामना और तृष्णा की पूर्ति न होना दु ख ही दु ख है।

यही कामना या तृष्णा जव और वढती है,तो वह गहरी लालसा का रूप धारण कर लेती है। फिर,गहरी आसक्ति उत्पन्न होने लगती है और आसक्ति मे दु:ख छिपा रहता ही है। सवसे वडी आसक्ति तो 'मै और मेरा' कहने मे, समझने मे ही है। तव, मन मे अहभाव या ममभाव उत्पन्न हो जाता है और वह मन के भीतर चुभनेवाली गहरी पीडा का कारण वन जाता है।

यह अहम् का भाव किस के प्रति पैदा होता है? इस शरीर-प्रपच के प्रति या इस चित्त-प्रपंच के प्रति ? इन्हे ही 'मै-मेरा' कहकर या समझकर हम निरतर व्याकुल होते रहते है। इस भौतिक शरीर-प्रपच को ही पुरानी भापा मे 'रूप-स्कध' कहते है। और, चित्त के जाननेवाले, पहचाननेवाले, सवेदनशील होनेवाले और प्रतिक्रिया करनेवाले, इन चारो समूहो को ही पुरानी भाषा मे 'नामस्कध' कहते है। एक रूपस्कध और चार नामस्कध, ऐसे पाचो के मिलन से जो जीवनधारा वहती है, उसे ही पुरानी भापा मे 'पच-स्कध' कहा गया है। तन और मन की इस पचस्कधी जीवन-धारा को ही तो हम 'मै और मेरा' मानते रहे है। इन पाचो के प्रति जो गहरी आसक्ति उत्पन्न होती है, उसे ही पुरानी भापा मे 'उपादान' कहते है। जहा आसक्ति है, वहा दुःख है ही। अत पचस्कधो के प्रति हमारा यह उपादान याने गहरी आसक्ति दु ख के अतिरिक्त और कुछ भी तो नही है।

भविष्य मे क्या होगा, कुछ भी निश्चित नही है। यदि कुछ निश्चित है, तो वह केवल मृत्यु ही है। मृत्यु के आनेपर हमारे इस 'मै-मेरे' का क्या होगा ? इस प्रकार, हम अपने आपको सदा व्याकुल और भयभीत ही रखे रहते है। जन्म–जन्मान्तरो तक चलती रहनेवाली शरीर और चित्त की मिलकर यह जीवनधारा भयप्रद और अनित्य है, दु खदायी है। अत इसके प्रति आसक्त हो उठना, सचमुच भयानक दु ख को आमन्त्रित करना ही तो है। यदि अनेक जन्मो की वात छोड भी दे, तो भी इस वर्तमान जन्म का आरभ दु ख से ही शुरू हुवा है। अत जन्म दु ख ही तो है। जीवन का मध्य भी अनेकानेक व्याधियो से व्याप्त है और जरा याने वृद्धावस्था भी दु खमय ही है। इस तरह, जीवनभर दु ख का ही प्रवाह चलता रहता है। जव भी किसी पीडा से मन त्रसित होता है, तो मनुष्य शोक-सतप्त हो उठता है। इस, शोक की असह्यता रुदन और आक्रोश कराती है। इसी को पुरानी भाषा मे 'परिदेव' कहा गया है। शरीर की पीडा से उत्पन्न दु ख तो दु ख है ही, इससे उत्पन्न होनेवाला चित्त का उत्पीडन भी 'दौर्मनस्यता' का दु ख है। जव मनुष्य अपने शरीर या मन के दु ख को प्रकट नही कर सकता, तो उसका मन भीतर ही भीतर घुटन से भर उठता है। इसी घुटन को पुरानी भापा मे 'उपायास' कहा गया है। घुटन का यह दु ख और भी भयकर अनुभव होता है। इस प्रकार, जीवन मे चारो ओर दु ख का समुद्र लहराता है, जीवन भर दु ख ही दु ख है।

साराश मे, मनुष्य के जीवन मं जन्म का, रोग का, जरा का, मृत्यु का, सुख के चले जाने का, दु ख से लिपटने का, चिंता और तनाव का, अभाव के खोखलेपन का, अपूर्णता का, राग-द्वेप का, अपमान का, धन-प्रतिष्ठा-पद प्राप्त न होनेका या खो जाने का, अतृप्ति-असंतुप्टि का, निर्धनता आदि का अनगिनत दु खो का पर्वतप्राय ढेर ही मानो लगा हुआ है।

दुःख के प्रमुख प्रकार

प्रकार १ : दु:क्ख-दु ख अर्थात् ऐसा स्थूल दु ख जो स्वत स्पष्ट है, जो प्रत्यक्ष है। जैसे, चोट लग जाना, किसी प्रिय व्यक्ति की मृत्यु हो जाना, भूख-प्यास से त्रस्त होना, आसरा न होना, कपडा न मिलना, व्याधियो से कराह उठना, आदि।

प्रकार २ : विपरिणाम दु ख याने परिवर्तनशीलता का दु ख । जैसे, परि-स्थितिया समय समय पर वदलना याने अनुकूल और सुखद स्थिति का सर्वथा प्रतिकूल और दु खद वन जाना, मनचाही वात सर्वथा अनचाही मे परिवर्तित हो जाना, प्रिय व्यक्ति की दृढ प्रेम-शृखला निजी स्वार्थ के टकराव से टूट जाना, वफादारी वेवफाई मे वदल जाना, परम स्नेह रखनेवाले मित्र का धोखा देना, स्नेह-सवध का विच्छेद हो जाना, मित्रता टूट जाना, धन-वैभव का नष्ट हो जाना, पद और अधिकार से वचित हो जाना, प्रतिष्ठा का छिन्न-भिन्न हो जाना, प्रभुसत्ता का मटियामेट हो जाना, इत्यादि अप्रत्यक्ष दु ख है। यह परोक्ष दु ख है, छिपा हुआ सूक्ष्म दु ख है, जो प्यार-प्रियता की रगत मे प्रत्यक्ष नही दीखता। सुखद वातावरण के समय, आसक्ति युक्त प्रियता के समय, धनसत्ता या राजसत्ता की मादकता के समय यदि हमे यह विपरिणाम दु ख दीखता रहे, तो हम उस अनुकूल स्थिति मे मदाध नही हो सकेंगे। प्रकृति के विपरिणामी स्वभाव को, कालचक्र की परिवर्तनशील गति को न समझना भी अपने आप मे एक वडा दु ख ही है। हम जीवन के व्यवहार नित्य, शाश्वत और ध्रुव मानकर करते रहते हैं। जव मुख आता है, तो उससे हम पागल-से हो जाते है, यह मानकर कि, हम उसे सदा भोगते रहेगे। इसी प्रकार जव दु ख आता है, तो हम इस कदर व्याकुल हो उठते हैं, यह मानकर कि, यह दु ख सदा ऐसा ही वना रहेगा।

प्रकार ३ सस्कार दु ख। सस्कार का अर्थ है चित्त की चेतना से उत्पन्न होनेवाले समस्त कर्मो के फलस्वरूप सन्मुख आनेवाली वस्तुए, व्यक्ति और स्थितिया। सस्कारजन्य कर्मो के फलो से किसी का छुटकारा नही है, चाहे समुद्र की तह मे चले जाए, पर्वत की गुफाओ मे छिप जाए या चाहे अतरिक्ष की विशालता मे खो जाए। संस्कार-जन्य कर्मफल तो हम जहा भी जाएं, जहा भी हो, हमारी जीवन-धारा के सनग्न ही रहेगे। वैसे तो, संस्कार-दु ख के अतर्गत सभी प्रकार के दु ख आ जाते है। जो भी दु ख किन्ही कारणो से उत्पन्न होता है, वह संस्कार के अतर्गत ही आ जाता

है और उसमे सदा परिवर्तन आते रहना निश्चित ही है। ये परिवर्तन अत्यंत सूक्ष्म अवस्था मे सर्वदा आते ही रहते है। इन्ही सस्कारजन्य परिवर्तनो के कारण चित्त और शरीर की मिली जुली जीवनधारा प्रतिक्षण प्रवाहित रहती है। मृत्यु के वाद भी अेक ओर मृत शरीर विशृखलित होते रहता है, तो दूसरी ओर चित्त धारा इम मृत शरीर मे विदा होकर किसी नये शरीर-स्कध से जा जुडती है और उसके निर्माण मे सहयोग देती है तथा उसके साथ एक नया जीवन-प्रवाह आरभ कर देती है। इस प्रकार, एक के वाद एक, जीवनधारा का यह प्रवाह अवाध-रूप मे चलता ही रहता है। एक क्षण के लिये भी उसके विश्राम करने की, या शान्त होकर रुक जाने की कोई सभावना ही नही है। ऐसा प्रतीत होता है कि, सब कुछ किसी ऐमे भयकर चक्रवात मे उद्वेलित हो उठा है, जो कही रुकने का नाम ही नही लेता। जीवन-प्रवाह की यह अखड वेचैनी वहुत सूक्ष्मता से ही समझी जा सकती हे।

दुक्ख–दु ख तो वडी आसानी से समझा जा सकता है, विपरिणाम-दु ख भी सामान्य चितन-मनन द्वारा समझ मे आ सकता है, परतु सस्कार-जन्य दु ख को समझने और जानने के लिये सच्चाई की अतल गहराइयो मे उतरना पडता है, इसीलिये यह दु ख तीनो प्रकार के दु खो मे सर्वाधिक सूक्ष्म है। 'विपश्यना' साधना द्वारा ही इन तीनो प्रकार के दु खो का साक्षात्कार होता है।

दुःख-दर्शन क्यो, सुख-दर्शन क्यो नही ?

कोई कोई व्यक्ति दु ख-दर्शन की सच्चाई से घवडाता है। वह तर्क देता है कि, "यह सारा दृष्टिकोण ही गलत है। हम जीवन के कृष्णपक्ष पर ही इतना जोर क्यो दे ? क्यो न शुक्लपक्ष को अधिक महत्त्व दे, जिसमे सुख के समीप रहते हुये सुख-कल्पना का रग जीवन पर चढाए ? क्यो न हम अपने–आपको सुखी मानते हुये अपरिमित आनंद की कल्पना को भरते रहे ? दु ख-दर्शन ऋणात्मक दृष्टिकोण है, निषेधात्मक (निगेटिव्ह) दृष्टिकोण है; जब कि सुख का चितन धनात्मक दृष्टिकोण है, विधेयात्मक (पॉजिटिव्ह) दृष्टिकोण है। मनुष्य की उत्क्रान्ति वह व्याकुल रहने मे नही होती। भौतिक विज्ञान की जो कल्पनातीत प्रगति हो रही है, जिन वैज्ञानिको के अथक् प्रयत्नो से हो रही है, वे यदि दु ख-दर्शन ही करते रहते, तो यह इतनी प्रगति कैसे होती ? महत्वाकाक्षा और उच्च ध्येय को लेकर ही मनुष्य आगे वढने का प्रयत्न करता है। वह यदि दु ख-दर्शन ही करता रहे, तो दु.ख से व्याप्त विचारो मे वह सदा लीन रहेगा, तव वह अपने ध्येय तक कव किस प्रकार पहुचेगा ? अपने परिवार का, मातृभूमि का सरक्षण तो असीम दु ख झेलकर ही हम आगे वढ सकते है। दु ख-दर्शन से तो नैराश्य की भावना ही पनपेगी और फिर, प्रगति ही कुठित हो जायगी।"

सुनने मे यह वात वडी तर्कसगत लगती है, परतु वास्तविकता इससे परे है। यदि सुख के चितन मात्र से उसकी कल्पना को ही मन मे भर देने से हमे वास्तविक

सुख प्राप्त हो जाता हो, तो हमे इस सुझाव को ग्रहण कर लेना चाहिये; परतु ऐसा होता नही है। यह एक उदाहरण से समझिए। किसी के कपडो मे आग लग जाय और वह इस वात की कल्पना करने लगे कि, मै आग से नही जल रहा हू और वडा शात-शीतल हूं, तो उसकी यह सुखद कल्पना उसे आग की पीडा से मुक्त नही कर सकती। यदि उसे पीडा से सचमुच मुक्त होना है, तो पीडा की सच्चाई का दर्शन करना होगा, सच्चाई को स्वीकार करना होगा और आग को शीघ्र वुझाने का प्रयास करना होगा। क्योकि, वास्तविकता से पलायन नही किया जा सकता। समस्या का डटकर सामना करना होता है और उसकी गहराई मे उतरना पडता है। समस्या की गहराई मे पैठकर ही उसका समाधान खोजा जा सकता है। दु.ख की गहराई मे ही दु ख का कारण छिपा रहता है, इसलिये दु ख से पलायन नही किया जा सकता। दु ख का सामना करने के लिये उसकी गहराई मे जाकर ही उसका सम्यक् दर्शन करना हाता है।

दुःख से छुटकारा पाने का उपाय

हमे यह नही कहना है कि, ससार मे सुख के लिये कोई स्थान है ही नही। यह कहना भी ठीक नही है कि, सुख आये तव उसे दु.ख जानकर हम व्याकुल-व्यथित रहने लगे। परतु, जो व्यक्ति सुख और सत्ता के अनित्य स्वभाव को जानते हुए, भोगते हुये भी उसपर मुग्ध और मोहित नही हो जाता है तथा उस के भीतर समाये हुए विपरिणाम दु ख को देखता रहता है, वही जीवन-जगत् की सच्चाई का दर्शन कर सकता है और भविष्य मे आनेवाली दु ख-पीडाओ से अपने आपको वचा सकता है। यह जानकर कि, जुदाई आनेवाली ही है, जुदाई का दु ख अवश्यभावी है और उसका दु ख सिर पर सवार होकर हमारा मानसिक सतुलन न विगाड दे, इसलिये प्रत्येक सुखद अवस्था मे छिपे विपरिणाम दु ख का दर्शन करते रहना ही, उसकी सच्चाई का दर्शन है।

सतुलित चित्त के फलस्वरूप ही मनुष्य उत्क्राति या उन्नति की ओर सही दिशा मे वढ सकता है। वैज्ञानिक जव चित्त एकाग्र करता है, तभी वह वाछित अनु-सधान मे सफलता प्राप्त कर सकता है। वैज्ञानिक न्यूटन ने एकाग्र चित्त द्वारा ही वृक्ष से भूमि पर गिरनेवाले फल को देखने पर गुरुत्वाकर्षण का तथ्य खोज निकाला। वैज्ञानिक आर्किमिडीज ने स्नान करते हुये यह सिद्ध किया कि, कोई भी वस्तु पानी मे जव डूवती है, तो वह अपने आकार के जितना पानी वाहर फेंक देती है। ऐसे सभी आविष्कार चित्त की एकाग्रता का ही परिणाम है, एकाग्र-चित्त होने मे ही यश छिपा होता ह।

भौतिक समृद्धि से दूर नहीं होना है

कभी यह तर्क सामने आता है कि, 'जीवन मे तृष्णा, कामनाएं और प्रति-द्वदिता नही होगी, तो काम करने की प्रेरणा कैसे मिलेगी ? काम नही करेंगे, तो उत्पादन कैसे वढेगा ? और, उत्पादन नही वढेगा, तो देश मे समृद्धि-संपन्नता नही आएगी और सुख-साधनो की प्रचुरता नहीं होगी।' यह वात तो वडी तर्कसंगत प्रतीत होती है, परतु जव व्यक्ति उसकी गहराइयो मे जाकर सच्चाई को देखता है, तो उस मे छिपा धोखा स्पष्ट रूप में उसकी समझ मे आ जाता है। वह सोचने लगता है कि, साधनो की वहुलता किसलिये ? हमारी सुख-शाति के लिये ही न ? परतु सुख-शाति है कहाँ ? जिसे प्राप्त करने के पूर्व प्रतिद्वंद्विता मे या होड मे पडकर हमारा मन अतृप्त-असतुलित हो उठे, इस चेष्टा मे हम अपना संतुलन खो बैठें और जिसे प्राप्त कर लेने के वाद भी हमे तृप्ति तथा सतुष्टि का सुख उपलब्ध होना तो दूर रहा परंतु और अधिक सुख प्राप्त करने की व्याकुलता ही हम मे पैदा होती है। इस लगातार भाग-दौड मे आदि से अन्त तक दु ख ही दु ख है। इसका यह अर्थ नही कि, हम भौतिक समृद्धि से दूर भागे। नही, हम अपनी तथा औरो की गरीवी या अभावो को हटाने के लिये काम अवश्य करे और खूव परिश्रम करते हुये भी अपना मानसिक सतुलन वनाए रखें, उद्विग्न-उत्तेजित न हो, अशात-बेचैन न हो। सच्चा सुख प्राप्त होने के लिये हमे मानसिक समता वनाए रखने की आवश्यकता है। तृष्णा-जन्य प्रतिद्वद्विता, स्पर्धा दु खो की जननी है, उससे वचने मे ही सच्चा सुख है।

दुःख की सच्चाई का आर्य-दर्शन

गहरी तृष्णा से लिपटे हुए, असीम आसक्ति से चिपके हुए और अहभाव के कीचड मे फसे हुए हम वस्तुत दु ख की चक्की मे ही पिसे जा रहे है। फिर भी, हम अपने दु ख को नही जानते है, नही समझते है और उसको स्वीकार नही करते है। ऐसी दयनीय अवस्था मे हम दु ख के वाहर कैसे निकल पाएगे ?

हम दु खी इसलिये है कि, हम वर्तमान से सर्वथा असंतुष्ट है। जो 'नही' है, उसके अभाव मे हम छटपटाते है। जो 'है', उसके प्रति हमारे अतृप्त या असंतुष्ट रहनेका एकमात्र कारण यह है कि, जो 'नही' है उसे प्राप्त करने की हमारे मन मे तीव्र आकाक्षा जाग उठती है और उसके लिये मन मे गहरी तृष्णा पैदा होती है। अत. सच्चाई यह है कि, हमे किसी भी प्रकार का दु ख इसलिये होता है कि, हमारे मन की गहराई मे किसी ऐसे व्यक्ति, वस्तु अथवा स्थिति को प्राप्त करने के लिये हम बेचैन होते है, जिसका अस्तित्व ही वर्तमान क्षण मे न ी है। अत , हमारे सारे दुःखो का मूल कारण हमारे मन की तृष्णा ही है।

जीवन मे जब कभी कोई दु ख सामने आये, तो उस दु ख की सच्चाई का आर्यदर्शन यही हे कि, हम उसके मूल मे समायी हुई तृष्णा का दर्शन करे, आसक्ति का दर्शन करे। दु खके प्राप्त होनेपर उसमे डूबकर व्याकुल हो उठना, दु.ख-दर्शन करना नही है, परंतु शान्त और स्थिर चित्त द्वारा द्रष्टा बन कर उसे साक्षीभाव से देखना ही प्रथम आर्यसत्य का साक्षात्कार करना है। इसी प्रकार, जब दु ख सामने आये, तो उससे बिना उद्विग्न या उत्तेजित हुए, उस दु.ख के मूल मे समायी हुई अपनी ही तृष्णारूपी आसक्ति का दर्शन करना ही सच्चाई का दर्शन करना है. यह द्वितीय आर्यसत्य का साक्षात्कार करना है।

▣ ▣ ▣

अध्याय ३

तृष्णा क्या है ?

आसक्ति ही तृष्णा है

जीवन-निर्वाह के लिये अपनी सामान्य आवश्यकता-पूर्ति की चाह को हम तृष्णा नही कहेगे, परंतु उस चाह को पूरा करने के लिये हमारे मन मे जो तीव्र उत्तेजना पैदा होने लगती है, उसीका नाम तृष्णा है। अत साधारण प्यास को तृष्णा नही कहेगे। व्याकुलता तो तीव्र प्यास मे होती है, सामान्य प्यास मे नही होती। वैसे तो तृष्णा और आसक्ति को समानार्थी मान सकते है। आसक्ति ही हमारे सभी दु खो का मूल कारण है। तृष्णा जितनी गहरी होगी, दु ख उतना ही गहरा होगा।

तृष्णा के विभिन्न रूप

तृष्णा हमारे जीवन-पात्र मे भरा हुआ मधुर अपितु मादक विष है। मधुर इसलिये कि, स्वाद के कारण हम उसका निरतर प्राशन करना चाहते है और मादक इसलिये कि, उसके प्राशन से हम मद-मस्त होते रहते है। तब हमे पता ही नही चलता कि, हम विष-पान कर रहे है। यह विष इसलिये है कि, इसके प्राशन से हम प्रतिक्षण दु ख के चगुल मे फसते रहते है और फलत नये नये जन्म लेते रहते है। परिणाम, मृत्यु ही है।

तृष्णा हमारे जीवन तथा शरीर के घाव का पीप है, जो निरतर बहता रहता है, इस फोडे से प्रतिक्षण विषैले पीप का स्राव प्रवाहित होता रहता है।

तृष्णा हमारे जीवन तथा शरीर के कोढ की खाज है, उसे निरतर खुजलाते हुये हम इस महारोग को बढाते रहते है।

तृष्णा मृत शरीर को अच्छादित चादर है, उसे हम अज्ञान से खूबसूरत दुशाले की तरह ओढे हुए है, उसके सौन्दर्य पर मुग्ध रहते है।

तृष्णा एक ऐसी प्यास है, जो बुझाये कभी बुझती नही है। तृष्णा ऐसी तीव्र भूख है, जो मिटाये कभी मिटती नही है।

तृष्णा इस विशाल क्षितिज को पकडने के लिये लगायी एक ऐसी दौड है, जिसका कही अंत ही नही है। हम यह दौड कितनी भी तेज क्यो न करे, क्षितिज और हमारे बीच का फासला कभी कम नही हो सकता।

तृष्णा एक मृग-मरीचिका है। उस के पीछे जितना भी हम दौडे, वह निरतर आगे आगे ही दौडती प्रतीत होती है।

तृष्णा एक रवड की गेद है, जिसे हम जितने वल से जमीन पर नीचे फेंकते हैं; वह उतनी ही तेजी से ऊपर की ओर उछलती है।

तृष्णा का हम जितना दमन करते है, वह उतनी ही विस्फोटक वनती जाती है। शमन करना ही इसका एकमात्र उपाय है।

तृष्णा की गुलामी

शरीर की भूख को शमन करने के लिये आहार ग्रहण करने की नैसर्गिक आवश्यकता होती है, परतु भरपेट खा चुकने पर केवल जीभ के स्वाद के लिये खट्टे, मीठे, तीखे, चटपटे व्यजन खाते रहना, तृष्णा की गुलामी है।

प्यास लगने पर स्वच्छ, शीतल जल ग्रहण करना नैसर्गिक अवश्य है, परंतु केवल स्वाद को बढाने, विना प्यास के ही विभिन्न स्वादिष्ट पेय पीते रहना, तृष्णा की गुलामी है।

सर्दी-गरमी-वर्षा से, कीट-पतगो से, मक्खी-मच्छरो से शरीर की रक्षा करने के लिये वस्त्र धारण करना आवश्यक तथा स्वाभाविक है, परंतु नित्य नये फैशन के, चमकीले-भडकीले वस्त्राभूषण पहनते हुये ऐश्वर्य-प्रदर्शन की होड मे अपने-आपको लगाना, तृष्णा की गुलामी है।

तेज धूप तथा कंकड-काटों से वचने के लिये पावो मे जूते पहनना स्वाभाविक और जरूरी है, परतु जूता-जोड होते हुए भी, विभिन्न डिजाइनो के जूते एव चपलो का ढेर लगाते हुये वैभव का प्रदर्शन करने की लालसा से उन्हे पहनना, तृष्णा की गुलामी है।

पद-प्रतिष्ठा के लिये व्याकुल होना या उसे चिपके रहना भी तृष्णा की गुलामी है। विवाह-समारोह के अवसर पर आडवर और वैभव का प्रदर्शन करने की होड मे अपने आपको सलग्न करना भी तृष्णा की गुलामी है।

इसी मापदड से हमे अपने जीवन की प्रत्येक नैसर्गिक जरुरत को तृष्णा की गुलामी से अलग करके देखते-समझते रहना है और जरूरत एव तृष्णा की भिन्नता को जानते रहना है।

रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श तथा मनोविकल्प इन ऐन्द्रिय विषयो के पीछे पागल की तरह दौडना, नैसर्गिक आवश्यकताओ की पूर्ति कदापि नही है, अपितु ये सभी तृष्णा के ही विकार है।

तृष्णा के मुख्य प्रकार

१. **कामतृष्णा**—रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श आदि विषयों के ऐन्द्रिय सुखो के प्रति आसक्त होना और जगत् के विभिन्न विषय-सुखो की कामना करना, कामतृष्णा है।

२. **भवतृष्णा**—कामतृष्णा से भवतृष्णा सूक्ष्म है। जीवित रहने की तृष्णा ही भवतृष्णा है। मेरा अस्तित्व सदा बना रहे, मेरा भवबंधन बना रहे, मैं भवसागर मे सदा बना रहूं, इस प्रकार की तीव्र इच्छा का उत्पन्न होना ही भवतृष्णा है। प्रत्येक प्राणी जीवित रहने के लिये छटपटाता है और मृत्यु से बचने के लिये हर-सभव प्रयत्न करता है, क्योकि सामान्यतः कोई मरना नही चाहता। यही नही, मरनेपर भी जीना याने जन्मलेना चाहता है। जीवित रहने की तीव्र लालसा, न केवल वर्तमान जीवन-प्रवाह को गतिमान् रखती हे, बल्कि मृत्यु के बाद भी पुनर्जन्म का कारण बनती हे। हर मृत्यु के बाद एक नया जीवन तैयार करती हुई यह भवतृष्णा ही पुनर्जन्म का सृजन करती है। भवतृष्णा के कारण ही यह ससार विकसित होता रहता है और वह समाप्त होने का नाम ही नही लेता। मै बारबार सोचता हू कि, मै मर भी जाऊं तो भी 'मेरा' वश कायम रहे, 'मै' कायम रहू, 'मेरा' नाम कायम रहे, इसलिये कही न कही अपना नाम खुदवाकर 'मै' जीवित रहने की चेष्टा करता रहता हूं। फिर, अपने नाम से मै विद्यालय, अस्पताल खोलता हू या देवालय आदि बनवाता हू। इस प्रकार, किसी न किसी तरह मै अपना नाम अमर करने की चेष्टा करता हू। 'मेरा' शरीर भले ही मिट्टी मे मिल जाय किन्तु 'मै' तो सदा बना रहू, यह आश्वासन मुझे बडा ही प्रिय लगता हे। मृत्यु के बाद भी 'मै' सदा बना रहू, यही गहरी भवतृष्णा है। जीवन-मुक्त होनेपर भी 'मै' नही रहूगा तो मुक्ति का सुख कौन भोगेगा ? इसलिये, मुक्ति को भोगनेवाला 'मै' तो अवश्यमेव बना रहू, यह मुक्ति की तृष्णा ही है। मुक्ति का भी भोग भोगना जो है, वह भवतृष्णा ही है।

मैने इस लोक के सारे सुख भोगे है, किन्तु शास्त्रो मे कहा गया है कि स्वर्गसुख अनुपम होता है। तब, स्वर्गलोक के सुखोपभोग की तृष्णा जागने लगती है और फिर, आगे कौन कहे, ब्रह्मलोक के सुख भोगने की भी तृष्णा जाग उठे। भवतृष्णा के ही ये विविध रूप है।

३. **विभवतृष्णा**—विभवतृष्णा का चाहनेवाला मृत्यु के पश्चात् के किसी जीवन के पारलौकिक अस्तित्व पर सदेह करता हुआ, इसी जीवन मे यथासभव भोग-लिप्सा की पूर्ति मे लगा रहता है।

विभव याने वैभव और, विभव याने पुनर्जन्म का न होना। विभव तृष्णा का भोगी सासारिक सुख-वैभवो की कामना-पूर्ति के लिये अच्छे-बुरे, नैतिक-अनैतिक

—२

सभी प्रकार के साधनो का प्रयोग करता है। 'जब तक जीऊ, सुख से जीऊ' यह कामना ही विभवतृष्णा है। ऐसे लोगो के मन मे पाप-पुण्य, सदाचार-दुराचार, सत्कर्म-दुष्कर्म, सुफल-कुफल इन विचारो के लिये कोई स्थान नही होता। उनकी यही धारणा है कि, इस जीवन के अच्छे-बुरे कर्मो का फल भोगने के लिये कोई पुनर्जन्म नही है, कोई लोक या परलोक नही है। उनका सोचना है कि केवल माता-पिता के सयोग से जन्म हो गया है, एक दिन ऐसे ही मृत्यु हो जायगी और तब, शरीर जलकर भस्मीभूत हो जायगा, तो फिर पुनर्जन्म किसका होगा ? बस, यही पर सारा खेल खत्म हो जायगा। ऐसे ये लोग स्वयम् को भले ही शाश्वतवादी कहे, किन्तु वस्तुत: वे भोगवादी और उच्छेदवादी ही है।

विभवतृष्णा का एक और भी स्वरूप है। कोई मान बैठता है कि, उसके शरीर के भीतर उसका जो 'मै' है, वह शरीर के कारण ही बधा हुआ है। उसको शरीर से जब छुटकारा मिलता है, तो 'मै' को मुक्ति मिल जाती है, 'मै' मुक्त हो जाता है। इसी भ्रम से वह आत्महत्या कर लेता है और अपना जीवन ही समाप्त कर देता है। जीवनमुक्ति पाने की यह भ्रान्त-तृष्णा है।

इसी प्रकार, कोई व्यक्ति अपने जीवन-मरण के चक्कर से छुटकारा पाने की, मुक्ति-मोक्ष या निर्वाण पाने की तृष्णा से व्याकुल हो उठता है और परिणामत:, आतरिक शाति खो बैठता है। इस जीवन को नष्ट करके निर्वाण पा लेने की उसकी यह भ्रान्त तृष्णा भी विभवतृष्णा है। ऐसा व्यक्ति परमार्थ-धर्म की सच्चाई को नही जानता। सच्चाई यह है कि, पूर्णतया तृष्णा-विहीन हो जाना ही मुक्ति है, मोक्ष है, निर्वाण है।

तृष्णा ही दुःख है

सभी प्रकार की तृष्णा समान रूप से दु खद ही है। तृष्णा से मुक्त हुये बिना दु ख से मुक्ति नही हो सकती।

रोगी अपने रोग से व्याकुल होकर और भोगी अपने भोगो से वचित होने पर छाती पीटकर रोता है। परतु, यह रोना या यह दु ख आर्यसत्य का दर्शन नही है। यह रोना दु खनिरोध का कारण न होकर, दु ख-वर्धन का ही कारण बनता है। क्यों कि, यह रोना-पीटना तो दु ख मे डूबना ही है, न कि दु ख से मुक्त होकर उसके सत्य-स्वरूप का दर्शन करना है।

तृष्णा मूढता की जननी है और मूढता तृष्णा की। मन की अबोध, अज्ञानी और विमूढ अवस्था तृष्णा की सहयोगिनी ही है। किसी भी अनित्य वस्तु, व्यक्ति अथवा स्थिति के प्रति यदि हम तृपार्त या आसक्त हो उठेंगे, तो हमे दु ख ही दु ख भोगना पडेगा, हमारे हाथ अन्य कुछ भी नही आएगा।

तृष्णा का स्पदन-संवेदन

तृष्णा के उत्पन्न होते की तन और मन पर अत्यत सूक्ष्म स्पंदन होने लगता है, जिसकी सवेदना चेतन-मन को भले ही न जान पडे, परतु वह अर्धचेतन–मन को होती रहती ही है ।जव तक अभीष्ट की प्राप्ति न हो जाय, तव तक यह स्पदन-सवेदन चलता ही रहता है । जव जव अभीष्ट के प्रति आतुरता या अधीरता अधिक वढती हे, तव तव यह स्पदन भी अधिक तीव्रता धारण करता है । तृष्णा के साथ पैदा होनेवाला और उसके साथ ही जीवित रहनेवाला यह स्पदन अत्यत अप्रिय होता है, क्योंकि यह स्नायु के ततुओ मे तनाव उत्पन्न करता है, विकारो की गाठे पैदा करता है । परन्तु इस तनाव और ग्रथियो के उत्पन्न होने पर भी इस अप्रिय सवेदना मे एक प्रकार की सम्मोहन-शक्ति होती है, जिससे अर्धचेतन मन (Sub-Conscious mind) धीरे धीरे इसमे डूवे रहने का आदी हो जाता है । एक लगातार व्यसन की तरह वह मन से चिपक जाता है । कभी कभी यह तनाव वहुत तीव्र हो उठता है, तव हम अपना मानसिक सतुलन खो वैठते है और विक्षिप्त हो जाते है । परतु, ऐसा न हो, तो भी निरतर वने रहनेवाले इस तनाव का वुरा असर हमे वेचैन वनाए ही रखता है । तृष्णा का यह विप हमे मर्मान्तिक पीडा पहुचाता रहता है, फिर भी यह मधुर, मादक होता है, इसलिये तनाव और कसाव के परिपूर्ण होते हुए भी इससे छुटकारा पाना हमारे लिये दुरापास्त हो जाता है ।

जव कभी कामना की पूर्ति हो जाती है, तो यह विशिष्ट प्रकार का स्पदन· सवेदन कुछ देर के लिये रुक जाता है । उस समय, हमारे अंतर्मन पर एक अन्य प्रकार के स्फुरण-सिहरन की-सी सवेदना होने लगती है, जो कि हमे सुखद लगती है, प्रिय लगती है, रोचक लगती है । परतु, यह दीर्घजीवी नही होती । यह उत्पन्न होने के पश्चात् इसका आकर्पण धीरे धीरे मद पडने लग जाता है और इसके द्वारा प्रतीत होनेवाले सुख-सतोप नष्ट होने लगते है । इस तरह, जव इस स्फुरण का सवेदन संपूर्णतया रुक जाता है, तव कामना-तृष्णावाला पूर्ववर्ती स्पदन-सवेदन पुन जाग उठता है । क्योंकि, यह सवेदन एक व्यसन की तरह हमारे पीछे लगा हुआ होता है, इसे निरतर चलाये रखने के लिये अतर्मन अपने लिये कोई न कोई नया अभीष्ट खोज लेता है, और इस प्रकार, यह फोडा सतत वहता रहता है, यह आग सदा सुलगती रहती है । इस आग को सतत प्रज्वलित रखने के लिये हम नित्य नया जलावन या इधन पैदा करते रहते है, रूप, रस, गध, शब्द, स्पर्श और मनोविकल्प का सहारा लेकर । ये ही तृष्णा के प्रति आसक्तिया है । तृष्णा के सहजात उस सूक्ष्म स्पदन के प्रति भी हमे आसक्ति जो रहती है, वह हमारा पीछा नही छोडती ।

कामनापूर्ति मे जहा भी कोई विघ्न पैदा होते है, वही द्वेप-रूपी शोक जाग उठते हे । दु ख, शोक, आशंका, भय ये सारे विकार तृष्णा की ही उपज है । इन दु खद

मनोविकारों से मुक्ति पाने के लिये तृष्णा या कामना से विमुक्ति अपरिहार्य है, अनिवार्य है।

तण्हाय जायते सोको, तण्हाय जायते भय।
तण्हाय विप्पमुत्तस्स, नत्थि सोको कुतोभयं ।।

"तृष्णा से ही शोक उत्पन्न होता है, भय उत्पन्न होता है । तृष्णा से यदि मुक्त हुआ जाए, तो शोक ही नही रहेगा, फिर भय रहेगा कहां?"

तृष्णा से विमुक्त होने का सहज, सरल मार्ग है--'विपश्यना' साधना का।

तृष्णा की गुलामी से पूर्ण मुक्ति पाने का यही एकमेव कल्याण-पथ है, मंगल-मार्ग है।

◻ ◻ ◻

अध्याय ४

देखें, हमारा मन कैसा है ?

मन चचल है, पागल है, वर्तमान में रहता ही नहीं

हमारा मन अत्यत चचल है। वह क्षणभर के लिये भी शात नही रहता, अवोल नही रहता। वह सदा विचारो मे ही उलझा रहता है। विचारो का एक पलभर के लिये भी अत नही होता। यह भी हम देखते है कि, मन मे जव वात उठती है, चाहे वह भूतकाल की हो या भविष्यकाल की, उसका न कोई क्रम होता, न कोई तारतम्य होता है। वात का प्रारभ हुआ और वीच ही मे वह कट गयी। एक विचार का आरभ हुआ और वीच ही मे दूसरा विचार आ मिला। तव दूसरी ही वात सामने आ गयी, जिसका पहली वात से नाममात्र का भी संवध नही और न कोई क्रम ही है। ऐसे ही, विना किसी विशेप प्रयोजन के, विना किसी तारतम्य के या क्रम के, मन मे अनगिनत वाते सदा आती है और लुप्त हो जाती है। विना सिर-पैर की व्यर्थ वाते! सारहीन और निकम्मी वाते! मन की यह अवस्था केवल पागलपन की अवस्था है, मोह-विमूढता की अवस्था है। ऐसे किसी भी व्यक्ति को पागल ही कहा जा सकता है, जो अपने विचारो का तारतम्य खो वैठता है और सिलसिलेवार कोई वात सोचता ही नही है।

एक उदाहरण से हम यह समझे। कोई पागल व्यक्ति चार दिनो से भूखा है। जव उसके सन्मुख थाली-भरा भोजन रख दिया गया, तो वह वहुत प्रसन्न हुआ और खाने वैठ गया। पहला कौर ले ही रहा था, कि उसके विचारो की शृखला टूट गयी और अकस्मात् अन्य विचार उसके मन मे आये। वह अव सोचने लगा कि, वह स्नान-गृह मे नहा रहा है और उसके हाथ मे सावुन की टिकिया है। और तव, वह लगा अपने हाथ के कौर को अपने शरीर पर जोरो से मलने। उसी क्षण मे, दूसरा ही विचार उसके मन मे फिर आया, कि उसके चारो ओर दुश्मन है, उसे घेरे हुओ है और इसके पहले कि वे उसे मार डालेगे, वह ही उन्हे मार भगा दे और स्वय को वचा ले। पत्थर और ईटे समझकर, सारा भोजन ही उस पागल ने फेक दिया और रह गया वह भूखा का भूखा ही।

कई वार ऐसी अवस्था मन की वन जाती है, जव कि उस मे उत्पन्न विचारो का कोई क्रम नही रहता, न कोई तारतम्य रहता है। वह विना सिर-पैर की, वातों मे उलझा रहता है। इस तरह, कम पागल नही है यह मन !

मन की राग-रजित द्वेष-दूषित अवस्था

मन की एक ऐसी अवस्था भी देखी जाती है, जिसमे किसी एक ही वात का सिलसिला कुछ देरी तक चलता रहता है, चाहे वह वात भूतकाल की हो या भविष्य-काल की हो, चाहे वह प्रिय हो या अप्रिय हो, चाहे वह सुखद हो या दु खद हो। मन मे जव कोई सुखद चितन चल रहा हो, तो उसके प्रति एक आकर्पण जागता है; और जव कोई दु खद चितन चल रहा हो, तो उसके प्रति विकर्पण पैदा होता है। प्रिय वात के प्रति मन 'चाहिये, चाहिये' की धुन लगाता है और अप्रिय वात के प्रति वह 'नही चाहिये, नही चाहिये' चिल्लाने लगता है। इस 'चाहिये चाहिये' की प्रतिक्रिया ही राग-अनुराग का विकार पैदा करती है और 'नही चाहिये, नही चाहिये' की प्रतिक्रिया द्वेप-मत्सर का विकार उत्पन्न करती है।

अत मन की मूलत तीन अवस्थाए होती हैं। पहली अवस्था पागल की तरह मोह-मूढित अवस्था है, जिसमे विचारो का कोई ओर-छोर ही नही होता। दूसरी अवस्था है राग-रजित अवस्था, जिस मे 'प्रिय' का चितन रहता है। और तीसरी अवस्था है, द्वेपदूपित, जिसमे मन 'अप्रिय' का चितन करता रहता है। इस तरह, मन प्रतिक्षण विकार-ग्रस्त रहा ही करता है। मन के ये विकार ही मन के मैल हैं। ये ही मनुष्य को सदा व्याकुल रखते है, वेचैन रखते है, वेहोश रखते है। ऐसे विकार-विकलित, विकार-सचित, विकार-पीडित मन को सुख कहा? राग अर्थात् अनुराग, प्रिय के प्रति आसक्ति और लोभ है तथा 'चाहिये' के प्रति तृष्णा और इच्छा है। द्वेप-मत्सर, अप्रिय के प्रति शत्रुता और वैर है तथा 'नही चाहिये' के प्रति ईर्प्या और जलन हैं।

मन की भूत-भविष्य में डुबकियां

मन अति चचल है, अखड विचरता ही रहता है। पर, वह कहा विचरता है? हर व्यक्ति अनुभव करता है कि, मन जव जव विचरण करता है, तव तव वह या तो भूतकाल की किसी याद मे, अथवा भविष्यकाल की कामना-कल्पना और आशका मे ही विचरता रहता है। मन भटकता है तो अतीत मे या अनागत मे, भूतकाल मे या भविष्यकाल मे। भूतकाल की कोई वात उसे याद आती है तव वह सोचने लगता है .. 'उसने मुझ से यो कहा था, मेरा घोर अपमान कर दिया था, उस समय मैं खामोश रहा, अव भविष्य मे जव कभी ऐसा हो, तो मै ईट का जवाव पत्थर से दूगा उसका मुह तोड दूगा' आदि। इस तरह, क्षणार्ध मे मन भूतकाल से भविष्यकाल मे पहुच गया। इतने मे उसे भूतकाल की फिर कोई वात याद आ गयी और फिर मन लगा भूतकाल मे गोते लगाने। और फिर, यकायक वह भविष्यकाल मे कैसे डुवकी लगाने लगा! मन यो भूत मे भ्रमण करता है और भविष्य मे भी। पर, वर्तमान-काल मे तो वह क्षणमात्र भी टिकता नही है। वर्तमान क्षण मे क्या क्या घटित हो रहा है, उसे जानने की जरा भी इच्छा नही है उसे। वह वर्तमान मे रहना ही नही

चाहता, वही जो आदत उसे पड गयी ! मन जो अपने ही निर्मित स्वभाव मे अटक गया ! अत , उसे सही जीना आता ही नही है । जीना तो उसे है वर्तमान के क्षण मे, परंतु मन का स्वभाव ही व्यक्ति को वर्तमान के क्षण मे टिकने नही देता । जब कभी वर्तमान के किसी क्षण की कोई सच्चाई प्रकट होती है, तो झट से, उसका सबध किसी पुराने अनुभव या भावी कल्पना से मन जोड ही देता है । सक्षेप मे, मन प्रतिक्षण यो उडता ही रहता है भूत या भविष्य के बादलो मे । पर, वह वर्तमान में कदम रखना ही नही चाहता । यही कारण है कि, सही ढग से हम जीवन बिताना ही नही जानते, सदैव असतुलित रहते हैं, उत्तेजित और उद्विग्न तथा बेचैन और बेहोप रहते हैं ।

झूठ से भरा मन

हमारे मन मे धन-प्रतिष्ठा, पद-अधिकार और यश-गौरव की तीव्र लालसा भरी रहती है । उसमे अहकार कूटकूट कर व्याप्त रहता है । इसीलिये, वह हजार तरह के झूठ खडे कर देता है । यदि मन मे झूठ को स्थान ही न मिले तो फिर, उसमे सत्य ही सत्य भरा मिलेगा । परतु, झूठ को पैदा करने का मन का अभ्यास बहुत गहरा है और परिणामत , उसमे विकारो का ही सचय बढता जाता है । मन तो प्राय: भटकता ही रहता है और फिर, चाहता भी है कि उसे शाति मिले और सत्यका दर्शन हो जाय । परतु सत्य और शाति के नाम पर वह और झूठ खड़े करता है—स्वर्ग के, मोक्ष के, परमात्मा के, आदि । झूठ से भरा मन सत्य के दर्शन कैसे कर सकता है ? विकारो से भरा मन शाति कैसे प्राप्त कर सकेगा ? उलटे, शाति प्राप्त करने के प्रयास मे वह नवनवीन अशाति को ही जन्म देता है ।

भगवान बुद्ध कहते हैं

" कोई भी वृत्ति पहले पहल मन मे ही उठती है । मन ही सभी प्रवृत्तियो का निर्माता है । सारी सृष्टि मन ही का खेल है । यदि कोई दोपयुक्त मन से बोलता है या कर्म करता है, तो दु:ख उसका अनुसरण ठीक वैसे ही करता है, जैसे कि गाडी का चक्का उसे खीचनेवाले बैलो के पैरो का । यदि कोई प्रसन्न, निर्दोप मन से बोलता है या कर्म करता है, तो सुख उसका ठीक वैसे ही अनुसरण करता है, जैसे शरीर का साथ कभी न छोडनेवाली छाया । "

इसे भगवान बुद्ध 'एस धम्मो सनन्तनो' कहते है, और यही धर्म का सनातन सूत्र है ।

" मनो पुब्बङगमा धम्मा, मनो सेट्ठा मनोमया ।
मनसा चे पदुट्ठेन, भासति वा करोति वा ।
ततो न दुक्खमन्वेति, चक्क व वहतो पद ।।
मनसा चे पसन्नेन, भासति वा करोति वा ।
ततो न सूखमन्वेति, छाया ' व अनपायिनी ।। "

—धम्मपद

भगवान बुद्ध ने अपनी एक एक वृत्ति को जाचा और पाया कि हर वृत्ति मन के सरोवर में उठी एक लहर है, वह मन का एक कंप है। और, मन जब कंपित हो जाता है, तो उसमे वृत्ति उत्पन्न हो ही जाती है, फिर चाहे किसी भी कारण से कंप उत्पन्न होता हो, उसमे कोई अन्तर नहीं पडता।

दुःख का कारण मन में ही है, बाहर नहीं

सरोवर के पानी मे कंकड फेका जाय या हीरा, लहर तो उठेगी ही। पानी इस बात की चिन्ता नहीं करता कि, उसमें कंकड फेका गया है या हीरा फेका गया है। इसी तरह, मन मे भी किसी कारण से कंपन उत्पन्न होने पर लहर तो उठेगी ही, उसमे उपद्रव तो होगा ही। अगर मन अकंप रह जाय, तो कोई वृत्ति ही उत्पन्न नहीं होगी, तो फिर उपद्रव कहां, बेचैनी कैसी और दु ख कैसा? अत., मन में ही दु.ख का कारण छिपा हुवा है, क्योंकि मन ही वृत्तियो से, विकारो से पीडित जो है। मन को छोड कर, दु ख का कारण बाहर कही अन्यत्र खोजने का प्रयास व्यर्थ है, वह असंभव है।

भगवान बुद्ध कहते हैं, " क्रोध से बढकर अन्य कोई बडी मूर्खता नही है। जब कोई मनुष्य तुम्हे गाली देता है, तो अपराध वह करता है। पर, क्रोधित हो रहे हो तुम और दंड भी अपने को दे रहे हो तुम, इससे अधिक मूर्खता और क्या हो सकती है? अपने ही मन मे तुम यदि दु ख का बीज बोते हो, तो उसका फल तुम्हे मिलेगा ही, उससे सुख तुम्हे कैसे प्राप्त होगा? अपने दु ख के कारणो को, मन के अंतरंग भाग को छोड तुम अन्यत्र कही खोजने का प्रयास न करो, वह तुम्हारी भूल होगी। उसने मुझे गाली दी, मुझे मारा, मुझे लूट लिया—इस तरह सतत सोचते रहकर जो लोग अपने मन मे शत्रुता की गाठ को बनाये रखते है, उनका वैर कभी नष्ट नही होता। इस बात को कभी भूलना नहीं चाहिये कि, वैर से वैर कभी नही मिटता, शत्रुता से शत्रुता कभी नही मिटती। वैर के अलावा वैर-रहित होने मे ही शाति है, यही सनातन धर्म है।"

न हि वेरेन वेरानि, सम्मन्तीध कुदाचनं।
अवेरेन च सम्मन्ति, एस धम्मो सनन्तनो॥......धम्मपद

मन में शत्रुता को भरकर, द्वेष और ईर्ष्या से जीना ही नरक है और मन में मित्रता को भरकर, करुणा एवं मोद से जीना ही स्वर्ग है।

मन में बसी होड, स्पर्धा

पडोसी का घर, बगीचा, फर्निचर, मोटरकार आदि देखकर अनायास ही हम चौंक उठते है और मन मे सोचने लगते है कि, यह सब हमसे बढिया है। तुरन्त, हमारे मन मे यह इच्छा जाग उठती है कि, हमारा वैभव इससे भी बढिया होना चाहिये।

वस, मन मे वेचैनी उत्पन्न हो गयी, जाग उठी ईर्ष्या, और लगी अहंकार को चोट। तव से न है नीद, न सुख-चैन। अव, मन के भीतर अस्वस्थता का वीज वो दिया गया। धीरे धीरे, मन का रोग वढने लगा और रक्तचाप भी। अव हृदय की कमजोरी की व्याधि प्रारभ हो गयी। मन मे जगी यह ईर्ष्या हमे अव नचाएगी ही। अव हमे अधिक धन कमाना होगा। चाहे वह चोरी से कमाए या किसी अन्य मार्ग से। अव पकड लिया हमे मन की विकलता ने, ईर्ष्या ने, अहकार के विकार ने। अव, मन मे केवल अस्वस्थता ही नही, क्रोध भी उत्पन्न होगा। तव, कार्य-सिद्धि के मार्ग मे आनेवाले विरोधियो को समाप्त करने की वृत्ति भी उत्पन्न होगी। इस काम मे वाधा डालने वाले को शत्रु और सहायता करनेवाले को मित्र माना जायगा। इस तरह, हमारे वढिया वैभव का सपना साकार भी हो जाय, तो भी यकायक हममे नवीन लालसाएं जगेगी कि, हमारे पास हीरे-जवाहरात भी होने चाहिये। उसके लिये भी कुछ प्रयत्न करने होगे, तो फिर, लगी वढने मन की अस्वस्थता। इस प्रकार, एक के वाद एक, अनगिनत तृष्णाएं मन मे उत्पन्न होती है। न तृष्णाओ का अन्त होता हे, न हमे सुख-चैन प्राप्त होता है। कारण यही है कि मन विकृत विकारो से भरा होता है, अनंत तृष्णाओ से भरा होता है, वेचैनी की उसे आदत जो पड गयी है। हमारे हटाये भी वेचैनी मन से हटने का नाम नही लेती, तव मन अधिकाधिक वैभव की चीजे जुटाने पर उतारु हो जाता है। फिर क्या ? मन की उथल-पुथल का अन्त ही नही। यह सारा मन का ही तो छल-प्रपच है। हम यही अपने उद्योग-व्यवसाय मे भी सदा अनुभव करते है, क्योकि प्रतिद्वद्विता या होड मन मे पहले से ही वसी जो है।

मन में ही दुःख का कारण है

भगवान वुद्ध कहते है, "हमारा तृष्णा से व्याप्त मन ही दुःख का कारण है, उसीसे जीवन मे दुःख उत्पन्न होता रहता है, हम दुःखी होते रहते है।" जव हम दुःख से वहुत सताये जाते है, तो हम पूछ वैठते है कि किसने हमारे लिये दुःख पैदा किया है ? पति-पत्नी, माता-पिता, पुत्र-पुत्री, मित्र-शत्रु, समाज और सामाजिक आर्थिक रचना, इनमे से कौन हमारे दुःखो के लिये उत्तरदायी है ? वास्तव मे हमारे दुःखो को उत्पन्न करनेवाले वाहरी कोई कारण नही है, अपितु हमारे मन मे ही वे कारण वसे है। यदि उन कारणो को हम मन के वाहर खोजने का प्रयत्न करेगे, तो भूल हमारी होगी। वस्तुतः, हमारा मन ही हमारे दुःखो के लिये उत्तरदायी है।

मन वस्तुतः अतीतकाल मे ही व्यग्र रहता है, भविष्यकाल मे नही। अपितु, वह अपने को भविष्य मे प्रक्षिप्त कर सकता है। वह वर्तमानकाल को भी भविष्य मे प्रवेश करा देनेवाला एक मार्ग के रूप मे प्रयोग कर सकता है। अतीत क्या है ? वह सचित अनुभव, अनुक्रियाए, स्मृतिया, परंपरा, सचित ज्ञान आदि का भाडार है। ऐतिहासिक अतीत कुछ भिन्न है, वह घटनाओ का इतिहास है। अतः स्पष्ट है कि,

काल के जाल मे मन फंसा हुआ है, उस पर काल का ही परिणाम होता है। संचित भोगो और उनकी प्रतिक्रियाओ का परिणाम उस पर होता ही रहता है। अतः जिस किसी वस्तु का मन स्पर्श करेगा, उससे असीम दुःख, भ्रान्तिया और अनन्त समस्याएं ही उत्पन्न होगी।

मन का सच्चा स्वरूप ही इस प्रकार का है कि, वह तथ्यो से विमुख होकर धूर्त तथा झूठा और दुष्ट वना रहता है। और, इसी कारण से समस्याएं पैदा होती है, जीवन दुखमय हो जाता है।

मन मे उत्पन्न तनाव के कारण ही अनेक व्याधियां पैदा होती है। अनिद्रा, अपचन, मलावरोध, अल्सर, मधुमेह, रक्तचाप, हृदय-विकार, नाडी-विकार आदि रोगो का मूल कारण प्राय· मन पर का तनाव ही है।

कोई भी वात सर्वप्रथम मन मे ही उठती है, और वाद मे, वाणी अथवा शरीर द्वारा उसकी प्रतिक्रिया व्यक्त होती है। किसी ने गाली-प्रदान की, तो सर्वप्रथम उसकी प्रतिक्रिया मन पर हुई। यदि यह प्रतिक्रिया गहरी हुई, तो वह वाणी मे परिवर्तित होकर गाली का उत्तर गाली से दिया गया; और यदि यह प्रतिक्रिया और भी गहरी हुई, तो हाथ मे कोई शस्त्र लेकर मारने दौडा। इस तरह, मन की प्रतिक्रियाए भिन्न भिन्न प्रकारेण कार्यान्वित होती रहती है।

संक्षेप मे कहिए, तो सारा खेल मन का ही है। क्योकि, मन अति चचल है, वह वर्तमान मे टिकता ही नही है और हर क्षण भूतकाल की अनुस्मृतियो मे या भविष्य की कामना-कल्पनाओ मे ही उलझा रहता है।

अत इसे ठीक तरह से हमे पक्का समझ लेना चाहिये कि, विकारयुक्त चित्त सदैव दुख ही उत्पन्न करता है और इसीलिये, चित्त को निर्विकार वना कर दुःख-मुक्त होने के लिये 'विपश्यना' साधना का अभ्यास परम आवश्यक है। इसी जीवन मे प्रत्यक्ष फल देनेवाला यह अभ्यास है, और यही अनुभूति के क्षेत्र मे निहित सत्य को जानने का सही उपाय है।

▣ ▣ ▣

अध्याय ५

शुद्ध धर्म क्या है ?

धर्म है या सम्प्रदाय

व्यावहारिक जगत मे हम विभिन्न धर्मो के नाम सुनते है। मानव-समाज में आज जो धर्म प्रचलित है, जैसे—हिन्दु, जैन, बौद्ध, ईसाई और इस्लाम। इन पर यदि कुछ अधिक चितन किया जाय, तो हमारी समझ मे यह बात आती है कि, ये वास्तव मे धर्म नही है, परतु सम्प्रदाय है। सम्प्रदायो को ही हम धर्म समझ बैठे है। इन मे से प्रत्येक सम्प्रदाय मे उसके अपने सिद्धात, देवता, कर्मकाण्ड, पूजा और मन्त्र है; विचार और वेशभूषा है, स्तोत्र और पाठ है। कुछ लोग मदिर बनवाते है, ईश्वर को मानते है और कुछ निरीश्वरवादी है। कुछ अहिसावादी है, तो कुछ हिसावादी है। इस प्रकार, इनमे अनेको भेद है, विभिन्न पथ और उप-पंथ है।

अंधश्रद्धा की जकड

मनुष्य-प्राणी इन सम्प्रदायो की रूढियो की बेडियो मे इस तरह जकड दिया गया है कि, उन बेडियो को तोडना सर्वसाधारण व्यक्ति के लिये असभव बन गया है। सभी सप्रदायो के आचार-विचारो की आधार-शिला निरी अन्धश्रद्धा ही बन चुकी है। इन अलग अलग धर्म-पथो को माननेवाले लोगो की नस-नस मे आपसी द्वेष-रूपी विष का अजस्र प्रवाह बहता रहता है, जिसके फलस्वरूप अनेको युद्ध हो चुके है और असीम निर्दयता तथा क्रूरता उभरी है। जगत् मे अनेक नकली गुरु विद्यमान है, नकली शिष्यो की बहुतायत जो है। नकली गुरु तो 'बाय प्राडक्ट' है, नकली शिष्य ही उन्हे जो पैदा करते है; वे सीधे नही पैदा होते।

कर्मकाण्डों को धर्म समझ लिया है

जैसे भिन्न भिन्न प्रकार की वेशभूषा और रूपसज्जा, वैसे भिन्न भिन्न प्रकार के थोथे, निर्जीव और निष्प्राण कर्मकाण्डो को हमने धर्म मान लिया है, और उनसे हम गहरी आसक्ति लगाये बैठे है। इस तरह, सच्चे धर्म को छोडकर जातपात को, छुआछूत को, पवित्र माने गये जल मे नहाने को, विशिष्ट तीर्थो की यात्रा कर लेने को हम धर्म मान लेते है। वैसे ही, मदिर, मसजिद, गिरजा, चैत्य या गुरुद्वारे मे सुबह शाम उपस्थित रहने को भी हम धर्म समझ बैठे है। इसी तरह, किसी विशिष्ट देवी-देवता, गुरु-आचार्य की मूर्ति या चित्र, चरणचिन्ह, पादपीठ, धातु-अवशेष या उपदेश-ग्रन्थ के सन्मुख वन्दना करने, सिर झुकाने, दीप जलाने, नैवेद्य चढाने, प्रसाद पाने

बाजे बजाने, नाचने, गाने, अजान-स्तोत्र-पोथी-पुराण पढने, नाम-माला जपने आदि को ही हम धर्म मान बैठे है। भले ही, यह सब यंत्रवत् क्यो न होता हो। किसी अदृष्ट सत्ता को सतुष्ट करने के लिये प्राणियो की हत्या करने या बलि चढाने को भी हम धर्म समझ बैठे है। इन भिन्न भिन्न कर्मकाण्डो को ही धर्म मान लेने के कारण धर्म बाजार मे बिकने लगा और भाड़े के लोगो से हम धार्मिक कृत्य करवाने लगे। इसी को मढता और अंधश्रद्धा-वश हम धर्म कहने लगे। सच तो यह है कि, ऐसा करने के लिये हमे बाध्य किया गया, पराधीन किया गया, नर्क का भयावना वर्णन खडा करके हमे डराया गया और ऐसे तथाकथित धर्म के प्रति अंधश्रद्धा उत्पन्न करने के लिये स्वर्ग का सुहावना चित्र बनाया गया। हम अपने घर का चित्र तो बनाने से वंचित ही रहे, हम अपने स्वय का चित्र बनाना सोच ही नही पाये। हम कौन है? क्या है? कहा से आये है? हमे कहा जाना है? आदि के सबध मे तो हम कुछ भी ठीक ठीक जानते नही है, फिर भी, अपनी समझ से हमने नर्क और स्वर्ग के चित्र तो बना ही लिये है।

अन्धश्रद्धा ही अन्धश्रद्धा

हमारी अंधश्रद्धा मे सुरक्षा की ही भावना छिपी है। हम अपनी आंतरिक असुरक्षा का, अकेलेपन का, आतरिक बोध का सामना करने की क्षमता नहीं रखते; इसलिये, हम ऐसी कोई वस्तु चाहते है, जिसका हम स्वसुरक्षा के लिये सहारा ले सके, फिर वह सहारा जाति का हो, समाज का हो, राज्य या राष्ट्रीयता का हो, अथवा कोई महात्मा, कोई उद्धारक या कोई और वस्तु का ही हो।

सम्प्रदायो-धर्मो के सबध मे भी हम सोचे, तो क्या इनमे भी कही एकता है? कहना पडता है कि वह कतई नही है। इसके उलटे, वे अनेकानेक छोटे छोटे पथो मे, दलों मे और जातियो मे बटे हुये दिखायी देते है। सारे जगत् मे यही एक-सी प्रक्रिया है। ईसाई ईसाइयो का, मुसलमान मुसलमानो का, हिन्दु हिन्दुओ का नाश करने पर तुले हुये है। ये विभिन्न धर्मवादी छोटी छोटी बातो के लिये एक-दूसरे से जूझते है, लडते-झगडते है, यहातक कि एक-दूसरे की हत्या करते है। वैसे तो किसी युद्ध की भयानकता और क्रूरता किसीसे छिपी नही है। सचाई यह है कि, धर्म या सम्प्रदाय लोगो मे एकता कतई उत्पन्न नही करते। फिर भी, भय के कारण हम इनसे अलग भी नही होना चाहते।

मदिर मे अपने उपास्य-देवता की मूर्ति के दर्शन करना उचित है, क्यो कि उससे श्रद्धा जागती है, वह हमारे मन मे सौमनस्यता उत्पन्न करती है और वह हमारा चित्त एकाग्र करने मे सहायक बन जाती है। मूर्ति के दर्शन करके, मन में उसकी धारणा करके चित्त को एकाग्र करने का साधन मिल जाता है और उपास्य-देव के गुणो का वर्णन मन ही मन मे करते हुये उन्हे जीवन मे उतारने का प्रयत्न करना

उचित तथा कल्याणकारी भी है। परंतु यह ऐसा किसीसे होता नही है, केवल मदिर मे मूर्ति के यंत्रवत् दर्शन करने को ही धर्म मान लिया जाता है, इसी रूढि मे हम उलझे रहते हैं। फलत' हमारी आतरिक प्रगति कुंठित ही नही, परतु कमजोर हो जाती है।

इसी प्रकार, प्रभु का भजन-कीर्तन भी मन की तल्लीनता के लिये है और चित्त को एकाग्र करने के लिये साधन-मात्र है। परंतु इसके तथ्य को समझने का कोई प्रयास नही करता। वह केवल भजन-कीर्तन मे ही लगा रहता है, अपितु, उनका सहारा लेकर आतरिक प्रगति का वह प्रयत्न नही करता और गतानुगतिकता के अनुसार वह भजन-कीर्तन तक मे ही सीमित रहता है, केवल रूढि का दास वनकर ही रह जाता है।

किसी गुरु या सन्त के दर्शन और नमन, मन मे श्रद्धा जगाने के लिये किये जाते है। इससे मन मे प्रेरणा प्राप्त कर के उनके सद्‌गुणो को देखने और आत्मसात् करने का स्तुत्य हेतु रहता है। परतु, यह तो कोई करता नही। इसके उलटे, गुरु ही अपने आडम्वर मे उलझे रहते हैं। इससे अधश्रद्धा को ही वढावा मिलता है, नकली गुरुओ की सख्या वढती है और अज्ञानी लोग उसी अधश्रद्धा मे उलझे हुये फंसे रह जाते है।

किसी धर्मग्रथ का, पोथी-पुराण का, स्तोत्र-कथा का पाठ और श्रवण वास्तव मे हमारे धार्मिक जीवन का और हमारे धर्माचरण का विकास करनेवाला सिद्ध हो, यह अपेक्षित है। परतु यह तो होता नही है, उलटे, केवल पाठ और श्रवण को ही धर्म का आचरण माना जाता है और जीवन धन्य हुआ समझा जाता है। जीवन मे भरे विकारो को नप्ट करने का कोई प्रयास ही नही किया जाता है और उनका सचय अधिकाधिक वढ जाता है। इससे 'मैं प्रतिदिन खूव पूजा-पाठ करता हू, भजन-कीर्तन सुनता हूं' इस अहभाव को ही केवल पुप्ट किया जाता है और सदाचरण नाममात्र भी होता नही है। धर्माचरण तो वास्तव मे होता नही है, परंतु मिथ्याचरण की दलदल मे अवश्य फसा जाता है।

शरीर को स्वस्थ तथा निरोगी रखने के लिये और मानसिक सयम के लिये वास्तव मे उपवास-व्रत किये जाना उचित है। परतु, इच्छित वस्तु की प्राप्ति की मिथ्या कल्पना से उपवास-व्रतादि किये जाते है। इससे केवल आसक्ति ही पुप्ट होती है और कल्याण का मार्ग वद हो जाता है, आतरिक प्रगति रुक जाती है।

कोई माला फेरता है और मत्र-जाप करता है, जिससे चित्त की एकाग्रता जगने की प्रेरणा प्राप्त होना वास्तव में अपेक्षित है। परंतु चित्त तो एकाग्र होता ही नही, सारा जपजाप यत्रवत् जो किया जाता है। केवल जपजाप की रूढि को पूरा करने को ही धर्माचरण कहते हुअे सही हेतु से हम भटक जाते है।

शरीर-स्वास्थ्य के लिये योगासन करना उत्तम है। परतु, उसी को धर्म मानकर मिथ्या तौर पर 'अत शुद्धि' समझी जाय, तो वह अधश्रद्धा का विषय बन जाता है।

माला, तिलक, वेशभूषा जैसे बाह्य आडम्बर, नदी-स्नान, तीर्थाटन, कथा-पाठ, उपवास-व्रत जैसे बाह्य कर्मकाण्ड, अथवा आत्मवाद-अनात्मवाद, आस्तिकता-नास्तिकता, शाश्वत-अशाश्वत्, द्वैतवाद-अद्वैतवाद-विशिष्टाद्वैतवाद, ये सिद्धात-त्रे सिद्धात, आदि बुद्धिवाद मे रजित दार्शनिक मान्यताएं इनमे ही मुक्ति का परामर्प देखा जाये, तो शुद्ध धर्म कैसे हाथ लगेगा? इन दार्शनिक मान्यताओ को, इन बाह्य आडम्बरो तथा कर्मकाण्डो को धर्म मान लेना शुद्ध प्रतारणा होगी, महाभयंकर अज्ञान सिद्ध होगा। इसी को 'शीलव्रत परामर्श' कहा जाता है।

इन सभी अधश्रद्धाओ से तथा रूढियो से बचने के लिये और शुद्ध धर्म को ठीक मे समझते हुअे उसके सर्वांगीण एव समुचित विकास के लिये हमे हर बात का सही सही और उचित मूल्याकन करना होगा।

शुद्ध धर्म सार्वजनीन होता है

धर्म का एक महत्वपूर्ण अंग है, मन को वश मे करना। मन को वश मे करना ही 'समाधि' है। राग, द्वेप, मोहादि विकारो को क्षीण करनेवाले योग्य आलबन से प्राप्त समाधि ही सच्ची समाधि है। सिद्धि प्राप्त करके लोगो को चमत्कारो से चोका देना सही धर्म नही है।

चित्त से विकारो को निकाल कर, जीवन मे शुद्ध आचरण को अपनाना, यही वास्तव मे सच्चा और शुद्ध धर्म है। इसलिये, राग, द्वेप, मोहादि विकारो से छुटकारा पा लेना ही वास्तव मे जीवन का लक्ष्य है, होना चाहिये। दुर्भावना के स्थान पर सद्भावना को जगाना, द्वेप के स्थान पर प्यार से चित्त को भरना, वैर के बदले मित्रता का व्यवहार करना, ईर्ष्या के स्थान पर प्रसन्नता को जगाना-ये सारे सद्गुण हमारे प्रतिदिन के व्यवहार मे प्रकट होते रहना ही, हमारे सच्चे और शुद्ध धर्म के मार्ग पर चलने की सही कसौटी है।

शुद्ध धर्म सार्वजनीन होता है। कोई जब क्रोध करता है, तब उस क्रोध को हिन्दु-क्रोध, मुस्लिम-क्रोध या ईसाई-क्रोध के नाम से नही पहचाना जाता। क्रोध तो बस केवल क्रोध ही है, फिर वह करनेवाला किसी भी संप्रदाय या धम का व्यक्ति क्यो न हो। वैसे ही, राग, द्रेप, मोह, लोभ, आसक्ति, ईर्ष्या, मत्सर आदि विकार भी सार्वजनीन है, और इनका भला-बुरा परिणाम भी सार्वजनीन ही होता है। इस मूलभूत तथ्य को समझना ही शुद्ध, सच्चे धर्म को समझना है।

यदि मन हमारे वश मे रहने लगे, जीवन मे सदाचार सहज भावसे बना रहे, अपने स्वार्थ के लिये औरो को हानि पहुचाने की दुर्बुद्धि नष्ट हो जाये, अपने

पास के सुख-साधनो को औरो मे बांट कर उन्हे अपने सुख का भागीदार बनानेकी दान-वृत्ति सहजभाव से जीवन का अग बन जाये, अधश्रद्धा या रूढियो के कारण जिन्हे हमने कभी धर्म-साधन के रूपमे अपनाया था और जिन्हे अपने अज्ञान के कारण हमने मुक्ति-मोक्ष का साधन मानकर अपनी छाती से चिपका रखा था, वह सब कष्ट तथा प्रयास के बिना अपने आप छूट जाये; और सही प्रज्ञा को हम प्राप्त करते जाये; विशुद्ध विवेक को जगाते जाये। इस प्रकार, सही धर्म का सर्वांगीण विकास होता रहे, फिर व्यक्ति किसी सप्रदाय या धर्म का क्यो न हो। इसी शुद्ध, सच्चे धर्म को कैसे प्राप्त किया जा सकता है, यही अब हमे देखना है। उसीका अभ्यास हमारे लिये सही माने मे कल्याणकारी है, वही हमे दुख एव चिन्ता से छुटकारा दिलानेवाला है। अत. मुक्ति का वही विशुद्ध मार्ग है।

सक्षेप मे, शील, सदाचार, समाधि द्वारा मन को वश मे करना और प्रज्ञा द्वारा मन को शुद्ध करके विकारो को समाप्त करना ही सच्चा, शुद्ध धर्म है, सार्वजनीन धर्म है। अत., शील, समाधि और प्रज्ञा ही सही धर्म है। इन्ही को जीवन मे अपनाकर हम इस ससार-सागर से सुखपूर्वक पार हो सकते है, भवचक्र धर्मचक्र मे परिवर्तित कर सकते है। अन्तिम मुक्ति का यही सही रास्ता है।

▣ ▣ ▣

अध्याय ६

जीवन का अंतिम लक्ष्य

जीवन का अन्तिम लक्ष्य क्या है, इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर गंभीरतापूर्वक सोचने के लिये आज किसी के पास समय नही है। आज के यान्त्रिक युग के व्यस्त जीवन मे इस विचार के लिये किसी को अवकाश ही नही मिलता है। अब तो 'समय' नाम की चीज ही मिलना असभव हो रही है। सुबह के नित्य-कर्म के बाद चाय-अल्पाहार होते ही लोग अपने अपने व्यवसाय के कार्यवश दौडधूप करने लगते हैं और सारा दिन उसीमे व्यस्त रहकर शामको थके-मादे घर लौटते है। भोजन, निद्रा और व्यवसाय मे दिन पूरा। प्रतिदिन का यही जीवन-क्रम। आयु बीतती जाती है और संसार के भवचक्र मे लोग घुमते ही रहते है!

रात और दिन, धन बटोरने मे ही हम सभी व्यस्त है। जो निर्धन है, उनको रोजमर्रा के जीवन-यापन के लिये धन की आवश्यकता रहती है। सच तो यह है कि, अनेको कर्ज के बोझ के नीचे वे दबे ही रहते है। साथ ही, व्यसन भी साथी हो जाते है। व्यसन-पूर्ति के लिये फिर और अधिक धन की जरूरत होती है। वेतन या अन्य कमाई का धन पूरा नही पडता। तब, धन-प्राप्ति के अन्य मार्ग खोजना लाजिमी हो जाता है। अन्तत, चोरी, जुआ आदि बुरी आदते घर कर लेती हैं। मजदूर अपने सगठन के बलपर धन ऐठने के लिये आन्दोलन और हिंसाचार पर उतारू बन जाते है। श्रद्धा या आदर से उन्हे कोई लेना-देना नही है, काम-कर्तव्य मे ध्यान देने की उन्हे कोई आवश्यकता नही है। बस, द्वेष ही द्वेष से वे भरे जाते है।

अपने परिवार के जीवन-निर्वाह को सुचारूता से चलाने के लिये मध्यम वर्ग के लोग धन तो कमाते है, परतु व्यवसाय, विवाह या अन्य विशेष कार्यो के कारण वे कर्ज मे फस जाते है, जिससे छुटकारा पाने के लिये मिलावट का व्यवसाय, भ्रष्टाचार आदि गैर-तरीके उन्हे अपनाने पडते है।

धनी लोगो मे और अधिक धन जुटाने की होड मची हुयी है। जो उनके पास है, उससे वे सतुष्ट नही है। जो उनके पास नही है, वह प्राप्त करने के लिये सट्टा आदि गलत व्यवसाय के रास्ते वे अपनाते है। झूठ, व्यभिचार, नशा आदि व्यसनो के अधीन वे हो जाते है। फिर, ऋण लेने की आदतसे वे लाचार हो जाते है। परिणाम-स्वरूप, परिवार मे झगडे-टटे बढ जाते है, कोर्ट-कचहरी की बला लग जाती है।

उद्योगपतियो की हालत तो और भी बुरी है। उनमे से कुछ के व्यवसाय कुछ ठीक चलते-से दीखते है, परतु कभी यकायक ही उनकी परिस्थितिया बदल जाती है। ये चढाव-उतार वैसे ही चलते रहकर अस्थिरता का सामना चिन्तायुक्त मन स्थिति से उन्हे करना पडता है। कभी वे मजदूरो के हिंसाचार से तंग आ जाते है, तो कभी सरकारी नियमो से उलझ जाते है और कभी ऋण की बडी बडी रकमो को लौटाने की चिंता सवार रहती है।

गुरु-शिष्यो के सबध या मठाधिपति की बात ले तो, वे एक-दूसरे को कोसने मे ही लगे रहते है। कही भी तो छुटकारा नही है।

कोई अपने-आपको खूब निश्चित मान लेता है, तो दूसरे ही क्षण मे वह स्वयं किसी व्याधि से पीडित हो जाता है या अपने किसी प्रिय जन के बिछुड जाने से दु खाकुल हो जाता है।

विमानो मे और रेलगाडियो मे या बसो मे, सर्वत्र भीड ही भीड लगी रहती है, पता ही नही चलता कि ये सभी लोग कहा दौडे जा रहे है। सुख-प्राप्ति के लिये उनकी यह दौडधूप समझे, तो देखते है कि सुख तो क्षितिज के या मृगजल के समान उनके आगे ही आगे दौडता जाता है, बीच का अन्तर वैसा ही कायम जो बना रहता है। पूरब से पश्चिम और पश्चिम से पूरब, इतस्तत , लोग दौडते ही नजर आते है, किसी को भी विश्राम लेने की सुध नही है। यूरप-अमरीका मे धन की, सुख-सुविधाओ की कमी नही है, फिर भी वहा लोगो की आशा-आकाक्षाओ का अन्त नही है। यही कारण है कि वहा हर समय तनाव और व्याकुलता से जीवन भरा रहता है, सभी क्षत्रो मे होड और स्पर्धा का साम्राज्य है। देश-देश युद्ध और हिंसाचारो से त्रस्त है, अधिकारी सत्ताधीश चिन्ताग्रस्त है इस भय से कि, कब किस को जीवन से हाथ धोना पडे या सत्ता-भ्रष्ट होना पडे।

जैसे जैसे विज्ञान की प्रगति और विकास हो रहा है, वैसे वैसे हमारी आशाए, अपेक्षाए एव मागे बढती ही जा रही है। तब सुख कैसे ? उलटे, दु ख और व्याकुलता, चिन्ता और तनाव की ही वृद्धि होना अपरिहार्य है।

आखिर, यह सब क्या हो रहा है ? सुख तो सभी चाहते है, परतु दु ख ही पल्ले पड रहा है। मन अत्यत त्रस्त है और तनावो से ग्रस्त है। सभी को यही सोच हे कि मन को शान्ति कैसे मिले ?

फिर, जीवन का अतिम लक्ष्य क्या है और उस लक्ष्य तक हम कैसे पहुचे, यह विचारणीय प्रश्न है। इस संसार मे हमे व्यवहार भी करना है, कर्तव्य भी निबाहना है, परिवार की देखभाल भी करनी है, ईश्वर-चिंतन भी करना है। परतु यह जीवन की यथार्थता नही है। यह सब तो केवल कर्तव्य-पालन ही हुआ, परतु जीवन का ध्येय

और लक्ष्य कुछ और ही है, इसे हमे ठीक समझ लेना है। इस के लिये अर्थात् कुछ समय देना होगा और इस ससार-चक्र से सुख-शातिपूर्वक बाहर निकलना होगा। यह तभी होगा, जब कि विकारो से ग्रस्त हमारे चित्त को उनसे मुक्त करके हम विशुद्ध करेंगे। तभी हमे सच्ची सुख-शान्ति प्राप्त हो सकेगी। इस जीवन का तथा पुनर्जन्म का विश्वास करनेवाले हम भावी जन्मो से तभी छुटकारा पा सकेंगे, जब कि हम उनके लिये अभ्यास करेंगे और राग-द्वेष-मोहादि विकारो से मुक्त होने का दृढ प्रयत्न करेंगे। तभी जन्मजन्मातरो के सचित सस्कारो को हम समाप्त कर सकेंगे और साथ ही, नये सस्कार होने को रोक सकेंगे। इसकी प्रत्यक्ष अनुभूति ही सही मुक्ति है। यह अनुभति या मुक्तावस्था विशेष परिश्रम से इसी जन्म मे पायी जा सकती है।

साराश मे, सचित सस्कार समाप्त करना, नये संस्कार नही बनने देना, चित्त निनान्त शुद्ध करना और भवचक्र धर्मचक्र मे परिवर्तित करना, यही सही जीवन का एकान्तत याने निश्चयपूर्वक लक्ष्य है। इसे पाने का सरल एव सुलभ मार्ग 'विपश्यना' साधना है, जिसके अभ्यास मे निमग्न होकर हमे आतरिक प्रगति कर लेनी चाहिये।

० ० ०

द्वितीय विभाग

विज्ञान-दर्शन

अध्याय ७

छोटे से छोटा परमाणु : नन्हे से नन्हा अष्टकलाप

बुद्ध की तपस्या

आज से २५०० वर्ष पूर्व राजकुमार सिद्धार्थ (गौतम बुद्ध) सत्य की खोज के लिये अपनी प्रिय पत्नी यशोधरा एव नवजात शिशु राहुल को त्यागकर राजमहल से चल दिये और सद्‌गुरु की तलाश मे लग गये। वे पहले 'आलार कलाम' तापस के पास गये और उनसे सात ध्यानो की समापत्तिया सीखी। आगे का ध्यान सीखने के लिये सिद्धार्थ ने 'उद्रक रामपुत्र' नामक तापस के पास जाकर अष्टम् ध्यान की प्राप्ति की। किन्तु, इन आठो ध्यानो से भी उन्हे सम्बोधि धर्म प्राप्त नही हो सका, दु ख की पूर्ण निवृत्ति नही हो सकी। हा, इसके द्वारा उन्हें अनेक अतीत और अनागत कल्पो को जान सकने की सिद्धिया अवश्य मिली, परन्तु ये सब तो लौकिक उपलब्धिया मात्र थी। उन्हे तो जन्म-जरा-मरण-पीडित इस लोक से आत्यन्तिक दु ख-विमुक्ति का मार्ग चाहिये था। उन्होने देखा कि, ये दोनो ही आचार्य नित्य आत्मासवधी कल्पना से वाहर नही निकल सके है। तब उन्होने स्वय ही विमुक्ति का मार्ग खोजने का निश्चय किया। इस विशिष्ट साधना मे सहयोग देने के लिये पाच तपस्वी उन्हे और मिल गये। इनमे से एक का नाम कोडञ था, जिसने सिद्धार्थ के जन्म के पाचवे दिन उनके निश्चित रूप से सम्यक् सम्बुद्ध होने की भविष्य-वाणी की थी। इनके साथ सिद्धार्थ ने छ वर्षो तक कठोर उपवास, तपश्चर्या और ध्यान-भावनाएं की। कठिनतम व्रतो का उन्होने पालन किया और दुर्वह आत्म-संयम की यत्रणा सही। उनका शरीर सूखकर काटा हो गया और हड्डियो का ककाल मात्र बच रहा। तब उन्हे मालूम हुवा कि वे अत्यंत कृश हो गये है और यह अवस्था धर्म, विराग, बोध, मुक्ति के लिये नही है, क्योकि दुर्वल इस पद को नही पा सकता। इन विचारो के साथ सिद्धार्थ पुन आहार लेने लगे। जब उनका शरीर और मन फिर से स्वस्थ हुवा, तब उन्होने समाधि लगायी। उन पाच तपस्वियो ने असतुष्ट होकर उनका साथ छोड दिया। अतिम बोधि के लिये सिद्धार्थ कृतसंकल्प हो अश्वत्थमूल मे पर्यङ्कबद्ध हुए और उन्होने प्रतिज्ञा की कि, जब तक मै कृतकृत्य नही होता, तबतक इसी आसन मे वैठा रहूंगा।

बुद्ध का साक्षात्कार

वैशाख पूर्णिमा की रात्रि के प्रथम याम मे उन्हे पूर्व जन्मो का ज्ञान प्राप्त हुवा, दूसरे याम मे दिव्यचक्षु विशुद्ध हुवा, अन्तिम याम मे प्रतीत्य समुत्पाद का साक्षात्कार

हुवा और अरुणोदय मे उन्हें सर्वज्ञता का प्रत्यय हुवा। उन्हे सम्यक् सम्बोधि प्राप्त हुई और वे सम्यक् सम्बुद्ध वन गये। सर्वज्ञता का साक्षात्कार पाने पर भगवान बुद्ध ने ये प्रीति-वचन (उदान) कहे. "कष्टमय जन्म वारवार लेना पडा। मै गृहकारक की खोज मे ससार मे व्यर्थ भटकता रहा। किन्तु, गृहकारक! अब मैने तुझे देख लिया। अव तू फिर गृहनिर्माण नही कर सकेगा। तेरी सब कडिया टूट गई गृह-शिखर ढह गया, चित्त-निर्वाण का लाभ हुआ। तृष्णा का क्षय देख लिया।"

आषाढ पूर्णिमा को भगवान बुद्ध ने उन पाच तपस्वी भिक्षुओ को प्रथम उपदेश 'सारनाथ' (काशी के पास) मे दिया। यह उपदेश 'धर्मचक्र-प्रवर्तन-सूत्र' के नाम से विख्यात है।

बुद्ध का कलाप-दर्शन

भगवान बुद्ध ने इस साक्षात्कार मे प्रकृति की वास्तवता का परीक्षण किया और उन्हे स्पष्ट दीखने लगा कि, उनका यह ठोस प्रतीत होनेवाला शरीर वस्तुत. असख्य-असख्य परमाणुओ का, कलापों का पुज मात्र है। ये कलाप परमाणुओ से भी नन्हे है और इनके आगे टुकडे नही हो सकते। एक एक कलाप इतना सूक्ष्म है कि, ग्रीष्मकाल मे रथ के चक्के से उडी हुई धूल के छोटे से छोटे कण का ४६६५६ वा हिस्सा मात्र है। उन्होने यह भी देखा कि, यह परमाणुओ का पुज भी सतत प्रवाहमान है; सतत परिवर्तनशील है; नित्य, स्थिर नही है। यही दशा मन की भी है। वह भी अत्यत अस्थिर है, सतत परिवर्तनशील है, सतत उत्पन्न-धर्मा और विनाश-धर्मा है। मन समस्त मानसिक शक्तियो का प्रतीक है, और ये मानसिक शक्तिया, जो कि उत्पादक है, हमारे भीतर से वाहर की ओर, और जो उत्पन्न है, वे वाहर से भीतर की ओर निरन्तर प्रवाहमान है। और यह प्रवाह का क्रम अनादि काल से अविच्छिन्न चलता आ रहा है। भगवान बुद्ध ने समझ लिया कि उनके ज्ञानचक्षु खुल गये है। जव उन ज्ञानचक्षुओ से उन्होने आत्मनिरीक्षण किया, तो देखा कि सभी कुछ सारहीन है। तीक्ष्ण समाधि की अणुवीक्षणीय दृष्टि द्वारा उन्होने कलापो का फिर एक वार परीक्षण किया और उनके अनित्य स्वभाव पर ध्यान टिकाया, तो देखा कि वे शून्यवत् होते जा रहे है। कलापो का अपना कोई अलग अस्तित्व नही है और वे केवल स्वभाव मात्र है, वे केवल 'पञ्ञति' याने प्रज्ञप्ति मात्र है। और इस प्रकार, इस प्रज्ञप्ति-सत्य का अतिक्रमण कर उन्होने परमार्थ-सत्य की जानकारी प्राप्त की और शक्तियों के सत्य स्वभाव को जाना।

जड और चेतन की नि:सारता

इस तरह, जब उन्होने अपने शरीर के भीतर ...

दोनो को निरन्तर प्रवाहमान देखा, तो क्रमश: दु ख-सत्य का साक्षात्कार कर लिया। ऐसा होते ही उनके अन्दर का अहंभाव टूट गया और शून्य मे परिणत हो गया। और तब दु ख-निरोध की स्थिति मे वे पहुच गये, जहा आत्मभाव लेश मात्र भी नही रह गया। आत्मा के प्रति सारी आसक्तिया समाप्त हो गयी। अब यह स्पष्ट हो गया कि, जड और चेतन दोनो ही कितने नि सार है, कितने खोखले है। इन दोनो का सयोजन एक ऐसा दिखावा है, जो सतत प्रवाहमान हे, सतत परिवर्तनशील है, कार्य-कारण के कठोर नियमो से नियन्त्रित हे, प्रतीत्य समुत्पाद-सकारण उत्पत्ति के सिद्धान्त पर अवलम्बित हे। यह जानते ही उन्हे सत्य का सम्पूर्ण साक्षात्कार हो गया। बोधिसत्व मे सग्रहित बुद्धत्व के अनन्त गुण जाग्रत हो उठे और वैशाख पूर्णिमा की रात्रि बीतने के पूर्व ही उन्होने बुद्धत्व प्राप्त कर लिया और वे सम्यक् सम्बुद्ध बन गये।

अष्टकलाप

सारनाथ मे जाकर भगवान बुद्ध ने उन पाच भिक्षुओ को अनुभव कराया कि, सारा मानव-शरीर कलापो से बना हुवा हे और प्रत्येक कलाप उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है; और यह कलाप भी इकाई न होकर एक समूह है, जो निम्न-लिखित भौतिक जड-तत्वो से बना है :—

(१) पृथ्वी धातु (धातु याने स्वभाव) और उसके गुणधर्म
जैसे—हलका, भारी—प्रसारण शक्ति

(२) अग्नि धातु और उसके गुणधर्म
जैसे—ठडा, गरम—सतापन शक्ति

(३) वायु धातु और उसके गुणधर्म
जैसे—हलन—चलन—सचालन शक्ति

(४) आप धातु और उसके गुणधर्म
जैसे—बाधना —सयोजन शक्ति

इसतरह, ये चार धातु और उनके चार गुणधर्म मिलाकर आठ कलापो के समूह को अष्टकलाप का नाम भगवान बुद्ध ने दिया। ये चार धातु महाभूत कहलाते है और दूसरे चार उनके उपाग हे। भौतिक जगत् का नन्हे से नन्हा कण यह कलाप है और एक कलाप भी तब बनता है, जब कि उपरोक्त आठो तत्व, जो कि वस्तुत: गुणधर्मस्वभाव ही हे, एक साथ एकत्रित होते है। दूसरे शब्दो मे—प्रकृति के गुणधर्म-स्वभाव की विशिष्टता लिए हुए इन आठ तत्वो का सह-अस्तित्व एक ऐसे समूह का निर्माण करता हे, जिसे भगवान बुद्ध ने 'कलाप' कहा है।

भगवान बुद्ध ने यह प्रत्यक्ष किया कि, इन कलापो का प्रतिक्षण अगणित बार

परिवर्तन हो रहा है, संगठन-विघटन हो रहा है, और यह क्रम निरन्तर निर्बाध चल रहा है। ये कलाप शक्ति के स्रोत-प्रवाह हैं, जैसे कि दीप-ज्योति में या बिजली के बल्ब में प्रकाश-प्रवाह है। यह शरीर, जो दीखने में ठोस इकाई जैसा लगता है, वस्तुतः भौतिक पदार्थों और जीवन-शक्ति के सह-अस्तित्व का धारा-प्रवाह मात्र है।

साधारण व्यक्ति की दृष्टि में लोहे का एक टुकड़ा सर्वथा ठोस, जड़ और गतिहीन है। परन्तु वैज्ञानिक जानता है कि, वह भी असंख्य विद्युत्कणों (Electrons) से बना है, जो प्रतिक्षण अगणित बार परिवर्तित होते ही रहते हैं, प्रवाहित होते ही रहते हैं। जब एक निर्जीव लोहे के टुकड़े की यह दशा है, तो मनुष्य जैसे जीवित प्राणी की क्या दशा होगी! मानव-शरीर में तो परिवर्तन जो हो रहे हैं, वे और भी अधिक तीव्र होंगे ही।

शरीर केवल प्रकम्पन मात्र है

परन्तु क्या मनुष्य अपने भीतर हो रहे इन भीषण परिवर्तनों का—प्रकम्पों का—अनुभव करता है? सभी कुछ परिवर्तनशील और प्रवाहमान है, यह जाननेवाला वैज्ञानिक भी क्या स्वयं यह अनुभव करता है कि उसका अपना शरीर भी परिवर्तनशील और प्रवाहमान है, शक्तिसमूह और प्रकम्पन मात्र है? उस व्यक्ति के मन में क्या प्रतिक्रिया होगी, जो अंतर्दृष्टि द्वारा स्वयं यह देखता है कि उसका शरीर केवल शक्ति-समूह और प्रकम्पन मात्र है? जब कोई अपने अन्दर हो रही निरन्तर परिवर्तनशीलता की—अनित्यता की—स्वानुभूति कर लेता है, तो फलतः उसे दुःख आर्यसत्य का साक्षात्कार हो जाता है। जब उसे अभ्यन्तर में शरीर के अन्दर में परमाणु-समूहों के निरन्तर हो रहे सघर्षण, प्रकम्पन और विकीरण का तीव्र अनुभव होता है, तो वह समझ लेता है कि सचमुच जीवन कितना दुःखमय है—बाह्यरूप में और आभ्यन्तरिक याने अन्तररूप में भी, संवृत्तिरूप में और परमार्थ रूप में भी।

क्या आन्तरिक सुख प्राप्त है?

भगवान बुद्ध ने कहा है कि जीवन दुःखमय है। तो यह भ्रान्ति नहीं होनी चाहिये कि, जीवन इतना दयनीय है कि यह जीने योग्य नहीं है, यह बौद्ध-दर्शन इतना भीषण दुःखवादी है कि इसमें सुख-शान्तिमय जीवन के लिये आशा-आश्वासन है ही नहीं। आखिर सुख है क्या? आधुनिक विज्ञान ने भौतिक क्षेत्र में जो उन्नति की है उसके परिणामस्वरूप भौतिक सुख की बहुतायत अवश्य है। परन्तु यह बहुतायत ही सच्चा सुख प्राप्त नहीं करा देती। तो सच्चे सुख की कुंजी क्या है? यही भगवान बुद्ध ने ढूंढ लिया और वह है आंतरिक शान्ति। यह आन्तरिक शान्ति ही सच्चा सुख है और यह अपने मन को वश में करने पर ही उपलब्ध हो सकता है, न कि भौतिक पदार्थों की सुख-सुविधाओं से। आन्तरिक शान्ति के बिना सच्चे सुख की कल्पना ही व्यर्थ है।

भगवान वुद्ध की 'विपश्यना' साधना द्वारा मन को वश मे करने पर जो आन्तरिक शान्ति मिलती है, जो प्रीति-आनन्द मिलता है, उसकी तुलना तुच्छ इन्द्रियजन्य सुख से नही की जा सकती। इन्द्रियजन्य सुख के पूर्व और पश्चात् दु ख ही होता हे, जैसे कि कोढी को खाज खुजलाने के पूर्व और पश्चात्। परन्तु ध्यान के प्रीति-सुख मे पहले और पीछे कही भी दु ख और पीडा नही है। इस साधना-मार्ग द्वारा अभूतपूर्व शान्ति मिलती है और स्वत यह सन्तोष होने लगता है कि केवल दैनदिन जीवन के ही कष्ट दूर नही होते है, वल्कि शनै शनै अपितु दृढतापूर्वक अभ्यास से जन्म-मरण के शिकजे से भी छुटकारा हो जाता है।

अष्टकलापो का उत्पन्न-नष्ट होना

भगवान वुद्ध ने अपने ज्ञान-चक्षुओ द्वारा देखा कि, ये अष्टकलाप कितनी तीव्र गति से उत्पन्न और नष्ट होते है। एक चुटकी वजाने मात्र के समय मे इस कलाप का अनेक शत-सहस्र-कोटि वार उदय-व्यय, सगठन-विघटन, सर्जन-विसर्जन हो ही जाता है।

इसी सत्य को पाश्चात्य जगत् के, अमरिका के एक प्रसिद्ध भौतिक विज्ञान-शास्त्रज्ञ डॉ अल्वरस ने अभी-अभी आधुनिक उपकरणो के वल पर एक वात खोज निकाली, जिस अनुसधान के लिये उसे नोवल पुरस्कार मिला है। उसने एक विशेष यत्र का निर्माण करके परमाणु से भी सूक्ष्म कणों (Sub-atomic Particles) के उदय-व्यय को गिनकर देखा, तो पाया कि यह एक सेकैंड मे १ पर २२ शून्य इतनी वार उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते है। इतने अल्पजीवी है ये कलाप।

इन कलापो को ही भगवान वुद्ध ने रूप-कलाप कहा है। इतनी तीव्र गति से उत्पादन और विनाश होने के कारण यह मिली-जुली माया हमारे लिये वडा भ्रम पैदा करती है।

ठोस भी तरंग मात्र है

भगवान वुद्ध ने ज्ञानचक्षु से यह भी देखा कि, इन अष्टकलापो मे एक दूसरे के वीच की जो पोल है याने शून्य आकाश है, वह वास्तव मे आकारमान मे सूर्य से पृथ्वी की दूरी से भी कई गुना अधिक है और ये कलाप भी स्वय कोई ठोस कण नही है, तरगे ही तरगें है। अत ठोस से ठोस दीखनेवाले पत्थर मे भी परमार्थत तरगे ही तरगे है, शून्यता ही शून्यता है। घनसज्ञा की यह माया हमे इस परमार्थ-सत्य को देखने नही देती। हम जिसे ठोस पदार्थ कहते है, वे वस्तुत भिन्न भिन्न प्रकार के गुण-धर्मोवाली तरगो के पुज मात्र हे। यह हमारा शरीर और उसकी इन्द्रिया, जिन्हे भी हम ठोस समझते है, वे सव शून्य मे क्षण क्षण उत्पन्न और नष्ट होनेवाली तरगावलिया मात्र ही देखी जा सकती है। परन्तु इन भिन्न भिन्न स्थूल आकृतियो मे समाए हुए सूक्ष्म सूक्ष्म रूप-कलापो को देख सकना असम्भव है। रूप-कलापो के इन समूहो को

ही घन-समूह कहा गया है। विपश्यना-प्रज्ञा-जन्य बोधि नेत्रो द्वारा ही इन घन-समहो की माया विदीर्ण कर सूक्ष्म सत्य का स्वयं साक्षात्कार किया जा सकता है।

तेज गति से उत्पन्न भ्रान्ति

यह रूपघन याने घनसमूह की ही भाति घन-सतति की मरीचिका भी वडा भ्रम पैदा करती है। हवाई जहाज का पखा वडा तीव्र गति से घूमता है, तो हमे सदेह होने लगता है कि इसमे ताडिया है या नही। अधेरे मे जलती मशाल तेजी से घुमाई जाती है, तो लगता है कि अग्नि का गोलाकार है। पृथ्वी अपनी धूरी पर पश्चिम से पूर्व को घूमती है और हमे यह भ्रम होता है कि सूर्य पूर्व मे उदय होता है और पश्चिम मे अस्त होता है। तेज रेलगाडी मे वैठने पर दीखता है कि पेड-पौधे, खभे पीछे की ओर दौड रहे है। रात को एक मोमवत्ती या दीपक जलाया जाता है और प्रात जान पडता है कि वही मोमवत्ती या दीपक की लौ जल रही है। वास्तविकता यह है कि उस मोमवत्ती या दीपक की एक एक लौ प्रतिक्षण ऊपर की ओर उठती है—विलीन होती है और फिर नयी नयी लौ पैदा होती हुई, उसीमे धसती हुई उसका स्थान लेती रहती है। एक चिनगारी अकेली उत्पन्न होकर अपनी चमक दिखाती हुई तुरन्त नष्ट हो जाय तो उसके सही स्वरूप को पहचानना आसान हो जाता है। परन्तु एक छोटीसी सीमित जगह मे कोटि-कोटि चिनगारिया प्रतिक्षण उत्पन्न हो होकर निरन्तर नष्ट होती चली जाय, तो घनसमूह के कारण नही, वल्कि घनसतति के कारण सदा एक जैसे कायम रहनेवाले प्रकाशपुज का भ्रम पैदा करेगी ही। घनसमूह इस माने मे कि इन चिनगारियो का समूह इतना घनीभूत है कि, इनके वीच का आकाश हमे दीख नही पाता और घनसतति इस माने मे कि एक के नष्ट होने पर उसी की सन्तान-स्वरूप दूसरी चिनगारी इतनी शीघ्र उत्पन्न हो जाती है कि दोनो के वीच का अन्तराल हमे नजर नही आता। क्षेत्र मे भी और काल मे भी वह एक के साथ एक सटी होने के कारण घनत्व की यह माया दुहरी भ्रान्ति पैदा करती है। तभी ट्यूब-लाईट का प्रकाश भी हमे चिरकाल एक जैसा कायम रहनेवाला दिखायी देता है।

जैसा है वैसा नही दीखता

किसी पावर-हाऊस मे उत्पन्न होनेवाली विद्युत्-शक्ति प्रतिक्षण ट्यूब मे आकर जल जल कर नष्ट हो रही है, यह सचाई हमे नजर नही आती। प्रत्यक्ष भासमान ठोस सत्य वास्तविक सूक्ष्म सत्य पर आवरण डाले हुए है। इसी कारण, जो जैसा है, वैसा नही दीखता, कुछ और ही दीखता है। इसी प्रकार, वाह्य जगत् के ये सारे ऐन्द्रिय आलम्वन, जिन्हे कि हम भिन्न भिन्न रग-रूप, स्पर्श, गंध, शव्द, रस आदि गुणधर्मवाले ठोस पदार्थ मानते है, वे सभी शून्य मे उदय-व्यय होनेवाली तरंगे मात्र है। विषयी (Subject) और विषय (Object) दोनो तरगे ही तरगे है, शून्यवत् ही शून्यवत् है, नि.सार ही नि सार है, अनित्य है, क्षणभंगुर है। किन्तु यह

हमे नित्य, ध्रुव जैसा लगता है। इसी भ्रान्ति के कारण इस शरीर के प्रति, इन इन्द्रियो के प्रति और इन्द्रियो के इन बाह्य विषयो के प्रति हमे गहरा आत्मभाव पैदा हो जाता है और विभिन्न ऐन्द्रिय सुखो के साथ गहरा चिपकाव पैदा हो जाता है। परमार्थ सत्य की आंतरिक अनुभूति न कर सकने के कारण ही, हम जो अनित्य है उसे नित्य समझते रहते है, जो दु ख है उसे सुख समझते रहते है, जो अनात्म है उसे 'मै' 'मेरा' समझते रहते है और जो अशुभ-अशुचि है उसे शुभ-शुचि-सुदर समझते रहते है। अर्थात् जो जैसा है, उसे हम वस्तुत वैसा देख-समझ ही नही पाते।

'विपश्यना' साधना द्वारा जब प्रज्ञा जागती है, तो समूहघन याने रूपघन, सततिघन, चित्तघन और आलम्बन-घन इन चारो के ठोसपने की माया, भ्रान्ति दूर हो जाती है और हम अनुभूतियो के स्तर पर घनसंज्ञा का विभेदन करते हुए एक पर एक सूक्ष्म सत्य का साक्षात्कार करते है। अर्थात् जिस स्तर पर जो बात जैसी है, उसे ठीक वैसे ही हम देख पा सकते है। दुनिया के सवृत्ति याने प्रज्ञापित भासमान सत्य को भी तब हम स्वीकारते है और साथ साथ उसकी सूक्ष्म परमार्थ सचाईयो को भी समझते है।

भगवान बुद्ध ने समाधि द्वारा अपने दिव्य चक्षुओ से जो पाया, वह सक्षेप मे यह है —

(१) परमाणुओ से भी छोटा, जिसे आगे विभाजित नही किया जा सकता, उसका नाम 'कलाप' रखा।

(२) कलाप यह भी इकाई नही है, किन्तु समूह है। वह कोई ठोस कण नही है, किन्तु तरगो का पुज मात्र है जिसमे पृथ्वी धातु, अग्नि धातु, वायु धातु, जल धातु और उनके गुणधर्म, ऐसे आठो का कलाप है, जिसको 'अट्ठकलाप' कहा गया है।

(३) जो भी ठोस वस्तु प्रतीत होती है, वह असंख्य कलापो का पुजमात्र है। हर कलाप मे बडी शून्यता याने पोल (जगह-आकाश) है, वे एक से एक सटे हुये नही है, सारी तरगे ही तरगे है। यह घनसमूह है।

(४) ये कलाप प्रतिक्षण अगणित बार उत्पन्न होकर नष्ट होते है। इसे सततिघन कहा है। इसी कारण, हमे वस्तु ठोस प्रतीत होती है। यही माया है, सवृत्ति-सत्य है। किन्तु कलाप परमार्थ-सत्य है याने अन्तिम सत्य है।

(५) इसी तरह, ऐन्द्रिय आलम्बन रगरूप, गध, शब्द, रस, स्पर्श गुणधर्म-वाले ठोस पदार्थ भी शून्य मे उदय-व्यय होनेवाली तरगे मात्र है। यही आलम्बन-घन है।

(६) ऐसे ही चित्त की भी चंचलता प्रतीत होती है। परन्तु, यह भी तरंगें मात्र ही है। यह तरंग कलाप-तरंगों से भी एक क्षण में सत्रह बार अधिक वेग से उत्पन्न होकर नष्ट होती है। इसको चित्त-क्षण कहा है। सत्रह चित्त-क्षणों का एक रूप-क्षण होता है।

सारा विश्व तरंग ही तरंग मात्र है

भगवान बुद्ध ने कहा है—

सब्बो पज्जलितो लोको,
सब्बो लोको पकम्पितो॥

"सारे लोक प्रज्वलित ही प्रज्वलित दिखाई पड़ते हैं। समस्त लोक प्रकम्पित ही प्रकम्पित नजर आते हैं।"

ऐसे भयमान संसार के प्रति जागरूक होकर दुःख-निमग्न न हो जाय, इसीलिए स्वयं साक्षात्कार किए हुए, लौकिक संसार का वर्णन करते हुए सम्यक् सम्बुद्ध ने चेतावनी भरे शब्दों में कहा है—

"सारा लोक जल रहा है; चक्षु जल रहे हैं, रूप जल रहा है, कान जल रहे हैं, शब्द जल रहा है; नाक जल रहा है, गंध जल रहा है, रसना जल रही है, रस जल रहा है; काया जल रही है, स्पर्शव्य पदार्थ जल रहा है; चित्त जल रहा है, चित्तवृत्तियां जल रही है, छहों इन्द्रियां जल रही है, छहों इन्द्रियों के आलम्बन जल रहे हैं, सारा ऐन्द्रिय जगत् जल रहा है, सभी प्रतिपल जल ही रहे हैं। सचमुच, सूक्ष्मतर स्तर पर प्रज्वलन-प्रकम्पन, प्रज्वलन-प्रकम्पन के अतिरिक्त इस ऐन्द्रिय जगत् में और कुछ भी नहीं है।"

सर्वथा गतिहीन होनेवाली स्थिति इस भौतिक जगत मे हो ही नही सकती। गति तो सर्वत्र है, परिवर्तन भी सर्वत्र है।

दुनिया के प्रत्येक भौतिक पदार्थ मे, रूप कलाप मे, कण कण मे संगठन रूप से समाए हुए इन चारो महाभूतो को, उनके गुणधर्म-स्वभाव के स्तर पर और चित्त व चित्तवृत्तियो को समझना और अनुभव करना और उनकी सही सही प्रवृत्ति को जानते हुए उनके बन्धनो से मुक्त रहना ही 'विपश्यना' साधना है और यही मंगलपथ है।

इसको ठीक समझकर जीवन मे जागृति रखने से ही दुःखमुक्ति का मार्ग उपलब्ध हो सकता है। आसक्ति मे तो दुःख ही दुःख है।

□ □ □

अध्याय ८

परमाणु-क्षेत्र-विज्ञान में वीसवी शताब्दी में अद्भुत संशोधन

आज से २५०० वर्ष पूर्व भगवान वुद्ध ने अपने योगिक समाधि मे दिव्यचक्षु द्वारा इस भौतिक जगत् का नन्हे से नन्हा कण, जिसको उन्होने कलाप कहा, उसका अनुसधान किया और वताया कि इस भौतिक जगत् मे अलग अलग ऐसे कोई कण नही है, परन्तु कलाप-समूह ही है। उन समूहो मे भी ठोस कोई कण नही है, परन्तु तरगे मात्र है। उनके वीच मे वडी पोल है, आकाश है, शून्यता है। वे निरन्तर विना रुके उत्पन्न होकर नष्ट होते रहते है, परिवर्तित होते रहते हे। इनका वर्णन पिछले अध्याय मे किया गया है। अव इस वीसवी शताब्दी मे पाश्चात्य वैज्ञानिक अपने अथक् सशोधन मे इसके समीप पहुंचने मे कैसी सफलता प्राप्त कर रहे है, यह हम देखेगे।

हम प्रथमत अणुक्षेत्र के अनुसधानो के विगत इतिहास पर दृष्टिक्षेप डालेगे और वाद मे इस शताव्दी की वैज्ञानिक उपलव्धियो पर प्रकाश डालेगे।

परम्परा-प्रधान भौतिक विज्ञान (Classical Physics)

इ स पूर्व पाचवी शताव्दी मे ग्रीक तत्त्ववेत्ताओ ने इस क्षेत्र की ओर विशेप ध्यान दिया। इ स पूर्व ४६० से ३७० मे ग्रीस के प्रसिद्ध वैज्ञानिक डेमोक्रिटस (Democritus) ने सव से पहले अणु की गवेपणा की। उसका नाम उसने अतोमम (Atomum) याने अविभाज्य रखा। उसकी मान्यता मे यह कण अभेद्य, ठोस और अपरिवर्तनशील था। वह सदा एक जैसे वने रहने के स्वभाववाला था। यह परमाणु (Atom) अभेद्य, अविनाशी व ठोस है, ऐसा विश्वास पाश्चात्य जगत् मे तव से लेकर पिछली सदी तक मान्यता-प्राप्त था। डेमाक्रिटस ने चैतन्य और जड तत्त्व मे स्पष्ट भेद वताया। किन्तु इस तत्त्व की आकाश मे गति के वारे मे यही अनुमान वताया कि यह गति कोई ईश्वरी शक्ति द्वारा ही हो रही है।

आगे चलकर, वैज्ञानिको ने गणितशास्त्र मे काफी प्रगति की। इ स १५६४–१६४२ मे वैज्ञानिक गैलिलिओ (Galilio) ने अणुक्षेत्र के गणितीय सूत्र (Mathematical Formula) के सिद्धातो को प्रतिपादित किया। १७ वी शताव्दी के मध्य मे एझाक न्यूटन ने इनमे अनेक संशोधन कर अपने यात्रिकी सिद्धान्त (Mechanistic Theories) रखे। इससे १९ वी शताव्दी तक न्यूटेनियन

मेकैनिस्टिक मॉडेल विज्ञान-जगत् मे काम करता रहा और उसीको विज्ञान-क्षेत्र मे एक मजबूत नीव मानकर अनेक सशोधन हुए।

इ. स १८०३ मे वैज्ञानिक डाल्टन (Dalton) ने भी इस अणुक्षेत्र मे अनेक संशोधन किए और उसने भी यह अैटम ठोस कण ही बताया। उसके नाम से यह डाल्टन अैटम (Dalton Atom) के रूप मे प्रसिद्ध रहा।

सारा विज्ञान का विकास न्युटेनियन मेकैनिकल मॉडेल विज्ञान को लेकर हुआ। यह विकास वास्तव मे अपूर्व था। वैज्ञानिक युक्लिडियन (Euclidean) ने भूमिती-शास्त्र पर अनेक सशोधन किये। न्यूटेनियन विज्ञान-जगत् की यह मान्यता रही कि, कोई भी वस्तु इस आकाश (Space) मे तीन परिमाण (Three-Dimen sionals) याने लम्बाई, चौडाई और ऊचाई को ही लेकर हे। आकाश (Space) सर्वथा स्वतत्र (Absolute) है, अपरिवर्तनशील है, स्थिर है। न्यूटन ने कहा है कि, यह आकाश (Space) एकसा है, अपरिवर्तनीय और अचल है। काल (Time) भी सर्वथा स्वतत्र (Absolute) है और उसकी गति भूत से वर्तमान एव भविष्य मे एकसी प्रवाहमान है। यह गणित-शास्त्र मे स्वतत्र परिमाण (Absolute Dimension) है और काल भौतिक जगत् (Material World) से अलग है, स्वतत्र है।

न्यूटन की यह मान्यता रही कि, परमाणु (Atom) अभेद्य, छोटे से छोटे ठोस कण है और वह स्वतत्र आकाश एवं स्वतत्र काल मे स्थित है। गणित-शास्त्र मे इस कण को 'द्रव्यमान विन्दु' (Mass Point) याने पिण्ड-विन्दु को लेकर सारे सिद्धान्त रचे गये और इस विज्ञान मे संशोधन किये गये। डेमोक्रिटस तथा न्यूटन के अणु-सिद्धान्तो मे एक वडा महत्त्वपूर्ण अन्तर रहा। न्यूटन ने यह सिद्धान्त सिद्ध किया कि द्रव्य पदार्थो के कणो (Matter) मे पारस्पारिक आकर्षण वल (Force) है। यह आकर्षण वल पदार्थकणो के अन्तराल पर एव उनके द्रव्यमान (Mass) पर कम अधिक होता है और इसीको न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण (Force of Gravity) सवोधित किया। ये कण (Particles) और उनके वीच का यह आकर्पण वल और गति (Motion) ईश्वरनिर्मित है, यह मान्यता रही। न्यूटन ने स्थूल कणो की गतिपर वहुत वडा सशोधन करते हुए गणित-शास्त्र को यह महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त देकर यात्रिक युग का शक्तिशाली आधार (Base) वना दिया और आज भी, यान्त्रिक क्षेत्र मे इसपर आधारित अपूर्व सशोधन एव विकास का कार्य चल ही रहा है। इस भौतिक जगत् मे जो भी कुछ घट रहा है, उसके पीछे निश्चित कारण है और उसका निश्चित परिणाम होता रहता है यह भी मान्यता रही। न्यूटन ने सूर्यमण्डल (Solar System) और ग्रहो (Planets) पर भी गवेपणा करके उनके गुरुत्वाकर्पण और गति पर सिद्धान्त वनाये। गणित से सिद्ध करते समय कही कही

अनियमितता भी पायी गई, किन्तु यह ईश्वराधीन है यह महसूस करते हुए उसकी उपेक्षा की गई। एक महान् फ्रेंच विद्वान गणितज्ञ लाप्लास (Laplace) ने भी ग्रहमालिका से अभ्यास करके कई सिद्धान्त रखे।

एक बात ध्यान देने जैसी है कि, विज्ञान मे जो सशोधन होते है वे अनुमान नही होते, अपितु गणितसूत्र से ही सिद्ध किये जाते हैं। विज्ञान मे कल्पना और अनुमान को कोई स्थान ही नही है।

१८ वी और १९ वी शताब्दी के पूर्वार्ध मे वैज्ञानिको को न्यूटन के सिद्धान्तो पर काम करने मे अपूर्व यश मिलता रहा और यह मान्यता-सी हो गयी कि सारे प्रकृति का खेल न्यूटन के सिद्धान्तो के अनुरूप ही चल रहा है।

१९ वी शताब्दी मे नये सशोधन हुए, इस मे महत्त्वपूर्व शोध विद्युत् बल (Electric Forces) और चुम्बकीय बल (Magnetic Forces) पर हुवा और इसका मेल न्यूटन के सिद्धान्तो से नही हो सका। कई नयी शक्तिया दृग्टिपथ मे आयी। ये सशोधन सन् १८३० मे वैज्ञानिक फॅरेडे (Foraday) और क्लार्क मैक्सवेल (Clerk Maxwell) ने किये। उन्होने यह बताया कि, पौजिटिव चार्ज याने विद्युकीय घनात्मक शक्ति एव निगेटिव (Negative) चार्ज याने विद्युकीय ऋणात्मक शक्ति है, डिस्टर्बन्स (Disturbance) या स्थिति (Condition) आकाश (Space) मे उसके सनिधि मे रहती है और इसी कारण एक दूसरे क नजदीक मे यह शक्ति प्रतीत होती है, इस स्थिति को 'फील्ड' (Field) क्षेत्र कहा गया।

इस नये सशोधन से न्यूटेनियन गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त मे बडा अन्तर पाया गया और सूक्ष्म शक्ति का प्रादुर्भाव उपस्थित हुआ। इस विज्ञान-क्षेत्र को 'इलेक्ट्रोडायनैमिक्स' (Electro-Dynamics) कहा गया। इसको लेकर प्रकाश-किरणो का स्पष्टीकरण हुवा। प्रकाश-किरण आकाश मे अत्यत गतिमान परिवर्तनशील विद्युत-चुबकीय क्षेत्र से प्रभावित तरगे मात्र है। जैसे-रेडिओ वेव्ह (Radio-wave), प्रकाश-किरण (Light-wave), एक्स-रे (X-Ray) ये सब विद्युत्-चुम्बकीय तरगे है, कम्पन क्षेत्र (Oscillating Field) ही है। केवल उनकी कम्पन-गति (Frequency) मे फर्क है।

अर्वाचीन भौतिक विज्ञान (Modern Physics)

बीसवी शताब्दी के प्रारभ मे वैज्ञानिको ने अभूतपूर्व नये सिद्धान्तो का पता लगाया। सापेक्ष सिद्धान्त (Relativity Theory) और आण्विक भौतिकी (Atomic Physics) के नये सशोधन ने न्यूटेनियन मूल सिद्धान्तो को ठुकरा दिया तथा आकाश (Space) और काल (Time) अलग-अलग है, स्वतत्र हे एव अणु एक अभेद्य, अपरिवर्तनशील, ठोस कण है इन मान्यताओ और सिद्धान्तो को बदल दिया।

सन् १९०५ मे अल्वर्ट आइन्स्टाईन (Albert Einstein) ने रिलेटिव्हिटी थिअरी का एवं इलेक्ट्रो-मैग्नेटिक रेडिएशन पर अद्‌भुत संशोधन किये। रिलेटिव्हिटी थियरी याने आपसी सम्वन्ध रखनेवाला परस्परावलम्बी सापेक्ष सिद्धान्त ने यह सिद्ध कर दिया कि, आकाश (Space) त्रि-परिमाण (Three Dimensional) नही है और काल स्वतत्र अस्तित्व नही रखता। दोनो एक दूसरे मे सम्वधित है इस कारण चार परिमाण (Four Dimensional) में वन्धा हुआ है। आकाश और काल अलग व स्वतत्र नही है। वैसे ही, न्यूटन के सिद्धान्तानुसार काल का अविरत प्रवाह है, वह भी नही है। एक ही घटना को देखनेवाले, संवंधित घटना को लेकर अलग अलग गति से चलनेवाले अलग-अलग दर्शक, एक ही समय मे घटना की अलग अलग हलचल की आज्ञा दे सकते है। 'Different Observers will order events differently in time if they move with different velocities relative to the observed events' इस स्थिति मे एक दर्शक को दीखनेवाली एकसाथ की दो घटनाए दूसरे दर्शको को अलग अलग कालावधि मे दीख सकती है। इसलिए आकाश का एवं काल का अलग अलग स्वतंत्र अस्तित्व विद्यमान नही है, और इस कारण, प्रकृति मे जो विविध घटनाए घट रही है, उसके समझने मे इसका मूलभूत महत्व है। इस सिद्धान्त के कारण यह समझ मे आया कि, जडवस्तु (Mass) यह एक केवल शक्ति के रूप मे विद्यमान है। एक स्थिर वस्तु भी अपने अन्दर शक्ति का सचय है और इसका सिद्धान्त जो रखा गया है, वह इस प्रकार है –$E=mc^2$ (E–Energy; m–mass; C–the speed of Light) ऊर्जा=द्रव्यमान×प्रकाश–वेग का वर्ग। आइन्स्टाईन के सिद्धान्त मे आकाश (Space) और काल (time) पर गुरुत्वाकर्षण वक्राकार का प्रभाव उत्पन्न करता है। इस कारण, अव युक्लिडियन भूमिति–सिद्धान्त भी गलत हो जाता है, किन्तु हमारे नित्य के व्यवहार मे यह सव आकलन करना समझ के वाहर है।

यह सारा विज्ञान-सशोधन--सिद्धान्तो का परिचय इसलिए दिया जा रहा है, जिससे साधको को 'विपश्यना' साधना को सूक्ष्म स्तर पर समझने मे सहायक हो सके।

इ स १९०० के लगभग इग्लैन्ड मे वैज्ञानिक जे जे. थॉमसन ने अणुक्षेत्र में वडा सशोधन का काम किया। उसने यह सिद्ध किया कि, अभेद्य माना जानेवाला परमाणु (Atom) भेदन किया जा सकता है। इस भेदन मे उसने परमाणु (Atom) मे इलेक्ट्रॉन कण की उपस्थिति खोजी। इ. स १९०९ मे वैज्ञानिक आर ए मिल्कन ने इलेक्ट्रॉन के शक्तिपर काम किया और यह सिद्ध किया कि, इलेक्ट्रॉन का द्रव्यमान (Mass) हायड्रोजन एटम से १८३७ वे हिस्से मे है। जे जे थॉमसन ने और अधिक काम करके यह वताया कि एटम मे इलेक्ट्रॉन्स् है। अत. यह स्पष्ट होने लगा कि परमाणु भौतिक जगत् का सूक्ष्मतम कण नही है।

इ स १९१० मे वैज्ञानिक अर्नेस्ट रुदरफोर्ड (Ernest Rutherford) ने इस अणुक्षेत्र मे और सशोधन किया और पाया कि एटम के मध्य मे एक घना कण है और यह एटम का मध्य याने नाभिक-न्युक्लिअस (Neucleus) है तथा इसके वाहरी कक्षा मे इलेक्ट्रॉन्स (Electrons) तीव्र गति से घूम रहे है। यह मध्य (नाभिक) का घना कण एटम के आकार से एक लाखवा हिस्सा है। ये वाहरी कवच मे घूमनेवाले इलेक्ट्रॉन्स अविरत मध्य (नाभिक) कण के चारो ओर घूमते रहते है, जैसे सूर्य के चारो ओर वृत्ताकार कक्षा मे ग्रहमण्डल घूमते रहते है, प्रत्येक एटम सौरमण्डल का ही सूक्ष्मतम प्रतीक है। मध्य कण और इलेक्ट्रॉन ये दोनो ही विद्युत्-चुम्बकीय चार्ज-वाले ही दिखाई दिये और इनमे आकर्षण शक्ति है और इससे वे वन्धे हुए है। एटम माइक्रोस्कोप से दिखायी नही देता, क्योकि उसका आकार अत्यन छोटा है। यदि कल्पना करना है तो मान लीजिए, एक सन्तरा पृथ्वी के आकार मे परिणत कर दिया जाय तो सन्तरे मे एटम का आकार चेरी के आकारमान का होगा और उसका न्युक्लिअस (मध्य) इतना छोटा होगा कि वह दिखायी भी नही देगा।

इ. स. १९१३ मे वैज्ञानिक नील्स वोहर (Niels Bohr) ने इस क्षेत्र मे और भी सशोधन किया और एटम के रूप मे एटम का और एक मॉडेल सामने आया।

इस वीच मॅक्स प्लैन्क (Max Planck) ने देखा कि, उष्णता (Heat Radiation) से मिलनेवाली ऊर्जा (Energy) एक सी नही मिल रही है, किन्तु पैकेट्स् के हिसाव से मिल रही है। आइन्स्टाईन ने इसको कॉन्टा (Quanta) नाम दिया और आगे यह कॉन्टम थिअरी (Quantum Theory) के रूप मे प्रकाश मे आयी। कॉन्टम थिअरी मे कण (Particle) यह एक ही समय मे दो रूप धारण करते पाया गया है। कण का एक रूप कण के आकार का और उसका ही दूसरा रूप तरग (Wave) हो जाता है।

प्रकाश-किरण भी दो रूप धारण करके चलती है। प्रकाश-कण को फोटोन (Photons) नाम दिया गया है और ये प्रकाश की गति से ही प्रवाहमान है। यह तरग सा रूप त्रि-परिमाण (Three Dimensional) नही है, किन्तु ये प्रॉवे-विलिटी वेव्हज् (Probability Waves) (सम्भवनीय तरगे) के रूप मे है तथा इन्हे गणित ने सिद्ध किया है। इसी कारण, एटॉमिक (Atomic) कोई भी घटना (event) निश्चित रूप से आगे कैसी होगी, यह कहा नही जा सकता, किन्तु ऐसा हो सकेगा इतना ही कहा जा सकता है।

इस कॉन्टम सिद्धान्त के कारण क्लासिकल भौतिकी विज्ञान के सिद्धान्त निरर्थक हो गये और इस सिद्धान्त से यह प्रतीत हुवा कि सव-ऐटॉमिक पार्टिकल्स् (Sub-Atomic Particles) (कण) अलग-अलग स्वतन्त्र नही है, किन्तु एक दूसरे से वन्धे हुये है, एक-रूप ही है और यह सारा लोक (Universe) एक ही है, सारे एकरूप

मे तरगो से वन्धा हुवा है, अलग कुछ नही है, अलग किया भी नही जा सकता। प्रकृति मे अलग अलग विल्डिग ब्लॉक्स (ईटे) है ही नही, किन्तु एक दूसरे से गूथा हुवा सारा तरग मात्र है, इसमे दर्शक और दृप्य दोनो समिलित है, दर्शक दृश्य से भिन्न नही है।

इ स १९२३ मे, लुइस द ब्रोगली (Louis de Broglie) नामक फ्रेन्च वैज्ञानिक ने सिद्ध किया कि इलेक्ट्रॉन्स भी दो रूप धारण करता है (A dual paiticle wave nature) किन्तु एटम का नाभिक (Neucleus), जो कि प्रोटोन है, उसको तव ठोस और अभेद्य माना जाता रहा।

इ स १९२० से १९३० तक वैज्ञानिको ने अपना एक गुट वनाकर अणुक्षेत्र मे सशोधन जारी रखा। इन मे डेन्मार्क के नील्स वोहर (Niels Bohr), फ्रान्स के लुइस द ब्रोगली (Louis de Broglie), ऑस्ट्रिया के एर्विन स्क्रोडिंजर (Erwin Schrodinger) एव वूल्फगैग पावली (Wolfgang Pauli), जर्मनी के वर्नर हाइसेनवर्ग (Werner Heisenberg) और इग्लैड के पॉल डिरैक (Paul Dirac) के नाम उल्लेखनीय है, जिन्होने इ स. १९३० के आगे भी काम जारी रखा।

इ स १९३२ मे, एटम का विभाजन करते करते वैज्ञानिको को प्रोटोन का भी विभाजन करने मे यश मिला और उसमे से न्यूट्रॉन नामक और एक कण अलग करके देख लिया। इ स १९६६ तक तो कई नये नये कण प्रकाश मे आये। साथ मे, यह भी निश्चित हो गया कि, इन भिन्न भिन्न कणो मे से एक भी ठोस नही है, ध्रुव नही है और सभी परिवर्तनशील है, विनाशधर्मी है। इलेक्ट्रॉन और प्रोटोन तथा न्यूट्रॉन ये सभी रूपकण एव तरग धारण करते है यह भी सशोधन मे सिद्ध हुवा।

आण्विक क्षेत्र मे विज्ञान की खोज निरतर जारी है। इसी के दौरान इलेक्ट्रॉन का गभीर अनुसधान (Bombardament in Bubble chamber) करते हुए पाया गया कि, उसे देखने के लिये प्रकाशकीय लघु तरगो (Shortwave Lights) का प्रयोग करना होता है, जिसके विना इलेक्ट्रॉन की स्थिति और गतिविधि देखी नही जा सकती। इलेक्ट्रॉन पर जैसे ही प्रकाश तरगे पडती है, वैसे ही उसमे विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाए होने लगती है। वह अस्तव्यस्त ढग से सिकुडने लगता है। इस प्रकार, दो विरोधी तरगो के सघात से उनके विकृत होने की वात सामने आयी।

इन लघुकणो के सशोधन मे सन् १९३५ तक ६ की सख्या थी, सन् १९५५ तक यह सख्या १८ तक गयी और आज तो इनकी सख्या २०० से अधिक पहुच गयी है।

एक वात और भी सामने आयी कि प्रत्येक लघुकण-तरंग की एक विरोधी लघुकण-तरंग होती है और उसका विद्युतीय चार्ज भी विरोधी होता है। इनमे पारस्परिक

संघात हो होकर इनका प्रतिक्षण नाश होता रहता है और इनके स्थान पर उसी गुणधर्मवाली नयी लघुकण-तरग उत्पन्न होती रहती है। इनमे कुछ महत्त्वपूर्ण लघुकण इस प्रकार है —

१ इलेक्ट्रॉन (Electron), इसका विपरित पॉजिस्ट्रॉन (Posistron)
२ प्रोट्रॉन (Protron), इसका विपरित अॅन्टी प्रोट्रॉन (Antiprotron)
३ न्यूट्रॉन (Neutron), इसका विपरित अॅन्टी न्यूट्रॉन (Anti-Neutron)
४ न्यूट्रिनो (Neutrino), इसका विपरित अॅन्टी न्यूट्रिनो (Anti-Neutrino)
५ फोटॉन (Photon), इसका विपरित अॅन्टीफोटॉन (Anti-Photon)

प्रोटॉन, इलेक्ट्रॉन और फोटॉन ये सभी स्थिर (Stable) रहनेवाले लघुकण है। न्यूट्रॉन वहुत शीघ्रता से विखरता है। न्यूट्रिनो यह स्थिर रहनेवाला है, किन्तु इसमे जडत्व नही है (Massless), फोटॉन मे भी जडत्व नही है। अस्थिर (Unstable) रहनेवाले लघुकणो की सख्या अत्यधिक है।

सभी लघुकणो मे आपसी टकराव चलता रहता है। ये आपसी टकराव (Interactions) चार प्रकार के होते है।

१ तीव्र आपसी टकराव (Strong Interactions)
२ मन्द आपसी टकराव (Weak Interactions)
३ विद्युत्-चुवकीय आपसी टकराव (Electro-Magnetic Interactions)
४ गुरुत्वाकर्पणीय आपसी टकराव (Gravitation Interactions)

ओर ये सभी आपस मे वदलते भी रहते है।

एटम के मध्य मे नाभिक (Neucleus) जो है, उसमे प्रोट्रॉन और न्यूट्रॉन का आपसी तीव्र टकराव होता रहता है और इसी कारण ये उस जगह वन्धे रहते है। वाहरी कक्षा मे इलेक्ट्रॉन विद्युत्-चुवकीय टकराव शक्ति से घूमता रहता है और मध्य (नाभिक) की तरफ पूर्णत खिचाव के कारण वधा हुआ रहता है।

अव यह भेद सामने आया है कि परमाणु (Atom) मे भी मध्यकण एव कवच-कण सभी अविरत टकराव करते ही रहते है, कुछ भी स्थिर नही है, सव परिवर्तनशील है, नित्य कुछ भी नही है, सव अनित्य ही है।

भौतिक जगत् में प्रकंपो का नृत्य (Cosmic Dance)

इस वीसवी शताब्दी के अद्भुत सशोधन से यही प्रकट हुआ है कि प्रत्येक परमाणु के लघुकण अविरत प्रकप करते रहते है, एक-दूसरे से वधे रहते है तथा एक-दूसरे मे वदलते रहते है। विना रुके, अविरत गति से इस सृष्टि मे एक एक अनूठे ताल पर इनका नृत्य चलता ही रहता है (Rhythmic Motion) और उनमे आपस मे एक जाल वन गया है, कोई अलग नही है, उदय-व्यय हो ही रहा है, आपसी

वदल भी वन रहा है और प्रचंड शक्ति का प्रवाह लगातार (Ceaseless) वह रहा है। सारा जगत इसमे झूम रहा है, जैसा कि भगवान वुद्ध ने अपनी समाधि द्वारा प्रत्यक्ष किया—

" सव्वो पज्जलितो लोको,
सव्वो लोको पकम्पितो।"

आकाश मे, ग्रहो मे, तारो मे परमाणु लघुकणो का प्रदीर्घ, अविरत, विना रुके टकराव (Collisions) चल ही रहा है और शक्ति का प्रवाह उत्पन्न होकर अथक् वहा ही जा रहा है, वह पृथ्वी की ओर भी खीचा आ रहा है।

कुछ ग्रहो मे और तारो मे तो अत्यत शक्तिशाली विद्युत्-चुवकीय प्रकिरणें उत्पन्न होकर रेडिओ-तरगे, प्रकाश-तरगें, एक्स-रे तरगे वनती है और सारी प्रवाहित होती रहती है। ज्योतिप-शास्त्र मे इसका उपयोग गणित लगाने मे वहुत महत्त्वपूर्ण होता है। सारा कॉसमॉस (विश्व) इन तरगो से भरा हुआ है। यह पृथ्वीपर भी लगातार विस्फोटित होती रहती है (Bombarding)। इस प्रकार, पृथ्वी के वातावरण मे एक वडी शक्ति का अविरत प्रवाह उत्पन्न होता ही रहता है। यह सब कॉसमिक किरणो का नृत्य विना रुके चल ही रहा है। और यही वस्तुत. शिवजी का नृत्य, नटराज नृत्य है।

नटराज नृत्य—शिवनृत्य प्रतीकात्मक ही है। यह कॉसमिक किरणो का उदय-व्यय ही नही वताता है, किन्तु जन्म-मरण के चक्कर का भी यह प्रतीक है। इस जगत् मे जितने रूप है, ये सब वस्तुत· प्रकप ही प्रकप है, तरगो का नृत्य है, और यही माया है। शिवजी का नृत्य यही स्पष्ट करता है। शिवजी के नृत्य की मूर्ति की शिल्पकारित्ता देखे तो यह स्पप्ट सामने आएगा कि उनके ऊपरी दाहिने हाथ मे डमरू है, जिसकी आवाज उदय का प्रतीक है; वाये हाथ मे अग्नि की ज्वाला है, जो व्यय का प्रतीक है, और दोनो हाथो का नृत्य यही वताता है कि इस सारे जगत् मे उदय-व्यय का, वनने टूटने का एक सन्तुलन वनाया रखा जा रहा है और शिवजी के मुखारविन्द पर वडी शान्ति छायी है। दूसरे, दोनो मे से दाहिना हाथ 'निर्भय रहो' का प्रतीक है, शान्ति-सुरक्षा का आधार है; और वाया हाथ नृत्य मे उठते पैर की ओर ध्यान आकृष्ट कर रहा है और वताता है कि 'माया से ऊपर उठो'। यह नृत्य दोनो पैरो के नीचे दानव पर हो रहा है जो वताता है कि 'अविद्या को कुचल डालो'। यही वस्तुत: शिवनृत्य है, यह हम समझे।

शून्यता—सारा आकाश शून्य है। इस शून्य का अर्थ यह नही है कि 'कुछ नही'। शून्य का सही अर्थ है 'पूर्ण'। शून्य का अर्थ 'परिपूर्ण' है, सारा व्याप्त है, कुछ भी खाली नही है। उपरोक्त वर्णन से यही स्पप्ट होता है कि आकाश तरगो के उदय-व्यय से परिपूर्ण है, खाली कुछ है ही नही। उपनिषद् भी यही वताते है कि सारा पूर्ण

है, पूर्ण मे से पूर्ण निकालने पर भी पूर्ण ही शेष रहता है; सारा ब्रह्माड ब्रह्म मे परिपूर्ण है और ब्रह्म से ही सारा उत्पन्न-लय होता है, और यही शून्य वस्तुत परिपूर्ण ब्रह्म है। यह शून्य परिपूर्णता का प्रतीक मात्र है।

ब्रह्मनाद—सारा रूप-क्षेत्र परमाणुओ के लघुकणो से परिपूर्ण है, जिनका आपसी सघात अविरत चल रहा है, उदय-व्यय अविरत हो रहा है। इसी द्वारा एक नाद उत्पन्न होता रहता है। नृत्य जब ताल बदलता है, तो नाद भी बदलता है। प्रत्येक परमाणु अपना ही गान गाता है और यही नाद-शक्ति है। यही अनेक रूप उत्पन्न करता है और नष्ट भी करता है। यही जगत् का नाद है, ब्रह्मनाद है। यही रूप (Matter) के अस्तित्व का कारण भी है।

परमाणु के लघुकण-विस्फोट के प्रयोग जिस यन्त्र मे किये जाते है, उसके बबल-चेम्बर मे विस्फोट के लिये गये चित्र आश्चर्यजनक हैं, वे नृत्य के समान ही है। वैज्ञानिक सशोधनो द्वारा प्रस्तुत ये अद्‌भुत दृश्य सारे जगत् मे अविरत गतिमान है।

□ □ □

अध्याय ९

एक इकाई में विभिन्न रूपों में बना संसार मायाजाल का भेदन

लघुकण की रचना

अर्वाचीन आधुनिक वैज्ञानिक गवेषणाओ से यह स्पष्ट हुआ है कि परमाणु (Atom) की रचना (Structuic) इस प्रकार है—

परमाणु के मध्य मे नाभिक-विन्दु (Neucleus) है। इसमे प्रोटॉन और न्यूट्रॉन है और उसकी वाह्य-वृत्ताकार कक्षा मे इलेक्ट्रॉन है। प्रोटॉन यह धनात्मक (Positive) चार्ज से प्रभावित है, न्यूट्रॉन मे कोई चार्ज नही है और इलेक्ट्रॉन ऋणात्मक (Negative) चार्ज से प्रभावित है। नाभिक-विन्दु की वाह्यकक्षा (Orbits) मे इलेक्ट्रॉन घूमता है, जो केन्द्र की ओर आकर्षण मे रहता है। परमाणु का जो भी घनत्व (Mass) है, वह केवल नाभिक-विन्दु के ही कारण है, यद्यपि नाभिक-विन्दु (Atomic Neucleus) आकार से परमाणु (Atom) का मात्र लाखवा भाग है। तात्पर्य, नाभिक विन्दु अत्यंत घना होना चाहिये। अव यह भी स्पष्ट हो गया कि नाभिक-विन्दु मे और वाह्य कक्षा मे वडी पोल (Space) है। कल्पना करनी हो, तो एक वहुत वडे गोल घुमट (Dome) जो कि रोम मे है, उसके आकार की गोलाई मे नमक का नन्हे से नन्हा कण घुमट के मध्य मे हो, ऐसी कल्पना की जा सकती है। परमाणु मे इतनी वडी पोल है कि, यदि मनुष्य का शरीर इसके नाभिक-विन्दु की घनता मे दवाया जाय और सारी पोल निकाल दी जाय, तो उसका आकार एक पिन की नोक जितना हो जायगा।

वडी पोल से भ्रान्ति

परमाणु मे जव इतनी वडी पोल है, तो सभी वस्तुओ मे भी वहुत वडी पोल होनी चाहिये, ऐसी पहेली (Puzzle) उत्पन्न हो जाती है। और जव कि इतनी वडी पोल हो, तो फिर हम किसी भी वद दरवाजे मे से वाहर क्यो नही निकल पाते ?

एक और पहेली भी उत्पन्न होती है। वह यह कि इतनी वडी पोल होते हुए, वस्तु मे इतनी घनता कहा से आयी ? जैसे, लोहा है जिसे हम कोई भी रूप दे सकते है। हमारे सारे यत्र लोहे से वनते है, जिनसे अनगिनत शक्तिशाली कार्य किये जाते है।

प्रत्येक परमाणु मे जव कि प्रतिपल उदय-व्यय होते रहते है और उसमे प्रतिक्षण शत-सहस्र-कोटि वार विस्फोट होते रहते है और वह फिर से अपने पूर्वरूप मे आ

जाता है, तो प्रत्येक विस्फोट के वाद यह घनशक्ति कहा से आती है ? इतने विस्फोट होते हुए भी हम देखते है कि लोहा जैसे का वैसा ही है। यह क्या इद्रजाल है ? यह कैसी माया है ?

इसका स्पष्टीकरण क्वान्टम सिद्धान्त मे मिला है। एक लघुकण दो रूप धारण करता रहता है। एक तो कण (Particle) का और दूसरा रूप तरग का। यह दो रूपो मे परिवर्तित होने का कार्य लगातार चलता रहता है। यह स्वभाव परमाणु के इलेक्ट्रॉन का है, जो अविरत वना रहता है और इसका आश्चर्यजनक प्रभाव परमाणु पर पडता है। यह इलेक्ट्रॉन अपने नाभिक-विन्दु की कक्षा मे लगातार घूमता रहता है। किस समय वह कण मे और किस समय तरग मे आता है, यह निश्चित-रूप से आका नही जा सकता। अव यह वात स्पष्ट है कि इलेक्ट्रॉन नाभिक-विन्दु से अपने विद्युत् चार्ज के वल के कारण वधा हुआ है, जिससे वह उसके अधिकाधिक नजदीक रखा जाता है। दूसरी ओर ये इलेक्ट्रॉन नाभिक-विन्दु के चारो ओर कक्षा मे लगातार परिक्रमा लगाते रहते है और उससे वधे हुए रहते है। नाभिक-विन्दु मे और परिक्रमा लगानेवाले इलेक्ट्रॉन मे जितना अन्तर कम होता है, उतनी इन इलेक्ट्रॉन की गति वढती जाती है। तव यह गति अत्यत तीव्र हो जाती है, लगभग ६०० मील प्रति सेकैन्ड। यही तीव्र गति है, जिससे परमाणु ठोस जैसा प्रतीत होता है, जैसे कि अति तीव्र गति से घूमनेवाला पखा तवकडी जैसा दिखायी देता है। परमाणुओ को दवाकर छोटा करना सभव नही है, इसी कारण से वे ठोस जैसे वने रहते हैं।

परमाणु मे इलेक्ट्रॉन के वृत्त (Orbit) नाभिक-विन्दु (Neucleus) के आकर्पण-विकर्पण के सतुलन पर वने रहते है। सूर्यमण्डल मे ग्रहो की परिक्रमा से इनकी क्रियाए विलकुल भिन्न है। उसका कारण इलेक्ट्रॉन का तरग-रूप मे वदलते रहना है, अत उनका वृत्त भी इसी कारण वदलते रहता है। उड्डान से यह एक वृत्त से दूसरे या तीसरे वृत्त मे चला जाता है। यह कव और किस वृत्त मे घूम रहा है, यह आका नही जा सकता। केवल उसकी सभावना ही प्रकट हो सकती है।

अनेक रूपों की रचना

परमाणु मे इलेक्ट्रॉन की सख्या, उनके वृत्तो (Orbits) की सख्या, नाभिक-विन्दु और इलेक्ट्रॉन के वीच की विद्युतीय आकर्षणशक्ति, तथा आकर्पणशक्ति और इलेक्ट्रॉन की तरगे (Waves) ये सव मिलकर इस जगत् मे अनेक रूपो की रचना का निर्माण करती है। जितनी भी रासायनिक क्रियाए (Chemical Reactions) है और परमाणु से परस्पर सटने की जो भी क्रियाए है, वे सव इसी कारण से होती है। इन इलेक्ट्रॉन और परमाणु के नाभिक-विन्दु मे जो संघात चल रहा है, उसी कारण मे घन, द्रव, गैस और वनस्पति तथा प्राणीमात्र की सारी रासायनिक क्रियाए वनती है, वदलती है, उत्पन्न तथा नष्ट होती है और परिवर्तित होती ही रहती है। तीव्र

तपमान से सघात-शक्ति में उलटफेर होता ही रहता है । तारागणो मे, ग्रहो मे और सूर्य मे ये सघात कल्पनातीत तीव्र गति से चल ही रहे हैं । इसी कारण, सूर्य से अविरत, अमोघ शक्ति का प्रवाह हमे पृथ्वी पर मिलता रहता है ।

सभी परमाणु कण एक दूसरे मे बदल सकते हैं, शक्ति मे परिवर्तित होते हैं, शक्ति से निर्माण भी होते है और शक्ति मे समाविष्ट भी हो जाते हैं ।

यह जगत् अभेद्य है

वैज्ञानिक अनुसधानो से यह स्पष्ट हो गया है कि, इस भौतिक जगत् मे ऐसे कोई अलग अलग तत्त्व नही है, जिसे कि हम मूल तत्त्व कह सके, जैसे अलग अलग ईंटे कह सके, जिससे इमारत तैयार होती है । यह जगत् अविभाज्य तरगो से, प्रकम्पो मे और उनमे निहित असामान्य शक्ति से जाल-रूप मे, एक-रूप मे बधा हुआ है, अलग अलग कहने को कुछ है ही नही । और इसीका भगवान बुद्ध को साक्षात्कार हुआ, जो उन्हे मनोविज्ञान समाधि मे दिव्यचक्षु द्वारा स्पष्ट हुआ । देखनेवाला या प्रयोग करनेवाला भी अलग नही है । वह भी इसी जाल का एक भाग है । अलग कुछ है ही नही, सब एक है । सभी वस्तु, पदार्थ और जो जो भी दृश्य है, ये सब एक-दूसरे पर आधारित है, संबंधित है और अभेद्य है । सारा ससार मूल एकता का ही सत्य-स्वरूप है, जिसको हिन्दुधर्म मे ब्रह्म कहा है, बौद्धधर्म मे धर्मकाय या तथता कहा है और चीन मे जिसे ताओ कहते हैं ।

ससार मे हम इस एकता का अनुभव नही करते और हमे सभी चीजे अलग अलग प्रतीत होती है, अलग अलग घटनाए घटती प्रतीत होती है और व्यवहार के लिये यह ऐसा होना हमारे लिये जरूरी है, उपयुक्त भी है । परंतु, यह मूलभूत सत्य नही है । ये अलग अलग प्रतीतिया वास्तव मे मायाजाल है, अविद्या ही है । इस अविद्या को, माया को हटा कर के सत्य का साक्षात्कार करने के लिये ही 'विपश्यना' साधना का अभ्यास, समाधि का अभ्यास आवश्यक है ।

बाह्य उपकरणो द्वारा प्रयोग शाला मे प्रयोग करनेवाला वैज्ञानिक भी स्वय इन प्रयोगो से वास्तव रूप से संबंधित है, वह भी पृथक् नही है । दर्शक और दृश्य को प्रयोगशाला मे अलग मानकर यद्यपि काम होता है, फिर भी दोनो पृथक् नही है और इसी कारण, इन प्रयोगो का परिणाम भी निश्चयपूर्वक अतिम मानना कठिन है, वह केवल सभवनीय (Probabilities) ही कहा जा सकता है ।

किन्तु समाधि मे दर्शक और दृश्य एक होकर मनोविज्ञान से केवल है वैसा ही जाना जाता है । जानता हू, देखता हू, यह जबतक होता है, तबतक हम अतिम सत्यतक नही पहुचते है । दर्शक और दृश्य का भेद समाप्त होना ही अतिम सत्य को उपलब्ध करना है । परतु, बाह्य भौतिकी प्रयोग मे यह भेद समाप्त होना असभव है । यह भेद समाधि मे अपने भीतर झाकने से ही मिट सकता है ।

एक ही इकाई के दो विरोधी रूप

क्वॉन्टम-सिद्धान्त की खोज से यह प्रकट हो गया है कि, एक ही लघुकण दो रूप एकसाथ धारण किये है। एक कण (Particle) का रूप और दूसरा तरंग (Wave) का रूप, जैसे एक ही सिक्के के दो भिन्न रूप होते हैं। हमने पिछले प्रकरण मे देखा है कि, इलेक्ट्रॉन के, प्रोट्रॉन के तथा न्यूट्रॉन आदि के विरोधी रूप होने के कारण वे उत्पन्न होते रहते है और नष्ट होते रहते है। जब पानी मे लहरे चलती है, तो ऐसा प्रतीत होता है कि जल के कण लहर के रूप मे नीचे-ऊपर चल रहे है। वास्तविकता यह है कि, कण लहर के रूप मे नीचे-ऊपर नही चलते हैं, किन्तु हमे भासमान वैसा ही होता है कि पानी लहरो में वह रहा है। वस्तुस्थिति यह है कि हवा के कारण ही लहरे उत्पन्न होती हैं। इसीप्रकार, ध्वनि के कण भी लहर के रूप मे वहते हुए जान पडते हैं, किन्तु वास्तव मे वे भी प्रवाहित होनेवाले कम्पन (Oscillate) ही हे।

ये लघुकण भेद्य होकर अभेद्य हो जाते है। एक-से प्रवाहमान होकर अप्रवाहित-से प्रतीत होने लगते है, रूप शक्ति मे परिणत हो जाते है, तो कभी शक्ति रूप मे परिवर्तित हो जाते है। ये एक निश्चित और स्थायी स्थान पर नही रहते और न हि उस स्थान से केवल अनुपस्थित रहते है। जो भी घटित होता है, वह सभवनीय (Probability) ही है।

द्वैत (Duality) का भ्रम

इस ससार-जगत् के विरोधाभास के दो रूपो को देखकर उसी मे हम फस जाते है। जव हम किसी घटना का एक रूप मान लेते है, तो उसका विरोधी रूप भी स्वय कर ही लेते है। जैसे, हम किसी वस्तु को 'सुदर' कहते है, तो उसका विरोधी रूप 'कुरूप' का अस्तित्व हो ही जाता है। किसी वस्तु को अच्छा कहना ही, दूसरी को वुरा मान लेना है। ये दोनो स्थितिया एक दूसरे से संवध (Relativity) रखती है, ये एक ही इकाई के दो पहलू है, चुवकीय (Polar) छोर है, वे एक-दूसरे से अलग नही हैं। इसी तरह, सुख और दु ख एक ही सिक्के के दो पहलू है। अत , इस संसार-जगत् मे एक ही इकाई के दो विरोधी छोर वने हुए है। जैसे जन्म-मरण, नर-नारी, आरोग्य-व्याधि, यौवन-जरा, पाप-पुण्य, भलाई-वुराई, शत्रु-मित्र, हार-जीत, प्रकाश-अंधेरा, दिन-रात्रि, आदि। और, इन्ही द्वैत के कारण यह सारा ससार चल रहा है, व्यवहार चल रहे है और इसको मानकर ही यह जीवन प्रवाहमान है। इस विरोधा-भास की वास्तवता समझकर जो चलता है, वही समता को प्राप्त हो सकता है। इस माया का भेद करके ही वह उसके परे का प्रत्यक्ष कर सकता है। कोई भी मनुष्य एक को छोडकर दूसरे को प्राप्त कर ही नही सकता, जैसे केवल सुख ही सुख चाहिये

और दुःख समाप्त हो जाय, ऐसा हो ही नही सकता। यदि सुख चाहिये, तो दु.ख छाया की तरह साथ आएगा ही। सुख और दु ख दोनो समय,समता के साथ रहना ही जीवन जीने का उचित और सही मार्ग है। और इस विरोधाभास की सभी स्थितियो मे समता से रहने का अभ्यास रखने से ही हम ससार को ठीक प्रकार से चित्त को आदोलित न करते हुए पार कर सकते है। यह 'विपष्यना' साधना द्वारा अवश्य साध्य हो सकता है।

भगवान वुद्ध यही कहते है कि, ये दो विरोधी पक्ष वास्तव मे है ही नही, यह एक ही इकाई है और इसका साक्षात्कार करना चाहिये। भगवान् कृष्ण गीता मे यही कहते है कि, इस सासारिक स्थिति के परे देखने से ही सत्य का साक्षात्कार होगा। चीनियो मे ये दोनों छोर 'यिन' और 'यँग' के नाम से कहे जाते हैं। इनकी एकता ही 'ताओ' (Tao) है, जो सत्य का मार्ग है। भगवान् शिव का अर्धनारी-नटेश्वर इसी का प्रतीक है, नर और नारी दोनो वास्तव मे अद्वैत ही है।

आकाश और काल

पिछले प्रकरणो मे यह वताया गया है कि, वैज्ञानिक आइनस्टाईन के अनुसंधानानुसार आकाश (शून्य) स्वतंत्र नही है और काल भी स्वतत्र नही है। न्यूटेनियन सिद्धात अवतक यही मानता आया है कि ये दोनो अलग अलग है। आइनस्टाईन ने यह सिद्ध कर दिखाया कि आकाश और काल ये दोनो एक दूसरे से वधे हुए (Relative) है, सापेक्ष है।

कोई घटना हम विशिष्ट समय घटित होते देखते है। यह एक भ्रम है और इसका कारण प्रकाश-किरणो की अत्यत तीव्र गति है, जो कि १,८६,००० मील प्रति सेकेन्ड है। सूर्य को हम विशिष्ट समय जो देखते है, वह स्थिति वास्तव मे आठ मिनिट पहले की होती है, जो हमे वाद मे दीखती है। इसी तरह, कुछ तारे (Stars) जो हमे आज दिखायी देते है, वह स्थिति वास्तव मे करीव चार वर्ष पूर्व की होती है। इसका कारण यह है कि प्रकाश-किरण को धर्तीपर पहुचने मे इतना समय लग जाता है।

पूर्वादृष्टि वस्तुविज्ञान के अनुसार यही माना जाता है कि, कोई भी वस्तु की लवाई गति (Motion) मे या स्थिरता (Rest) मे एक ही होती है, परन्तु रिलेटिव् सिद्धान्त के सशोधन के पश्चात् यह सिद्ध हुवा है कि, गति मे वस्तु का सकुचन होने लगता है और तीव्र गति मे लंवाई कम हो जाती है। गति मे घडी भी धीमी हो जाती है, हृदय की धडकन भी धीमी हो जाती है। यह सव रिलेटिव सिद्धान्त को लेकर स्पष्ट हुआ है।

आकाश और काल अलग अलग नही है, दोनो एक दूसरे से सवध रखे रहते है। वास्तव मे दोनो एक ही है, परन्तु दोनो अलग अलग भासमान है और यही माया

है। भूत-भविष्य भी वास्तव मे है ही नही। ये तो हमारे मन के विचारो का परिणाम है। हम जब इस ससारचक्र के परे का साक्षात्कार कर सकेगे, तो हमे अनुभव होगा कि, आकाश और काल ये दोनो एक ही है और वर्तमान मे ही प्रवाहमान है। परन्तु व्यवहार जगत् मे इसकी कल्पना हमारे समझ के परे है। क्योकि हम मात्र तीन परिमाणो से देखते है। लम्बाई, चौडाई और ऊँचाई। चार या अधिक परिमाणो (Multi Dimentional) से देखने मे हम समर्थ नही है। किन्तु, योगी यह देखने की स्थिति प्राप्त कर सकते है। वे आकाश, काल और कार्यकारण स्थिति, जो कर्म के बन्धन है, उसके परे चले जाते है।

आइनस्टाईन के रिलेटिविटी सिद्धान्तो से यह स्पष्ट होता है कि, जडत्व (Mass) वास्तव मे केवल शक्ति का आकार (Form) है। वस्तु (Matter) और खाली जगह (Empty Space) ये क्लासिकल वस्तु-विज्ञान (Classical physics) मे अलग अलग माने जाते है। किन्तु, मॉडर्न वस्तु-विज्ञान मे वस्तु और खाली जगह (आकाश) ये दोनो अलग नही है, अभेद्य है, परस्परावलम्बित है। योगी देखता है कि, यह सारा निराकार है, कुछ है ही नही। इसका मतलब यह नही होता कि सब समाप्त (Void & Empty) है। किन्तु यह सारा शक्ति से ओतप्रोत है, जिसमे विभिन्न रूप, वस्तु, आकार उत्पन्न दिखायी देते है और जीवन की भी यही एक शक्ति है।

आक्युपंक्चर

चीन मे कई रोग दुरुस्त करने के लिये आक्युपक्चर का प्रयोग किया जाता है। आक्युपक्चर अर्थात् शरीर के विशिष्ट स्थानो पर सुई चुभा चुभा कर शक्ति का प्रवाह सतुलित करते हुए रोगो को समाप्त करना है। इस प्रयोग मे शरीर का कोई भी भाग अचेतन भी किया जा सकता है,जिस पर शस्त्र-क्रिया करनी हो। कहा जाता है कि रोग निवारण के लिये शरीर की नसो मे जो शक्ति (ची Chi) है, उसको विशेष प्रवाहित करने के लिये इन सुइयो को चुभाने का प्रयोग आवश्यक है।

इसी तरह, रिलेटिविटी फील्ड सिद्धात ने यह भी सिद्ध कर दिखाया है कि रूप (Matter) और शक्ति (Force) ये भी दोनो अलग अलग नही है, एक है, अभेद्य है। यह भी सिद्ध हुवा है कि, कोई भी कण उसके आवर्तन क्षेत्र (Field) और गुरुत्वाकर्षण शक्ति से पृथक् नही किया जा सकता।

क्वान्टम थिअरी ने यह भी प्रकट किया है कि, खाली जगह अर्थात् आकाश भी शक्ति (Force) से ओतप्रोत है, व्याप्त है। इसमे से भी लघुकण एकएक उत्पन्न होते है, अदृश्य हो जाते है और एक दूसरे मे परिवर्तित भी होते रहते है। ऊर्जा (Energy) कभी नष्ट नही होती, किन्तु परिवर्तित होती रहती है। भगवान् बुद्ध ने यही कहा है कि, सब परिवर्तनशील है, सब अनित्य है, नित्य कुछ भी नही है

और यही विज्ञान से सिद्ध हुवा है। जो भी पदार्थ, वस्तु एवं आकार दृश्यमान है, वे सभी हमारे चित्त की ही घटना है, चित्त के ही कारण हम इन सभी को दृश्यमान रूपों मे देख रहे है और यही माया है, यही संवृत्ति सत्य (Conventional Truth) है। और, जब कोई मूल मे चला जाता है, तो अनुभव करता है कि कुछ भी अलग अलग नही है, सब एक ही शक्ति के रूप है, और यही परमार्थ सत्य (Ultimate Truth) है।

□ □ □

अध्याय १०
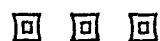
अर्वाचीन विज्ञान-संशोधन और अंतर्ज्ञान में साम्य

इस वीसवी सदी मे पश्चिमी वैज्ञानिको ने अभूतपूर्व संशोधन जो किये, उनके परिणाम स्वरूप सदियो से वने सिद्धान्त ही पलट दिये गये है। पिछले प्रकरणो मे वैज्ञानिक न्यूटन के मेकैनिस्टिक जगत् को हमने देखा और इस सदी के वैज्ञानिको ने आइनस्टाईन के रिलेटिविटी फील्ड थिअरी, क्वान्टम थिअरी, लघुकणो के प्रयोगो के परिणाम आदि सारे देखे।

वैज्ञानिक एवं योगी

क्लासिकल फिजिक्स के मेकैनिस्टिक सिद्धातो के कारण वहुत अपूर्व रूप से टेक्नॉलॉजी वढी, जिसको आज हम इस यान्त्रिक युग मे देखते है और इसकी प्रगति की हमे अपने नित्य जीवन मे अत्यत आवश्यकता भी है। लघुकणो (Sub-atomic Particles) के नये सिद्धान्तो मे ये मेकैनिस्टिक सिद्धान्त एकदम विरोधाभासी वन गये। लघुकणो के ज्ञानसवधी ये अद्भुत संशोधन हमे २५०० वर्ष पूर्व भगवान् वुद्ध के अन्त चक्षु द्वारा साक्षात्कार किये सिद्धान्तों के समीप ले जाते हैं। इस भौतिक जगत् मे जो भी घटना घटती है, वह एक अभेद्य एकता के संपूर्ण जाल का ही भाग है, जिसे अन्तर्ज्ञान के साक्षात्कार से जाना जा सकता है, जिसको ऑर्ग्यानिक (Organic) जगत् कहा जाता है। यह वास्तव मे हमारे दैनिक व्यवहार के लिये उपयोगी नही है। और न यह यान्त्रिक प्रगति या वैज्ञानिक निपुणता के लिये उपयोगी है, जो कि वढती जनसख्या की अनेक समस्याओ को सुलझाने मे समर्थ प्रतीत हो सके।

अन्त मे, हमारे दैनिक जीवन मे यान्त्रिक विज्ञान और ऑर्ग्यानिक दृष्टि (ऐन्द्रिय दृष्टि) की आवश्यकता जो है, उन से हमारे दैनिक व्यवहार पूर्ण हो जाते हैं। किन्तु इनके परे, लघुकणो के सिद्धान्तो मे और योगिक अन्तर्ज्ञान मे वहुत साम्य पाया जाता है।

वैज्ञानिक वाहरी प्रयोगो से भौतिक ज्ञान की खोज करता है और योगी अपने अन्तर्ज्ञान की खोज मे आगे वढता है। दोनो भी अनुसधान मे लगे हुए रहते हैं। योगी शरीर के जरिए मन पर प्रयोग करते हुये अनुसंधान करता है।

जव हमारा शरीर स्वस्थ होता है, तो हमे यह भास नही होता कि हमारे अवयव अलग अलग है, परन्तु हमे यही प्रतीत होता है कि सारा शरीर एक ही है और यह जानकारी हमारी स्वस्थता के सीमित सुख का प्रतीक है। योगी सारे जगत्

(Cosmos) की एकता की अनुभूति करता है, जिससे वह अनन्त सुख की अनुभूति-करता है। वह तो अपने शरीर द्वारा मन का सारे जगत् मे प्रक्षेपण करता है, सत्य का साक्षात्कार करता है।

वैज्ञानिक अपने प्रयोगो के द्वारा जड पदार्थो (Matter) का भेदन करते हुए सारे भौतिक जगत् की एकता को, उसके अभेद्य जाल को, उसके सतत परिवर्तनशीलता तथा अनित्यता को जान लेता है। योगी भी अपने अतर्ज्ञान से यही अनुभूति करता है। वैज्ञानिक रिलेटिविटी एव क्वान्टम सिद्धान्तो से यह स्पष्टतया पाता है कि आकाश (Space) काल (Time) रूप (Matter) एव जडत्व (Mass) स्वतत्र नही है, एक दूसरे से सवधित है, एक ही के अनेक रूप है, एक दूसरे से अलग हो ही नही सकते। योगी अपने अन्तर्ज्ञान से इसी एकता की अनुभूति करता है, उसके भी परे चला जाता है, जिसका वर्णन शब्द और कल्पना के अतीत है।

वैज्ञानिक और योगी इन दोनो के अनुसधान के मार्ग भिन्न भिन्न है। योगी वृक्ष के जड को पकडता है, जडमूल को जानता है, जव कि वैज्ञानिक वृक्ष की शाखाओ को जानता है, उसके पत्तो पर अनुसधान करता है, वह उसके जडमूल तक नही पहुचता, नही ही पहुच सकता।

वैज्ञानिक को योगविद्या की आवश्यकता नही है और योगी को वाह्य प्रयोगो की जरूरत नही है। किन्तु मनुष्य के सफल जीवन के लिये दोनो की आवश्यकता है। मनुष्य को भौतिक सुख-सुविधा के लिये आधुनिक यन्त्र-तन्त्र की प्रगति भी आवश्यक है और जीवन को विकार-विहीन शुद्धता पाने के लिये अन्तर्ज्ञान की भी जरूरत है। मनुष्य को दोनो प्रकार के ज्ञान की आवश्यकता है। प्रकृति मे जो एकता है, उसको जीवन मे उतारने के लिये दोनो प्रकार के अभ्यास की जरूरत है। आज कई वैज्ञानिक यान्त्रिक युग पर आधारित टुकडो मे वटे जानेवाली समाजरचना करने मे अप्रत्यक्ष जुटे हुये है, तो योगी अन्तर्ज्ञान के साक्षात्कार से सारे जगत् के समाज को एकरूप देखने मे सदियो से लगे हुये है तथा सही जीवन जीने की कला वताते रहे है। अन्तर्ज्ञान का यह अभ्यास हर मनुष्य कर सकता है। 'विपश्यना' साधना द्वारा ही यह अभ्यास सुकर है, जो सफलता की ओर ले जाता है।

भगवान् वुद्ध यही वताते है कि वाह्य जगत् और अन्तर्ज्ञान अलग अलग नही है, जैसे, एक ही वस्त्र के दो पटल (Sides) होते है, जो अलग अलग हो ही नही सकते। इन वाह्य जगत् और अतर्जगत् के ताने वाने मे सभी शक्तिया है, सभी घटनाए है, सभी विज्ञान है, सभी पदार्थ है, जिनसे यह जीवन-वस्त्र वुना हुवा है, जिसका अन्त नही है, अपितु एकता मे गूथा हुवा, अभेद्य है। ये सभी शक्तिया, घटनाए, विज्ञान, पदार्थ, ये सारे हर क्षण अतिशीघ्र गति से परिवर्तित होते रहते हे, अनित्य है।

योगी अपने अन्तर्ज्ञान की अनुभूति, केवल दर्शन से या देखने से नही करता, किन्तु

दृश्य (Object) और द्रष्टा (Subject) एकता मे परिणत हो जाते है, अद्वैत-हो जाते है। अन्तत , वह परमार्थ सत्य (Ultimate Reality) का साक्षात्कार करता है। वह आकाश (Space), काल (Time), कार्यकारण (Cause & Effect) इन सभी के परे चला जाता है। कर्म-बन्धन और ससार के परे की यह अनुभूति है, जो शब्दातीत, वर्णनातीत, ज्ञानातीत कही जा सकती है।

भगवान् बुद्ध ने यही बताया है कि, इस एकरस भौतिक जगत् मे अलग अलग रूप देखना; पदार्थ, वस्तु, आकार, महसूस करना, अलग अलग प्राणी, मनुष्य आदि देखना और उनके प्रति आसक्ति या चिपकाव होना, यही दु ख का कारण है। किन्तु, इस आसक्ति या चिपकाव के बदले, इस भिन्नता को स्वीकार करते हुए हम चलते रहे और जानते रहे कि यह ससार प्रवाह की तरह बह रहा है। यही योगी का साक्षात्कार है, जो घटनाओ के साथ जीवन का प्रवाह निर्विकार स्वीकार करते हुए आगे बढता है। प्रतिकार या प्रतिक्रिया करने मे दु ख ही है, 'मैं' 'मेरा' समझने मे तथा आसक्ति-चिपकाव रखने मे दु ख ही है। भिन्नता मे ही अविद्या का उद्गम है, मनोविकारो के उद्भव का कारण है। यही माया है, यही कर्म के बन्धन बनाता है। अत , प्रकृति को हमे सही रूप मे समझना चाहिए और प्रकृति के नियमो को समझकर स्वय को ढालना चाहिए। इससे ही ससार-चक्र से छुटकारा मिल सकता है।

वैज्ञानिक प्रयोग करता है, वस्तु के भेदन मे लग जाता है और रिलेटिविटी के अन्वेषण मे व्यस्त रहता है, परतु योगी की प्रणाली भिन्न है। वह अलग अलग के अनुसधान मे नही लगता, किन्तु मूल के साक्षात्कार मे सीधे चला जाता है। वह बुद्धि के परे अनुभूति मे जाता है, बुद्धिवाद मे नही लगता। इसी कारण, भगवान बुद्ध इन बुद्धि-विवादो के उत्तर देने से इन्कार कर गये थे। जगत् शाश्वत है या अशाश्वत, अनन्त है या अन्तवान, आत्मा है या नही, आदि के जवाब मे उन्होने यही कहा कि ये कोई मतलब साधने की बाते नही है। उनका यही कहना था कि इस जगत् मे दु ख है, जिसके निरोध के मार्ग को जानकर अभ्यास मे लग जाना चाहिए, क्योंकि इसी मार्ग से ससारचक्र से छुटकारा मिल सकता है। चित्त वश मे करते हुए उसके विशुद्धि मे लग जाना, यही इस छुटकारे का एकमात्र उपाय है।

इसीलिये 'विपश्यना' साधना का अभ्यास है, इसको हम समझे और दुःख से छुटकारा पा ले।

▣ ▣ ▣

अध्याय ११

यह सारा प्रकम्पों का खेल है

सारा भौतिक संसार प्रकम्प ही प्रकम्प है

परमाणु से भी छोटे लघुकणो के क्षेत्र मे इस सदी के अपूर्व संशोधनो से यह स्पष्ट हो गया कि कोई भी ठोस पदार्थ वास्तव मे ठोस है ही नही, वह केवल प्रकम्पो का समूह है। सारे लघुकण प्रकम्प है और इन प्रकम्पो मे भी वडी पोल (Space खुली जगह) है। सोना, चादी, लोहा, शीसा आदि जो भी घने जड पदार्थ है, सभी लघुकणो का ही समूह है। सारे के सारे पदार्थ प्रकम्पो का ही समूह है, जिसका विवरग पिछले प्रकरणो मे विस्तारपूर्वक दिया गया है। ये सभी लघुकण प्रकम्पो मे अविरत वदलते ही रहते है। वे एक दूसरे से अलग अलग नही है। सारे विश्व मे प्रकम्पो का अभेद्य जाल सा वना है। जो दृश्य है, वह सारा केवल सवृत्ति-सत्य है, भासमान सत्य है। अलग अलग आकार, पदार्थ, वस्तु, वनस्पति, प्राणी आदि सभी भिन्न भिन्न दीखते है, सभी भासमान है, परन्तु वास्तव मे सभी प्रकम्प ही प्रकम्प है। ये सारे प्रकम्प एक दूसरे को खीचते रहते है, आकर्पण मे वन्धे हुये है, एक दूसरे से टकराव करते रहते है, वनते है, टूटते है, फिर से पूर्वस्थिति मे वदल जाते है और रूप धारण करते रहते है। यही परमार्थ सत्य (Ultimate Truth) है, जो इन आखो से दृश्यमान नही है और इसी कारण जो भी दृश्यमान जान पडता है, उसी को हम सत्य (Conventional Truth) मान वैठते है। प्रकम्पो का यह प्रवाह अखड जारी है। सारा लोकजगत् इन अविरत प्रकम्पो के नृत्य से व्याप्त है, ओतप्रोत है।

सारा सौरमण्डल, ग्रह, तारे, सूर्य, चंद्र ये सभी प्रकम्पो से गूज रहे है, प्रकम्पो के जवर्दस्त टकरावो से व्याप्त है, उनके अंदर भी विना रुके सघात चलता रहता है।

सारा जगत्, आकाश प्रकम्पो से ओतप्रोत है, खाली जगह ऐसी कुछ है ही नही। यही 'कॉस्मिक डान्स' (Cosmic Dance) है, जो अविरत चलता ही रहता है। वह एक ताल से दूसरे ताल मे वदलता रहता है, एक नाद से दूसरे नाद मे गूजता रहता है।

हमारा शरीर भी, जो हमे ठोस प्रतीत होता है, प्रकम्पो का ही जाल है। हम स्वय इसकी अनुभूति 'विपश्यना' साधना द्वारा कर सकते है।

हमारी छ इन्द्रियां

आख, कान, नाक, जिव्हा, त्वचा (Body शरीर) और मन, ये हमारी छः इन्द्रिया है, ये सारे प्रकम्प ही है, यद्यपि ये हमे ठोस जैसी प्रतीत होती है।

आख का रूप से टकराव, कान का शब्द से टकराव, नाक का गध से, जिव्हा का रस से, त्वचा का स्पर्श से टकराव और मन का विचारो (Thoughts) से सपर्क जव होता है, तव उस उस तरह का एक विशेष प्रकम्प जाग उठता है और हमे एक तरह का रूप-दृश्य दिखायी पडता है, और ऐसे ही शब्द, गध, रस, स्पर्श और विचार जान पडते है।

एक समोहक (Hypnotist) यदि संमोहन-विद्या द्वारा किसी व्यक्ति को संमोहित-निद्रा मे समोहित करके कहे कि, वह उस व्यक्ति को एक लाल तपे हुए लोहे के सलाख से अव चटका दे रहा है और तव वह केवल ठंडे सलाख से ही उस व्यक्ति के शरीर को स्पर्श करता है, तो भी उस आदमी को उस स्थान पर शरीर में फोडा पड जाता है। यह आश्चर्यजनक घटना कैसे घटती है ? कारण यह है कि शरीर के उस स्थान के प्रकम्प जाग उठते है और उस स्थान पर फोडा उत्पन्न हो जाता है। मन के सवेदन से ये प्रकम्प जाग उठते है, तव वह व्यक्ति महसूस कर लेता है कि सचमुच ही उसे तपे हुए सलाख का स्पर्श हुआ है।

हम रेडिओ जो सुनते है, उसका वास्तव मे किसी का कुछ भी सवध नही है, फिर भी हम गायनादि कार्यक्रम अत्यंत दूरी पर भी सुनते है। कारण यह है कि रेडिओ-प्रक्षेपण-केन्द्र से उस कार्यक्रम के वे प्रकम्प तैयार होकर आकाश के प्रकम्पनो से अटूट सम्वन्ध जोडते है और रेडिओ यत्र तक पहुच जाते है। दूरी कितनी भी हो, प्रक्षेपण और प्रकम्पो की गति पर यह निर्भर है।

उसी तरह हम दूरदर्शन (T V.) देखते है, जिस मे शब्द सुनायी देते है और साथ ही चित्र भी दिखायी देते है, यह भी सारा प्रकम्पो का ही खेल है।

प्रक्षेपण केन्द्र तो एक होता है, परन्तु सुननेवाले व देखनेवाले अलग अलग क्षेत्र मे अलग अलग लोग एक साथ सुनते है, देखते भी हैं। सारा आकाश इन विशिष्ट प्रकम्पो से व्याप्त हो जाता है। इसी कारण, यह विशिष्ट प्रकम्प कही भी आकृष्ट करने के लिये यत्र द्वारा सभव हो जाता है।

सिनेमा मे हम सभी आवाजे, शब्द, गायन आदि सुनते है। फिल्म द्वारा यह सब होता है। फिल्म पर चित्र अकित होता है और साथ ही आवाज भी चित्रित हो जाती है। है अवश्य ही यह आश्चर्यकारी ! परन्तु यह सारा प्रकम्पो का ही खेल है।

विद्युत शक्ति भी प्रकम्प ही होने के कारण वह धातु के तारो मे प्रवाहित होती है। उसका कोई आकार नही है, न दृश्य ही। फिर भी सारे यत्र चलित होते है, प्रकाश भी मिलता है।

प्रकम्पो के कारण दूरध्वनि (Telephone) भी एक केन्द्र से दूसरे केन्द्र

को, चाहे वह कितनी ही दूरि पर हो, बात पहुंचाता है। बिनतारी ध्वनियंत्र भी प्रकम्पो के कारण ही काम करता है।

विमान आकाश मे उडान करते हुवे जमीन के केन्द्र से रडार द्वारा जो सबंध स्थापित रखते है, वह भी प्रकम्पों का ही परिणाम है।

इस प्रकम्पन क्षेत्र मे आश्चर्यजनक सशोधन के कारण चंद्र पर भी जाना सभव हो सका है। यही कारण है कि गुरु, शुक्र, मगल आदि ग्रहो पर उपग्रह भेजे जा रहे है और उनका नियत्रण भी भूतल से हो रहा है। यह सारी प्रकम्पो की ही किमया है। यह स्पष्ट है कि सारा विश्वलोक प्रकम्पो से पूर्णत. व्याप्त है।

लघुकणो के मध्यबिंदु मे प्रोटोन्स व न्यूट्रॉन्स के प्रकम्प और इनके नाभिक में चक्कर लगानेवाले इलेक्ट्रॉन्स के प्रकम्प, तथा मध्यबिन्दु के प्रकम्पो मे और चक्कर लगानेवाले प्रकम्पो मे आकर्षण व विकर्षण (Attraction & Expulsion) यह कार्य अविरत चल रहा है। इन प्रकम्पो की कंपन-संख्या (Frequency) में अविरत बदल एव खिचाव-दुराव के कारण तथा नाभिक मे प्रोट्रॉन्स और न्यूट्रॉन्स की सख्या मे बदल और बाहरी चक्कर लगानेवाले इलेक्ट्रॉन्स की सख्या मे बदल इन सभी के परिणाम-स्वरूप अलग अलग असख्य पदार्थ, वनस्पति, प्राणी आदि का निर्माण दिखाई देता है। विभिन्न रासायनिक चीजे (Chemicals) भी इसी का परिणाम है। कोई रसायन दाहक होते है, तो कोई ठडक पैदा करते है। कोई रसायन एक दूसरे से सबध आने पर नये रसायन मे बदल जाते है या उनके गुणधर्म बदल जाते हे। इन सब का कारण प्रोट्रॉन्स, न्यूट्रॉन्स और इलेक्ट्रॉन्स की सख्या मे बदल, फलत उनके प्रकम्पो मे बदल होता है। परमाणुओ के लघुकणो मे आपसी खिचाव-दुराव मे बदल होते रहने के कारण ही वे अलग अलग रूप धारण कर लेते है। विद्युत्-चुम्बकीय क्षेत्र के प्रकम्पो के ही ये सब परिणाम है।

कॉस्मिक किरण, गामा किरण, प्रकाश किरण, रडार किरण, एक्स-रे, रेडिओ वेव्ह आदि सभी प्रकम्प है. जो भिन्न भिन्न गतियो मे बदलते रहकर पृथक्-पृथक् रूप धारण कर लेते हे।

जब कोई पदार्थ घनरूप से द्रवरूप मे बदल जाता है, तो उसके परमाणु के प्रकम्पो की गति बढ जाती है। वह द्रवरूप से वायुरूप मे बदलता है, तो प्रकम्पो की गति और तेज हो जाती है। और, वायुरूप से उसके अगले स्तर (Plane) मे बदल जाता है, तो प्रकम्पो की गति और अधिक तेज हो जाती है। यह स्थिति परमाणु को अलग अलग बदलने मे और अलग अलग दूर करने में इन प्रकम्पो की तीव्र गति के कारण हो जाती है। लघुकणो मे प्रकम्पो के सिवा अन्य कुछ है ही नही। वही ऊर्जा है. शक्ति है, एनर्जी है। ठोस कुछ है ही नही।

मनुष्य का या कोई भी प्राणी का शरीर सब प्रकम्प ही प्रकम्प है, ठोस कुछ भी नही है। यह सामान्य दृष्टि को दिखाई नही देता, परन्तु योगी अपनी तीव्र साधना द्वारा उसकी प्रत्यक्षानुभूति कर सकता है। भगवान बुद्ध ने सूक्ष्मातीत प्रकम्पो का, जिनका अब आगे विभाजन हो ही नही सकता, साक्षात्कार किया था। इसमे केवल पृथ्वी धातु, अग्नि धातु, वायु धातु और जलधातु तथा इन हर एक के अपने अपने गुणधर्म अर्थात् पृथ्वी का हलका-भारीपन, अग्नि का तापमान (ठंडा-गर्म), वायु का हिलना-डुलना, जल का बान्धे रखना, इस तरह चार धातु और चारो के चार गुणधर्म मिलकर आठ अतिसूक्ष्म प्रकम्पो का समूह भगवान् ने जाना और इसी को उन्होने 'अष्टकलाप' कहा। इन अष्टकलापो के समूह को 'रूप' यह नाम दिया, जिनमे यह शरीर बना है। सारे पदार्थ, प्राणी, वनस्पति आदि दृश्यमान तथा विद्यमान जो भी है, सब इन्ही अष्टकलापो से बने है। इन भिन्न भिन्न रूपो का कारण इन चार धातुओ का आपस मे कमज्यादा होना है। चार धातुओ के कम-अधिक प्रमाण के फलस्वरूप ही कोटिसख्या मे भिन्न भिन्न रूप तैयार होते रहते है।-जैसे, एक लाख पृथ्वी धातु मे एक हजार अग्नि धातु, पाचसौ वायु धातु और पाच हजार जल धातु हो सकते है या इनकी भिन्न भिन्न सख्या हो सकती है। इसतरह, अनगिनत भिन्नता के अनगिनत रूप तैयार होते रहते है।

अत, समूचे भौतिक जगत् मे जो भी दृश्यमान और विद्यमान है, वह सभी प्रकम्प ही प्रकम्प है। आकाश भी प्रकम्पो से ही व्याप्त है, खाली जगह कुछ भी नही है। प्रकाश-किरण, सौरमडल, ग्रह, तारे आदि सब प्रकम्प ही प्रकम्प है, अन्य कुछ है ही नही। सारा प्रकम्पो का जाल परस्पर मे गूथा हुआ है, पृथक्-पृथक् कुछ भी नही है। भगवान बुद्ध अपनी अनुभूति मे यही कहते है—"सव्बो लोको पकम्पतो, सव्बो लोको पज्जलितो।" उन्होने अपने साक्षात्कार मे पाया कि सारा लोक प्रकम्पित है, प्रकम्प ही प्रकम्प है, सारा जल ही जल रहा है। ऐसा कोई भी योगी अपने अन्तर्मन के द्वारा यह स्वय अनुभति कर सकता है।

मन के प्रकम्प

अब हम देखेंगे, मन के प्रकम्प क्या और कैसे है।

वैज्ञानिको ने अपने प्रयास से भौतिक जगत् के अणुक्षेत्र मे, लघुकणक्षेत्र (Sub-atomic Particles) मे अनुसधान किये और आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की। उन्होने यह भी देखा कि जैसे जैसे सूक्ष्मता मे पहुचते है, वैसे वैसे एक ही प्रयोग को पुन पुन करने से अलग अलग परिणाम प्राप्त होते है। इसका कारण भिन्न भिन्न प्रयोग करनेवाला भी है और उसके परिणाम देखनेवाले के अलग अलग स्थिति के मन का प्रभाव भी है। इस तरह, किसी भी प्रयोग मे प्रयोग करनेवाला स्वयं वैज्ञानिक भी उससे पृथक् नही हो सकता और इसी कारण परिणाम सूक्ष्मता मे, निश्चय मे सम्भवनीय (Probabilities) बन जाते है। इससे यह सिद्ध होता है कि मन

की भी अपनी प्रकम्पन-शक्ति उस प्रयोग के साथ काम करती है। इसी से यह भी सिद्ध हुवा है कि ऊर्जा, शक्ति (Energy) व रूप (Matter) की हो या मन (Mind) की हो, वह एक दूसरे में बदलती है, बदलती रहती है। रूप के प्रकम्प मन के प्रकम्प में बदल जाते है और मन के प्रकम्प रूप के प्रकम्प मे बदल जाते है। साराश मे, सभी स्थितियो पर, क्रियाओ पर मन का अपूर्व प्रभाव बना रहता है।

भगवान बुद्ध ने अपने साक्षात्कार मे यह भी पाया कि प्रत्येक कलाप अत्यंत तीव्र गति से प्रकम्पित है, बदलता है, उदय-व्यय होता रहता है। उन्होने पाया कि एक पलक मे यह उदय-व्यय शतसहस्रकोटि बार हो जाता है। और आज, वैज्ञानिको ने भी अपने प्रयोगो द्वारा यही गति पायी है। भगवान बुद्ध ने यह भी साक्षात्कार किया कि रूप के एक पलक मे शतसहस्रकोटि बार होनेवाले प्रकम्पो के उदय-व्यय से सत्रह गुना मन के प्रकम्प उदय-व्यय होते है।

मन मे उत्पन्न होनेवाले सारे विकार (Emotions) और विचार (Thoughts) ये सारे प्रकम्प मात्र है। ये सारे अखंड प्रवाहमान है, परिवर्तनशील है, बदलते रहते है। तृष्णा हो, लालसा हो, आसक्ति हो, राग, द्वेष, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, ईर्ष्या, वैर, अहंकार आदि विकार हो, ये सारे प्रकम्प ही प्रकम्प है। प्रकम्पों की घनता या विरलता के कारण ही विकार अलग अलग बन जाते है।

मन मे जब कोई विकार उठता है, तो प्रकम्प ही उठता है और उसको यदि गति मिल गयी तो और वह गतिमानता (Momentum) मे चला जाता है और इसी कारण उस विकार का बाहर निकलने के बजाय उसके चक्र मे मन फस जाता है। तब विकार बलशाली बन जाता है और यही मन की आदत का कारण बन जाता है। जब कोई विकार के प्रकम्प से कोई सघात हुआ, टकराव हुआ, तो यह विकार-प्रकम्प प्रभावित होकर गतिमान हो जाता है, विकार तीव्र हो जाता है।

मन मे इस तरह अविरत उठनेवाले विकार और विचार निजी प्रकम्पो से शरीर के रूप-प्रकम्पो मे समिश्रित होकर ही गतिमान रहते है और शरीर के बाहर भी एक वलय के रूप मे प्रवाहमान होते रहते है। शुभ विचार विरल प्रकम्पो के कारण मन के ऊपरी हिस्से मे आ जाते है और अशुभ विचार घने प्रकम्पो के कारण मन के गहरे हिस्से मे चले जाते है। विचार की तीव्रता अति हो जाय तो उसके प्रकम्प कही भी किसी को भी प्रक्षेपित किये जा सकते है, तब दूरी का कोई प्रश्न नही उठता। किन्तु सामान्य मनुष्य को इतनी तीव्रता नही मिल पाती, उसके प्रकम्प छोटी सीमा के बाहर नही जा सकते। एक घने प्रेम का विचार एक मनुष्य मे दूसरे मनुष्य तक चला जा सकता है। इसी तरह द्वेष के अत्यत तीव्र प्रकम्प एक से दूसरे तक पहुच सकते है।

जानकारी के लिये लेखक अपना एक अनुभव यहा उद्धृत करता है। उसके एक

कारखाने मे मजदूर हडताल पर थे। युनियन लीडर गेट के बाहर मजदूरों को व्याख्यान दे रहा था। व्याख्यान मे व्यवस्थापक के प्रति वह लगातार गालीगलोच उगल रहा था। उसी समय लेखक ने अपनी साधना-बैठक मे मंगल मैत्री के तरंग-प्रकम्प भेजना प्रारभ कर दिया। किन्तु बदले मे उधर से द्वेष के प्रकम्प मिलने प्रारभ हो गये, जो लेखक को काटो जैसे चूभने लगे। अपने अभ्यास द्वारा ये द्वेष के प्रकम्प निकालने का काम लेखक ने बनाए रखा। इस तरह की अनुभूति कई बार मिली है। तात्पर्य यह कि प्रकम्प प्रेषित किये जा सकते है। सामनेवाला अभ्यासक हो तो वह भी प्रकम्पो का वैसा ही अनुभव कर सकता है। मगल मैत्री के प्रकम्प कही भी कितनी भी दूरी को जा सकते है, किन्तु स्वार्थी, द्वेषजन्य प्रकम्प अधिक दूरी तक नही जा सकते, वे नजदीक ही समाप्त हो जाते है।

विचारो के या विकारो के प्रकम्प प्रत्येक मनुष्य सतत फेंकते ही रहता है, उसका यह प्रवाह सतत चलता ही रहता है। यदि हम रास्ते मे चलते है, तो हम इन प्रकम्पो के अथाह सागर मे से चलते है। चलते हुए हमारे मन में विचार या विकार उठते रहते है, सम्भवत वे हमारे हो या न हो, किसी और के ही हो, तो वे हमें छूते रहते हैं। किन्तु उन प्रकम्पो को अपनाने मे हमारे प्रकम्प गति पकड लेते है और हमारे विकार तीव्र गति से प्रवाहमान हो जाते है। कभी कभी यह अनुभव मे पाया गया है कि ये विचार या विकार कहा से उत्पन्न हो गये ? अपने स्वार्थ के उत्पन्न विचारो के प्रकम्प विचार करनेवाले के चारो तरफ घूमते रहते है।

वास्तव मे प्रत्येक विचार या विकार तीव्र गति से समाप्त हो जाता है, किन्तु उसे यदि और गति मिल जाती है, तो वह तीव्र होने लगता है। बैटरी चार्ज होती है उसी तरह यह भी तीव्रता धारण कर लेता है। यदि गति नही मिली तो वह अपने आप समाप्त भी हो जाता है। मन मे हम कितनी गति उत्पन्न करते हैं, उस पर यह निर्भर है।

कोई मनुष्य अपने निकटतम संबंधी की सहायता के लिये तीव्रता से मगल कामना करता है, तो वह प्रकम्प उसको अवश्य पहुच कर उसकी रक्षा मे सहायक हो जाता है।

प्राचीन काल मे ऋषि-मुनि पर्वतो मे, जंगलो मे बैठ कर तप करते थे और सभी प्राणियो के लिये मंगल कामना करते थे, मैत्री भावना करते थे। इसका यही अर्थ था कि ये सारे वातावरण को शुद्ध बनाने मे लगे रहते थे। मैत्रीभाव के, मंगल कामना के प्रकम्पो से वे सारा वातावरण ओतप्रोत करते थे, जिससे विश्व मे सुख-शांति का वातावरण बना रहे। ये प्रकम्प शुद्ध होने के कारण विरल (Light) होते है और विकारो से व्याप्त घने प्रकम्पो मे जाकर संघात करते हुए उनकी घनता को नष्ट करने का काम करते हैं, जिससे विकारो का प्रादुर्भाव कमजोर होने लगता है और शान्ति का वातावरण फैलता है।

भगवान बुद्ध ने बोधि को, धम्म को और संघ को नमन इसलिये किया है कि इससे प्रकम्पो को गतिमान् करते हुए शान्ति का वातावरण बने। सघ भी यही काम करते है। वे विश्व मे मंगल मैत्री का वातावरण फैलाने के लिए तप करते है। तपस्वी, ऋषिमुनि, योगी ये सभी इसकी सहायता मे सलग्न है। हम इनको जानते नही है, परतु वे अपना काम करते रहते है। उनके आश्रमो मे अपूर्व शान्ति का अनुभव जो होता है, वह इसी कारण से। वहा सारा वातावरण शुभ प्रकम्पो से व्याप्त जो रहता है।

भगवान के मदिरो मे भी इन शुभ प्रकम्पों का ही प्रभाव रहता है। भजन, पूजन, कीर्तन मे भी शुद्ध वातावरण बनाने का ही वास्तव मे उद्देश्य है। दुखी और तनावो मे ।घिरा हुवा मनुष्य इसी कारण से मदिर में जाकर कुछ समय शान्ति का अनुभव करता है। मदिर मे यदि स्वार्थ भरा वातावरण है तो वहा शान्ति प्राप्त नही हो सकती, क्योकि स्वार्थ के घने प्रकम्पो से ही वहा वातावरण जो व्याप्त रहता है।

किसी सत्पुरुष के पास जाने से भी इसलिये शान्ति मिलती है कि वहा वातावरण मगल मैत्री के प्रकम्पो से व्याप्त है। इस प्रकार के व्यक्ति, स्थान जो भी जहा हो, वे शाति ही उत्पन्न करेगे। परन्तु चमत्कार के नाम पर स्वार्थी लोग ऐसे स्थानो के वातावरण को दूषित प्रकम्पो से भर देते है और फिर, ये स्थान, ये गुरु, स्वामी आदि सभी केवल नामधारी हो जाते है। उन के समीप मन की अधश्रद्धा व अज्ञानवश भले ही हम चले जाय, परन्तु वहा शुद्धता समाप्त हो जाती है। इस से हमे सतर्क रहना ही उचित है।

अपने गृह मे भी हम जिस प्रकार के विचार व विकारो के प्रकम्प उत्पन्न करेगे, वैसा ही वातावरण बनेगा। कलह हो, क्रोध हो तब तनाव बनेगा ही, दुख उत्पन्न होगा ही। स्नेह और आनद के प्रकम्प उत्पन्न होगे, तो सुख का वातावरण बनेगा। प्रकम्पो की घनता दुख पैदा करती है और प्रकम्पो की विरलता सुख प्रदान करती है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रकम्पो की घनता जैसे विरल होती है, वैसे विकारो का प्रभाव कम होता है और हम शुद्धता के समीप पहुचते है। यदि हमे ऐसा मार्ग मिल जाय कि जिससे रूप और चित्त की घनता समाप्त हो सके, तो वह हमारे काम का मार्ग बन जाता है। इसी के लिए भगवान बुद्ध ने 'विपश्यना' साधना का अनोखा मार्ग बताया है। उसका अभ्यास मनुष्य के जीवन-साफल्य की कुजी ही है।

▣ ▣ ▣

अध्याय १२

प्रकृति के अटूट नियम और मन की अद्भुत शक्ति

प्रकृति मे अनन्त रूप दिखायी देते है, किन्तु कोई भी आकार सरल रेखा मे, सरल आकृति मे नही मिलता और रूपो मे भी अनन्त मिश्रण है। प्रकृति मे नियमित घटनाए सदा एक सी नही घटती, किन्तु सभी समिश्र घटती है। खाली जगह (Empty Space) केवल भासमान है। वह वास्तव मे प्रकम्पों से ओतप्रोत है।

सूर्य उदय होता है, दिन निकलता है। वह ढलता है, रात्रि होती है। यह चक्र अविरत चल रहा है। परन्तु कोई भी क्षण दूसरे क्षण जैसा एक सा बिलकुल नही है। न एक दिन दूसरे दिन जैसा एक सा है और न रात्रि भी। कुछ न कुछ भिन्नता अवश्य और लगातार बनी ही रहती है। सभी परिवर्तनशील है, एक सा है ही नही। ऋतु बदलते है, वर्षा, ठड और गर्मी आती है, जाती है, समय कभी एक जैसा नही होता। हवा शात है, वह चलती है और शीघ्र ही तूफान उठ खडा हो जाता है। अभी ठड कम है, तो दूसरे क्षण कडी ठडो है। गर्मी भी कभी कम तो कभी ज्यादा। प्रदेश-प्रदेश मे, ऋतु-ऋतु मे, समय-समय मे भिन्नता और अनित्यता ही दिखायी देती है।

प्रकृति अपने नियमो से कार्यरत है। उसको कोई सम्प्रदाय या धर्म बदल नहीं सकता, चाहे वह हिन्दु हो, जैन, बौद्ध, इस्लाम, ख्रिस्त या और कोई हो। प्रकृति को किसी की परवाह नही है। वर्षा अत्यधिक होती है तो भयावह बाढ आ जाती है और वर्षा न हुई तो सूखा पड जाता है। नदी बहती है तो उसमे पत्थर, लकडी, प्राणी कुछ भी हो, सभी बहे ही जाते है।

अग्नि मे घास, लकडी, प्राणी या मनुष्य जो भी पदार्थ डाले, वह उसे जलाएगा ही। अग्नि का अपना अटूट स्वभाव ही ऐसा है। पहाड से कोई वस्तु चाहे कुछ भी हो, नीचे की ओर गिरती ही जायगी। पानी ढाल की ओर बहता ही जायगा। तूफान आया तो कोई भी पदार्थ हो, वह उडा कर ले जायगा ही।

सृष्टि मे कोई पौधा निकलता है, तो वह बढता है, फूलता है, फलता है, मुरझाता है और अन्त मे समाप्त हो जाता है। सब की यही स्थिति है। वनस्पति, वृक्ष, वस्तु, प्राणी या मनुष्य, सभी को इन स्थित्यतरो से जाना होता ही है।

सृष्टि मे कोई भी घटना जो घटती है, उसके पीछे कोई न कोई कारण निश्चित है। कारण के बिना घटना घटती ही नही। बाढ आती है तो वर्षा उसका कारण होती है। वर्षा को बादल कारण होता है, बादल को हवा-तूफान कारण है,

इत्यादि इत्यादि । जो घटना घटती है, वह आगे आनेवाली घटना का कारण बनती है । कारण-कार्य-कारण-कार्य यह क्रम अखड जारी है । कारण के बिना कार्य नही बनता और वही कार्य आगामी कार्य का कारण बन जाता है ।

सृष्टि मे इस प्रकार की क्रमवत् घटनाएं (Cyclic Pattern) नित्य जारी है । दिन-रात्रि, धूप-वर्षा-ठड के ऋतु, सौर मडल मे ग्रहो के चक्कर, आदि घटनाएं यही सिद्ध करती हैं ।

सक्षेप मे, प्रकृति के नियम निम्न प्रकार के अनुभव होते है —

(१) सभी अनित्य है, परिवर्तनशील है, अविरत बदलते रहते है, स्थिर और नित्य कुछ भी नही है ।

(२) प्रत्येक पदार्थ उत्पन्न होता है, कुछ समय उसकी भासमान स्थिति बनी रहती है और अन्त मे वह लय हो जाता है । उदय और व्यय सदा जारी हैं । उत्पन्न होना, विकसित होना, मुरझाना और नष्ट हो जाना, यह क्रम अखड चल रहा है ।

(३) कारण के बिना कार्य घटित नही होता । कार्य-कारण-कार्य-कारण की परम्परा निरन्तर चल रही है ।

(४) पृथ्वी, अग्नि, वायु और जल ये चार महाभूत हैं और उनके अपने अपने स्वभाव हैं । उन्ही से वे सदा प्रभावित रहते हैं, उनके लिये सब समान है । जो कुछ भी हो, उसका परिणाम भुगतना ही पडता है ।

(५) घटनाए क्रमवत् घटती है, सृष्टि का क्रम अव्याहत जारी है ।

(६) छोटे से छोटा परमाणु और नन्हे से नन्हा लघुकण बिना रुके उत्पन्न होता है, नष्ट हो जाता है और उसका यह उदय-व्यय अति तीव्र गति से होता है । सारा आकाश (Space) और सारे पदार्थ लघुकणो से ओतप्रोत हैं और कुछ भी खाली नही है । सब शून्य है, परिपूर्ण है । सब बदल रहा है, सघात हो रहा है । उत्पन्न हो रहा है, नष्ट हो रहा है । यहा स्थिर कुछ भी नही है । सारे प्रकम्प ही प्रकम्प है, तरग ही तरग है । यहा वास्तव मे ठोस कुछ भी तो नही है ।

(७) आकाश (Space) और काल (Time) अलग अलग नही है, एक दूसरे से बधे हुए हैं । इनका प्रवाह (Flow) बिना रुके अविरत बह रहा है ।

(८) सारी प्रकृति, सारा लोक प्रकम्प ही प्रकम्प है, वह नित्य प्रज्वलित है ।

(९) जैसा बीज वैसा फल उत्पन्न होता है । नीम के बीज को कडुआ ही फल आएगा, तो आम के बीज मीठा ही फल देगा । इसमे कतई बदल नही हो सकता । इसी प्रकार, जैसा कर्म वैसा विपाक, यह प्रकृति का अटूट नियम है ।

(१०) एक बीज मे सारा वृक्ष समाया हुआ होता है । वृक्ष अनेक फल देता है और हर फल एक या अनेक बीज ले आता है । इन नये बीजो को उपजाऊ भूमि मिल जाय, पानी और खाद मिल जाय, तो हर बीज एक एक वृक्ष उत्पन्न करेगा । यह चक्र

निरंतर चल रहा है। पत्थर पर गिरे तो बीज जल जाता है, तव फिर वृक्ष पैदा नही करता, और तव यह चक्र रुक जाता है। इसी प्रकार, हर कर्म फल देता है, जो नया बीज लेकर आता है। यह आया हुआ बीज जल जाय याने फल उत्पन्न होते ही समता आ जाय और नया सस्कार नही बने, तो आगे नया कर्म नही बनेगा और न भावी फल भुगतना पडेगा। प्रकृति का यह अटूट नियम है।

इस लोक मे जो भी कुछ है, सभी, प्रकृति के इन नियमों के अधीन हैं। सारे चेतन और अचेतन इन अटूट नियमो के बाहर नही है। मनुष्य उत्पन्न होता है, बढता है, वूढा होता है और मरता है। प्राणीमात्र की भी यही स्थिति है। हर पदार्थ हर क्षण परिवर्तनशील है, अनित्य है।

प्रत्येक मनुष्य को प्रकृति के इन नियमो को समझकर ही चलना चाहिए। प्रकृति का धर्म ही सही धर्म है और उसी के साथ मनुष्य को स्वय को ढालना चाहिए।

प्रकृति या निसर्ग कितना रमणीय है ! सूर्योदय देखते है तो सुनहरी किरणो से आकाश छाया हुआ कितना सुहावना लगता है ! वैसे ही, सूर्यास्त का विलोभनीय दृष्य मन को सुख से भर देता है। ये पहाड-पर्वत, उन पर के पेड, झरने व नदिया, पक्षिओ के गान, ये सव कितने सुदर और मधुर ! ये सब मन को अत्यत प्रसन्न करते हैं। लोग अपनी रोजमर्रा की थकान मिटाने के लिये पहाडी प्रदेशो मे कुछ समय आराम करने जाते है। कारण यही है कि निसर्ग के सान्निध्य मे चित्त अत्यत प्रसन्नता का अनुभव लेता है, जिससे थकान दूर हो जाती है, आरोग्य और उत्साह भी लाभान्वित होता है। निसर्ग मे सचमुच अद्भुत शक्ति है। दिनभर के कामो के वाद कुछ समय वगीचो मे व्यतीत करने का भी यही कारण है। जव निसर्ग मे यह शक्ति विद्यमान है, तो हम उसके अटूट नियमो को समझते हुए उसके अनुसार अपना जीवन ढाले, यह हमारे लिये कितनी सौभाग्य की वात होगी !

जीवन मे सुख भी आता है, दु.ख भी आता है। अपितु प्रकृति का नियम है कि कोई भी स्थिति या अवस्था नित्य नही है, वह सदा वदलती ही रहती है। इस प्रकृति-नियम को समझकर न हमे सुख मे मदहोश होना चाहिए, न दु ख मे रोते रहना चाहिए।

और फिर, हमे यह भी समझ लेना चाहिए कि सुखद या दु खद स्थिति का कारण हमारे कर्म ही है। प्रकृति के नियमानुसार कार्य-कारण की श्रृखला विना रुके चल रही है, उदय-व्यय अखड चल रहा है, उत्पत्ति, स्थिति और लय सदा प्रवाहमान हैं, वसत-पतझड आते जाते ही रहते हैं और ऋतुओ के चक्र चलते ही रहते हैं। इसी प्रकार, मनुष्य के जीवन मे अपने कर्मफलो के अनुसार ही सुख-दु ख के चक्र चलते रहते है।

प्रकृति के अटूट नियमो को हम ठीक से समझे और उनके अनुसार चले, तो जीवन अवश्य यशदायी और सुखदायी हो सकता है।

मन की अद्‌भुत शक्ति

मन की शक्ति अपार व अपूर्व है, जिसकी कोई सीमा नही है। वह कल्पनातीत है, अद्‌भुत है।

विज्ञान मे जो भी अनुसंधान हुये है, उनके पीछे मानवी मन की अपार शक्ति है। सुख के अनेक साधन, विनाशकारी अणुवम, आकाशगामी विमान, समुद्री जहाज व पनडुब्बिया, विविध उपग्रह, आदि कल्पनातीत उपलब्धिया मनुष्य के अन्तहीन मन की ही अपूर्व देन है।

ससार मे होनेवाले महायुद्ध, एक दूसरे पर हावी होनेवाले देश-विदेश, भयंकर द्वेष-ईर्ष्या से प्रेरित क्रूर व्यक्ति यह भी मानवी मन की ही शक्ति है, चाहे उसे आसुरी कहा जाय।

मन को एकाग्र करने पर ही वैज्ञानिक अपनी गवेषणाओ मे सफलता पाते हैं। वैज्ञानिक न्यूटन ने 'वृक्ष से फल नीचे क्यो गिरा और ऊपर की ओर क्यो नही गया' इस बावत चित्त एकाग्र करने पर ही उसको गुरुत्वाकर्षण का शोध मिला। हर वैज्ञानिक को जो जो सफलता प्राप्त हुई है, वह उसने केवल अपना चित्त उस विषय पर अत्यधिक एकाग्रता के साथ सशोधन करने पर ही संभव हुवा है। विज्ञान की ही यह वात नही है, उद्योग-व्यवसाय मे भी यही सत्य है। राजनीति और सेवाकार्य मे भी यही वात है। मन की एकाग्र शक्ति अद्‌भुत और परिणामकारी है।

यदि हम मन को वश मे कर सके, तो मन की शक्ति का ठोस उपयोग करने मे हम समर्थ हो सकते है। वैसे देखा जाय तो मन वन्दर जैसा अति चंचल है और जंगली प्राणी जैसा वलशाली भी है। जिस प्रकार, जगली हाथी या जगली भैसा वश मे कर ले और पालतू वना ले, तो उसका वल हम विधायक काम मे ला सकते हैं: उसी प्रकार, चचल मन को हम वश मे कर ले, तो उसका अद्‌भुत वल हम अपने उपयुक्त तथा कल्याणकारी काम मे ला सकते हैं। और, मन को वश मे करने का एकमेव उपाय है, उसको एकाग्र करना।

कोई सुदर चित्र या सुदर मूर्ति मन के सामने आ जाय और उस पर मन टिक जाय, तो मन एकाग्र हो जाता है। कोई मधुर संगीत सुनाई देता है, तो मन एकाग्र हो जाता है। या कोई लुभावना नाटक, सिनेमा हम देखते हैं, तो भी मन एकाग्र हो जाता है। ऐसी कई चीजे हो सकती है, जिन पर मन टिक जाय और वह एकाग्र हो जाय। परन्तु इससे मन अपने वश मे नही होता, अपितु मन के वश में हम हो जाते हैं। तव विकार वलशाली वन जाते है और हम विकारो के वश मे हो जाते है।

हमारे मन में तृष्णा, लालसा, आसक्ति, राग, द्वेष, भय, मद, मत्सर, मोह, ईर्ष्या, अहंकार आदि विभिन्न विकार है। यदि हमारा मन इन विकारो के विषयों मे

एकाग्र हो जाय, तो हम इस विकारयुक्त मन के वशीभूत रहते है और मन की शक्ति बलशाली होने के कारण उलटे हम इन विकारों मे अधिक मात्रा मे फस जाते हैं, जिनके बाहर मन को निकालना अत्यत दुरापास्त हो जाता है।

इसलिये हम मन के वश मे न होकर मन हमारे वश में हो जाय, ऐसी एकाग्रता हमे मिलनी चाहिये। इस प्रकार की एकाग्रता का हमे अभ्यास करना चाहिये, जिससे मन हमारे वश मे हो जाये और इस शक्तिशाली मन का उपयोग विकारो को दूर कर शुद्ध भावो द्वारा परमार्थ सत्य की अनुभूति के लिये हो सके। 'विपश्यना' साधना का यही पावन कार्य है, पवित्र उद्देश्य है। इसी का अभ्यास ही हमारा कल्याण कर सकता है, मंगल साध सकता है।

(आगे के विभाग मे इस साधना का और उसकी विधि का विस्तार के साथ विवरण दिया गया है।)

▣ ▣ ▣

तृतीय विभाग

विपश्यना दर्शन

अध्याय १३

विपश्यना साधना की भूमिका

सारा संसार प्रकम्पों का जाल है

आज अर्वाचिन विज्ञान-सशोधन द्वारा यह प्रकट हुआ है कि हर परमाणु (Atom) कई लघुकणो (Sub-atomic particles) से व्याप्त है। ये लघुकण अविरत प्रकम्पन करते रहते है, तीव्र गतिमान है, एक दूसरे मे बदलते रहते है और उनका उदय, व्यय होता रहता है। सब भौतिक जगत् इन लघुकणो से जाल सा बन गया है, अलग कुछ है ही नही। सभी एक दूसरे मे गूथे हुए है और ऊर्जा का प्रवाह निरन्तर (ceaseless) बिना रुके वह रहा है। कोई भी तत्त्व पृथक् नही है जिसे हम मूल तत्त्व कह सके, जिसे अलग अलग ईटे कह सके जिससे इमारत तैयार होती है। यह जगत् अविभाज्य तरगो से, प्रकम्पो से और उनसे प्रवाहित ऊर्जा (Energy) से जाल रूप मे एकता मे बधा हुआ है, अलग कुछ कहने को है ही नही।

इन लघुकणो की तरगो के बीच मे बडी बडी पोले (Space) है, और इन तरगो मे आपसी खिचाव और तनाव बना रहता है। ये लघुकण अत्यंत तीव्र गति से बदल रहे है, जिससे ठोस वस्तु का आभास होता है। ठोस से ठोस वस्तु, जैसे पत्थर लोहा आदि सब तरगो का समूह मात्र है। इन तरगो मे भी बडी बडी पोले है। साधारण व्यक्ति की दृष्टि मे लोहे का या पत्थर का एक टुकडा सर्वथा ठोस, जड, गतिहीन है; परन्तु वैज्ञानिक जानता है कि वह भी असख्य विद्युत् कणो से, तरगो से बना है जो कि प्रतिक्षण अनगिनत बार बदलते रहते है, प्रवाहित होते रहते है। जब एक निर्जीव लोहे के टुकडे की यह दशा है तो मनष्य जैसे जीवित प्राणी की क्या दशा होगी, यह विचारणीय है। मानव शरीर मे जो परिवर्तन हो रहे है, वे तो और भी अधिक तीव्र होगे। वैज्ञानिक अपने सूक्ष्म उपकरणो द्वारा इन परिवर्तनो को भौतिक पदार्थो मे देख सकता है, किन्तु योगी अन्तर्मुखी होकर स्वय अपने शरीर मे इन परिवर्तनो की अनुभूति करता है। अपना शरीर केवल इन्ही शक्तिसमूह-प्रकम्पनो के निरन्तर परिवर्तनशील होते रहने की एव उनके अनित्यता की वह स्वानभूति कर लेता है।

वैज्ञानिको ने अपने अनुसधान द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि यह सारा भौतिक जगत् अविभाज्य तरगो से, प्रकम्पो से और उनमे उत्पन्न असामान्य ऊर्जा से जाल रूप मे बधा हुआ है, अलग अलग कुछ भी नही है। अर्थात् मेरा शरीर और अन्य प्राणियो के शरीर वास्तव मे एक जाल (Network) मे तरगो से बधे हुए है, अलग

अलग नही है। इसी प्रकार, निर्जीव वस्तु की भी तरंगे हमारे शरीर के तरंगों से एक जाल मे ही बंधी हुई है। इसी कारण वैज्ञानिक अपने अनुसंधान करते वक्त स्वय उन प्रयोगो का एक अग वन जाता है, स्वयं भी जालरूप मे वधा हुआ है, अलग नहीं है और यही कारण है कि उसके सशोधन के सिद्धान्त और परिणाम लघुकण क्षेत्र में केवल सभवनीय (probable) ही हो सकते है। वे अन्तिम एव निश्चित मानना कठिन है। वैसे, वैज्ञानिक जव प्रयोग करता है तो उसके मन की भी तरगें उस प्रयोग पर प्रभाव डालती है, क्योकि वे भी एक ही जाल मे वंधी हुई है। दृश्य और दर्शक दोनों भी वास्तव मे एक ही जाल मे बधे हुए है, अलग है ही नही। वीसवी शताव्दी के परमाणुक्षेत्र मे हुए अपूर्व सशोधन से यही सिद्ध हुआ है कि वाह्य प्रयोगों में दृश्य व दर्शक का भेद समाप्त करके देखना असम्भवप्राय हे, केवल अन्तर्मुखी होकर ही यह जाना जा सकता हे।

भौतिक जगत् मे हमे इस अभेद्यता का और एक-जाल (Network) का अनुभव नही हो सकता। हमे पदार्थ, वस्तु, रूप आदि अलग अलग ही प्रतीत होते हैं। जो भी घटनाएँ होती है वे सभी अलग अलग ही वनती जान पडती है, जव कि वास्तव मे ये सभी एक ही जाल मे वधी हुई है, सभी एक ही है, अलग अलग कुछ भी नहीं हे।

भगवान बुद्ध का साक्षात्कार और आज के वैज्ञानिक अनुसंधान

आज २० वी शताव्दी मे और विशेषकर पिछले दशक मे वैज्ञानिकों के अनुसधानो द्वारा परमाणु क्षेत्र मे जो भी खोज पायी गई हे, उनको २५०० वर्षपूर्व भगवान बुद्ध ने अन्तर्मुखी होकर अपने ज्ञानचक्षु द्वारा साक्षात्कार कर जान लिया था। भगवान बुद्ध ने अपनी समाधि द्वारा परमाणुओ का भी विभाजन होते देखा, यहा तक कि उन्होने सूक्ष्मातिसूक्ष्म अन्तिम लघुकण भी पाया जिसका और विभाजन होना असम्भव था। इस अन्तिम लघुकण का नाम भगवान बुद्ध ने ' कलाप ' रखा। यह कलाप भी उन्होने तरग-समूह मात्र ही पाया और यह तरग-समूह पृथ्वीधातु अग्निधातु, वायुधातु, जलधातु और इनके प्रत्येक के गुणधर्म इनका समुच्चय ही देखा। इसको भगवान बुद्ध ने ' अष्टकलाप ' कहा। भौतिक जगत् इन अष्टकलापो का ही समूहमात्र है जो जालरूप मे वन्धे हुए है, जो अलग अलग हो ही नही सकते। बुद्ध ने इसको स्वय-साक्षात्कार से अनुभव किया। इसी प्रकार, भगवान बुद्ध ने देखा कि मन मे जो विचार, विकार उठते है, वे भी तरगे ही तरगें हैं, इन तरंगों मे पृथ्वी, अग्नि, वायु, जल इन चार तत्त्वो का ही कम-अधिक प्रभाव पाया जाता हे। मन (Mind) की ये तरगे रूप (Matter) की तरगो मे वदलती रहती है तथा रूप की तरगें मन की तरगो मे वदलती रहती है। रूप की तरगो से मन की तरगे एक क्षण मे सत्रह गुना अधिक गति से उदय-अस्त होती रहती हैं, यह भी उन्होने पाया।

भगवान बुद्ध ने यह भी वताया कि ' विपश्यना ' का ठीक अभ्यास करनेवाला त्येक मनुष्य स्वय इसकी अनुभूति कर सकता है। अपने भीतर हो रहे अविरत

परिवर्तनो की, तरगो की, अविरत होनेवाले प्रकम्पन-प्रवाह की, इनके निरन्तर हो रहे उदय-अस्त की स्वानुभूति वह प्रत्यक्ष कर सकता है और यही अनित्यता का साक्षात्कार है। वाह्यरूप मे जो दृश्य-रूप अलग अलग देखे जाते है, वह केवल भासमान् सत्य है, सवृत्ति सत्य है, केवल मायाजाल है। अन्तिम सत्य तो तरगे ही तरगे मात्र है, सभी एक जाल मे गूथा हुआ है, वंधा हुआ है, अलग अलग रूप है ही नही। यह सव परिवर्तनशील है, अनित्य मात्र है । यही मायाजाल का सही भेदन है और अन्तिम सत्य का साक्षात्कार है।

अव प्रश्न यह उठता है कि इसको जानने से, इस साक्षात्कार से, हमे क्या मिलनेवाला है ? माया का भेदन जान लेने से और अन्तिम सत्य के ज्ञान से हमे क्या प्राप्त होनेवाला है ? यह प्रश्न वडा ही महत्त्वपूर्ण है।

इस ससार मे और हमारे जीवन मे दु ख भरा पडा है, जिसका अनुभव हम सभी को निरन्तर होते ही रहता है। क्या इस दु ख से हम सही छुटकारा पा सकते है ? यही हमारा मुख्य प्रश्न है।

सिद्धार्थ गौतम का राजगृह छोडने का यही प्रमुख लक्ष्य था कि ससार मे दु ख ही दु ख जो भरा पडा है, इनसे मुक्ति कैसे मिल सकती है, इसकी खोज करना, अनुसधान करना। और इसी लक्ष्यपूर्ति के लिए सिद्धार्थ ने अनेकानेक कष्ट झेले, कठोर तप किया, साधना द्वारा वोधि को जगाते हुए दु खो के अन्त के उपायो के लिए कृतसकल्प किया। फलस्वरूप, सिद्धार्थ ने 'सम्यक सम्वोधि' प्राप्त की, शुद्ध धर्म का साक्षात्कार किया। तव उन्हे पूर्व-जन्मो का साक्षात्कार हुआ, ज्ञान के दिव्य चक्षु विशुद्ध हुए। उन्होने सर्वज्ञता का प्रत्यक्ष किया और उसी दिन से वे 'बुद्ध' कहलाने लगे। तभी उन्होने दु ख के अत्यन्त निरोध के उपाय का भी साक्षात्कार किया।

भगवान वुद्ध की शिक्षा

लोक शाश्वत है या अशाश्वत, लोक अन्तवान् है या अनन्त, जीव और शरीर एक है या भिन्न, तथागत मरण के पश्चात् होता है या नही, इत्यादि दृष्टियो की व्याख्या भगवान वुद्ध ने नही की। वुद्ध ने कहा है कि ये प्रश्न अर्थ-संहित नहीं हैं, निरर्थक है। ये विराग, निरोध, उपशम, सम्वोधि, निर्वाण सवर्त्तनीय नही है। ब्रह्मचर्यवास इन दृष्टियो मे से किसी पर आश्रित नही है। इन दृष्टियो के होते हुए भी जन्म, जरा, मरण, शोक, दु ख होते ही रहते है, जिनका विघात इसी जन्म मे हो सकता है। ये दृष्टिया कान्तार (घना जगल), गहन, सयोजन (वधन) आदि है। ये दुःख परिदाह मे हेतु (वाधा) है, दु खनाश मे विघ्न है। ये निर्वाण सवर्त्तनीय नही है। श्रावकों से पूछा जानेपर भगवान ने इन दृष्टियो के प्रश्नो का उत्तर देने मे इन्कार कर दिया और कहा कि 'मै इन दृष्टियो मे दोष देखता हू और इनका उद्गम, अनुसरण, स्वीकार नही करता। तथागत सव दृष्टियो से अपनीत (जानकार) है।' इसलिए भगवान

वुद्ध ऐसे प्रश्नो की गुत्थियो को सुलझाने मे नही लगे। उन्होने केवल इतना ही कहा कि 'यह दु ख है और यह दु ख-मुक्ति का मार्ग है। वाकी प्रश्न तो दर्शनशास्त्र के विषय है, जो निर्वाण की या मुक्ति की ओर ले जानेवाले नही है।'

भगवान वुद्ध की शिक्षा सार्वभौमिक थी, सार्वजनीन थी, व्यावहारिक थी, सर्वसाधारण के लिए थी। उन्होने मोक्ष के मार्ग का आविष्कार किया और यह मार्ग सर्व प्राणीमात्र के लिए खुला है। जन्म से कोई वडा होता है या छोटा, इसको वे नही मानते थे। जन्म से कोई ब्राह्मण नही है, परन्तु कर्म से ही वह ब्राह्मण होता है। वे चारो वर्णो को शुद्ध ही मानते थे। उस समय मे शूद्रो को तप करने का, वेदाध्ययन करने का अधिकार नही था। भगवान ने सव के लिए यह कल्याण का मार्ग खोल दिया और यही कल्याण का, मुक्ति का, निर्वाण प्राप्ति का मार्ग "विपश्यना साधना" है।

'विपश्यना साधना' की भगवान बुद्ध द्वारा अनुभूत दृष्टि

सारे दु खो का मूल कारण तृष्णा ही है। कामनापूर्ति दुष्पूर है। इसको पेंदी नही है। कामना की, तृष्णा की पूर्ति होना असम्भव है। इनकी पूर्ति न होना दु ख का ही कारण है। इस शरीर और मन से चिपकाव है, आसक्ति है। 'मै' 'मेरे' के साथ, अहभाव के साथ आसक्ति ही दु ख का कारण है। मेरी परम्परा, मेरी सस्कृति, मेरे दर्शनशास्त्र, मेरे व्रत-उपवास आदि से मेरा चिपकाव ही दु ख का कारण है। चित्त की चेतना से उत्पन्न होनेवाले सारे कर्म और कर्मो से उत्पन्न होनेवाली सारी वस्तुएँ, सारे व्यक्ति, सारी स्थितियाँ ये सभी सस्कार है। सस्कारजन्य कर्मो के फलो मे हमारा कही भी छुटकारा नही है। ये कर्मफल जन्म-जन्मातर की जीवनधारा के साथ लगे ही रहते है और ये दु ख ही दु ख उत्पन्न करते रहते है। जीवनप्रवाह की यह सतत वेचैनी, व्याकुलता वहुत सूक्ष्मता से ही समझी जा सकती है। इस सस्कारजन्य दु ख को समझने के लिए, जानने के लिए सच्चाई के अतल गहराई मे उतरना पडता है। और इसका 'विपश्यना' साधनाद्वारा ही साक्षात्कार किया जा सकता है।

जव दु ख आये तो उससे विना उद्विग्न हुए, विना उत्तेजित हुए उस दु ख के मूल मे समायी हुई अपनी ही तृष्णा, अपनी ही आसक्ति का दर्शन होना सचाई का दर्शन है, आर्यसत्य का साक्षात्कार है।

प्रत्येक तृष्णा के उत्पन्न होनेपर शरीर और चित्त पर एक विशिष्ट प्रकार का अत्यत सूक्ष्म स्पदन होने लगता है और यह चित्त मे तनाव उत्पन्न करता है, गाठे वाधता है, वेचैन वनाता है, राग-द्वेष-मोह उत्पन्न करता है, और इस प्रकार दु ख, शोक, भय का कही अन्त नही है। इन दर्दनाक मनोविकारो से मुक्ति के लिए तृष्णा-कामना से विमुक्त होना अनिवार्य है। और तृष्णा से विमुक्त होने का सहज सरल मार्ग है 'विपश्यना साधना'। यही एकमेव कल्याण-पथ है, मंगल मार्ग है।

मन तो विकारो से भरा पडा है। विषयो से सबध होने पर राग, द्वेप, मोह, क्रोध, ईर्ष्या, मद, मत्सर, लोभ, भय, अहकार आदि प्रत्येक विकार एक विशिष्ट प्रकार की तरग उत्पन्न करता है, एक संवेदन तथा स्पन्दन उत्पन्न करता है। शरीर और चित्त के मूल-सत्य मे तरंगें ही तरंगे मात्र है। जैसे ही चित्त विकारयुक्त होता है, वैसे ही तरगो का समूह बनता रहता है, वैसी ही गांठें बधती रहती है। ये चित्त की तरगे रूप-तरगो मे बदलती रहती है, जो बेचैनी, तनाव, दु.ख उत्पन्न करती रहती हैं। इन तरगो को हमे सूक्ष्म तलपर स्थिर चित्त से, समताभाव से, अन्तर्मुखी होकर देखना आ जाय तो इन गाठो का भेदन हो-होकर उन्हे खोलने का काम भी बन सकता है। इन रूप-तरगो के समूह को भगवान ने 'घनसमूह' कहा है। प्रज्ञा-चक्षु द्वारा अन्तर्मुखी होकर घनसमूह की माया विदीर्ण करते हुए सूक्ष्म परमार्थ सत्य का साक्षात्कार 'विपश्यना' साधना द्वारा किया जा सकता है। यही एकमेव दु ख-मुक्ति का मार्ग है।

सारा ससार-जगत् परिवर्तनशील है, अनित्य है, तरगे ही तरगे मात्र है, सतत बदलता ही रहता है। नित्य कहने को कुछ है ही नही। और हमने यह भी देखा कि शरीर और मन भी केवल तरगो का ही समूह मात्र है। सभी भौतिक जगत् इन तरंगो के जाल मे एक-रूप मे अभेद्य होकर बधा हुआ है, अलग अलग है ही नही। तो फिर किस से राग, आसक्ति, द्वेप और मोह किया जाय ! यह भी देखा गया कि इस 'मै' 'मेरे' के अहभाव मे ही दु ख समाया हुआ है। जुडी (संगठित) हुई सारी वस्तुओ मे जो सुन्दरता दिखायी देती है उसके चिपकाव मे दु ख ही है, जो कि ये जुडी हुई वस्तुएँ विघटित होनेपर अपनी सुन्दरता खो देते है। उनका असली रूप तो केवल तरगे ही तरगे मात्र हैं। इस माया-जाल के ठोस रूप मे आसक्ति या चिपकाव होना ही दु ख मात्र है।

अन्तर्मुखी होकर अपने अनुभूति द्वारा अनित्य-भाव का बोध, दु ख-सत्य का बोध, अनात्म (अहकार टूटने के भाव) का बोध, ठोस रूप के या माया के विदीर्णता का बोध और इनका साक्षात्कार ही मुक्ति का, निर्वाण का मार्ग है। नये सस्कार बने नही, और पुराने समाप्त हो जाय। यह सब 'विपश्यना' साधना के सरल सहज मार्ग द्वारा साध्य होता है। शरीर और चित्त मे होनेवाली सवेदना के आधार पर प्रज्ञा का बोध जगा कर सूक्ष्मतर तल मे समाहित, सचेत, शान्त चित्त से साक्षात्कार करते रहना ही 'विपश्यना साधना' है। यही शुद्ध धर्म का मार्ग है, अन्तिम मुक्ति का पथ है। इसी मे सब का मगल है, कल्याण है।

▣ ▣ ▣

अध्याय १४

निजी अनुभूतियों से ही मानिये, अन्यथा नहीं

भगवान बुद्ध की शिक्षा

भगवान बुद्ध कालाम-सूक्त मे कहते हैं :—

"हे कालामो ! तुम किसी बात को केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि यह बात अनुश्रुत है, परम्परागत है, हमारे धर्मग्रन्थ के अनुकूल है, तर्कसम्मत है, न्याय-सम्मत है, आकार-प्रकार-सुन्दर है, हमारे मत के अनुकूल है। वह इसलिए मत स्वीकार करो कि कहनेवाले का व्यक्तित्व आकर्षक है, वह हमारे पूज्य हैं।

"हे कालामो ! जब तुम आत्मानुभव से जानो, तभी उन्हे स्वीकार करो। अकुशल बातो को छोडो और कुशल बातो के अनुसार आचरण करो।

"हे कालामो ! जब तुम आत्मानुभव मे अपने-आप ही यह जानोगे कि ये बाते सदोष हैं, ये बाते विज्ञ-पुरुषो द्वारा निन्दित है, इन बातो के अनुसार चलने से दुःख होता है—तो तुम उन बातो को छोड दो।

"हे कालामो ! जब तुम आत्मानुभव से अपने आप ही यह जान लोगे कि ये बाते कुशल है, ये बाते निर्दोष है, ये बाते विज्ञ-पुरुषो द्वारा प्रशसित हैं, इन बातो के अनुसार चलने से हित होता है, सुख होता है—तो तुम इन बातो के अनुसार चलो।

"हे कालामो ! जो लोभी है, जो तृष्णा से अभिभूत है, जो असंयत है, वह प्राणी-हत्या भी कर सकता है, चोरी भी कर सकता है, परस्त्री-गमन भी कर सकता है, झूठ भी बोल सकता है, दूसरो को भी वैसी ही प्रेरणा देता है। ये बाते दीर्घ काल तक उसके अहित तथा दुःख का कारण बन जाती है।

"हे कालामो ! जो द्वेषी है, जो द्वेष से अभिभूत है, जो असयत है, वह प्राणी-हत्या भी कर सकता है, चोरी भी कर सकता है, परस्त्री-गमन भी कर सकता है, झूठ भी बोल सकता है, दूसरो को भी वैसी ही प्रेरणा देता है। ये बाते दीर्घ काल तक उसके अहित तथा दुःख का कारण होती है।

"हे कालामो ! जो मूढ है, जो मोह से अभिभूत है, जो असंयत है, वह प्राणी-हत्या भी कर सकता है, चोरी भी कर सकता है, परस्त्री-गमन भी कर सकता है,

झूठ भी बोल सकता है, दूसरो को भी वैसी ही प्रेरणा देता है। ये बाते दीर्घ काल तक उसके अहित तथा दु ख का कारण होती है।

"तो हे कालामो! ये सभी धर्म अकुशल है, सदोष है, निन्दित है, और दु ख का उत्पाद करते है।

"हे कालामो! जो अलोभी है, जो तृष्णा से, लोभ से अभिभूत नही है, जो अद्वेषी है, जो द्वेष से अभिभूत नही है, जो मूढ नही है, जो मोह से अभिभूत नही है; जो असयत नही है, वह प्राणी-हत्या भी नही करता, चोरी भी नही करता, परस्त्री-गमन भी नही करता, झूठ भी नही बोलता, दूसरो को भी वैसी प्रेरणा नही देता, जो कि दीर्घ-काल तक उस के हित तथा सुख का कारण होती है।

"तो हे कालामो! ये सब धर्म कुशल है, निर्दोष है, प्रशंसित है, आचरण करने पर सुख के लिए होते है।

"हे कालामो! जो आर्य-श्रावक इस प्रकार लोभ रहित (तृष्णा-रहित), क्रोध-रहित (द्वेष-रहित) मूढता-रहित (मोह-रहित) होता है, वह जानकार होता है, स्मृतिवान होता है, वह सर्वत्र, सारे लोक को विपुल, उदार, अप्रमाण, अवैरी, अक्रोधी, मैत्री युक्त शुद्ध चित्त से, असक्लिष्ट चित्त से स्पर्श करके विहार करता है। वह दु ख-रहित होकर, सुखी होकर विचरण करता है, बुरा नही सोचता, कोई पाप-कर्म नही करता।"

अकुशल कर्म याने पाप-कर्म। कुशल कर्म याने पुण्य-कर्म। पाप वह है जो शरीर, वाणी या मन के कर्म से दूसरे प्राणी को कष्ट, दु ख, हानि पहुचाता है। पुण्य-कर्म वह है जो शरीर, वाणी या मन के कर्म से दूसरे प्राणी को सुख, शान्ति, मङ्गल प्रदान करता है। पाप-कर्म से स्वय को भी हानि पहुचती है, और पुण्य-कर्म से स्वय को भी लाभ पहुचता है। यह व्याख्या सभी सम्प्रदाय-धर्मो मे है, सार्वजनीन है। यही निसर्ग का नियम है।

भगवान बुद्ध ने त्रि-शिक्षा का धर्म-मार्ग बतलाया है शीलशिक्षा, समाधि-शिक्षा, प्रज्ञाशिक्षा। यही विशुद्धि का मार्ग है, निर्वाण तक ले जानेवाला है। सभी जीव तृष्णा रूपी जटा से विजटित है। तृष्णा बार बार उत्पन्न होती है। तृष्णा का नाश किए बिना दु ख का अत्यन्त निरोध नही हो सकता। विगत-तृष्णा ही निर्वाण-पद का लाभ करती है। इस तृष्णा-जटा का नाश करने से ही विशुद्धि होती है। इस विशुद्धि के अधिगम का क्या उपाय है? पूछने पर भगवान कहते है कि जो मनुष्य शील मे प्रतिष्ठित है, समाधि और विपश्यना की भावना करता है, वह प्रज्ञावान् इस तृष्णा-जटा का नाश कर सकता है। शील शासन की (इस धर्म-मार्ग की) मूल भित्ति है, आधार है। सब पापो से विरति ही शील है, 'सब्ब पापस्स अकरण'। कुशल चित्त की

एकाग्रता ही समाधि है। यह शासन का मध्य है। प्रज्ञा विपश्यना-शासन का पर्यवसान है। जब साधक प्रज्ञा से देखता है कि संस्कार अनित्य हैं, सभी संस्कार दु:ख हैं, सभी धर्म अनात्म हैं, तभी निरोध होता है। यह प्रज्ञा इष्ट-अनिष्ट में याने सुखद-दु:खद संवेदना में समभाव का आवाहन करती है। शील से अपाय (पाप) का अतिक्रम होता है, समाधि से काम-धातु का और प्रज्ञा से सर्वभव का समतिक्रम होता है।

भगवान कहते हैं कि वही मनुष्य सुखी है, जो जय-पराजय दोनों का त्याग करता है। जय वैर उत्पन्न करता है, पराजय दु:ख का प्रसव करता है। अत: दोनों का परित्याग कर उपशान्त हो सुख का सेवन करना चाहिए। राग, द्वेष और मोह ये तीन अकुशल मूल हैं। इनका प्रहाण होना चाहिए। राग के समान कोई अग्नि नहीं, द्वेष के समान कोई दु:ख नहीं, शान्ति के समान कोई सुख नहीं। अक्रोध से क्रोध को जीते, साधुता से असाधुता को जीते, कजूसी को दान से और मृषावादिता को सत्य से जीते। इसलिए भगवान मैत्री भावना का वर्णन करते हैं। यह चार ब्रह्म-विहारों में से एक है। अन्य तीन हैं मुदिता, करुणा, तथा उपेक्षा। स्मृति और सम्प्रजन्य से आत्मरक्षा होती है, ये द्वारपाल हैं जो चित्त-पथ को पाप से, अकुशलता से रक्षा करते हैं। भगवान की यह चतु:सूत्री है। ये चार आर्यसत्य कहलाते हैं। दु:ख क्यों होता है और दु:ख-निरोध का उपाय क्या है, यही भगवान बुद्ध ने बताया है।

भगवान बुद्ध का बताया मार्ग 'मध्यम मार्ग' कहलाता है, क्योंकि यह दोनों अन्तों का परिहार करता है। जो कहता है 'आत्मा है', वह शाश्वत-दृष्टि के पूर्वान्त में अनुपतित होता है। जो कहता है 'आत्मा नहीं है,' वह उच्छेद-दृष्टि के दूसरे अन्त में अनुपतित होता है। शाश्वत और उच्छेद दोनों अन्तों का परिहार कर भगवान मध्यमा प्रतिपत्ति का (मार्ग का) उपदेश करते हैं। एक अन्त आत्मक्लमथानुयोग है, और दूसरा अन्त काममुखानुयोग है। भगवान दोनों का परिहार करते हैं। यही मध्यममार्ग 'आर्य-अष्टांगिक मार्ग' है, जो शील, समाधि, प्रज्ञा का मार्ग है, 'विपश्यना' साधना का मार्ग है। भगवान यह नहीं कहते कि मुझ पर श्रद्धा करो और बिना समझे ही मेरे धर्म को मानो। भगवान कहते हैं —

"सन्दिट्ठिको—स्वयं देखने योग्य है यह धर्म !
अकालिको—तत्काल फलदायी है यह धर्म !
एहि पस्सिको—आओ ! देखो इस धर्म को !
ओपनेय्यिको—निर्वाणतक ले जानेवाला है यह धर्म !
पच्चत्तं वेदितब्बो—प्रत्येक समझदार द्वारा साक्षात् कर सकने योग्य है यह धर्म ! विञ्ञूही 'ति।"

भगवान सब को निमन्त्रण देते हैं कि आओ ! और देखो ! इस धर्म की परीक्षा करो ! प्रत्येक को अपने चित्त में इसका अनुभव करना होगा। यह ऐसा धर्म नहीं है कि एक मनुष्य इस मार्ग की भावना करे और दूसरा ही इसके फल का अधिगम करे।

इसलिए भगवान कहते हैं "तुम अपने लिए स्वय दीपक हो, अत दूसरे की शरण न जाओ। धर्म प्रतिसरण (प्रमाण) है, पुद्गल (जीव) नही। शास्ता (धर्म वतानेवाला) भी प्रतिसरण नही है। लोग आत्मकल्याण के लिए अनेक मगल कृत्य करते है, तिथि, मुहूर्त, नक्षत्रादि का फल विचखाते हैं, नाना प्रकार के व्रतादि; तीर्थ-स्नानादि करते है और उनकी यह दृष्टि होती है कि यह पर्याप्त है। इन्हे ही 'शीलव्रत-परामर्श' कहते हैं। इनमे अभिनिवेश (चिपकाव) होने पर आत्मोन्नति का मार्ग वद हो जाता है।"

भगवान ने धर्मचक्र-प्रवर्तन-सूत्र का एव अनात्मलक्षण-सूत्र का उपदेश दिया और प्रतीत्य समुत्पाद का उपदेश दिया। भगवान बुद्ध की देशना मे प्रतीत्य समुत्पाद का वहुत ऊंचा स्थान है। हेतु-प्रत्ययवश धर्मो की उत्पत्ति होती है। प्रतीत्य-समुत्पाद प्रत्यय-धर्म है। और प्रतीत्य-समुत्पन्न उन-उन प्रत्ययो से अभिनिवृन्त-उत्पन्न-धर्म है। प्रतीत्य-समुत्पाद 'क्लेश', 'कर्म' और 'वस्तु' है। वीज से अकुर, पत्रादि उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार क्लेश से क्लेश, कर्म और वस्तु उत्पन्न होते हैं। इस भवचक्र के 'अविद्या और तृष्णा' मूल है, इससे धर्मचक्र मे परिवर्तन होता है।

समाधि के विना विपश्यना-ज्ञान उत्पन्न नही होता और विपश्यना-ज्ञान के विना अनित्यता, दु खता एव अनात्मता के ज्ञान का उत्पाद नहीं हुआ करता। विपश्यना साधना द्वारा ही इस ज्ञान का स्वानुभव प्राप्त हो सकता है, जो निर्वाण तक ले जाता है।

शिष्य आनन्द भगवान वुद्ध को वहुत प्रिय थे। आनन्द समाधि मे निमग्न नहीं रहते थे, वे सेवा मे ही निमग्न रहते थे। पच्चीस वर्षो तक भगवान की उन्होंने परिचर्या की। भगवान ने जव कहा कि मेरा परिनिर्वाण का समय आ गया है, तो आनन्द को अत्यन्त शोक हुआ। तव भगवान ने कहा 'हे आनन्द! शोक मत कर! क्या मैंने तुझसे नही कहा है, कि प्रिय वस्तु से वियोग स्वाभाविक और अनिवार्य है? यह कैसे सम्भव है कि, जिसकी उत्पत्ति हुई है, जो सस्कृत है और विनश्वर है, उसकी च्युति न हो? ऐसा स्थान नही है। तुमने मनसा, वाचा, कर्मणा श्रद्धा के साथ मेरी सेवा की है, तुम अनन्त पुण्य के भागी हो!' यह कह कर भिक्षुओ से आनन्द की प्रशसा की। भगवान के अन्तिम शव्द ये थे —

"हन्त भिक्खवे, वयधम्मा सङ्खारा,
अप्पमादेन सम्पादेथ, अत्तदीपा विहरथ।"

"सव सस्कार अनित्य है। अपने निर्वाण के लिए विना प्रमाद के यत्नशील हो। तुम अपने लिए स्वय दीपक हो। दूसरे का सहारा न ढूढो।"

अध्याय १५

पंचस्कन्ध : नाम-रूप

'नाम' मन को कहा गया है और 'रूप' शरीर को कहा गया है। स्कन्ध का अर्थ 'समुच्चय' है। शरीर और मन के परस्पर संयोग से ही सत्व (व्यक्ति) बना है। मन के चार भाग है और शरीर एक भाग, इसतरह सत्व (व्यक्ति) 'पचस्कन्ध' कहलाता है।

नाम का अर्थ है 'जो झुकता है।' 'नमति इति नाम'। नाम विषयो मे नम्रता है, झुकता है, प्रवृत्त होता है, उत्पन्न होता है। नाम को रूप नही है, वह अरूपी है। नाम (मन, चित्त) के चार खण्ड किये है : विज्ञान-स्कन्ध, सज्ञा-स्कन्ध, वेदना-स्कन्ध और सस्कार-स्कन्ध।

चित्त के ये चार खण्ड कैसे काम करते है, देखे। इन्द्रियो का कोई भी रूप को याने विषय को स्पर्श होता है, तो ये चार स्कन्ध एक के बाद एक अत्यन्त तीव्र गति से काम करते है। उदाहरण के लिए, आख को किसी रूप (दृष्य) का स्पर्श होते ही विज्ञान-स्कन्ध जाग उठता है और उस रूप को जानता है, जैसे, कोई रूप दीख पडा है। इसके होते ही सज्ञा-स्कन्ध जाग उठता है और उस रूप को पहचानने का काम करता है, जैसे, यह अमुक वस्तु है। उदाहरण के लिए—'यह आम का मधुर फल है।' इसके होते ही वेदना-स्कन्ध जाग उठता है, जिससे सवेदना उत्पन्न होती है, जो सुखद, दु.खद या असुखद-अदु खद का अनुभव होता है। जैसे, मधुर आम के फल से सुखद सवेदना होती है, यदि कडवा फल हो तो दु खद सवेदना होगी। इस सवेदना के उत्पन्न होते ही सस्कार-स्कन्ध जाग उठता है और प्रतिक्रिया होती है, सुखद हो तो 'चाहिए' की, दु खद हो तो 'नही चाहिए', की या असुखद-अदु खद प्रतिक्रिया।

इसतरह चित्त के ये चार खण्ड इतनी तीव्र गति से काम करते है, जैसे एक ही क्षण मे सारी घटना घट गई, ऐसा प्रतीत होता है।

भगवान वुद्ध ने इस चित्त को ८९ खण्डो मे विभाजन करके अति सूक्ष्म-रूप से जाना है। परन्तु मुख्य रूप से विभाजन चार खण्डो मे हम जानेगे। चित्त के खण्ड मे अलग अलग विभाजन करके देखना अत्यत कठिन है। इसलिए आयुष्मान् नागसेन कहते है, "भगवान ने अत्यत कठिन काम किया, जो अरूपी एक अलम्बन मे होनेवाले चित्तचैतसिक धर्मो को अलग-अलग करके कहा, यह स्पर्श है, यह वेदना है, यह सज्ञा है, यह चेतना है, यह चित्त है।"

रूप–स्कन्ध

हमारा यह शरीर रूप-कलापो का समूह मात्र है। हमने पिछले प्रकरणो मे देखा है कि भगवान ने परमाणु-क्षेत्र मे अपनी समाधि मे ज्ञानचक्षु द्वारा परमाणु के भी विभाजन कर करके देखा, यहा तक की उन्होंने अन्तिम लघुकण पाया, जिसका अब आगे विभाजन करना सम्भव नही था। इसका नाम भगवान बुद्ध ने 'कलाप' रखा। इस कलाप को 'रूप-कलाप' कहा। यह रूप-कलाप पृथ्वि-धातु, अग्नि-धातु, वायु-धातु, एव जल-धातु तथा इन चारो के चार गुण-धर्मो से बना 'अट्ठ कलाप' तरग मात्र ही पाया। भगवान ने यह भी साक्षात्कार से जाना कि इस सारे भौतिक जगत की अतिम इकाई 'अट्ठ कलाप' ही है, जिसको 'रूप-कलाप' कहा और यह भी जाना कि किसी भी अट्ठ कलाप मे से पृथ्वी-तत्त्व, अग्नितत्त्व, वायुतत्त्व, व जल-तत्त्व तथा इन तत्त्वो के विभिन्न गुणधर्मो को अलग नही किया जा सकता, इसलिए अविभाज्य है। ये चारो महाभूत (पृथ्वी, अग्नि वायु, जल) एकसाथ ही उत्पन्न होते है, एक साथ ही रहते है और एक-साथ ही विनष्ट होते रहते है। इसीलिए ये सहजात है, सहभू है, सहमृत है। ऐसा हो ही नही सकता कि कोई एक महाभूत अन्य तीनो से पृथक् रह सके। हाँ, इन रूप-कलापो के समूह मे समय समय पर अलग अलग महाभूतों की कम-ज्यादा तीव्रता और महत्ता प्रस्फुटित होती रहती है। कभी अग्नि-तत्त्व की प्रधानता प्रकट होती है, तो तापमान की महत्ता महसूस होती है, कभी पृथ्वीतत्त्व की तीव्रता प्रकट होती है, तो भारीपन या हलकापन महसूस होता है, आदि आदि।

सचाई यह है कि समग्र भौतिक-जगत् के याने पृथ्वी, चद्र, सूर्य, ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र, सितारे, अनत अन्तरिक्ष के यह अनगिनत सूर्य-मण्डल प्रतिक्षण अत्यत तीव्र गति मे प्रकम्पित होते रहते हे, परिवर्तित होते रहते हैं, क्योकि छोटे से छोटे अथवा वडे से वडे सारे भौतिक पदार्थ इन सूक्ष्मतम रूप-कलापो से ही वने है. जो कि स्वय प्रतिक्षण अत्यत तीव्र गति से प्रकम्पित, परिवर्तित होते रहते है। इन रूप-कलापो का, परिवर्तनशील स्वभाव का स्वानुभूतिजन्य साक्षात्कार नाम-रूप जो यह शरीर और मन विपश्यना साधना द्वारा ही साध्य है।

भगवान कहते है —

"किञ्च, भिक्खवे, रूप वदेथ ?
रुप्पति इति खो, भिक्खवे, तस्मा 'रूप' इति वुच्चति ।
केन रुप्पति ? सीतेन पि रुप्पति, उण्हेन पि रुप्पति,
जिघच्छाय पि रुप्पति, पिपासाय पी रुप्पति,
डसमकसवातातपसिरिंसपसम्फ, स्सेन पि रुप्पति ।
रुप्पति इति खो, भिक्खवे, तस्मा 'रूपं' ति वुच्चति ।"

—सयुत्त निकाय–खज्जनीय सुत्त

"भिक्षुओ! रूप क्यो कहा जाता है? भिक्षुओ! क्योकि यह (रूप्पति) प्रभावित होता है (विकृत होता है), इसी से रूप कहा जाता है। किस से प्रभावित होता है? शीत से, प्रभावित होता है, उष्णता से प्रभावित होता है, भूख से प्रभावित होता है, प्यास से प्रभावित होता है, मच्छर, हवा, धूप, तथा कीडे-मकोडो के स्पर्श से प्रभावित होता है। भिक्षुओ! क्योकि यह प्रभावित (विकृत) होता रहता है, इसी कारण से रूप कहलाता है।"

'मै' आखिर क्या है?

नाम-रूप प्रकम्पनशील है, परिवर्तनशील है, अनित्य है।

हम ने देखा है सभी दु खो का कारण तृष्णा है, आसक्ति है। आसक्ति को 'उपादान' कहा है। अत इन नाम-रूप पंचस्कन्धो के प्रति हमारा यह उपादान दु ख ही है। तृष्णा की वजह से दुखी कौन होता है? यह कौन है जिसे हम 'मै मै' माने जा रहे है, 'मेरा, मेरा' माने जा रहे है? इसी के साथ अहभाव स्थापित करके तृष्णा जागती है।

ज्ञान-विज्ञान की अनेक पोथियाँ पढ लेने के कारण, तथा धर्म-दर्शन के अनेक प्रवचन-उपदेश सुन लेने के कारण, वौद्धिक स्तर पर भलेही हम यह मानते चले कि यह काया 'मै' नही हूं, यह काया 'मेरी' नही है, यह सब माया है, परन्तु यह सब तो वौद्धिक लेप है जिसे हमने वार वार वुद्धि विलास द्वारा अपने मन की ऊपरी सतह पर लगा लिया है। वास्तविक जीवन मे इन लेपो का कोई असर नही होता। यहा तो हम इस शरीर को ही 'मै' 'मेरा' 'मानकर चल रहे है, इस शरीर के 'सुख-दु ख' को ही 'मेरा' सुख-दु ख मानकर चल रहे है। कितना गहरा तादात्म्य भाव है हमारा इस शरीर के साथ! दुनियादारी के पारस्परिक व्यवहार-सम्वन्धो के लिए 'मै' 'तू' का शाब्दिक प्रयोग करना अलग वात है, व्यवहार के लिए वह करना आवश्यक भी है। परन्तु आत्मभाव के कारण, अहभाव के कारण इस शरीर के साथ कितनी गहरी आसक्ति हो गई है? इस कारण ही हम दु ख के पहाड मे छुटकारा पा ही नही सकते।

हमने ऊपर देखा है कि शरीर सूक्ष्मतम रूप-कलापो का समूह-मात्र है। इन रूप-कलापो मे प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहे है, उदय-व्यय हो रहे है, अत्यत तीव्र गति मे वे उत्पन्न-नष्ट हो रहे है। वे तरग ही तरग-मात्र है, अविभाज्य है, अलग-अलग हो ही नही सकते। इससे जाना जा सकता है कि मेरे व दूसरे के शरीर मे कोई भेद नही है। सूक्ष्मतम स्तरपर सभी एक-दूसरे से एक जाल मे वन्धे हुए है। फिर यह मेरा हाथ है, यह तेरा हाथ है, यह पैर है, पीठ है, सीना है, आदि आदि अलग-अलग क्या है? यह मांस, हड्डी आदि सव सूक्ष्मतम रूप-कलापो के तरंग-मात्र ही है। किसको मेरा कहे, किसको तेरा कहे? अलग-अलग कहने को कुछ है ही नही। जो भी ठोस

प्रतीत होता है वह सब केवल ऊपर-ऊपर दीखने मात्र ही ठोस है। वातस्व मे वे सूक्ष्मतम रूप-कलापो की तरंगे ही तरगे मात्र है। इसका विस्तार से वर्णन हमने 'विज्ञान दर्शन' मे देखा ही है। यह ऊपर-ऊपर प्रतीत होनेवाला ठोसपन केवल माया है, जिसको प्रज्ञप्तिस्वरूप कहा है। अर्थात् हमने उसको प्रज्ञापन किया है। इसको ही प्रज्ञप्ति-सत्य कहते है, सवृत्ति-सत्य कहते है, माया कहते हैं। सूक्ष्मतम रूप-कलाप जो कि अन्तिम इकाई है, वही परमार्थ सत्य है, अन्तिम सत्य है।

इसी सूक्ष्मतम अवस्था तक पहुचने के लिए ही 'विपश्यना साधना' की जाती है। काया मे कायानुपश्यना, वेदना मे वेदनानुपश्यना द्वारा काया की सूक्ष्मतम रूप-कलापो की इकाइयो तक हम पहुच सकते है और उस सूक्ष्मतम स्तर पर होनेवाली सवेदनाओ के वलपर उस सत्य-स्थिति की स्वयं अनुभूति कर सकते है। इस स्वानुभूति मे ही प्रज्ञप्ति-सत्य की सारी माया छिन्न भिन्न होती है, पहले नही। घन-सज्ञा (ठोस भाव) नष्ट होने पर स्थूल ठोस की भ्रान्ति दूर होती है। मास हो या हड्डी, त्वचा हो या खून, सारे देह के अवयव, सभी देहगत पदार्थ अत्यत सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप-कलापो के समूह-मात्र है। विपश्यना-प्रज्ञा के वल पर अपने भीतर जव ऐसे कण-पुजो की स्वानुभूति होने लगे, तो परम सत्य के उस धरातल पर पहुंच जाते है, जहां कि सघटित स्थूल का भेद खुल जाता है। तव स्थूल हाथ या पाव की पृथकता नही रहती, स्थूल मास और हड्डी का भेद नही रहता और सारा आतमभाव विलीन हो जाता है। न 'मै' रहता है, न 'मेरा', न 'तू' रहता है, न 'तेरा', न 'वह' रहता है, न 'उसका'। उस अनात्म वोध की स्थिति मे आसक्ति टिक ही नही सकती, जहा कि समग्र देह-पिड अगणित रूप-कलापो का पुज ही पुज मात्र प्रतीत होने लगता है।

आज रूप का सर्वमान्य अर्थ है——दृश्यमान आकार। इन कलापो के समूह-सगठन से ही भिन्न-भिन्न रूप-आकार तैयार होते है। इस माने मे इन्हे रूप कहा जा सकता है। परन्तु वस्तुत २५ वी शताब्दि-पूर्व जनभाषा मे इन्हे 'रुप्पन' कहते थे। उखडने को, नष्ट होने को, विकृत होने को, शीत-उष्ण आदि विरोधी प्रत्ययो से विकार को प्राप्त होने को रुप कहते है।

नाम-रूप का स्वभाव

प्रत्येक रूप-कलाप प्रतिक्षण अगणित वार उत्पन्न होकर नष्ट होता है। यह इसका नैसर्गिक स्वभाव है। इसी प्रकार अनेक अनेक रूप-कलापो का पुज भी प्रतिक्षण अगणित वार समूहगत उत्पन्न होता है, जर्जरित होता है और विनाश होता है, यही इसका नैसर्गिक स्वभाव है। जगत् के सभी देहधारी इन्ही रूप-कलापो मे वने शरीर-वाले है, जो भी प्रतिक्षण अनगिनत वार उत्पन्न, नष्ट होते है। वैसेही निर्जीव भौतिक पदार्थ भी इन्ही रूप-कलापो से वने हुए है। इसलिये ऐसा कोई भौतिक पदार्थ नही है कि जो जीर्ण होकर नष्ट न हो जाता हो। ऐसी ही प्रकृति (Nature) है जो इन रूप-कलापो की और इन कलाप-समूहो की ही वनी है।

इससे यह स्पष्ट है कि सभी सजीव प्राणी और निर्जीव पदार्थ ' अनित्य ' है, नित्य कुछ भी नही है। वैसेही ' मै ' ' मेरा ' कहने के लिए भी कुछ नही है, इस माने मे ' अनात्म ' है। इसलिए इनमे आसक्त होना दु ख ही उत्पन्न करता है। ठोस कुछ है ही नही, याने ' सब अनित्य ही है, अनात्म ही है, दु ख ही है, अशुभ ही है। इसी वास्तविकता को अनुभव के स्तर पर हम जाने, यही प्रज्ञा है।

इसी तरह, चित्त-चैतसिक वृत्तियाँ भी प्रकम्पन मात्र ही है। प्रतिक्षण अनगिनत वार उत्पन्न होकर नष्ट होना इनका स्वभाव है। एक क्षण मे रूप-कलाप जितनी वार उत्पन्न होकर नष्ट होते है, उनमे १७ गुना चित्तज-कलाप उत्पन्न होकर नष्ट होते है। ये वृत्तियाँ भी अनित्य है, अनात्म है, दु खद है, अशुभ है। इसी प्रकार, चित्त के चार खण्ड याने विज्ञान, सज्ञा, वेदना, सस्कार, ये भी अनित्य है, अनात्म है, दु खद है, अशुभ है।

अत ये पचस्कन्ध, रूप-स्कन्ध, विज्ञान-स्कन्ध, सज्ञा-स्कन्ध, वेदना-स्कन्ध और संस्कारस्कन्ध भी अनित्य, अनात्म, दु खद एव अशुभ ही है।

भगवान बुद्ध की स्कन्ध, आयतन, धातु, सत्य एव प्रतीत्य समुत्पाद आदि की देशना ससार की अनित्यता, अनात्मता, दु खता एव अशुभता को समझाकर दु खमय ससार से छुटकारा कराने के लिए है।

▣ ▣ ▣

अध्याय १६

आयतन-धातु-निर्देश

आयतन

पिछले अध्याय मे हमने पंचस्कध, नाम-रूप क्या है इसको समझने का प्रयास किया। अब आयतन-धातु क्या है, इसको समझेंगे। आगे के विषय समझने के लिए इन विषयो को क्रमवार समझना अत्यत आवश्यक है।

आयतन याने हमारी इन्द्रियाँ, आख, कान, नाक, जिव्हा, काया और मन। याने चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिव्हा, काया और मन। इनके आलम्बन (आश्रय) इस प्रकार हैं— चक्षु का रूप (दृश्य), श्रोत्र का शब्द (ध्वनि), नाक का गन्ध, जिव्हा का रस, काया का स्पर्श और मन का आलम्बन धर्म है। इस तरह ये सभी बारह आयतन है।

आयतन का अर्थ है, आये (आय) स्वभावधर्मो को तानने (तन) याने फैलाने से और दीर्घ ससार के दु ख को लाने से।

चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिव्हा, काया और मन ये हमारे छ· आयतन 'षडायतन' कहे जाते है। ये हमारे नाम-रूप के छ द्वार है और इनके आलम्बन रूप, शब्द, गध, रस, स्पर्श, धर्म ये सभी आयतन से जुडे हुए है। चक्षु और रूप के सघात से चित्त-चैतसिक धर्म उत्पन्न होते है। वैसी ही श्रोत्र और शब्द, घ्राण और गध, जिव्हा और रस, काया और स्पर्श, तथा मन और धर्म के सघात से वे चित्त-चैतसिक धर्म उत्पन्न होते है। इन उत्पन्न धर्मो को ये षडायतन तानते रहते है. फैलाते रहते है। इस अनादि संसार मे प्रवर्तित अत्यन्त दीर्घ दु ख जबतक नही रुकता, तब तक ये षडायतन इन उत्पन्न धर्मो को जारी ही रखते है।

अत ये बारा आयतन इस प्रकार है —

(१) चक्षु-आयतन (२) रूप-आयतन (३) श्रोत्र-आयतन (४) शब्द-आयतन (५) घ्राण-आयतन (६) गन्ध-आयतन (७) जिव्हा-आयतन (८) रस-आयतन (९) काय-आयतन (१०) स्पर्श-आयतन (११) मन-आयतन (१२) धर्म-आयतन

छ· विज्ञान (जानना) कार्यो के द्वार और छ आलम्बन के व्यवस्थापन मिलकर ये बारह आयतन कहे जाते है।

मन-आयतन और धर्म-आयतन का भाग नाम के अन्तर्गत है और शेष आयतनो का भाग रूप के अतर्गत है। इस प्रकार ये सभी बारह आयतन, नाम-रूप मात्र है।

इन बारह आयतनो मे से चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिव्हा, काय और मन ये छ. आयतन अज्झत्त याने भीतर के, अन्दर के आलवन है तथा रूप, शब्द, गध, रस, स्पर्श और धर्म ये छ आयतन वहिद्धा याने बाह्य आलवन है।

विज्ञान का उत्पाद

चक्षु-द्वार पर रूप का स्पर्श होने से चक्षुविज्ञान उत्पन्न होता है। श्रोत्र-द्वार पर शब्द का स्पर्श होने पर श्रोत्र-विज्ञान, घ्राण-द्वार पर गन्ध का स्पर्श होने पर घ्राण-विज्ञान, जिव्हा-द्वार पर रस का स्पर्श होने पर जिव्हा-विज्ञान, काया पर स्पर्श होने पर काय-विज्ञान उत्पन्न होते है। मनो-द्वार पर धर्म का स्पर्श होने पर मनोविज्ञान उत्पन्न होता है।

चक्षु-विज्ञान देखने का, श्रोत्र-विज्ञान सुनने का, घ्राण-विज्ञान सूघने का, जिव्हा-विज्ञान चखने का, काय-विज्ञान स्पर्श का और मनोविज्ञान धर्म का काम करते है।

प्रसाद का स्थान

चक्षु मे जिस स्थान पर प्रतिविम्व पडता है, उसे चक्षु-प्रसाद का स्थान कहते हैं। वैसे ही श्रोत्र मे सुनने के केन्द्र को श्रोत्र-प्रसाद, घ्राण मे सूघने के केन्द्र को-घ्राण-प्रसाद, जिव्हा मे चखने के केन्द्र को जिव्हा-प्रसाद, काया पर स्पर्शव्य केन्द्र को काय-प्रसाद कहा जाता है।

काय-प्रसाद पूरे शरीर मे अभिव्याप्त होकर रहता है, परन्तु इसका चक्षु-प्रसाद, श्रोत्र-प्रसाद, घ्राण-प्रसाद, जिव्हा प्रसाद से समिश्रण नही होता। ये प्रसाद (केन्द्र) जो है, वे भी रूप-कलाप समूह-मात्र है। प्रसाद को वस्तु भी कहा जाता है।

केश, लोम, और नखो के अग्रभाग तथा उदर मे रहनेवाले पाचक तेज-कलाप को छोडकर काय-प्रसाद-कलाप सम्पूर्ण शरीर मे अभिव्याप्त होकर रहते हैं।

चक्षु, श्रोत्र, घ्राण व जिव्हा इन चार कलापो को 'एकदेशस्थायी कलाप कहते है। और काय-कलाप को 'सर्वत्रस्थायी कलाप' कहते है।

रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्शव्य ये आलम्बन है। इनको गोचर भी कहते है। याने ये आलम्बनरूप एव गोचररूप है।

"रूप—सद्दो—गन्धो—रसो—आपोधातुवज्जितं।
भूतत्तय सङखात फोट्ठव्व गोचररूप नाम।।"

रूप, शब्द, गन्ध, रस, तथा अप्-धातुवर्जित भूतत्रय नामक स्पर्शव्य गोचर-रूप है। इनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है —

रूप——सभी सजीव, निर्जीव वर्णो के लिए जो द्रव्य को प्रकाशित करता है, वह 'रूप' है।

सद्दो—सभी सजीव, निर्जीव शब्दो (ध्वनि) को 'शब्द' कहते है।

गन्धो—जो स्ववस्तु को अर्थात् अपने आधारभूत द्रव्य को सूचित करता है, वह 'गन्ध' है।

रसो—जिसका आस्वाद किया जाता है वह 'रस' है।

फोट्ठब्ब—स्पर्श करने योग्य धर्म को 'स्पर्शव्य' कहते है। यह 'स्पर्शव्य' स्वरूप से स्पर्श करने योग्य पृथ्वी, तेजस्, एव वायु नामक तीन महाभूतो मे ही होता है। आप-धातु (जल)अत्यन्त सूक्ष्म होने से स्पर्श नही किया जा सकता। (जल की शीतलता या उष्णता तेजस् धातु है, आप-धातु नही है।)

धातु

अपने स्वभाव को धारण करनेवाले धर्म 'धातु' कहलाते है। "अत्तनो सभाव दधाती 'ति धातु।।"

धातु इस प्रकार है—(१) चक्षु-धातु (२) रूप-धातु (३) चक्षु-विज्ञान-धातु (४) श्रोत्र-धातु (५) शब्द-धातु (६) श्रोत्र-विज्ञान-धातु (७) घ्राण-धातु (८) गन्ध-धातु (९) घ्राण-विज्ञान-धातु (१०) जिव्हा-धातु (११) रस-धातु (१२) जिव्हा-विज्ञान-धातु (१३) काय-धातु (१४) स्पर्श-धातु (१५) काय-विज्ञान-धातु (१६) मनो-धातु (१७) धर्म-धातु (१८) मनो-विज्ञान-धातु

धातु यह निर्जीव-मात्र का ही नाम है। लौकिक धातु जैसे सोना चादी आदि। ये अनेक प्रकार के ससार-दु ख का विधान करते है। बोझ ढोनेवाले व्यक्तियो द्वारा जैसे बोझ ले जाया जाता है, वैसे ही बोझ के समान प्राणियो द्वारा दु ख-विधान धारण किये होते है। अपने वश मे न होने से ये दु ख-विधान-मात्र ही है। दु ख के कारण हुई इन धातुओ से ससार-दु ख प्राणियो के पीछे-पीछे चलता जाता है और उस उस प्रकार का दु ख इन्ही से वहन किया जाता है। इस प्रकार, चक्षु आदि मे एक एक धर्म यथासम्भव विधान करता है याने धारण किया जाता है। इसके अनुसार ही इसे धातु कहा जाता है। जैसे लोक मे पीले रग के मणी, लाल रग के मणी आदि पत्थर के अवयवो को (टुकडो को) धातु कहा जाता है, वैसे ही पचस्कन्ध शरीर के अवयवो को 'नाम' धातु से जानना चाहिए। भगवान ने कहा है—"भिक्षु, यह पुरुष छ धातु-वाला है . . आदि।" इसमे जीव होने की सज्ञा को मिटाने के लिए चक्षु धातु है। मन विज्ञान भी है और धातु भी है, इसीलिए मनोविज्ञान-धातु है, ऐसा जानना चाहिए।

अभिधर्म के उपदेशो मे कई प्रकार के अन्य धातु भी दिखलाई है, जैसे पृथ्वी-धातु, अग्नि-धातु, सुख-धातु, दु ख-धातु, सौमनस्य-धातु, दौर्मनस्य-धातु, उपेक्षा-

धातु, अविद्या-धातु, आकाश-धातु, विज्ञान-धातु, काम-धातु, व्यापार-धातु आदि आदि। स्वभाव से विद्यमान सब धातु उपरोक्त १८ धातुओ मे आ जाती है।

स्कन्ध, आयतन, रूप, वेदना, संज्ञा, सस्कार, विज्ञान, ये धातु काम-धातु है। व्यापाद, विहिसा, अव्यापाद, अविहिंसा, सुख, दु ख, सौमनस्य, दौर्मनस्य, उपेक्षा, अविद्या, आरम्भ, निष्क्रम, पराक्रम, ये धातु धर्म-धातु है। 'सभी कुशल धर्म नैष्क्रम्य-धातु है' इस वचन से मनोविज्ञान भी धातु है।

पृथ्वी, अग्नि, वायु-धातु स्पर्श-धातु है, जलधातु और आकाश-धातु धर्म-धातु है। चक्षु-विज्ञान आदि सात विज्ञान-धातुओ का ही समूह है।

चक्षु-विज्ञान-धातु आदि का न केवल चक्षुरूप आदि ही प्रत्यय (कारण) होते है, परन्तु आलोक आदि भी है। चक्षुरूप, आलोक (प्रकाश) मनस्कार के कारण चक्षु-विज्ञान उत्पन्न होता है। श्रोत्र, शब्द, विवर (छेद) मनस्कार के कारण श्रोत्र विज्ञान उत्पन्न होता है। घ्राण, गन्ध, वायु-मनस्कार के कारण घ्राण-विज्ञान उत्पन्न होता है। जिव्हा, रस, जल-मनस्कार के कारण जिव्हा-विज्ञान उत्पन्न होता है। काया, स्पर्श, पृथ्वी-मनस्कार के कारण काय-विज्ञान उत्पन्न होता है, भवाङ्ग मन, धर्म-मनस्कार के कारण मनोविज्ञान उत्पन्न होता है।

मनस्कार का अर्थ है 'मन मे करना।' पहले मन से अन्य प्रकार का मन करता है, इसीलिए मनस्कार है। यह स्मरण कराने के लक्षणवाला है।

विज्ञान कैसे उत्पन्न होता है, इसका क्रम इस प्रकार है उदाहरण, चक्षु के कारण रूप मे (प्रकाश होने मे) चक्षु-विज्ञान उत्पन्न होता है. इस प्रकार सभी को समझना चाहिये।

मन-आयतन कुशल, अकुशल, विपाक, क्रिया, विज्ञान के भेद से ८९ प्रकार का होता है या १२१ प्रकार का होता है। धर्म-आयतन वेदना, सज्ञा, सस्कार-स्कन्ध, सूक्ष्म रूप, निर्वाण, स्वभाव-नानत्व के भेद से अनेक प्रकार का होता है। स्पर्श-आयतन पृथ्वी धातु, अग्निधातु, वायु-धातु के अनुसार तीन प्रकार का होता है। रूप-आयतन, शब्द-आयतन और रस-आयतन अनन्त प्रकार के होते है।

हृदयवस्तु——जिसप्रकार चक्षु-विज्ञान का आश्रय चक्षुवस्तु (चक्षुप्रसाद), श्रोत्र-विज्ञान का आश्रय श्रोत्रवस्तु, घ्राण-विज्ञान का आश्रय घ्राणवस्तु, जिव्हा-विज्ञान का आश्रय जिव्हावस्तु, काय-विज्ञान का आश्रय कायवस्तु है, उसी प्रकार मनोधातु एव मनोविज्ञान-धातु का आश्रय 'हृदयवस्तु' माना गया है। चित्त मे पश्चात्ताप होते समय चित्त का सन्ताप आश्रय वस्तु मे सक्रमित होने से तथा उस वस्तु-रूप का सन्ताप वस्तु के आश्रित रुधिर के साथ हृदय मे सक्रमित होनेसे उरस (छाती) के प्रदेश मे भी सन्ताप होता है। इसी प्रकार भयानक शब्द सुनने पर या किसी व्यक्ति

द्वारा डराने पर चित्त-धातु मे कम्पन होने से हृदयस्थित रुधिर के साथ उरस (छाती) के प्रदेश मे भी कम्पन होता हैं। इसी तरह, अन्यन्त प्रसन्नता होने पर हृदय मे भी एक प्रकार के आल्हाद का अनुभव होता है। इन सब के आधार पर चित्त के आश्रयभूत इस वस्तुरूप का हृदय मे होना, जाना है। इसलिए चित्त के इस वस्तुरूप को 'हृदय वस्तु' कहते हैं। हम ने विज्ञानदर्शन मे देखा है कि मन के कपन रूप के कम्पन मे और रूप के कम्पन मन के कम्पन मे परिवर्तित होते रहते हैं। इससे उपरोक्त विवेचन स्पष्टतया समझ मे आ सकेगा।

अव इन्द्रिय क्या है इसे भी हम ममझ लेगे—

इन्द्रिय—"इन्दन्ति परमइस्सरियं करोन्ती'ति इन्द्रियानि"

जो धर्म परम ऐश्वर्य (आधिपत्य=अधिक प्रभुत्व) को सम्पन्न करते हैं, वे 'इन्द्रिय' हैं। अर्थात्, अपने सम्वद्ध कृत्यो मे आधिपत्य करनेवाले धर्मो को 'इन्द्रिय' कहते है।

इन्द्रियां २२ होती है और वे इस प्रकार है.—

(१) चक्षु (२) श्रोत्र (३) घ्राण (४) जिव्हा (५) काय (६) मन (७) स्त्री (८) पुरुप (९) जीवित (१०) सुख (११) दुख (१२) सौमनस्य (१३) दौर्मनस्य (१४) उपेक्षा (१५) श्रद्धा (१६) वीर्य (१७) स्मृति (१८) समाधि (१९) प्रज्ञा (२०) अनज्ञातज्ञस्यामीति (२१) आज्ञा (२२) आज्ञाताव.

आगामी अध्याय के विपय को समझने के लिए ही इस अध्याय का यह विस्तार है।

▣ ▣ ▣

चार आर्य-सत्य

बुद्ध-देशना का हृदय चार आर्य-सत्य हैं। भगवान कहते है, "यह जगत् शाश्वत है या अशाश्वत, अनन्त है या अन्तवान्, आत्मा है या नही, जीव और शरीर एक है या अलग अलग, इस बुद्धि-विलास से दु ख का दहन नही होता और यह मुक्ति की ओर नही ले जाता। मै तो केवल 'यह दु ख है और दु ख से निकलनेका यह मार्ग है,' इतना ही बताता हू। शेष बातें गहन और बन्धन-मात्र है, ये बाते निर्वाण-संवर्त्तनीय नही है।"

इस दु खमय जगत् मे कामगुणो के प्रति आसक्ति होने के कारण उनमे अत्यंत निमग्न जीवो मे धर्म-संवेग उत्पन्न करने के लिए भगवान् बुद्ध ने बुद्धत्व-प्राप्ति के अनन्तर सर्वप्रथम धर्मचक्र-प्रवर्तन किया। उसमें उन्होने "चत्तारि'मानि भिक्खवे अरियसच्चानि.......दुक्ख अरियसच्च...." आदि वक्तव्यो द्वारा "यह ससार दु.खमय है, दु खमात्र है, सर्वत्र दु ख-परिप्लावित हे।" इस प्रकार सर्व प्रथम दु ख-सत्य कहा।

ये दु ख-धर्म अकारण-प्रसूत अथवा अहेतुक नही है, अपितु सासारिक धर्मो के प्रति आसक्ति उत्पन्न करनेवाली तृष्णा से ये उत्पन्न होते है, यह दिखाने के लिए भगवान ने दु ख-सत्य के अनन्तर दूसरा आर्य-सत्य "दुक्खसमुदयं अरियसच्चं," इस प्रकार समुदय-सत्य कहा।

दु ख को दु.ख-रूप मे जब जान लिया जाता है, तब भगवान ने दु ख से त्रस्त जीवो को दु.ख-निवृत्ति-रूप क्षेमस्थान निर्वाण दिखलाने के लिए तीसरा आर्य-सत्य "दुक्खनिरोध अरियसच्च" इस प्रकार निरोध-सत्य कहा।

तदनन्तर उस क्षेमस्थान निरोध-सत्य को प्राप्त करने के लिए चौथा आर्य-सत्य "मार्गसत्य" की देशना की है।

आर्य का अर्थ उत्तम, शुद्ध, पवित्र है, वास्तविक है, वस्तुभूत है। उपरोक्त चार आर्य-सत्यो का सम्यक् बोध आर्यो (उत्तम पुरुषो) को ही हो सकता है। अत. इन्हे 'आर्य-सत्य' कहते है। ये यथार्थ है, अन्यथा नहीं होनेवाले हैं, सत्य है, इसलिए इन्हें 'आर्य-सत्य' कहा गया है। दु ख है इस सचाई को यथाभूत जानना है, दर्शन करना है, उससे भागना नही हे। तब यही सचाई 'आर्य-सचाई' बन जाती है और यह दर्शन करनेवाला 'आर्य' बन जाता है। जब तक भोग रहा है, तब तक वह अनार्य है, अनाडी है।

प्रथम आर्य सत्य · ' यह दु:ख है '

> " इद खो पन भिक्खवे दुक्ख अरियसच्च ।
> जाति पि दुक्खा जरापि दुक्खा मरणम्पि दुक्ख
> सोकपरिदेवदुक्खदोमनस्सुपायासापि दुक्खा
> अप्पियेहि सम्पयोगो दुक्खो पियेहि विप्पयोगो दुक्खो
> यम्पिच्छ न लभति तम्पि दुक्ख ।
> सङखित्तेन पञ्चुपादानक्खन्धा दुक्खा ।। "

अर्थात्

" हे भिक्षुओ ! यह दु.ख आर्यसत्य है । जन्म भी दु.ख है । वुढापा भी दु.ख है । मरण भी दु ख है । शोक, परिदेव (रोना-पीटना), दु.ख-दौर्मनस्य (उदासीन, वेचैन) उपायासा (परेशान, हैरान) सव दु.ख ही है । अप्रिय से संयोग होना भी दु:ख है । प्रिय से वियोग होना भी दु ख है । जो भी इच्छित है, यदि वह नही मिलता है, वह भी दु ख है । सक्षेप मे, पाचो स्कन्धो के प्रति आसक्ति के कारण उत्पन्न रूप, विज्ञान, सज्ञा, वेदना व सस्कार ये पाचो स्कन्ध (नामरूप) दु ख ही है । "

ससार मे विद्यमान समस्त पदार्थ दु.खमय है, दु ख-स्वरूप है । वे केवल दु ख होने के कारण ही दु.ख नही है, अपितु स्वभाव से ही दु ख-रूप है । वे स्वभाव से ही दु ख है, दु.ख देनेवाले है ।

जन्म ही दु ख से शुरू होता है, मध्य मे व्याधि और अन्त मे जरा (वुढापा) भी दु ख ही है । जीवनधारा ही दु ख-प्रवाह है ।

सुख-प्राप्ति के हेतु जिस धन के लिए, हम जीवन भर परिश्रम करते रहते हैं, उस धन से सुख के वजाय दु ख ही वढता रहता है । धन के उपार्जन मे भी दु:ख है, उसके रक्षण मे भी दु ख है और उसके छूटने पर भी दु ख ही दु ख है। मृत्यु भी निश्चित है । मृत्यु आने पर इस ' मैं ' ' मेरे ' का क्या होगा, इससे चित्त सदा व्याकुल ही रहता है । यह भव-ससार दु·ख-ज्वाला से जल रहा है, किन्तु मोह-मूढ मानव इसको न जानकर भोग-विलास की सामग्री को जुटाने मे जीवन भर लगा रहता है । वह क्षणिक सुख तो भोगता है, किन्तु ढेर सा दु ख ही खडा करता रहता है ।

दु ख तीन प्रकार के है—(१) दु ख-दु ख (२) विपरिणाम-दु ख और (३) सस्कार-दु ख

पहला दु ख स्थूल दु ख है, जो प्रत्यक्ष है । जैसे – चोट, व्याधि, वीमारी, प्रिय-जन की मृत्यु, भूख-प्यास, निर्वस्त्र, निराश्रितता आदि के कारण तीव्र पीडा से उत्पन्न दु.ख ।

दूसरा दु ख है 'विपरिणाम' याने वदलनेवाली स्थिति के कारण उत्पन्न दुःख। स्थिति सुखद रहती हुई समयान्तर से वदल जाती है, प्रतिकूल, दु खद स्थिति में वदल जाती है। जैसे – भाईयो मे सघर्ष, पति-पत्नी मे कलह, मित्र-मित्र मे अनवन, धनी की निर्धनता, पदभ्रष्टता या अधिकार या सत्ता की समाप्ति। यही अप्रत्यक्ष विपरिणामी, परिवर्तनशीलता का दु ख है, जो परोक्ष है, सूक्ष्म है। वह सुखद रंगत मे दीख नहीं पडता, किन्तु दु ख आता है, तो हम व्याकुल हो उठते हैं और चाहते है कि सुखद स्थिति सदा वनी रहे। दव अनित्यता का वोध नही रहता।

तीसरा दु ख है सस्कार-दु.ख। संस्कार-दु ख याने चित्त की चेतना से संस्कार-जन्य कर्मों के फलो से उत्पन्न दु ख। इसमे प्रायः सारे दु.ख समाविष्ट हैं।

ससार मे सुख की सामग्रियाँ जो दिखायी देती है, वे सस्कार-दु.ख के विना प्राप्त नही हो सकती, क्योकि उनकी प्राप्ति के लिए विविध प्रकार के कष्टसाध्य प्रयत्न करने होते हैं। अत ये प्रयत्न, कष्ट, उत्साह, आदि 'सस्कार-दु ख' ही है। मानवीय सुख, दैविक सुख, व्राह्मभौमिक सुख की प्राप्ति के लिए अत्यधिक परिमाण मे कष्टपूर्वक दान, शील, भावना आदि प्रयत्न करने पडते है। अत. ये दान, शील, प्रयत्न आदि भी सस्कार-दु ख ही है।

निरन्तर वदलते रहना, परिवर्तनशील होना इस सृष्टि का, प्रकृति का धर्म है, स्वभाव है। प्रतिक्षण तीव्र गति से हर वस्तु, हर व्यक्ति, हर स्थिति वदलती ही रहती है, उत्पन्न होकर नष्ट होती ही है। यह सव निरन्तर अवाध गति से प्रवाहमान है, अनित्य है, क्षणभगुर है, यह हम ने विज्ञान-दर्शन मे विस्तार से देखा है। इस हर क्षण वदलनेवाली स्थिति को पकडे रखने की आसक्ति, मोह, तृष्णा, दु ख ही है। ये पच-स्कन्ध नाम-रूप 'दु ख-सत्य' ही है। इसका विस्तार से स्पष्टीकरण दूसरे अध्याय मे किया गया है।

जाति दु ख है याने जन्म होना दु ख है। माँ के गर्भ मे आने से उत्पन्न स्थिति दु ख ही है। माँ के पेट मे छोटे स्थान मे सिकुडकर घने अन्धकार मे, नाना गन्दगियों से परिभावित, नौ महिने पोटली जैसे वंद, पकाने के समान पकता हुआ, मोडने पसारने आदि से रहित अत्यत दु.ख का अनुभव होता है। फिर पेट से वाहर निकलने से उत्पन्न होनेवाला शरीर व मन भी दु ख ही है। जन्म होते ही रोने से दु ख प्रारम्भ होता है। इस प्रकार, ये सभी दु ख जाति (जन्म) वस्तु से ही होते है।

जरा (बुढापा) भी दु ख है। शरीर के अगो का ढीलापन, इन्द्रियो के विकार, यौवन का विनाश, वल का ऱ्हास, स्मृति-विभ्रश, स्त्री-पुत्रो से प्रस्तुत अप्रसाद (झिट-कारना) आदि वुराइयो से और अत्यत मूर्ख भाव को प्राप्त होने से वृद्ध व्यक्ति कायिक और मानसिक दु ख को पाता है, अत. यह जरा दु.ख ही है।

मरण भी दुःख है। मरण के भय से मनुष्य नित्य व्याकुल रहता है। प्रिय जनो से बिछुडना, उपार्जित संपत्ति व प्रतिष्ठा का वियोग, असह्य प्रतिकार-अक्षम शरीर से उत्पन्न दु ख, ऐसा मरणप्राय यह दु.ख अत्यत पीडाजनक होता है। इसलिए मरण दु.ख ही है।

शोक भी सन्ताप है, चित्त को जलाता है, पश्चात्ताप से व्याकुलता आती है। अतः शोक दु ख ही हे।

परिदेव याने विलाप करना, जिससे कण्ठ, ओठ, तालु, गला सूख जाने से असह्य दु ख की प्राप्ति होती है। यह परिदेव-दु ख है।

यह सब दु.ख कायिक दु ख है। वह अधिकतर मानसिक दु ख ही उत्पन्न करता है।

दौर्मनस्य याने मानसिक दु ख। वह चित्त को पीडित करता है, परेशान करता है, रोगी बनाता है। चित्त के दु ख को प्राप्त व्यक्ति छाती को पीटते है, गिरते है, आत्महत्या कर लेते है, विष-प्रयोग करते है, फाँसी लगा लेते है, आग मे जला लेते है और ऐसे अनेक प्रकार के दु ख को भोगते है।

उपायास याने चित्त के अत्यत दु ख से उत्पन्न द्वेष। वह चित्त को जलाता है, खेद से पीडित रखता है, अत अत्यंत दु ख ही उत्पन्न करता है।

सक्षेप मे, ये पाँचो उपादान-स्कन्ध दु ख ही दु ख है।

द्वितीय आर्य सत्य : " यह दुःख का समुदय है। "

" इदं खो पन भिक्खवे दुक्खसमुदय अरियसच्चं
याय तण्हा पोनब्भविका नन्दिरागसहगता
तत्र-तत्राभिनन्दिनी, सेय्यथीद
कामतण्हा भवतण्हा विभवतण्हा ॥ "

अर्थात्

" हे भिक्षुओ ! दु ख-समुदय यह द्वितीय आर्यसत्य है। दु ख का सही कारण तृष्णा है, जो बार बार जन्म करानेवाली (पोनब्भविका) है, नन्दी-राग (विषयो के प्रति अनुराग) से युक्त, और उत्पन्न हुए विषयो मे अनुराग करनेवाली है, जैसे - काम-तृष्णा, भवतृष्णा, विभव-तृष्णा। "

तृष्णा ही दु ख का कारण है। तृष्णा और आसक्ति समानार्थी हे। प्रिय हो तो चाह की आसक्ति और अप्रिय हो तो अचाह की आसक्ति, सब तृष्णा हे, तण्हा है। जितनी गहरी तृष्णा है, उतना ही गहरा दु ख होता है। सभी दु खो का मूल कारण

तृष्णा ही है। तृष्णा को कोई पेंदी नही है, कोई अंत नही है। इसकी पूर्ति करना असम्भव है। इसीलिये तृष्णा घोर दु:ख का उत्पाद ही करती है।

काम-तृष्णा--भोग-सामग्री के प्रति भागदौड, भौतिक सुखों की कामना, ऐन्द्रिय सुखो के प्रति आसक्ति, यह काम-तृष्णा है।

भव-तृष्णा--यह काम-तृष्णा से सूक्ष्म है। जीवित रहने की तीव्र लालसा भव-तृष्णा है। भव-तृष्णा ही हमारे पुनर्भव की (पुनर्जन्म की) निर्माण-कर्त्री है। इसी के कारण यह ससार हमारे लिए वढता ही रहता है। शरीर भले हो छूट जाय किन्तु 'मै' निरन्तर रहू, मुक्ति प्राप्त करू यह मुक्ति की तृष्णा ही है। स्वर्ग के सुख की तृष्णा, ब्रह्मलोक भोगने की तृष्णा, ये सभी भव-तृष्णाएँ है। शाश्वत रहने की ही यह दृष्टि है।

विभव-तृष्णा--विभव याने भव का (जन्म का) नही होना। मरने के वाद स्वर्ग-लोक, नरक-लोक कोई नही है। यही एक मात्र लोक है और यहां के सासारिक सुखो को भोगने-मात्र की तृष्णा विभव-तृष्णा है। यह उच्छेद-दृष्टि है। ये व्यक्ति पुनर्जन्म को नही मानते और इसलिए सुख-वैभव को भोगने के लिए भले-वुरे साधनो को अपनाने मे नही हिचकिचाते।

'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृत पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत: ।।'

जव तक जीवित रहू, सुख से ही जीवित रहू, यही विभव-तृष्णा है। शरीर जलकर भस्मीभूत हो जायगा, फिर पुनर्जन्म कहा किसका होगा, ऐसा माननेवाले ये लोग मात्र भोगवादी ही होते हैं।

विमूढ अवस्था तृष्णा की सहयोगिनी ही है। किसी भी अनित्य,परिवर्तनशील या प्रतिक्षण वदलनेवाली वस्तु, व्यक्ति अथवा स्थिति के प्रति आकृष्ट तृष्णा दु:ख का ही उत्पाद करती है। प्रत्येक तृष्णा के उत्पन्न होने पर तन और मन पर एक विशिष्ट प्रकार का अत्यत सूक्ष्म स्पन्दन होने लगता है। इसका साक्षात्कार विपश्यना साधना द्वारा अनुभूत होने लगता है।

तृष्णा का विस्तार से वर्णन और स्पष्टीकरण तीसरे अध्याय मे किया गया है। तृष्णा ही 'समुदय-सत्य' है।

तृतीय आर्य-सत्य : 'यह दु:ख का निरोध है'

"इद खो पन भिक्खवे दुक्खनिरोध अरियसच्च।
यो तस्सा येव तण्हाय असेस-विराग निरोधो
चागो पटिनिस्सग्गो मुत्ति अनालयो ।।"

अर्थात्

"हे भिक्षुओ ! दु.ख-निरोध आर्य-सत्य है, जो तृष्णा का सम्पूर्ण (अशेप) विराग (वैराग्य) है, निरोध है, त्याग है, प्रति-नि.सर्ग है, मुक्ति है, आलय नही करना है (स्थान न देना)" ऐसे निरोध-निर्देश मे एक ही निर्वाण है ।

समुदय (तृष्णा) के निरोध से दु ख निरुद्ध हो जाता है, अन्यथा नही ।

जैसे, वृक्ष काटने पर उसकी जमीन के अदर की जडे नष्ट न की जाय, तो वह फिर से वढ सकता है, वैसे ही. तृष्णा के समूल नष्ट न होने से यह दु ख वार वार होता ही रहता है । इसलिए तृष्णा के सम्पूर्ण (असेस) विराग (वैराग्य) से ही दु'ख-निरोध होता है । दु ख के निरोध के लिए उसके कारण देखने चाहिए, फल मे नही देखे ।

परमार्थ से, दु खनिरोध-आर्यसत्य को निर्वाण कहा जाता है, चूकि उसे पाकर तृष्णा अलग होती है और निरुद्ध हो जाती है ।

विज्ञान-दर्शन विभाग मे यह स्पष्ट किया है कि वास्तविक भूत, वर्तमान, भविष्य अलग अलग नही है, अपितु एक ही है । वे निर्वाण मे एक ही है, अलग नही है । वैसे ही, हम स्वयं ही एक-दूसरे के विरोधी तत्त्व उत्पन्न करते है । जैसे, हमने सुख चाहा तो उसके साथ दु ख उत्पन्न होगा ही, क्योकि सुख और दु'ख ये दोनो विरोधी दीखने-वाले वास्तव मे एक ही है, दो है ही नही । वैसे ही, नर-नारी, जय-पराजय, मित्र-शत्रु, जन्म-मृत्यु, पाप-पुण्य, आदि भी एक ही है । दु'ख-निरोध से यह सब विरोधा-भास समाप्त हो जाते है, द्वैत (Duality) समाप्त हो जाता है । दु ख-निरोध से ही जीवनमुक्ति है, निर्वाण है ।

चतुर्थ आर्य-सत्य : 'यह दुख-निरोध का मार्ग है'

दु ख-निरोधगामिनी प्रतिपदा आर्यसत्य है ।

"इद खो पन भिक्खवे
दुक्खनिरोधगामिनी पटिपदा अरियसच्च ।
अयमेव अरियो अट्ठङ्गिको मग्गो, सेय्यथीद—
सम्मादिट्ठि सम्मासङकप्पो सम्मावाचा सम्माकम्मन्तो
सम्मा आजीवो सम्मा वायामो सम्मासति सम्मासमाधि ॥"

अर्थात्

"हे भिक्षुओ ! यह दु ख-निरोधगामिनी प्रतिपदा आर्यसत्य है, यही आर्य-अष्टागिक मार्ग है । जैसे कि—

सम्यक् दृष्टि, सम्यक् सकल्प,
सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्ति, सम्यक् आजीविका,

सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधि।"
ऐसे मार्ग-निर्देश मे आठ धर्म है।
इस आर्य-अष्टागिक मार्ग के तीन स्कन्ध है—
(१) शील (२) समाधि (३) प्रज्ञा.
शील मे तीन अङ्ग आते है—(१) सम्मा वाचा (२) सम्मा कम्मन्तो (३) सम्मा आजीवो
समाधि मे तीन अङ्ग आते है—(१) सम्मा वायामो (२) सम्मा सति (३) सम्मा समाधि
प्रज्ञा मे दो अङ्ग आते है—(१) सम्मा दिट्ठि (२) सम्मा सकप्पो

इस तरह आठ अंगवाला यह 'अरियो अट्ठङ्गिको मग्गो' आर्य-अष्टागिक मार्ग है, जो वास्तविक धम्म (धर्म) है। अर्थात् शील, समाधि और प्रज्ञा ही सचमुच धर्म शुद्ध है। इसका अब आगे एक एक को लेकर विस्तृत वर्णन प्रस्तुत होगा।

लौकिक-लोकोत्तर एवं कारण-कार्य-सत्य

चार आर्य-सत्यो मे दु.ख-सत्य एव समुदय-सत्य ये दो सत्य लौकिक-धर्म है, लौकिक-सत्य है। निरोध-सत्य एव मार्ग-सत्य ये दो सत्य लोकोत्तर-धर्म है, लोकोत्तर-सत्य है। ससार मे उत्पन्न होनेवाले नाम एवं रुप केवल दुःख-धर्म है। इसलिए दु.ख-सत्य संसार मे उत्पन्न प्रवृत्ति-सत्य हे तथा अकुशल कार्य-सत्य भी है। समुदय-सत्य सभी सासारिक दु खो की उत्पत्ति का कारण होने से अकुशल प्रवृत्ति हेतु सत्य है तथा कारण-सत्य भी है। निरोध-सत्य सासारिक दु खो से निवृत्तिरुप सत्य है तथा वह कुशल कार्य-सत्य भी है। मार्ग-सत्य दु ख-निवृत्ति प्राप्त करानेवाला निवृत्ति हेतु सत्य है, तथा वह कुशल कारण-सत्य भी है। इन चार आर्यसत्यो का सभी बुद्धो द्वारा प्रतिपादन किया गया है। इनमे न्यूनाधिक्य (कमवेशी) कभी नही होता। ये पूर्ण धर्म है। इनमें न कुछ जोडा जा सकता है और न इनमे से कुछ निकाला जा सकता है। इसलिये ये चार आर्य-सत्य है।

संवृति-सत्य—इस संसार में पूर्वजों द्वारा जो संज्ञा दी गयी है (नाम-निर्देश किये गये है) वह संवृति-सत्य है।। याने लोक-व्यवहार संसारसत्य है। जिस द्रव्य-समूह में 'पुरुष' संज्ञा की गयी है, उस द्रव्य-समूह को 'पुरुष' कहना तथा जिस द्रव्य-समूह में 'स्त्री' सज्ञा की गयी है, उस द्रव्य-समूह को 'स्त्री' कहना यह संवृति-सत्य है। क्योकि लोक-व्यवहार मे वह सत्य है। सम्पूर्ण लोक-व्यवहार इसीके आधारपर चलता है, अतः वह लोक-संवृति-सत्य है। किन्तु गहराई से विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि 'पुरुष' नामक या 'स्त्री' आदि नामक कोई द्रव्यसत्

पदार्थ नही है,अपितु वह केवल नाम-रूप के समूह मे प्रज्ञप्ति-मात्र ही है। यह विश्लेपण 'विज्ञान दर्शन' विभाग मे स्पष्ट हुवा है। सभी पदार्थ कलापो का समूह-मात्र है। अत. लोक-व्यवहार मे स्वीकृत संवृति-सत्य आर्य-सत्य नही कहा जा सकता। दु ख-सत्य आदि वैसे नही है, क्योकि उन पर जैसे जैसे गहराई से विचार किया जाता है, वैसे वैसे उनकी सत्यता स्पष्ट होती जाती है। इसलिए उन्हे आर्यसत्य कहा जाता है। 'आर्य' शब्द का प्रयोग सवृति-सत्य से भेद दिखाने के लिए है।

कुछ उपमाओ द्वारा इन चार आर्य-सत्यो को समझे—

वोझ के समान दु ख-सत्य है। वोझ को उठाने के समान समुदय-सत्य है। वोझ फेक देने के समान निरोध-सत्य है। वोझ फेकने के उपायके समान मार्ग-सत्य है। रोग, रोग का निदान, रोग की शान्ति, दवा इस प्रकार यह समझे। वैरी, वैर, वैर मिटना, वैर मिटने के उपाय, विप-वृक्ष, वृक्ष-मूल, मूल को समूल उखाडना, उसको उखाडने का उपाय; भय, भय का मूल, निर्भयता, उसकी प्राप्ति के उपाय आदि उपमाओ द्वारा इन चार आर्य-सत्यो को समझना चाहिए।

दु ख ही है, दु ख भोगनेवाला कोई व्यक्ति नही है। कर्ता नही है, क्रिया ही है। निर्वाण है, निर्वाण को प्राप्त व्यक्ति नही है। मार्ग है, जानेवाला पथिक नही है। इस तरह समझना चाहिए। इस प्रकार का पालि मे पद है—

"दुक्खमेव हि, न कोचि दुक्खितो,
कारको न, किरिया व विज्जति।
अत्थि निब्बुति, न निब्बुतो पुमा,
मग्गमत्थि, गमको न विज्जति॥"

अव आर्य-अप्टाङ्गिक मार्ग का विस्तार से विवेचन अगले 'शील-निर्देश', समाधि-निर्देश' एवं 'प्रज्ञा-निर्देश' इन अध्यायो मे प्रस्तुत किया गया है।

◻ ◻ ◻

अध्याय १८

शील निर्देश

भगवान वुद्ध ने शील, समाधि, प्रज्ञा को ही 'धम्म' (धर्म) कहा है। शील याने सदाचार। शील ही धम्म (धर्म) की भित्ति है, नीव है। शील के विना समाधि व प्रज्ञा सम्भव नही है। नित्य जीवन में भी शील का अत्यत महत्व है।

आर्य-अष्टाङ्गिक मार्ग के तीन स्कन्ध वतलाये गये है-- (१) शील-स्कन्ध (२) समाधि-स्कन्ध (३) प्रज्ञा-स्कन्ध.

शील-स्कन्ध के तीन अङ्ग है --

(१) सम्मा वाचा (२) सम्मा कम्मन्तो (३) सम्मा आजीवो

काया और वाणी के दुष्कर्मो से विरत रहकर मूर्खतापूर्ण दुराचारी जीवन से दूर रहना और समझदारी से सदाचारी जीवन विताना ही शील है। दुराचारी जीवन व्यक्ति-व्यक्ति मे, समाज-समाज मे, दुर्भावना, द्वेप, द्रोह, विग्रह पैदा करता है; जव कि सदाचारी जीवन सुख-शान्ति, सद्भावना और मैत्री पैदा करता है। पहले मे अपने लिए और अन्य सभी के लिए असीम दु.ख का प्रजनन एवं सवर्धन है, जव कि दूसरे मे दु ख का शमन एव निर्मूलन है।

(१) सम्मा वाचा : सम्यक् वाचा, ठीक, पवित्र, शुद्ध वाणी।

"कतमा च भिक्खवे सम्मावाचा ?
मुसावादा वेरमणी पिसुणाय वाचाय वेरमणी
फरसाय वाचाय वेरमणी सम्फप्पलापा वेरमणी
अयं वुच्चति भिक्खवे सम्मा वाचा ॥"

(दीघनिकाय २२-२१)

अर्थात्, "भिक्षुओ ! किसको सम्यक् वाचा कहते है ?
असत्य भापण से विरति, दुष्ट भापण से विरति,
कठोर भाषण से विरति, निरर्थक भापण से विरति,
भिक्षुओ, इसी को सम्यक् वाचा कहते है।" (विरति याने अलिप्त रहना)
वाणी के मैल क्या है ?--

(१) झूठ वोलना, दूसरो को ठगना।

(२) झगडा, चुगली, निंदा करना, छल-कपट-युक्त वात करना।

(३) कठोर, कडवी वात वोलना; गाली, अपशब्द कहना; द्वेषयुक्त कहना।

(४) निरर्थक, निकम्मी, फिजूल वाते करना।

ये वाणी के चार मैल है। वस इनको छोडकर वाकी वाणी पवित्र ही पवित्र है, सम्यक् है। वाणी के इन मैलो से अलिप्त रहना इसका मतलव ही सत्य, मधुर वाणी है। भगवान ने इस प्रकार सम्मा वाचा का स्वरूप समझाया है।

(२) सम्मा कम्मन्तो : सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् कर्म।

"कतमो च भिक्खवे सम्मा कम्मन्तो ?
पाणातिपाता वेरमणी, अदिन्नादाना वेरमणी
कामेसु मिच्छाचारा वेरमणी,
सुरामेरयमज्जप्पमादट्ठाना वेरमणी
अय वुच्चति भिक्खवे सम्मा कम्मन्तो ॥"

अर्थात्

"भिक्षुओ, सम्यक् कर्म कोनसा है ?
हिंसा से विरति, चोरी से विरति,
व्यभिचार से विरति, नशा, मादक पदार्थ-सेवन से विरति।
वस, भिक्षुओ, इनको ही सम्यक् कर्म कहते है।"

शरीर (काया) का कर्म पवित्र होना चाहिए। काया से होनेवाले मैल क्या है ?
(१) हिंसा, हत्या करना (२) चोरी, ठगना, छीनना (३) व्यभिचार करना,
(४) नशा करना, मादक नशीले पदार्थ सेवन करना।
वस, ये कर्म छोडकर वाकी सव कर्म पवित्र ही पवित्र है।

(३) सम्मा आजीवो : सम्यक् आजीविका.

"कतमो च भिक्खवे सम्मा आजीवो ?
इध भिक्खवे अरियसावको मिच्छा
आजीव पहाय सम्मा आजीवेन जीविक कप्पेति
अयं वुच्चति भिक्खवे सम्मा आजीव ॥"

अर्थात्, "भिक्षुओ ! सम्यक् आजीविका क्या है ?

भिक्षुओ, आर्य श्रावक मिथ्या याने निषिद्ध आजीविका को छोडकर, उत्तम आजीविका से अपना जीवन-चरितार्थ चलाता है। इसको ही सम्यक आजीविका कहते है।"

गदी आजीविका क्या है ?

(१) मदिरा, मादक, नशीले पदार्थो का व्यवसाय करना;

(२) ठगाई का, जुओ का, गुलामी का आदि व्यवसाय करना;
(३) हत्यारो का, दूसरो को हानि पहुंचानेवाला व्यवसाय करना;
(४) जरूरत की चीजें सग्रहित करके वढते दामो मे वेचना, दूसरो का धन अधिकाधिक अपने पास फँसा आवे ऐसा व्यवसाय करना, धोखा देनेवाला व्यवसाय करना।

ये चारो गंदी, मैली आजीविकाए है।

मै समाज का एक अङ्ग हू, जो मिल रहा है वह समाज से मिल रहा है, तो वदले मे मै समाज की क्या सेवा कर रहा हू, ऐसा समझकर आजीविका प्राप्त करना सम्यक् आजीविका है।

भगवान ने इस शील-सदाचार सहिता मे संवृद्धि करके भिक्षु सघ के तथा गृहस्थ व श्रावको के लिए अलग-अलग संहिताएँ निर्धारित कर दी है।

गृहस्थो की आचार-संहिता को उन्होने 'पचशील' कहा है, जो इस प्रकार है :-

पञ्चशील

(१) 'पाणातिपाता वेरमणी सिक्खापदं समादियामि।' याने 'प्राणी-हिंसा से विरत (अलिप्त) रहने की शिक्षा ग्रहण करता हूं।'

इस शील-विधान मे भगवान वुद्ध की असीम करुणा प्रकट होती है।

(२) 'अदिन्नादाना वेरमणी सिक्खापद समादियामि।' याने 'विना दी गई वस्तु लेने से विरत रहने की शिक्षा ग्रहण करता हू।'

यह अस्तेय है (चोरी से नही लेना), अपरिग्रह है,
अनुचित सग्रह-वृत्ति के प्रति नियन्त्रण है।

(३) 'कामेसु मिच्छाचारा वेरमणी सिक्खापद समादियामि।'

याने 'काम-सम्वन्धो मे मिथ्याचरण (व्यभिचार) से विरत रहने की शिक्षा ग्रहण करता हू।' कामवासना मनुष्यमात्र मे व्याप्त है। इसका नितान्त विरोध हर एक के लिए कठिन है। इसलिए केवल व्यभिचार से विरत रहने के शील का विधान है।

(४) 'मुसावादा वेरमणी सिक्खापदं समादियामि।'

याने 'मिथ्यावचन (असत्य भाषण) से विरत रहने की शिक्षा ग्रहण करता हू।' इसमे सत्य की प्रतिष्ठा स्थापित की गयी है।

(५) 'सुरामेरय्यमज्जप्पमादट्ठाना वेरमणी सिक्खापद समादियामि।'

याने 'सुरा, मद्य आदि नशा तथा प्रमादकारी वस्तुओ के सेवन से विरत रहने की शिक्षा ग्रहण करता हूं।' नशे के सेवन से मनुष्य अपने मन की दृढता और विवेक-बुद्धि खो बैठता है। परमार्थ-सत्य के साक्षात्कार के लिए मन की दृढता व विवेक-बुद्धि की आवश्यकता अनिवार्य है।

उपरोक्त पंचशील समस्त कायिक और वाचिक कर्मोपर नियंत्रण-हेतु है और ये समाधि के लिए मन को पूर्णतया एकाग्र-समाहित करने के लिए नितान्त आवश्यक आधार है। साधको के लिए अष्टशील का विधान किया है। उपरोक्त पाच शीलो को लेकर और तीन शील ग्रहण करने होते हैं। ये तीन शील इस प्रकार हैं :—

(६) 'विकालभोजना वेरमणी सिक्खापदं समादियामि।'
याने 'अकाल भोजन से विरत रहने की शिक्षा ग्रहण करता हूं।'

(७) 'नच्चगीतवादितविसूकदस्सना वेरमणी सिक्खापदं समादियामि।' याने 'नाच, गीत, वादन, नाटक देखने से विरत रहने की शिक्षा ग्रहण करता हूं।'

(८) 'मालागन्धविलेपनधारणमण्डनविभूसनट्ठाना वेरमणी सिक्खापदं समादियामि।' याने 'माला, सुगन्ध लगाना या धारण करना, विभूषणो को धारण करना, इनसे विरत रहने की शिक्षा ग्रहण करता हू।'
भिक्षुओ को और दो शील बताये है—

(९) 'उच्चासयन-महासयना वेरमणी सिक्खापदं समादियामि।' याने 'आरामदेह गद्दी, उच्च आसन से विरत रहने की शिक्षा ग्रहण करता हूं।'

(१०) 'जातरूप—रजत पटिग्गहणा वेरमणी सिक्खापद समादियामि।' याने 'शरीर को सजाना, आभूपण पहनना, इनसे विरत रहने की शिक्षा ग्रहण करता हूं।'

उपरोक्त शील समस्त कायिक और वाचिक कर्मोपर नियन्त्रण-हेतु है और ये समाधि के लिए मन को पूर्णतया समाहित करने के लिए नितान्त आवश्यक आधार है।

जीव-हिंसा आदि से विरत रहनेवाला या व्रताचार पूर्ण करनेवाले की चेतना शील है। जीव-हिंसा आदि से विरत रहनेवाले की विरति चैतसिक शील है।

संवरशील

पाच प्रकार के सवर-शील होते है—(१) प्रातिमोक्ष-सवर (२) स्मृति-सवर (३) ज्ञान-सवर (४) क्षान्ति-सवर (५) वीर्य-संवर

इन पाच प्रकार के सवरो के साथ जो पाप से भय खानेवाले है और पाप की चीजो से विरति है, वह सब सवर-शील है। ग्रहण किए हुए शील का काया और वाणी द्वारा उल्लघन न करना अनुल्लघन-शील है।

प्रातिमोक्ष-सवर-शील, इन्द्रिय-सवर-शील, आजीव-पारिशुद्धि शील और प्रत्यय-सन्निश्रित शील ये चार पारिशुद्धि-शील है।

प्रातिमोक्ष-शील शिक्षापद-शील को कहते है। उसके संवर से संवृत्त (लिप्त) रहना, आचार सम्पन्न रहना, अल्पमात्र दोप से भी वचना, प्रातिमोक्ष-संवर-शील हे।

आँख से रूप को देखकर, कान से शव्द को सुनकर, नाक से गन्ध को सूधकर जीभ से रस को चखकर, काया से स्पर्श करके, मन से धर्म को जानकर उन उन इन्द्रियो मे सवर-रहित होनेपर लोभ-दौर्मनस्य आदि वुरे धर्म उत्पन्न होते है, उनके संवर के लिए जुटना इन्द्रिय-सवर-शील है।

फँसाना, ठगना, वढा चढा कर कहना जिससे कि कुछ स्वार्थ सधे। अपने लाभ के लिए दूसरो को भला-वुरा कहना, लाभ से लाभ ढूढना, इत्यादि प्रकार के वुरे धर्मों के अनुसार होनेवाली मिथ्या आजीविका से विरत (अलिप्त) रहना आजीव-पारिशुद्धि-शील है।

चीवर, पिण्डपात (भिक्षान्न), शयनासन, ग्लान, प्रत्यय, भैपज्य ये चार प्रत्यय (कारण) कहे जाते है। संक्षेप मे, प्रज्ञा से ठीक ठीक जानकर सेवन करने को ही, प्रत्यय-सन्निश्रित (सहारे) होना ही, प्रत्यय-सन्निश्रित-शील है।

प्रातिमोक्ष-सवर श्रद्धा से, इन्द्रिय-सवर स्मृति से, आजीव-पारिशुद्धि- शील को वीर्य (परिश्रम) से, प्रत्यय-सन्निश्रित-शील प्रज्ञा से भलीभाँति पूर्ण करना चाहिए। इस प्रकार आदर के साथ शील को परिशुद्ध करना चाहिए।

न्यायालय मे मुकदमे के समय असत्य भापण लोभ से किया जाता है। दूसरो को हानि पहुचाने के लिए असत्य भापण द्वेप से किया जाता हे। अपने को प्रिय वनाने के लिए चुगली करता है, वह लोभवश ही है। दो व्यक्तियो के पारस्परिक प्रेम को भग करने के लिए चुगली, निदा की जाती है, वह द्वेप से ही होती है। किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए फालतू वात की जाती है, वह लोभवश ही है।

शील सम्पन्नता के लिए लोभ, द्वेप, मोह से सतर्क रहकर वचना चाहिए।

एक समय भगवान से किसी देवपुत्र ने पूछा—

"भीतर जटा है, वाहर जटा है, जटा से प्रजा (प्राणी) जकडी हुई है, इसलिए हे गौतम! मै आप से पूछता हूँ कि कौन इस जटा को काट सकता है?" (यहा जटा का अर्थ तृष्णा है)

भगवान ने उत्तर दिया "जो नर प्रज्ञावान् है, वीर्यवान हे, पण्डित है, (ससार मे भय ही भय देखनेवाला) भिक्षु है, वह शील पर प्रतिष्ठित होकर चित्त (समाधि) और प्रज्ञा की भावना करते हुए, इस जटा को काट सकता है।"

भगवान ने अपने छोटे से उत्तर में शील, समाधि और प्रज्ञा की भावना करने का उपदेश दिया। जो व्यक्ति परिशुद्ध शील से युक्त होकर समाधि और प्रज्ञा की भावना करेगा वही निर्वाण को पा सकता है, वही संसार मे घूमनेवाली जटारूपी तृष्णा का अन्त कर सकता है और वही विशुद्धि अर्थात् निर्वाण का मार्ग है। इसीलिए निर्वाण के मार्ग को ही 'विशुद्धिमार्ग' कहते हैं।

जीवन मे सही संपत्ति शील-सदाचार है। शील से सम्पन्न होनेवाला वही विशुद्धि मार्गपर चल सकता है।

अब अगले अध्याय मे इस धम्म का दूसरा स्कन्ध 'समाधि' का विस्तार से वर्णन किया गया है।

अध्याय १९

समाधि निर्देश

आर्य-अष्टागिक मार्ग का दूसरा स्कन्ध 'समाधि' है। इस समाधि-स्कन्ध के तीन अङग है—

(१) सम्मा वायामो (२) सम्मा सति (३) सम्मा समाधि.

सम्मा वायामो : सम्यक् व्यायाम, सम्यक परिश्रम

मन रोगी है, दुर्वल है, उसको निरोगी एव सवल वनाना है, जिसके लिये उत्तम परिश्रम, पुरुषार्थ इस प्रकार किया जाता है.—

(१) अपने मन मे जो भी दुर्गुण, गंदगी हैं, उनको निकाल फेकना।
(२) अपने मन मे जो दुर्गुण, गंदगी नही है, उनको नही आने देना।
(३) अपने मन मे जो सद्गुण है, उनको सभाल कर रखना, और उनका विकास करना।

(४) अपने मन मे जो सद्गुण नही है, उनको संपादन करना।

सम्यक् स्मृति एवं सम्यक् समाधि प्राप्त करने के लिए दृढतापूर्वक प्रयत्न करने की आवश्यकता होती है। अस्थिर मन को स्थिर करने के लिए सम्यक् परिश्रम की अत्यंत आवश्यकता है।

उपरोक्त चार प्रकार के परिश्रम सम्यक् प्रधान है। उसको 'सम्मप्पधाना कहते है। इस वावत का पालि मे सूत्र इस प्रकार है—

'चत्तारो सम्मप्पधाना—उप्पन्नानं पापकानं धम्मानं पहानाय वायामो, अनुप्पन्नान पापकान धम्मान अनुप्पादाय वायामो, अनुप्पन्नानं कुसलानं धम्मानं उप्पादाय वायामो, उप्पनान कुसलानं धम्मान भिय्योभावाय वायामो।'

अर्थ—सम्यक् प्रधान चार है—(१) उत्पन्न पाप-धर्मो के प्रहाण (नाश) के लिए परिश्रम, (२) अनुत्पन्न पाप-धर्मो के अनुत्पाद के लिए परिश्रम, (३) अनुत्पन्न कुशल धर्मो के उत्पाद के लिए परिश्रम, तथा (४) उत्पन्न कुशल धर्मो के पुनः पुनः उत्पाद के (भूयोभाव) लिए परिश्रम।

दृढ मनोनिश्चय से सदाचार-सद्गुणो का सपादन एवं उनका आरक्षण, दुर्गुणो का प्रहाण (नाश) एव उनसे सदा अलिप्त रहना यही उत्तम परिश्रम है, सम्यक् व्यायाम है।

सम्मा सति : सम्यक् स्मृति

आज स्मृति का अर्थ 'स्मरण' ऐसा किया जाता है, किन्तु बुद्ध-काल मे साव-धानता, होश को 'स्मृति' कहा जाता था। स्मरण तो भूतकाल का होता है। और, भविष्य की तो कल्पना ही होती है। सावधानी, होश वर्तमान मे ही होता है, जिसको उस काल मे 'स्मृति' कहते थे। हर क्षण की सावधानता, जागरूकता 'स्मृति' है और जैसा है वैसा ही सावधानतापूर्वक, होश के साथ, हर क्षण वर्तमान मे देखना उत्तम स्मृति याने 'सम्यक् स्मृति' है। जैसा है वैसा ही जानना, इस क्षण की सचाई को जानना, स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले जाना 'सम्यक् स्मृति' है।

सम्मा समाधि सम्यक् समाधि

चित्त की एकाग्रता, जिसका आलम्वन राग, द्वेष, मोह से विरहित है, वह उत्तम समाधि 'सम्यक् समाधि' है।

वगला वडे ध्यान से एकाग्र होकर खडा होता है, किन्तु उसका सारा लक्ष्य मछली पकडने की ओर होता है, विल्ली वहुत एकाग्रता से चूहो को पकडने के लिए विना हिले-डुले वैठती है, यह ध्यान, एकाग्रता, राग-रजित है, स्वार्थ के लिए है। शिकारी अपनी वदूक का निशाना लगाकर वडी एकाग्रता से अपने शिकार की ओर लक्ष्य लगाता है, यह ध्यान द्वेष-दूषित है। ऐसी समाधि सम्यक् समाधि नही है।

प्रतिक्षण अपने भीतर की सचाई को सम्यक् स्मृति से विकार-विरहित सच्चे आलम्वन द्वारा जागरुकता के साथ देखते रहना 'सम्यक् समाधि' है। ऐसे एक एक क्षण जोडकर जितने क्षण, जितना समय लगातार मिलता है, वह 'सम्यक् समाधि' है। समाधि के वावत विस्तारपूर्वक जानकारी इस प्रकार है—

पहले, शील, समाधि, प्रज्ञा पुण्ट करने मे जो विघ्न आते है, जिनको नीवरण कहते है, उनको हम जानेगे—

नीवरण : विघ्न

'ज्ञानादिक निवारेन्तीति नीवरणानि' ध्यानादि कुशलधर्मो का निवारण (लोप) करनेवाले धर्म 'नीवरण' कहे जाते हैं। 'कुशल' (कुसल) का अर्थ 'शुभ' है, 'पुण्य' है। 'अकुशल' (अकुसल) का अर्थ 'अशुभ' है, 'पाप' है।

जव काम या द्वेष का चित्त उत्पन्न होता है, तव किसी कुशल चित्त के उत्पाद को अवकाश नही हो सकता।

नीवरणो के प्रकार—

(१) कामछन्द : विषयो मे अनुराग, लोभ-मोह, काम-वासना, व्याकुल होना।

(२) व्यापाद . हिसा, द्वेष, घृणा करना ।

(३) स्त्यान-मिद्ध (थीनमिद्ध) ; 'स्त्यान' चित्त की अकर्मण्यता है एवं 'मिद्ध' आलस्य को कहते है। वेहोषी, आलस्य, तन्द्रा, निद्रा ।

(४) औद्धत्य-कौकृत्य (उद्धच्च कुक्कुच्च) : औद्धत्य का अर्थ है 'अव्यवस्थित चित्तता' और कौकृत्य 'खेद, पश्चात्ताप' को कहते हैं । पश्चात्ताप, वेचैनी, व्याकुल, प्रक्षुव्ध होना ।

(५) विचिकित्सा (विचिकिच्छा) : सशय, सदेह, शका को धारण करना । मुझ से नही होगा, मेरा मन नही लगता, ऐसा चित्त मे उत्पन्न होना, अपनी क्षमता पर सदेह होना ।

ये पाचो हमारे शत्रु है । इनसे हमे वचना चाहिए, तो ही सम्यक् समाधि प्राप्त हो सकती है, चित्त की सही एकाग्रता आ सकती है ।

'समाधि' शव्द का अर्थ है 'समाधान', 'समाहित चित्त', 'कुशल चित्त की एकाग्रता'। एक इष्ट आलम्वन मे समान तथा सम्यक् रूप से चित्त और चैतसिक धर्मो की प्रतिष्ठा । इसलिए 'समाधि' उस धर्म को कहते है, जिसके प्रभाव से चित्त तथा चैतसिक धर्मो की एक आलम्वन मे विना किसी विक्षेप के सम्यक् स्थिति हो । समाधि मे विक्षेप का विध्वस होता है ।

लौकिक समाधि—काम, रूप और अरूप भूमियो की कुशल चित्त की एकाग्रता को '*लौकिक समाधि*' कहते हैं । इसके मार्ग को '*शमथ-यान*' कहते है ।

लोकोत्तर समाधि—प्रज्ञा की भावना को 'लोकोत्तर समाधि' कहते हैं । लोकोत्तर समाधि का मार्ग 'विपश्यना-यान' कहा जाता है ।

'पंचनीवरणान समट्ठेन समथं' विघ्नो के शमन से चित्त की एकाग्रता होती है । (शमथ को पालि मे समथ कहते है) इसलिए शमथ का अर्थ 'चित्त की एकाग्रता' हैं । 'समथो हि चित्तेकग्गता' समाहित चित्त एकाग्रता द्वारा प्राप्त होता है, वही 'समथ-चित्त' है । विघ्नो के नाश से ही लौकिक समाधि मे प्रथम ध्यान का लाभ होता है ।

ध्यान के पांच अग है—(१) वितर्क (२) विचार (३) प्रीति (४) सुख (५) एकाग्रता ।

वितर्क चित्त को आलम्वन मे ले जाता है । आलम्वन के पास चित्त का आनयन (जाना) 'वितर्क' कहलाता है । वितर्क की प्रथमोत्पति के समय चित्त का परिस्पन्दन होता हैं ।

विचार वितर्क के बाद उत्पन्न होता है। विचार सूक्ष्म है। विचार की वृत्ति शान्त है और इसमे चित्त का अधिक परिस्पन्दन नही होता।

प्रीति उत्पन्न होती है, तब सब से पहले शरीर मे रोमांच उत्पन्न होता है। धीरे-धीरे यह प्रीति बार बार शरीर को अवक्रान्त (व्याप्त) करती है। प्रीति के परिपाक से काय-प्रश्रब्धि और चित्त-प्रश्रब्धि होती है।

'प्रश्रब्धि' शान्ति को कहते है। प्रश्रब्धि के परिपाक से काया-सुख और चित्त-सुख होता है। सुख के परिपाक से क्षणिक, उपचार, और अर्पणा इस त्रिविध समाधि का परिपूरण होता है।

इष्ट आलम्बन के प्रतिलाभ से जो तुष्टि होती है, उसे 'प्रीति' कहते है। प्रतिलब्ध रस के अनुभव को सुख कहते है। जहा प्रीति है, वहां सुख है, पर जहा सुख है, वहा नियम से प्रीति नही है। प्रथम ध्यान मे उक्त पंच अगो का प्रादुर्भाव होता है। धीरे धीरे अगो का अतिक्रमण होता है। अन्तिम ध्यान, समाधि उपेक्षा-सहित (समतासहित) होता है।

वितर्क, विचार, प्रीति, सुख एव एकाग्रता नामक ये पाच चैतसिक पृथक् पृथक् ध्यानाङ्ग है। इन पाचो के समुच्चय को 'ध्यान' कहा जाता है। इस ध्यान से सम्प्रयुक्त चित्त 'ध्यानचित्त' कहलाता है।

प्रथम ध्यान—वितर्क, विचार, प्रीति, सुख व एकाग्रता नामक पाच ध्यानाङ्ग सहित प्रथम ध्यान कुशल-चित्त है।

द्वितीय ध्यान—इसमे वितर्क का अतिक्रमण हो जाता है, और शेष चार अङ्ग रहते है।

तृतीय ध्यान—इसमे वितर्क और विचार का अतिक्रमण हो जाता है, और शेष तीन अङग रहते है।

चतुर्थ ध्यान—इसमे वितर्क, विचार, प्रीति का अतिक्रमण होता है और शेष सुख व एकाग्रता अङ्ग रहते है।

पचम ध्यान—शेष एकाग्रता ही रहती है, इसके साथ उपेक्षा अङ्ग भी होता है। यह पचम ध्यान कुशल-चित्त है।

वितर्क आदि ध्यानाङ्ग प्रतिपक्षी नीवरण-धर्मो (विघ्नों) का दहन-कृत्य करते हैं।

(१) वितर्क ध्यानाङ्ग—यह ध्यानाङ्ग स्त्यान-मिद्ध (आलस्य) का दहन (प्रहाण) करता है। स्त्यान-मिद्ध का स्वभाव आलस्य है। इसके विपरीत वितर्क का स्वभाव सर्वदा अभिनिरोपण (चित्त को आलम्वन के पास लाना) करना है। विरुद्ध

स्वभाव होने के कारण आलस्य-धर्म को वितर्क अपनी सन्तान में नही आने देने के लिए, उसका दहन (प्रहाण) करता है।

(२) विचार ध्यानाङग—यह ध्यानाङग विचिकित्सा (सदेह, सशय) नामक नीवरण-धर्म का दहन करता है। वितर्क ने जिन सम्प्रयुक्त धर्मो का आलम्वन मे अभिनिरोपण किया था, विचिकित्सा उसमे सशय उत्पन्न कर सकती है। अतः अभिनिरोपित धर्मो को प्राप्त आलम्वन से हटने न देने के लिए, विचार आलम्बन का पुनः पुन अनुमज्जन (विमर्श) करता है। अत. विचार विचिकित्सा से विपरीत स्वभाव का होने के कारण विचिकित्सा का दहन करता है। वितर्क चित्त को आलम्वन के पास लाता है, परिणामत· आलस्य का नाश होते रहता है। विचार चित्त का आलम्वन के पास आने पर हटने न देने का काम करता है। आलम्वन ऐसा ही क्यो है, इससे क्या होनेवाला है, आदि सशय उत्पन्न हो सकते है। विचार का स्वभाव चित्त को न हटने देने का होने के कारण सशय का नाश हो जाता है।

(३) प्रीति ध्यानाङग—यह ध्यानाङग व्यापाद-नीवरण (हिंसा, द्वेष) का दहन करता है। व्यापाद चण्डलक्षण है, अत आलम्वन के प्रति अप्रीति उत्पन्न करने के स्वभाववाला है। विचार के द्वारा पुन पुनः अनुमज्जन करने पर भी, यदि व्यापाद उसमे विघ्न उपस्थित करता है, तो विचार आलम्वन का भलीभाँति विमर्श नही कर सकता। प्रीति, आलम्वन के प्रति प्रिय स्वभाववाली है। व्यापाद एव प्रीति दोनो परस्पर-विरुद्ध स्वभावी होने के कारण प्रीति ध्यानाङग व्यापाद-नीवरण को चित्त-सन्तति मे न आने देने के लिए उसका दहन करता है और वितर्क के द्वारा गृहीत एवं विचार के द्वारा पुन पुन अनुमज्जित आलम्वन मे अत्यन्त प्रीति उत्पन्न करता है।

(४) सुख ध्यानाङग—यह ध्यानाङग औद्धत्य एव कौकृत्य नामक नीवरण-धर्मो का प्रहाण (नाश) करता है। औद्धत्य का स्वभाव अनुपशम (बेचैनी) है तथा कौकृत्य का स्वभाव अनुताप (व्याकुल) है। आलम्वन मे चित्त-सन्तति के प्रीतियुक्त होनेपर भी औद्धत्य एव कौकृत्य के कारण यदि आलम्वन मे अनुभव करने के लिये कोई रस नही है, तो चित्त शान्तिपूर्वक स्थित नही रह सकता। इस विघ्न के कारण अनुपशम एव अनुताप होने से, चित्त तुरन्त आलम्वन से हट जायेगा। सुख, आलम्वन के रस का अनुभव करता है और वह उपशम (शान्त करने के) स्वभाव का है। सुख विपरीत स्वभाव का होने के कारण सुख ध्यानाङग 'औद्धत्य-कौकृत्य' नीवरण-धर्मो को चित्त-सतति मे न आने देने के लिए, उनका दहन करता है और वितर्क, विचार एव प्रीति के कृत्यो से प्रतिष्ठापित आलम्वन के रस का अनुभव करता है। साथ ही चित्त-धातु पुष्ट करता है।

(५) एकाग्रता ध्यानाङग—यह कामच्छन्द नामक नीवरण-धर्म का दहन करता है। काम-विषयो मे राग (आसक्ति) उत्पन्न करनेवाले लोभ एव तृष्णा को

'कामच्छन्द' कहते है। कामविषयानुगामी होने के कारण चित्त-धातु मे कामच्छन्द उपस्थित होता है, विकीर्ण करता है, विकम्पित करता है। जब यह कामच्छन्द चित्त-धातु मे उपस्थित होता है, तो वितर्क, विचार, प्रीति, सुख अपने आलम्बन मे स्थिर नही रह सकते। चित्त का आलम्बन से विचलित नही होना अर्थात् आलम्बन मे ही स्थिर रहना 'एकाग्रता ध्यानाङ्ग' (समाधि) है। अत कामच्छन्द के विपरीत स्वभाव का होने के कारण, यह कामच्छन्द को चित्त-सन्तति मे आने न देकर उसका दहन करता है, तथा चित्त को आलम्बन मे स्थिर (दृढ) करता है। इस एकाग्रता को ही 'समाधि' कहते है।

'उपेक्षा ध्यानाङ्ग' भी एक ध्यानाङ्ग है। यह सुख ध्यानाङ्ग की तरह उपशम-स्वभाववाला है। अत यह भी सुख की तरह औद्धत्य एव कौकृत्य का ही प्रतिपक्ष है। शान्त-स्वभाव होने के कारण उपेक्षा भी सुख है।

'वितक्को थीनमिद्धस्स, विचिकिच्छाय विचारो।
पीति चापि व्यापादस्स, सुख उद्धच्चकुक्कुच्चस्स।
समाधि कामच्छन्दस्स पटिपक्खो ति पेटके॥

अर्थात्, 'वितर्क स्त्यान-मिद्ध का, विचार विचिकित्सा का, प्रीति व्यापाद का, सुख औद्धत्य एवं कौकृत्य का तथा समाधि (एकाग्रता) कामच्छन्द का प्रतिपक्ष है' इस प्रकार 'पेटकोपदेस' मे वर्णित है।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि समाधि मे पुष्ट होने से विघ्नो का नाश होता है। वैसे ही, विघ्नो से अलिप्त रहने के लिए परिश्रम करने से समाधि मे पुष्टि प्राप्त होती है। यह परस्पर-अवलम्बित है। दोनों ओर सम्यक् स्मृति के साथ सम्यक् व्यायाम (परिश्रम) होना आवश्यक है।

लौकिक समाधि के द्वारा ऋद्धि-बल (सिद्धि) की प्राप्ति होती है, परतु निर्वाण की प्राप्ति के लिए 'विपश्यना' के मार्ग का ही अनुसरण करना आवश्यक है। निर्वाण के प्रार्थी को शमथ की भावना के उपरान्त विपश्यना की वृद्धि करनी होती है और तभी अर्हत्-पद मे प्रतिष्ठा होती है, अन्यथा नही।

समाधि के दो प्रकार : उपचार और अर्पणा

जबतक ध्यान क्षीण रहता है और अर्पणा की उत्पत्ति नही होती, तबतक उपचार समाधि का व्यवहार होता है। उपचार-भूमि मे वितर्क, विचार आदि पाचो ध्यानाङ्गो का प्रादुर्भाव नही होता, यद्यपि चित्त समाहित होता है। जिस प्रकार ग्राम का समीपवर्त्ती प्रदेश ग्रामोपचार कहलाता है, उसी प्रकार अर्पणा समाधि के समीपवर्त्ती होने के कारण 'उपचार' यह सज्ञा (नाम) पडी है। उपचार-भूमि मे ध्यानाङ्ग मजबूत नही होते, परतु अर्पणा मे अगो का प्रादुर्भाव होता है और वे सुदृढ हो जाते है।

जिस प्रकार, बालक खडे होकर चलने की कोशिश करता है, तो आरम्भ मे खडा होता है और बार बार गिर पडता है, उसी प्रकार उपचार-समाधि के उत्पन्न होने पर चित्त की स्थिति होती है।

भावना किस को कहते हैं ?

स्वसन्तान (चित्त) मे उत्पन्न करने योग्य अथवा अभिवृद्धि करने योग्य धर्म को 'भावना' कहते है। शमथ (चित्त की एकाग्रता) एव विपश्यना नामक धर्मो मे से किसी एक का, चित्त की अपनी सन्तान मे उत्पाद करने के लिए प्रयत्न करना तथा एक बार उत्पन्न हो जाने पर उसकी अभिवृद्धि के लिये पुन पुन· प्रयास करना 'भावना' कहलाता है। भावना 'शमथ-भावना' एव 'विपश्यना-भावना' है। नीवरणादि क्लेश-धर्मो एवं वितर्क आदि ध्यानाङ्ग-धर्मो का उपशमन करनेवाला समाधि नामक धर्म 'शमथ भावना' है तथा नाम-रूप-धर्मो को अनित्य, अनात्म, दु ख एव अशुभ आदि रूपो मे देखनेवाला प्रज्ञा नामक धर्म 'विपश्यना भावना' कहलाता है।

चर्या (चरिया)

स्वभाव की विशेष प्रवृत्ति को 'चरिया' कहते है। पुद्गल (मनुष्य) छ. प्रकार के विशेप प्रवृत्तिवाले होते है, यथा : रागचरित, द्वेपचरित, मोहचरित, श्रद्धा-चरित, बुद्धिचरित एव वितर्क-चरित। एक सत्त्व मे एकविध चरित का होना ही आवश्यक नही है, परंतु कुछ सत्त्वो में दो दो तीन तीन चरित भी मिश्रित रूप से रहते है। इन सब के अलग अलग लक्षण उनके व्यवहार से जानना चाहिए और उनको अनुरूप, समाधि के लिए कर्मस्थान ग्रहण करना चाहिए।

कर्मस्थान (कम्मट्ठान)

'कम्मट्ठान' समाधि के साधन को (आलम्बन को) कहते है। उसे पातञ्जली-योग मे 'परिकर्म' कहा है। कर्मस्थान याने कम्मट्ठान उसे कहते हैं, जिसके द्वारा समाधि-भावना की निप्पत्ति होती है। कर्मस्थान ही आलम्बन है। भगवान ने चालीस कर्मस्थानो की देशना दी है। इन चालीस कर्मस्थानो मे से किसी एक का, जो अपनी चर्या के अनुकूल हो, ग्रहण करना पडता है।

कर्मस्थान चालीस है—दस कसिण, दस अशुभ, दस अनुस्मृति, चार ब्रह्म-विहार, चार आरूप्य, एक संज्ञा और एक व्यवस्थान।

दस कसिण—पृथ्वी-कसिण, आप-कसिण, तेज-कसिण, वायु-कसिण, नील-कसिण, पीत-कसिण, लोहित-कसिण, अवदात-कसिण, आलोक-कसिण और परिच्छिन्नाकाश-कसिण।

दस अशुभ—१. उद्धुमातक (हाथी की तरह फूला हुआ मृत शरीर),
२. विनीलक (मृत शरीर साधारणत. नीला होता है),
३ विपुब्बक (मृत शरीर के भिन्न भिन्न स्थानो से पीप बाहर आती है),
४ विच्छिद्दक (द्विधा छिन्न शरीर),
५ विक्खायित्तक (वह शव, जिसे कुत्तो और शृगालो ने स्थानस्थान पर विविध रूप से खाया हो),
६ विक्खित्तक (वह शव, जिसके अंग इधर-उधर छितरे पडे हो),
७ हतविक्खित्तक (वह शव, जिसके अग-प्रत्यग शस्त्र से काट कर इधर-उधर छितरा दिये गये हो),
८. लोहित्तक (रक्त से सनी लाश)
९. पुलुवक (कृमियो से परिपूर्ण शव)
१० अट्ठिक (अस्थिपजर मात्र)

दस अनुस्मृति—बुद्धानुस्मृति, धर्मानुस्मृति, सघानुस्मृति, शीलानुस्मृति, त्यागानुस्मृति, देवतानुस्मृति, कायगतानुस्मृति, मरणानुस्मृति, आनापानानुस्मृति, उपशमानुस्मृति ।

चार ब्रह्मविहार—मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा (समता) ।

चार आरूप्य—आकाश-आनन्त्यायतन, विज्ञान-आनन्त्यायतन, आकिंचन्यायतन, नैवसज्ञानासज्ञायतन ।

एक संज्ञा—आहार मे प्रतिकूल सज्ञा ।

एक व्यवस्थान—चार धातुओ का व्यवस्थान ।

चालीस कर्मस्थानो मे से बुद्ध-धर्म-सघ-शील-त्याग-देवता ये छ अनुस्मृतिया, उपशमानुस्मृति, मरणानुस्मृति, सज्ञा, व्यवस्थान, ये दस कर्मस्थान उपचार-समाधि का आनयन करते है और शेष तीस कर्मस्थान अर्पणा-समाधि का आनयन करते है ।

जो कर्मस्थान अर्पणा-समाधि का आनयन करते है, उनमे से 'दस कसिण', और आनापानस्मृति चार ध्यानो के आलम्बन होते है । दस अशुभ और कायगतानुस्मृति प्रथम ध्यान के आलम्बन है । मैत्री, करुणा, मुदिता ये तीन ब्रह्मविहार तीन ध्यानो के, तथा 'उपेक्षा' ब्रह्मविहार और चार आरूप्य चार ध्यानो के आलम्बन है ।

भगवान मेघिय-सुत्त मे कहते है कि इन चार धर्मो की भावना करनी चाहिए · राग के नाश के लिए अशुभ-भावना, द्वेष-व्यापाद के नाश के लिए मैत्री-भावना,

वितर्क और मोह के उपच्छेद के लिए आनापानस्मृति की भावना तथा अहंकार-ममकार के समुद्घात के लिए अनित्य-संज्ञा की भावना करनी चाहिए।

रागचरित पुरुष के लिए दस अशुभ और कायगतानुस्मृति अनुकूल है।

द्वेषचरित पुरुष के लिए चार ब्रह्मविहार और चार वर्णकसिण अनुकूल है। मोह और वितर्कचरित पुरुष के लिए आनापानानुस्मृति ही अनुकूल है। श्रद्धाचरित पुरुष के लिए पहली छ. अनुस्मृतिया ये कर्मस्थान अनुकूल है। बुद्धिचरित पुरुष के लिए मरणानुस्मृति, उपशमानुस्मृति ये कर्मस्थान अनुकूल है। चतुर्धातु व्यवस्थान और आहार के विषय मे प्रतिकूल संज्ञा- यह कर्मस्थान अनुकूल है। शेष कसिण और चार आरुप्य सभी पुरुषो के लिए अनुकूल है।

सभी कर्मस्थानो मे आनापानानुस्मृति का असाधारण स्थान है। इसका विशेष विवेचन आगे स्वतन्त्र अध्याय 'शमथ-भावना' मे दिया गया है। इस कर्मस्थान का अपना एक अनूठा महत्त्व है।

(सभी कर्मस्थानो का अलग अलग विस्तार पूर्वक विवेचन यहा नही किया जाता है, क्योंकि इस ग्रन्थ का प्रमुख लक्ष्य 'विपश्यना साधना' है और उसको लेकर ही विस्तार मे लिखना उचित है।)

कल्याण मित्र

कर्मस्थान का दायक 'कल्याणमित्र' कहलाता है। वही उसका एकान्त-हितैषी है। कल्याणमित्र गम्भीर कथा का कहनेवाला होता है तथा अनेक गुणो से समनागत होता है। बुद्ध से बढकर कोई दूसरा कल्याणमित्र नही है। बुद्ध ने स्वयं कहा है कि जीव मुझ कल्याणमित्र की शरण मे आकर जन्म के बन्धन से मुक्त होते है।

'मम हि आनन्द कल्याणमित्तमागम्म जातिधम्मा सत्ता जातिया परिमुच्चन्ति।'
(सयुत्त १।८८)

कल्याणमित्र आचार्य होता है।

समाधि से क्या लाभ है?

समाधि से याने सम्यक समाधि से चित्त की एकाग्रता की उपलब्धि होती है, जिससे चित्त को वश मे किया जाता है। चित्त अत्यत चचल रहता है और इसका विकारवश होना सहज स्वभाव है। चित्त जंगली प्राणी की तरह उच्छृङ्खल रहता है। जैसे, जंगली हाथी या जंगली भैंसे को पालतू बनाने पर मनुष्य के कामो मे उसकी सब शक्ति उपयोग मे आती है, वैसे ही, चित्त को एकाग्र करके उसको वश मे कर सकते है और वश मे किये चित्त की अमाप शक्ति अपने काम मे लाना सम्भव

हो सकता है। चित्त की एकाग्रता ही समाधि है। इससे ही चित्त-शुद्धि प्राप्त हो सकती है। प्रथम आर्यसत्य 'नामरूप' दु ख-सच्च है और द्वितीय आर्यसत्य 'दु ख का कारण तृष्णा है' इसका साक्षात्कार करके तृतीय आर्यसत्य 'दु ख-निरोध' प्राप्त करने के लिए चतुर्थ आर्यसत्य 'आर्य-अष्टांगिक मार्ग' का विधान है, जिसमे 'समाधि' यह मध्य है। इसके वाद 'विपश्यना साधना' का उपगम हो सकता है और प्रज्ञा का साक्षात्कार हो सकता है एव अन्ततः निर्वाण या मुक्ति प्राप्त हो सकती है।

अव हम तीसरा स्कन्ध 'प्रज्ञा-स्कन्ध' का वर्णन करेंगे और वाद मे आनापान-स्मृति का आख्यान प्रस्तुत करेंगे।

▣ ▣ ▣

अध्याय २०

प्रज्ञा निर्देश

आर्य-अष्टाङ्गिक मार्ग का तीसरा स्कन्ध 'प्रज्ञा' है । प्रज्ञा-स्कन्ध के दो अङ्ग हैं—

(१) सम्मा दिट्ठि (२) सम्मा संकप्पो

सम्मा दिट्ठि : सम्यक् दृष्टि, सम्यक् दर्शन

हम ने 'विज्ञान-दर्शन' मे देखा है कि वस्तु, व्यक्ति, स्थिति, अवस्था, जो सभी ठोस प्रतीत होती है, वह वास्तव मे ठोस नही है, उसमे पोल (Space) ही पोल है, सभी तरङ्ग प्रकम्प ही प्रकम्प है। ठोस जो प्रतीत हो रहा है, वह केवल माया (illusion) है और वास्तव मे तरङ्ग ही तरङ्ग-मात्र है। आकाश या शून्य सभी प्रकम्पो से, तरंगों से ही व्याप्त है । यही अन्तिम सत्य है। जो भी दीखता है, वह व्यवहार-सत्य, सवृति-सत्य, प्रज्ञप्ति-सत्य मात्र ही है। यही माया है, भासमान सत्य है । इसके परे अन्तिम सत्य को याने परमार्थ-सत्य को स्वय की अनुभूति से दर्शन करना ही सम्यक् दर्शन है, सम्यक् दृष्टि है । दूसरे ने जो देखा और वर्णन किया, वह उसके काम का हो सकता है, अपने काम का तो स्वय के अनुभव द्वारा किया दर्शन ही सम्यक् दर्शन है । जो हो रहा है, उसका स्वभाव स्वयं के अन्तर्मन की अनुभूति द्वारा, है वैसा जानना सम्यक् दर्शन है। जितनी गहराई से अनुभव होता है उतनी गहराई से सम्यक् दर्शन होता चला जाता है। और यही 'विपश्यना साधना' द्वारा प्राप्त होता है।

सम्मा संकप्पो ; सम्यक् सकल्प

सकल्प याने चिंतन-मनन । विचार सम्यक् होने चाहिए। राग-द्वेष-विहीन विचार या चिंतन-मनन ही सम्यक् सकल्प है।

सक्षेप मे, चार आर्यसत्य के साक्षात्कार मे लगे हुए योगी का, निर्वाण के आलम्बनवाला और अविद्या के आवरण का नाश करनेवाला प्रज्ञाचक्षु, सम्यक् दृष्टि है।

मिथ्या सकल्प का नाश करनेवाला, चित्त को निर्वाणपद मे लगानेवाला, सम्यक् संकल्प है। सम्यक् संकल्प चित्त को ठीक दिशा मे लगानेवाला है और निर्वाण तक पहुचानेवाला है तथा मिथ्या संकल्प का नाश करनेवाला है।

प्रज्ञा क्या है ?

भली-प्रकार जानने का नाम ही 'प्रज्ञा' है। ऊपरी-ऊपरी स्तर की सचाई को ही जान लेना प्रज्ञा नही है, परन्तु इस भासमान, ऊपरी सत्य को गहराई मे वीध कर भीतरी अतिम सत्य को जान लेना 'प्रज्ञा' है। जैसे, अवोध वालक जवाहरातो को रंग-विरगे आकर्षक पत्थरो के टुकडो के रूप मे देखता है, परन्तु अनुभवी जौहरी अपनी पैनी दृष्टि द्वारा एक-एक रत्न के भीतर सदोपता-निर्दोषता को देखते हुए उसकी सही परख करता है , वैसे ही, प्रज्ञावान् व्यक्ति, जो भी स्थिति सामने आती है, उसका केवल ऊपरी-ऊपरी अवलोकन ही नही करता, अपितु अपनी वीधती हुई प्रज्ञादृष्टि द्वारा गहराईयो मे उतरकर अन्तिम सत्य का, परमार्थ सत्य का साक्षात्कार करता है। धर्म के स्वभाव को जाननेवाली प्रज्ञा है। वह धर्मो के स्वभाव को ढँकनेवाले मोह के अन्धकार का नाश करने के कार्यवाली है। समाधि प्रज्ञा का प्रत्यय है। स्कन्ध, आयतन, धातु, इन्द्रिय, सत्य, प्रतीत्यसमुत्पाद आदि प्रज्ञा की धर्म-भूमियाँ हैं।

प्रज्ञा के तीन प्रकार

(१) श्रुतमयी प्रज्ञा (२) चिंतनमयी प्रज्ञा (३) भावनामयी प्रज्ञा।

(१) **श्रुतमयी प्रज्ञा**—वह प्रज्ञा, जो सुनकर या पढकर प्राप्त होती है। जो ज्ञान सुन लिया, पढ लिया, वह पढा-पढाया ज्ञान हमारा अपना नही है। ज्ञान की वात सुनने से, पढने से भीतर प्रेरणा अवश्य जागती है। श्रुतमयी प्रज्ञा मे प्रेरणा जागती है, मार्गदर्शन मिलता है, परतु हमने सव कुछ जान लिया है, यह हमे धोखा हो जाता है। वास्तव मे पढा-सुना ज्ञान हम ने मान लिया है, जाना नही है। इस मे वहुत वडा अतर है। मान लेने मात्र से कुछ नही होता। जानना, अनुभव के साथ हमे आना चाहिए। वचपन से ही समाज की, सम्प्रदाय की मान्यताओ के लेप वुद्धि पर चढते ही रहते है। अन्ध-श्रद्धा का आवरण वढता ही जाता है। हमारी ही वात ठीक है, वाकी सव गलत है ऐसा मानने का स्वभाव सा वन जाता है। वुजुर्गो के भय से भी परम्परा की वात हम मानने लगते है। लालच से भी हम मानते है, जैसे, ऐसा ऐसा करने से स्वर्ग मिलेगा आदि। भय से भी हम मानते है, जैसे, ऐसा ऐसा करने से यम-यातना भोगनी पडेगी, नरक मिलेगा आदि। मानना केवल अन्धश्रद्धा ही है। श्रुतमयी प्रज्ञा, जानने का कदम उठाने के लिए मार्गदर्शन मिलने के हदतक,काम की है, परतु अन्धश्रद्धा ही वढती गयी तो अनुचित है, घातक है।

(२) **चिंतनमयी प्रज्ञा**—जो सुना है, पढा है, उससे श्रुतमयी प्रज्ञा जो प्राप्त होती है, उसे विचार-विमर्ष द्वारा, चिंतन-मनन द्वारा, तर्क-वितर्क द्वारा अपनी वुद्धि-तुला पर तोल कर न्याय-सगत, तर्क-सगत,युक्ति-सगत है या कैसे इसको समझते हुए पुष्ट कर लेना 'चिंतनमयी प्रज्ञा' है। यहाँ तक तो यह कल्याणकारी है। किन्तु

बुद्धि-विलास वन जाना, मै ने इतने शास्त्र पढ लिए, पंडित हो गया ऐसा दंभ चढ जाना, यह सहज हो जाता है और यही घातक सिद्ध हो जाता है। अपनी प्रज्ञा जगाने के लिए श्रुतमयी एवं चिंतनमयी प्रज्ञा खाद्य है। परंतु स्वयं की प्रज्ञा जगाना, यही कल्याणकारी वन सकती है। वास्तविक लाभ तो तीसरी प्रज्ञा से ही हो सकता है।

(३) **भावनामयी प्रज्ञा**—वह प्रज्ञा, जो हमारी अनुभूतियो के वलपर हमारे भीतर ही प्रकट होती है, परिस्फुटित होती है। यह हमारा अपना साक्षात्कार है और इसलिए सही माने मे कल्याणकारी हे। भावना का अर्थ है वढाना, फैलाना, विकसित करना। भावुकता या भावावेश यह अर्थ नही है।

भावनामयी प्रज्ञा के लिए आवश्यक है कि शील धारण कर सम्यक् समाधि हम उपलब्ध कर ले। सम्यक् समाधि मे समाहित चित्त ही यथाभूत सत्य को जान सकता है, उसका यथाभूत दर्शन कर सकता है। इस यथाभूत देखने को ही 'विपश्यना' याने विशेप रूप से देखना कहते है।

ऊपरी-ऊपरी, भासमान दीखनेवाले सत्य को जान लेना सरल है, परन्तु भीतरी सचाई का साक्षात्कार करने के लिए अन्तर्मुखी होना आवश्यक है। अन्तर्मुखी होकर हम अपनी जानकारी प्राप्त करे, आत्म-निरीक्षण करे, आत्म-दर्शन करे, आत्म-साक्षात्कार करे, अपने आपको देखे, जाने, समझे, यह आवश्यक है।

उदाहरण के लिए -- रोगी को औषधि की चर्चा कर दी जाय तो श्रुतमयी प्रज्ञा हुई, औषधि के गुण वताये जाय तो चितनमयी प्रज्ञा हुई। किन्तु इनसे रोग ठीक तो नही होता। औषधि का स्वयं सेवन करने पर ही रोग ठीक हो सकता है, यही भावनामयी प्रज्ञा है।

श्रुतमयी प्रज्ञा के शव्दो की सीमा होती हे और उसके कई अर्थ निकल सकते है और हम भटक जाते है। अपने अनुभूतियो से ही सही लाभ होता है।

'विज्ञानदर्शन' मे हमने देखा है कि ठोस मे ठोस वस्तु (जैसे लोहा) भी ठोस नही है, उसमे सारी पोल भरी हुई है, उसके सारे सूक्ष्मतम परमाणु प्रकम्प ही प्रकम्प मात्र है और ये प्रतिक्षण अतिशीघ्र गति से वनते है, टूटते है, परिवर्तित होते रहते है। नित्य कुछ भी नही है। सारा आकाश, शून्य प्रकम्पो का जाल मात्र है। अनित्य है, परिवर्तनशील ही है। हमारा ये ठोस भासित होनेवाला शरीर भी ऐसे ही प्रकम्पो का जाल है, अनित्य है, वुद्वुदो का पुज मात्र है, वह हरक्षण परिवर्तित हो रहा है। तो फिर, किस को 'मै' 'मेरा' कहू ? तव अहंकार, अहभाव टूटने लगता है। यह हम विपश्यना द्वारा अन्तर्मुखी होकर सारा अपने अनुभूतियो द्वारा साक्षात्कार कर लेते है। यही प्रज्ञा है, जो यह सव अनित्य है, परिवर्तनशील है और 'मै' 'मेरा' कहने को कुछ भी नही है, ऐसा वोध कराती है। आसक्ति दु.ख ही दु ख है, इसलिये अनात्म है, ऐसा अनुभूत ज्ञान होता है।

२० वी शताब्दि मे वैज्ञानिको ने प्रयोगशाला मे यही सिद्ध किया है तथा योगियो ने भी प्रज्ञाचक्षु से अन्तर्मुखी होकर यही पाया है।

भगवान बुद्ध भावनामयी प्रज्ञा से ही इस सचाई तक पहुँचे थे। 'विपश्यना' ज्ञान ही इस प्रज्ञा का कर्मस्थान है। विपश्यना साधना द्वारा ही अन्तर्मुखी होकर हम इस अन्तिम सत्य का साक्षात्कार कर सकते है। भीतर जो दर्शन होता है, वह कोई कौतुहल पूरा करने के लिए नही है। उसका एक लक्ष्य होता है। यथाभूत दर्शन करते हैतो ही अपने आप संस्कारो का परिच्छेद होता है,उनकी परतें उतरती है, अज्ञान का नाश होता है। सूक्ष्म से सूक्ष्मतम का दर्शन होता है, जो परम सत्य तक ले जाता है। कितना भगुर है, ऐसा देखने से आसक्तियाँ टूटती है, दु.ख दूर होता है, और प्रज्ञा पुष्ट होती है। प्रतिक्षण वदलता है, वनता है, टूटता है ऐसा अनुभूत होनेपर राग-द्वेष नष्ट होते है।

प्रतिक्षण उत्पन्न होना, विकसित होना, जर्जरित होना और नष्ट होना यह रूप का, चित्त का स्वभाव ही है। यह जव प्रज्ञा से जाना जाता है,तभी अनात्म वोध होता है। प्रज्ञा का यह दूसरा अंग है। तव अह समाप्त होता है, राग-द्वेष मिटता है, दु ख का वोध होता है। जो अनित्य है, अनात्म है, जिस पर मेरा अधिकार नही है, उससे आसक्ति दु.ख ही उत्पन्न करेगी। दु ख यह प्रज्ञा का तीसरा अग है। जो रूप भासमान है,दीखता है, वह जुडा हुआ है इस कारण, सुदरता दीखती है। किन्तु टुकडे करने पर असली रूप दीख पडता है। वह सूक्ष्मतम तरगे मात्र ही है, इस सत्य का साक्षात्कार होता है। भासमान सुदरता जुडी हुई मे है। परतु यह अशुभ है, आसक्ति ही पैदा करती है, जो प्रज्ञा का चौथा अग है।

अनित्य, अनात्म, दु ख, अशुभ को अपनी अनुभूतियो के स्तर पर जानना ही प्रज्ञा है।

दु.खद तरगे भी नष्ट होती है, सुखद तरगे भी नष्ट होती है। सुख मे दु ख का वीज समाया हुआ है। सुख-दु.ख सभी अनित्य है ऐसा वोध जगा, तो कल्याण की वात है। भावनामयी प्रज्ञा जगाने के लिए 'विपश्यना' जगाना आवश्यक है।

हम प्रज्ञा द्वारा गहराइयो मे उतरकर दु ख-सत्य का जो साक्षात्कार करते है, यह पहला आर्यसत्य है। सदा अतृप्त और असतुष्ट रहनेवाला यह मन किस प्रकार तृष्णा की प्यास से निरतर व्याकुल रहता है, जैसे, विना पैदे की वाल्टी किसी भी प्रयास द्वारा भरना निष्फल होता है, वैसे ही यह तृष्णा न वुझनेवाली प्यास है। अपनी तृष्णाओ, अहभाव और दृष्टियो के प्रति वढा हुआ उपादान, चिपकाव, आसक्ति-भाव हमे निरन्तर व्यथित, व्याकुल और व्यग्र वनाते ही रहते है। हमारे दु खो के मूलभृत कारण का जो साक्षात्कार होता है, वह दूसरा आर्यसत्य है। दु खो का

नितात निरोध होकर निर्वाण का साक्षात्कार होना तीसरा आर्य-सत्य है। दुःख के निवारण का मार्ग भी स्पष्ट होता है जो शील, समाधि, प्रज्ञा का यह आर्य-अष्टांगिक मार्ग है, जो चौथा आर्य-सत्य है। इस मार्ग के द्वारा ही दु.ख का निरोध होता है और वह निर्वाण तक ले जाता है। यह सब प्रज्ञा द्वारा विपश्यना साधना से ही उपलब्ध होता है।

भवचक्र से धर्मचक्र मे परिवर्तित करने का ज्ञान 'प्रतीत्य समुत्पाद' प्रज्ञा की भूमि है। बुद्ध-देशना मे इसका बडा ऊंचा स्थान है। इसका विस्तार से विवेचन आगे स्वतंत्र अध्याय मे करेंगे। 'भगवान को जिस रात्रि मे सम्यक् संबोधि प्राप्त हुई, उस रात्रि के पहले प्रहर मे प्रतीत्य समुत्पाद का अनुलोम-प्रतिलोम मन मे उत्पन्न हुआ'। यह प्रज्ञा-भूमिका जानना ही इस ससार के दु ख से छुटकारा पाने का ज्ञान है। अतः इसका अपना अनूठा महत्त्व है।

इससे पहले शमथ-यान एव विपश्यना-यान का विवेचन समझना आवश्यक है। इस विषय को आगामी अध्यायो मे हम गहराई से समझेंगे।

▣ ▣ ▣

अध्याय २१

शमथ-भावना

शमथ का अर्थ है चित्त की एकाग्रता। भावना का अर्थ है एक वार उत्पन्न होने पर उसकी अभिवृद्धि के लिए वार वार प्रयत्न करना। पालि मे शमथ को 'समथ' कहते है। समथ याने समाहित चित्त, जो एकाग्रता से प्राप्त होता है; जिस एकाग्रता मे विघ्नो का शमन हो जाता है, राग-द्वेष-मोह से विहीन चित्त की एकाग्रता होती है। चित्त की एकाग्रता प्राप्त करने के लिए पिछले अध्याय मे ४० कर्मस्थान निर्देश किये है। जिसकी चर्या को जो अनुकूल होता है, वह कर्मस्थान उसको एकाग्रता साधने के लिए दिया जाता है। इन सभी कर्मस्थानो मे आनापान-स्मृति का आलम्वन वहुत ऊँचा है।

आनापान-स्मृति आलम्वन .

'आन' का अर्थ है 'साँस लेना' और 'अपान' का अर्थ है 'साँस छोडना'। इन्हे आश्वास-प्रश्वास भी कहते है। स्मृतिपूर्वक (सजगतापूर्वक) आश्वास-प्रश्वास की क्रिया द्वारा जो समाधि निष्पन्न की जाती है, वह 'आनापान-स्मृति' समाधि कहलाती है। वुद्ध-शासन में यह एक उत्कृष्ट कर्मस्थान समझा जाता है। आचार्य वुद्धघोष का कहना है कि ४० कर्मस्थानो मे इसका शीर्पस्थान है और इसी कर्मस्थान की भावना कर सभी वुद्धो ने, प्रत्येक वुद्ध ने और वुद्ध-श्रावको ने विशेष फल प्राप्त किया है। यह समाधि स्वभाववश आरम्भ से ही शान्त और प्रणीत (विकसनशील) है, इसलिए यह असाधारण है। जव जव इस समाधि की भावना होती है, तव तव चैतसिक सुख प्राप्त होता है तथा ध्यान से उठने के समय प्रणीत रूप से वह शरीर मे व्याप्त हो जाता है और इस प्रकार, कायिक सुख का भी लाभ होता है। इस असाधारण समाधि की वार वार भावना करने से पाप उदय होने के साथ ही सम्यक्-रूप मे विलीन हो जाते है। जिनकी प्रज्ञा तीक्ष्ण है और जो उत्तर-ज्ञान की प्राप्ति चाहते है, उनके लिए यह कर्मस्थान विशेष उपयोगी है, क्योकि यह समाधि आर्य-मार्ग की भी समाधि है। क्रमपूर्वक इसकी वृद्धि करने से आर्य-मार्ग की प्राप्ति होती है और क्लेशो का अतिशय विनाश होता है। इस कर्मस्थान मे वलवती स्मृति (सावधानता) और प्रज्ञा की आवश्यकता है। यह समाधि स्वभाव से ही शान्त और सूक्ष्म है। इसीलिए, भगवान कहते है कि जिसकी स्मृति विनिष्ट हो गई है और जो सम्प्रजन्य (प्रतिक्षण का समता-भाव से निरीक्षण) से रहित है, उसके लिए आनापान-स्मृति की शिक्षा नही है।

अन्य कर्मस्थान भावना से विभूत (साध्य) हो जाते हैं, परंतु यह कर्मस्थान विना स्मृति-सम्प्रजन्य के सुगृहीत नही होता।

चित्त-विशुद्धि के लिए चित्त की ऐसी एकाग्रता होनी चाहिए, जो कि विकार-विहीन हो, राग-द्वेष-मोह से विहीन हो और ऐसी एकाग्रता प्राप्त करने के लिए उसका आलम्वन भी विकार उत्पन्न करनेवाला न हो। आश्वास-प्रश्वास से कैसा राग, द्वेप, मोह हो सकता है ? कैसे कहे कि यह श्वास मुझे वडा अच्छा लगता है और उसमे आसक्ति होती हे या अच्छा नही लगता और उससे द्वेप होता है ? श्वास मे, स्वाभाविक श्वास से कोई आसक्ति, द्वेप, या मोह नही होता।

हम अपने किसी इष्ट देव का, किसी रूप का ध्यान कर एकाग्रता करें, तो उस इष्ट देव के प्रति, रूप के प्रति आसक्ति होती ही है। यह विकार-सहित एकाग्रता ही है, निर्विकार ध्यान नही है। किसी मन्त्र-जाप से भी एकाग्रता प्राप्त हो सकती है, परन्तु मंत्र-जाप से भी राग उत्पन्न हो ही जाता है। इस रूप से, इस मन्त्र से मुझे समाधि मिलती है, यह मन्त्र सिद्ध हुआ है, यह रूप सिद्ध हुआ है, यही हम मानते है, समझते हैं। अपितु, राग का विकार इसके साथ उत्पन्न हो ही गया, अत: यह निर्विकार एकाग्रता नही है, सम्यक् समाधि नही है। वैसे, किसी शत्रु का ध्यान करके उसके नाश की भावना के साथ मन्त्र-जाप करे, तो एकाग्रता उत्पन्न हो सकती है, किन्तु इसमे गहरा द्वेप उसके साथ जुड ही जाता है। यह निर्विकार एकाग्रता नही है। चित्त विशुद्धि इससे प्राप्त नही होती, परतु विकार-वर्धन ही होता है।

श्वास एक निर्विकार आलम्वन है, इसलिए इसके जरिए चित्त-विशुद्धि प्राप्त हो सकती है।

रूप या नाम-जाप श्वास के साथ जोडने से रूप व नाम-जाप प्रमुख हो जाता है। अत. श्वास, केवल स्वाभाविक श्वास ही निर्विकार आलम्वन है। रूप या मंत्र से एकाग्रता होती है, तो उस रूप या मंत्र के वश मे चित्त हो जाता है, जवकि हमे चित्त को वश मे करना है, हमे चित्त के वश मे नही रहना है, यह स्पष्ट भेद जानना चाहिए।

साधना का सारा मार्ग सार्वजनीन होना चाहिए। किसी जाति-विशेष का या धर्म-सम्प्रदायका उससे सम्वन्ध नही होना चाहिए। श्वास किसी जाति-विशेप का या धर्म-सम्प्रदाय का नही हो सकता। श्वास श्वास है, सार्वजनीन है। राग, द्वेष, मोहादि विकार भी सार्वजनीन ही होते है। यह हिंदु क्रोध है, मुस्लिम क्रोध है, ईसाई क्रोध है, ऐसा होता ही नही। क्रोध क्रोध है। सभी के लिए विकार एक ही रूप मे है।

किसी प्रिय मनोरम रूप, रंग, आकार, प्रकाश आदि का दीखना और इस में चित्त का एकाग्र होना, किसी मधुर शव्द, गान, नाद आदि मे चित्त की एकाग्रता

होना, किसी मधुर गंध मे चित्त का एकाग्र होना, किसी मधुर रस के आस्वाद मे चित्त का एकाग्र होना, किसी कायास्पर्शजन्य सुखद-पुलक-सिहरन मे चित्त एकाग्र होना, दिव्य अनुभूतिया होना आदि सूक्ष्म स्तर पर राग-रजन है, मोह-बन्धन है; अपितु मुक्ति की ओर ले जानेवाली सम्यक् समाधि नही है। सम्यक् समाधि के लिए शुद्ध आलम्बन के, जैसे आश्वास-प्रश्वास के आधार पर चित्त की एकाग्रता प्राप्त होने पर किसी साधक को ऐसी अतीन्द्रिय अनुभूतियाँ हो जाना स्वाभाविक है, परन्तु इन्हे पथ पर आनेवाले विश्राम स्थान की तरह त्यागकर उसके आगे बढना चाहिए। कही इन अनुभूतियो को आलम्बन मानकर रुक गया तो फिर साधक राग-रजन मे उलझ जायगा। इसलिए सतर्कता से काम करना चाहिए। उसे अपने शुद्ध आलम्बन को नही छोडना चाहिए।

आनापान-स्मृति मे आश्वास-प्रश्वास का आलम्बन सार्वजनीन, सुलभ एव सभी मनुष्यो को ग्रहणीय है। आश्वास-प्रश्वास सर्वथा शुद्ध है, जिसके साथ कोई नाम, रूप, मत्र आदि नही जुडने चाहिए। मात्र श्वास का आना और जाना, इसपर सतत जागरूकता का अभ्यास और श्वास भी नैसर्गिक श्वास, स्वाभाविक श्वास, वह दीर्घ है तो दीर्घ, छोटा है तो छोटा, स्थूल है तो स्थूल, सूक्ष्म है तो सूक्ष्म, जैसा है वैसा स्वाभाविक श्वास के आने जाने को स्मृतिपूर्वक जानना है। श्वास की किसी प्रकार की कसरत नही करनी है। वह रोक कर छोडना आदि सभी कसरत है, स्वाभाविक नही है।

आखिर, चित्त की एकाग्रता का अभ्यास किसलिए है? केवल इसलिए कि एकाग्र चित्त इतना सूक्ष्म और तीक्ष्ण हो जाय, चित्त को ऐसी धार लग जाय कि अतिम परमार्थ सत्य को जिन आवरणो ने ढक रखा है, उनको बीध सके, चीर सके और प्रज्ञाचक्षु द्वारा आत्म-साक्षात्कार कर सकने मे, सत्य का साक्षात्कार कर सकने मे वह समर्थ हो सके। इसीलिए आलम्बन नैसर्गिक, निर्विकार, सहज-सुलभ होना चाहिए और आश्वास-प्रश्वास ऐसा ही नैसर्गिक, निर्विकार, सहज-सुलभ है।

स्वाभाविक याने नैसर्गिक आश्वास-प्रश्वास का आलम्बन महत्त्वपूर्ण इसलिए भी है कि मन के विकारो से इसका गहरा सम्बन्ध है। जब हमारा मन किन्ही दूषित विकारो से-याने, क्रोध से द्वेष से, भय से, ईर्ष्या से, वासना आदि से आक्रान्त हो उठता है, तो उस समय श्वास की गति स्वभावत तीव्र और स्थूल हो उठती है। जैसे ही ये विकार दूर हो जाते है, तो श्वास की गति फिर से स्वाभाविक हो जाती है।

स्थूल श्वास का निरीक्षण करते करते यह जान पडेगा कि जैसे जैसे चित्त एकाग्र होता है, वैसे वैसे उसकी नैसर्गिक सूक्ष्मता बढती जाती है। कभी कभी तो श्वास बाल की तरह क्षीण हो जाता है और जैसे ही वह बाहर निकले, वैसे ही तुरत

वह अन्दर की ओर मुड गया ऐसा जान पडता है, कभी कभी कुम्भक की स्थिति तक आ जाती है। इससे यह स्पष्ट है कि यह आलम्बन स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर ले जानेवाला है। अपने शरीर के भीतर ही भीतर अणु-अणु मे जो असख्य तीव्र गतिमान् स्पन्दन-प्रकम्पनो का निरतर नृत्य चल रहा है, उनके दर्शन तक ले जानेवाला यह श्वास-प्रश्वास का आलम्बन है।

श्वास का और एक गुण है। शरीर के कुछ अग ऐच्छिक है जो कि हमारी आज्ञा से काम करते है। जैसे, हाथ, पॉव, ऑख, कान, नाक, जिव्हा, स्पर्श आदि। और कुछ अग अपने आप काम करते है, हमारी आज्ञा मे नही है, अनैच्छिक है। जैसे, हृदय, फेफडे, आत आदि। किन्तु सास अनैच्छिक भी है और अपने आप भी चलता है तथा चाहे तो हम उसको कम ज्यादा भी कर सकते है। इस कारण, श्वास ऐच्छिक और अनैच्छिक दोनो भाति से काम करता है। श्वास शरीर मे अणु-अणु तक पहुँचता है, इसलिए श्वास एक पुल का भी काम करता है, हमे अणु अणु तक भी पहुँचाता है। अत श्वास का आलम्बन बडा ही महत्वपूर्ण है।

साथ ही,श्वास की स्मृति वर्तमान मे रहने का अभ्यास है। हर आनेवाले श्वास की,जानेवाले श्वास की लगातार जानकारी हमारे मन को वर्तमान मे रहने का अभ्यास कराना है,जिसमे अतिम परमार्थ सत्य के क्षण तक पहुँचा जा सकता है। बीते हुए क्षणो की तो याददाश्त होती है और आनेवाले क्षणों की केवल कामना मात्र हो सकती है। अत. परम सत्य के साक्षात्कार के लिए वर्तमान क्षण मे जीने का अभ्यास ही श्रेय है। भूतकाल की कटु-मधुर यादे और भविष्य की कामनाएँ राग-द्वेष ही पैदा करती है। वर्तमान क्षण मे श्वास का निरीक्षण राग-द्वेष से छुटकारा दिलाती है, क्योकि श्वास की गति का निरीक्षण करने मे हमारे मन मे उसके प्रति न कोई प्रिय भावना जागती है और न अप्रिय, इसलिये न राग जागता है, न द्वेष।

भूत और भविष्य के बन्धनो से मुक्त होकर,राग-द्वेष की जकडन से बाहर निकल कर, हर वर्तमान क्षण मे श्वास के सहारे जीने का अभ्यास आनापान-स्मृति का अभ्यास है। यही सम्यक् समाधि है। बिना सम्यक् समाधि पुष्ट हुए हम विपश्यना–भावना के प्रज्ञा-क्षेत्र मे पदार्पण नही कर सकते, इसलिए आनापान-स्मृति का अपना एक अनूठा महत्त्व है।

श्वास को देखते देखते वर्तमान की सचाई को तटस्थ-भाव मे देखने का अभ्यास होता है। शुद्ध श्वास को देखना होता है जो निर्मल है। यह निर्मलता का क्षण मन को अच्छा नही लगता, क्योकि निर्मलता से मन के विकार उखाडने का काम होने लगता है। और इसलिए, मन की प्रतिक्रिया प्रारम्भ होती है। दु.ख का प्रादुर्भाव होने लगता है और विघ्न उत्पन्न होते है। विकारयुक्त मन से विकारो को देखना दु ख-दर्द पैदा

नही करता; जैसे, सिनेमा देखने मे घटो स्वस्थतापूर्वक, आराम से बैठा जा सकता है, किन्तु समाधि मे लगातार बैठना बडा कठिन जान पडता है। इसी प्रकार, अग्नि मे अग्नि डालने से कोई प्रतिक्रिया उत्पन्न नही होती, किन्तु अग्नि में पानी डालने से 'छ्' आवाज उत्पन्न होती है, जबतक कि अग्नि शात नही हो जाता। अग्नि शात होने पर प्रतिक्रिया समाप्त हो जाती है। वैसे ही, विकारो का उपशम होने पर दुख-दर्द भी समाप्त हो जाते है और चित्त भी समाहित हो जाता है, चूकि नीवरणो का नाश जो हो जाता है।

आनापान स्मृति के अभ्यास मे मन का निरीक्षण होता है और हम देखते है कि मन कितना चंचल है। एक क्षण भी वह वर्तमान मे नहीं ठहरता। या तो वह भूतकाल की याददाश्त मे या भविष्यकाल की कामनाओ मे सतत व्याप्त रहता है। मन का और एक स्वभाव जानने मे आता है कि एक बात मन मे शुरू हुई और वह खतम होती ही नही कि दूसरी बात शुरु हो जाती है, पहली बात मे दूसरी बात का कतई सम्बन्ध नहीं होता। पागल की तरह मन भटकता ही रहता है, वह सदा मोह-मूढता मे रहता है, राग-द्वेष से भरा रहता है।

आनापान स्मृति के अभ्यास द्वारा चित्त निर्मलता की ओर ले जाना है, प्रज्ञा-क्षेत्र मे ले जाना है, विशुद्धि-प्राप्ति मे जाना है। आनापान-स्मृति मन की एकाग्रता से उसी को वश मे करने की अनूठी विधि है।

शमथ-भावना याने विकार-विरहित चित्त की एकाग्रता प्राप्त करने के लिए 'आनापान' आलम्बन किस तरह महत्वपूर्ण है, इसका विवेचन उपर लिखित पंक्तियो मे किया गया है। आनापान आलम्बन द्वारा प्राप्त समाधि 'आनापान-स्मृति' है। इस बारे मे 'सयुत्त-निकाय' के आनापान-सयुत्त 'परिच्छेद मे भगवान बुद्ध कहते हैं :

"आनापान-स्मृति धर्म के भावित और अभ्यस्त हो जाने से बडा अच्छा फल परिणाम होता है।

"भिक्षुओ ! भिक्षु अरण्य मे, या वृक्ष के नीचे, या शून्यगृह मे आसन जमा, शरीर को सीधा किये, सावधान होकर बैठता है। वह हर आनेवाले और जानेवाले श्वास की स्मृति, जानकारी, बनाए रखता है। स्वाभाविक श्वास दीर्घ हो तो दीर्घ, छोटा हो तो छोटा, स्थूल हो तो स्थूल, सूक्ष्म हो तो सूक्ष्म जानता हुआ वह श्वास लेता है और छोडता है।

"भिक्षुओ ! मै भी बुद्धत्व लाभ करने के पहले, बोधिसत्व रहते हुए ही इस समाधि मे प्राप्त हो, विहार किया करता था।

"भिक्षुओ ! इस प्रकार विहार करते हुए न मेरा शरीर थकता था और न मेरी आँखे। उपादान (आसक्ति) रहित हो मेरा चित्त आश्रवो (क्लेशो) से मुक्त हो गया था।

"भिक्षुओ ! यदि कोई भिक्षु चाहे कि 'न तो मेरा शरीर और न मेरी आँखें थके तथा मेरा चित्त उपादान-रहित हो आश्रवों से मुक्त हो जाय,' तो उसे आनापान समाधि का अच्छी तरह अभ्यास करना चाहिए।

"भिक्षुओ ! इस प्रकार आनापान समाधि के भावित और अभ्यास हो जाने से यदि उसे सुख की वेदना होती है, तो वह जानता है कि यह अनित्य है। वह यह भी जानता है कि इसमें (सुख-वेदना में) आसक्त नहीं होना चाहिए। यदि उसे दुःख की वेदना होती है तो वह जानता है कि यह अनित्य है, इसमें द्वेष नहीं होना चाहिए। यदि उसे अदुःख-असुख वेदना होती है तो वह जानता है कि यह अनित्य है, इससे राग-द्वेष नहीं होना चाहिए।

"भिक्षुओ ! जैसे तेल और बाती के प्रत्यय से प्रदीप जलता है, तथा तेल और बाती न रहने से प्रदीप बुझ जाता है, वैसे ही राग द्वेष न रहने से सारी वेदनाएँ ठंडी हो जाती हैं।

"आनन्द ! जिस समय भिक्षु लम्बी साँस लेते हुए, मैं लम्बी साँस लेता हूँ; लम्बी साँस छोड़ते हुए. . . ., छोटी साँस लेते हुए. . . ., छोटी साँस छोड़ते हुए. ., ऐसा जानता है; सारे शरीर का अनुभव करते हुए 'साँस लूँगा' ऐसा सीखता है; सारे शरीर का अनुभव करते 'साँस छोड़ूँगा' ऐसा सीखता है; काय-संस्कार को शान्त करते हुए, सप्रज्ञ, स्मृतिमान्, तथा लोभ व दौर्मनस्य से निःसंग होकर, काया में कायानुपश्यी होकर वह विहार करता है।"

'आनापान-स्मृति' कर्मस्थान के मनसिकार की विधि—

गणना अनुबन्धना फुसना ठपना सल्लक्खणा।

विवट्टना पारिसुद्धि तेसञ्च पटिपस्सना॥

(गणना, अनुबन्धना, स्पर्श, स्थापना, सं-लक्षण, विवर्त्तन, पारिशुद्धि और इनका प्रत्यवेक्षण करना)

गणना : गिनती करना, अनुबन्धना—निरन्तर जारी रखना।

फुसना : स्पर्श किया हुआ स्थान, ठपना : आलम्बन में चित्त को स्थिर करना। सल्लक्खणा : कर्मस्थान के स्वभाव को भली प्रकार विचार करके ग्रहण करना, विवट्टना : मार्ग, पारिसुद्धि : फल; तेसञ्च पटिपस्सना : प्रत्यवेक्षण।

गणना : प्रारम्भ में चित्त की पकड़ लेने के लिए आश्वास—प्रश्वास की गणना एक से दस तक (जैसे, धान मापने के धीरे धीरे गिनने की गणना होती है वैसे) करना चाहिए। और दस होने के बाद, फिर से एक से प्रारम्भ करके दस तक जाना चाहिए। इससे स्मृति बनी रहती है, नहीं तो गिनती अपनी जगह होती रहेगी, श्वास अपनी

जगह चलता रहेगा और मन भटक जायगा। इसलिए पूर्ण सावधानी के साथ गणना करनी चाहिए। आगे चल के गणना को त्याग देना चाहिए, अन्यथा गणना प्रमुख हो जायगी और स्मृति का लोप हो जायगा। इसलिए गणना को टालकर स्मृति की स्थापना उत्तम है।

अनुबन्धना गणना को छोडकर स्मृति से निरन्तर आश्वास-प्रश्वास की जानकारी बनाये रखना चाहिए। नासिका के द्वार के पास ऊपरवाले ओठ पर श्वास की आते वक्त, जाते वक्त जानकारी बनाए रखना चाहिए। श्वास के साथ नासिका के द्वार के अन्दर फेफडे-हृदय तक जाना नही है याने श्वास के आरम्भ, मध्य, अन्त तक चलना नही है।

फुसना और ठपना : नासिका के सामने ऊपरवाले ओठ के ऊपर आने-जानेवाले श्वास के स्पर्श की जानकारी रख कर वही पर चित्त को स्थिर करना चाहिए।

उपमा—(१) पगुल की उपमा : जैसे पगुल-झूले मे माता पुत्र को झुलाते हुए झूले को फेककर उसी झूले के खम्भे के पास बैठी हुई आते हुए और जाते हुए झूले के पटरे के दोनो सिरो को और बीच को देखती है, किन्तु दोनो किनारो और बीच को देखने के फेरे मे नही पडती, ऐसे ही साधक क्रम से आते जाते हुए श्वास के स्पर्श करने के स्थान मे स्मृति से वहाँ चित्त को रखते हुए देखता है, किन्तु उनके आरम्भ, मध्य, अन्त के फेरे मे नही पडता।

(२) द्वारपाल की उपमा : जैसे द्वारपाल द्वार के पास ही आने-जानेवालो की जाँच करता है, भीतर और बाहर नही जाता, ऐसे ही साधक को भीतर गयी वायु से और बाहर निकली वायु से काम नही है, किन्तु नासिका के द्वार पर आने-जानेवाले मे ही काम है।

(३) आरे की उपमा . जैसे वृक्ष समतल भूमिपर पडा हो और जैसे वृक्ष पर स्पर्श किये हुए आरे के दाँतो के प्रति पुरुष की स्मृति बनी रहती है, किन्तु वह आये या गये आरो के दाँतो का ख्याल नही करता है तथा आये या गये आरे के दाँत अविदित नही होते है, वीर्य दिखाई देता है, और कार्य सिद्ध होता है, विशेषता को प्राप्त होता है, ऐसे ही, साधक नासिका के सामने ऊपरवाले ओठ के ऊपर स्मृति को उपस्थित करके बैठा रहता है, वह आये गये आश्वास-प्रश्वास का खयाल नही करता, तथा उसे आये या गये आश्वास-प्रश्वास अविदित नही होते है, स्पर्श की जानकारी बराबर बनी रहती है, वीर्य दिखाई देता है, कार्य सिद्ध होता है और विशेषता को वह प्राप्त करता है।

कोई भी कर्मस्थान स्मृति और प्रज्ञा से युक्त साधक को ही सिद्ध होता है। यह 'आनापान-स्मृति' कर्मस्थान कठिन है, कठिनाई से भावना किये जानेवाला

है, किन्तु सरल है। जैसे जैसे वह किया जाता है, वैसे वैसे शान्त और सूक्ष्म होता है। इसलिए यहां स्मृति और प्रज्ञा बलवान होनी चाहिए।

जैसे रेशमी वस्त्र के सिलाई के समय सुई पतली होनी चाहिये और उसका छेद भी पतला होना चाहिए, ऐसे ही, सुई की भांति स्मृति भी, सुई के छेद की भांति उसके साथ रहनेवाली प्रज्ञा भी सूक्ष्म और बलवान होनी चाहिए। साधक को इस स्मृति और प्रज्ञा से युक्त रह कर, आश्वास-प्रश्वास की जानकारी व स्पर्श के स्थान को (नासिका के द्वार के पास ऊपरवाले ओठ पर) नहीं छोड़ना चाहिए। अन्य कोई खोज नहीं करनी चाहिए।

साधक आनापान-स्मृति की भावना करने पर सारे श्वास-प्रश्वासों को परिपूर्ण करता है।

नासिका के द्वार के पास ऊपरवाले ओठ के ऊपर के छोटे से हिस्से में स्थान की जानकारी व स्पर्श की स्मृति व प्रज्ञा जैसे गहरी होगी, वैसे उस हिस्से में संवेदना की अनुभूति होने लगेगी। यह संवेदना कई तरह की हो सकती है। भारीपन, हलकापन, गरम सी, ठंडक सी, कम्पन सी, थिरकन सी, धड़कन सी, सनसनाहट सी, गुदगुदाहट सी आदि कई प्रकार की हो सकती है। इसकी गहराई स्थान के स्पर्श के साथ बनी हुई लगातार स्मृति सम्यक् समाधि है, शमथ-भावना है।

शमथ-भावना के पुष्ट होने से ही विपश्यना-भावना की उपलब्धि हो सकती है, जो चित्त-विशुद्धि और निर्वाण-प्राप्ति का मार्ग है।

अब अगले अध्याय में उसका विस्तार के साथ वर्णन करेंगे।

अध्याय २२

विपश्यना भावना

"विसेसेन पस्सती'ति विपस्सना"—धर्मों का विशेष रूप मे दर्शन करनेवाली प्रज्ञा 'विपश्यना' है। विपश्यना-ज्ञान भासमान, सवृति-सत्य का भेदन करके अन्तिम परमार्थ सत्य तक ले जानेवाला धर्म है। इसलिए, इसको 'विशेष देखना' याने 'विपश्यना' कहा है। जो जैसा है, उसको अन्तिम सत्य मे जानना है।

सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो,
चित्तं पञ्ञञ्च भावयं।
आतापी निपको भिक्खु,
सो इम विजट्ये जटं॥'

शील पर खडा होकर याने शील को भली प्रकार से पालन करनेवाला सत्त्व (प्राणी) अर्थात् नर, सपञ्ञो.कर्म से उत्पन्न होनेवाली प्रज्ञा मे प्रज्ञावान्, चित्त पञ्ञञ्च भावय समाधि और विपश्यना की भावना करते हुए, आतापी वीर्यवान् निपको:प्रज्ञा से ससार मे भय देखता है, वह भिक्षु है। सो इम विजटये जट वह इस शील मे, समाधि मे, प्रज्ञा मे प्रतिष्ठित होते हुए वीर्य मे इस भीतरी बाहरी तृष्णा रूपी जटा को काटता है।

जैसे, आदमी पृथ्वी पर खडा होकर अच्छी तरह रगड कर तेज किये हथियार को उठा कर बडे बॉस के पेड को काटता है, ऐसे ही, शील की पृथ्वी पर खडा होकर समाधि के पत्थर पर रगड कर तेज किये विपश्यना को प्रज्ञा रूपी हथियार को वीर्य और बल से पकड कर साधक प्रज्ञा के हाथ से उठाते हुए अपने भीतर समायी हुई तृष्णा की जटा को काटता हे, उसके टुकडे-टुकडे कर गिरा देता है।

मार्ग-प्राप्ति के क्षण ही वह उस जटा को काटता है। फल-प्राप्ति के समय वह कटी हुई जटावाला होता हे।

वीर्य से याने सतत परिश्रम कर के, प्रज्ञा से होश सम्हाल कर, शील पर प्रतिष्ठित होकर, साधक को चित्त और प्रज्ञा मे कहे गये शमथ और विपश्यना की भावना करनी चाहिए। भगवान बुद्ध ने शील, समाधि, प्रज्ञा को विशुद्धि का मार्ग बतलाया है, निर्वाण का मार्ग बतलाया है। जो व्यक्ति परिशुद्ध शील से युक्त होकर समाधि और प्रज्ञा की भावना करता है, वही निर्वाण को पा सकता है।

'विपश्यना' भावना प्रज्ञा का कर्मस्थान (कम्मट्ठान)है, जैसे समाधि का कर्मस्थान 'आनापान स्मृति' है। प्रज्ञा क्या है, इसका विवेचन हमने पिछले 'प्रज्ञा निर्देश' अध्याय मे देखा ही है।

हमारा अन्तिम लक्ष्य क्या है, इसको फिर से हम सक्षेप मे समझे। इस दुनिया मे दुख है और इस दुख से छुटकारा पाने के लिए दुखका निरोध होना चाहिए।

प्रथम आर्यसत्य मे हमने देखा है कि इस ससार मे जन्म होना दुख है, बूढा होना दुख है, व्याधि का होना दुख है, मरना दुख है, रोना-पीटना दुख है, पीडित होना दुख है, इच्छा की पूर्ति न होना दुख है, प्रिय व्यक्ति से वियोग और अप्रिय व्यक्ति से सयोग दुख है। सक्षेप मे, हमारा यह शरीर व मन याने यह पचस्कन्ध (रूप, विज्ञान सज्ञा, वेदना, सस्कार) दुख ही है। द्वितीय आर्यसत्य मे देखा है कि तृष्णा ही सभी दुखो का मूल कारण है। अत तृष्णा का सर्वथा निरोध होना तृतीय आर्यसत्य है। दुख-निरोध का दूसरा नाम निर्वाण है। निर्वाण की प्राप्ति मे ससार-चक्र रुक जाता है। इसके प्राप्ति का मार्ग आर्य-अष्टागिक मार्ग है, जो चतुर्थ आर्यसत्य है। दुख से मुक्ति के लिए यही एकमेव मार्ग है। इसी पर चलकर सारे दुखो का क्षय होता है।

सक्षेप मे, अपने स्वय की अनुभूतियो के स्तरपर अनित्यता का, अनात्मता का, दुखता का, अशुभता का वोध होना ही 'प्रज्ञा' है और इनको यथाभत देखना, दर्शन करना ही 'विपश्यना' है।

विपश्यना साधना

शील-सम्पन्न होने पर ही साधक सम्यक् समाधि मे पुष्ट हो सकता है, सम्यक् समाधि से ही वह विपश्यना ज्ञान को प्राप्त हो सकता है और विपश्यना ज्ञान से ही वह प्रज्ञा मे प्रतिष्ठित हो सकता है। एवच, प्रज्ञा से ही निर्वाण की प्राप्ति सम्भव है, जो कि दुख का अत्यंत निरोध है।

(१) **शील**—शील के वावत हम ने 'शील-निर्देश' अध्याय मे विशेप रूप से विवरण देखा है। उसको फिर से देख लेना उचित होगा। साधक को पंचशील या अष्टशील ग्रहण करना चाहिए। कायदुश्चरित, वाग्दुश्चरित एवं मनोदुश्चरित के उत्पन्न न होने के लिए काय-वाक्-मनस् का सवरण (सयमन)करना ही शील है। अत अकुशल के अनुत्पाद के लिए, दृढतापूर्वक स्मरण रखने, से ही शील की रक्षा की जा सकती है। शील-सम्पन्नता के लिए लोभ, द्वेप, मोह से सतर्क रहकर वचना चाहिए। जीवन मे सही सपत्ति शील-सदाचार है। शील से सम्पन्न साधक ही विशुद्धि मार्ग पर वढ सकता है।

(२) **समाधि**—सम्यक् समाधि के बावत समाधि-निर्देश अध्याय मे एव 'शमथ-भावना' अध्याय मे विस्तारपूर्वक वर्णन है। चित्त की एकाग्रता प्राप्त करने के लिए अर्थात सम्यक् समाधि पुष्ट करने के लिए आनापान का कम्मट्ठान ग्रहण कर, शमथ-भावना का अभ्यास साधक को करना चाहिए। 'शमथ' याने समाहित चित्त एकाग्रता से प्राप्त होता है और इस एकाग्रता मे विघ्नो का, नीवरणो का शमन होता है। चित्त की यह एकाग्रता राग-द्वेप-मोह से विहीन होती है।

कामच्छन्द, नीवरण आदि मलो के अभाव को 'चित्त-विशुद्धि' कहते है। शील-विशुद्धि होने पर ही चित्त-विशुद्धि होती है। शमथ-कम्मट्ठान का आरब्ध साधक जब उपचार-भावना तक पहुचता है, तभी उसका चित्त नीवरण-धर्मो से शुद्ध होता है। इसलिए 'विपश्यना' भावना को पुष्ट करने का अभिलाषी साधक सर्वप्रथम शमथ-कम्मट्ठान की उपचार-समाधि पर्यन्त या अर्पणा-समाधि पर्यन्त भावना करके अपने चित्त को नीवरण आदि मलो से विशुद्ध करे।

स्मृतिपूर्वक आश्वास-प्रश्वास की क्रिया द्वारा जो समाधि निष्पन्न होती है, वह 'आनापान-स्मृति' समाधि है। चित्त-विशुद्धि के लिए राग, द्वेष, मोहादि विकारो से विहीन एकाग्रता आश्वास-प्रश्वास से प्राप्त हो सकती है, क्योकि हमारा श्वास सदैव निर्विकार आलम्बन है।

साधक सम्यक् समाधि के लिए आनापान का कम्मट्ठान ग्रहण करता है। प्रथम नासिका के द्वार के पास हर आनेवाले और जानेवाले श्वास की जानकारी बनाये रखने का अभ्यास वह करता है। बाद मे अन्दर जानेवाला श्वास और बाहर निकलनेवाला प्रश्वास नासिका के द्वार के पास ऊपरवाले ओठ पर कहा छूकर जाता है, उसके स्पर्श की जानकारी बनाये रखने का अभ्यास वह करता है। इसके बाद नासिका के द्वार के पास ऊपरवाले ओठ के मध्य मे जो तिकोनी गड्ढा है, उस पर वह स्मृतिपूर्वक ध्यान लगाता है और वहा पर आने-जानेवाले श्वास के स्पर्श की जानकारी का एकाग्रतापूर्वक निरीक्षण करता है। यह अभ्यास पुष्ट होने पर ओठ के मध्य पर जहा ध्यान लगाया है वहा पर, कुछ सवेदनाओ का याने झुनझुनाहट, भारीपन, हलका पन, गरम सा ठंडक सा आदि अनुभव साधक को होने लगता है। इस मध्य-स्थान पर ये सवेदनाए और साथ मे आने-जानेवाले श्वास का स्पर्श इनकी एकसाथ स्मृति बनायी रखने पर साधक के चित्त की एकाग्रता पुष्ट होती जाती है। प्रत्येक आनेवाले और जानेवाले श्वास के साथ और उस मध्य-स्थान पर होनेवाली सवेदनाओ के साथ बनी जानकारी जैसी जितनी देरी तक लगातार होती रहेगी, वैसी उतनी देरी तक सम्यक समाधि प्राप्त होती रहेगी। इस अभ्यास द्वारा लगातार इस स्मृति को बनाए रखने का पूरा प्रयास साधक को करना चाहिए।

स्थूल श्वास-प्रश्वास के स्पर्श का निरीक्षण करते करते साधक को यह जान पड़ेगा कि यह आने-जानेवाला श्वास सूक्ष्म होता जा रहा है, और वह ऊपरवाले ओठ के मध्य पर जहा साधक ने ध्यान लगा रखा है वहाँ पर ही आता है और वही से मुडकर वापिस चला जाता है। आगे यह श्वास इतना सूक्ष्म हो जाता है कि कभी कभी कुम्भक सा होने लगता है। इस तरह, यह एकाग्रता स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर बढने लगती है। श्वास के स्पर्श के साथ उस मध्य-स्थान पर होनेवाली सूक्ष्म सवेदनाओ की जानकारी लगातार एक मिनिट, दस मिनिट, आध घटा, जितनी भी बनती जायगी वही सम्यक् समाधि है। यह जितनी तीव्र, तीक्ष्ण एव लगातार होगी उतनी विपश्यना-साधना गहराई मे जायगी और विकारो को उखाड फेकने का काम करेगी। इसलिए आनापान साधना द्वारा चित्त की एकाग्रता को तीव्र और तीक्ष्ण बनाना अत्यत आवश्यक है।

नये साधक का मन प्रारम्भ मे श्वास-प्रश्वास पर टिकना कठिन हो जाता है। वह भटक जाता है। अत स्मृतिपूर्वक अभ्यास कर के बार बार भटके हुए मन को फिर से अपने आलम्बन पर स्थापित करने का प्रयास साधक को करते रहना चाहिए। कभी कभी, थोडा तेज श्वास-प्रश्वास लेकर मन को टिकाने का अभ्यास करना चाहिए और फिर से स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास पर उसे आ जाना चाहिए।

साधक श्वास-प्रश्वास को देखते देखते अपने मन को भी देखने लगेगा। मन का स्वभाव क्या है, यह भी वह जानने लगेगा। (१) मन अत्यत चचल है। (२) मन वर्तमान मे एक क्षण भी टहरता नही, वह या तो भूतकाल की यादाश्त मे या भविष्य की कल्पना-कामनाओ की ओर दौडता रहता है। (३) मन मे विचारो की शृखला बनी ही रहती है। (४) मन मे जो बात शुरु हुई, वह खतम ही नही होती कि मन छलाग मारकर दूसरी बात शुरु कर देता है, पागल की तरह मन दौडते ही रहता है। (५) मन या तो रागरजित या द्वेषदूषित या मोहमूढित रहता है। इस प्रकार. मन के इन स्वभावो की अनुभूतियाँ होती रहती है।

सास पर मन टिकाने का अभ्यास वर्तमान के क्षण मे जीने का अभ्यास है। इस क्षण की सचाई क्या है, इसका यह अभ्यास है। इस अभ्यास से स्थूल सचाई मे सूक्ष्म सचाई पकड मे आने लगती है। इस क्षण जो हो रहा है, उसे यथाभूत तटस्थ-भाव से देखने से अर्थात ध्यान लगाने से चित्त एकाग्र होने लगता है। शुद्ध श्वास को देखना चित्त की निर्मलता का क्षण है। यह निर्मलता का क्षण मन के भीतर के मैल को अर्थात् विकारो को उखाडने लगता है। तब प्रतिक्रिया प्रारम्भ होती है और शरीर मे पीडा का उत्पाद होने लगता है। उस समय साधक को पीडा की उपेक्षा करनी चाहिए और मन बराबर सास पर लगाये रखना चाहिए।

साधक को साधना के समय इन बातो का ध्यान रखना चाहिए —

(१)जादा भोजन न करे, अन्यथा आलस्य आने लगेगा, चित्त सुस्त हो जायगा और मन नही लगेगा। (२) नीद या सुस्ती आने लग जाय तो सास थोडा तेज करके स्मृति बनायी रखी जाय, या फिर, थोडा घूमकर आंख पर पानी की छीटे लगा ले। (३) बाहरी हवा मे नये साधक को सास पकड मे लाना कठिन होता है। इसलिए अदर कमरे मे ही बैठे। (४) किसी से बातो मे नही लगे क्योकि बातूनीपन बडा दुश्मन है। (५) आर्य मौन रखे। वाणी से, शरीर से एव मन से मौन रखना 'आर्य मौन' है। शरीर से इशारा करना, लिखकर बताना भी मौन का भङ्ग ही है। मौन नही रहने से शील टूटने का भय रहता है। शील भङ्ग होने से समाधि प्राप्त नही होती।

चित्त की एकाग्रता इतनी तीक्ष्ण एव सूक्ष्म हो जाय, चित्त को ऐसी धार लग जाय कि अतिम परमार्थ सत्य को विकारो के आवरणो ने जो ढँक रखा है उसको बींध सके, चीर सके और विपश्यना साधना द्वारा उस परम सत्य का साक्षात्कार कर सके।

इस एकाग्रता के अभ्यास के समय साधक के मन मे विचारो का मथन चलता ही रहता है। एक ओर श्वास की जानकारी बनाये रखने का काम मन करता है, तो दूसरी ओर अनेक विचार मन मे चलते रहते है, चलते ही रहते है। जैसे जैसे एकाग्रता बढेगी, वैसे वैसे ये विचार भी क्षीण होते जाएँगे। विचार क्यो आते है, वे बन्द हो जाने चाहिए ऐसी भावना नही करनी है, अपितु उनका केवल यथाभूत दर्शन करना है। विचारो की उपेक्षा कर के साधक की स्मृति अपने आलम्बन पर बराबर बनी रहनी चाहिए। विचार अपनी जगह पर है, उनको महत्व नही देना चाहिए। यह एक उदाहरण से समझे — दो योद्धा तलवार से युद्ध कर रहे है। प्रेक्षक समुदाय चारो ओर बैठा है। तालियाँ पीटते है, नारे लगाते है, किन्तु दोनो योद्धा स्मृतिपूर्वक बराबर हर तलवार के वार की ओर अविरत ध्यान रखकर लडते है। तलवार के ऊपर का ध्यान हटा कि गर्दन कटी। इसलिए वे अत्यत तीक्ष्ण ध्यान से लडते है, यद्यपि उनको प्रेक्षक भी दीखते है, उनके नारो की आवाज भी सुनायी देती है। ये दीखना, आवाज आना अपनी जगह है, किन्तु दोनो का सारा ध्यान तलवारो के हलन-चलन पर लगातार लगा रहता है। वैसे ही, साधक का सारा ध्यान ऊपरवाले ओठ के मध्य मे नासिका के द्वार के सामने जो सवेदनाए होती है और वहा पर साँस का आते समय, जाते समय जो स्पर्श महसूस होता है, उस पर लगातार मन टिकाये रखना ही एकाग्रता है। शेष उत्पन्न होनेवाले विचार उन प्रेक्षको के समान अपनी जगह है, उनकी साधक को उपेक्षा करनी चाहिए। आगे चलकर यह विचार भी क्षीण हो जाते है।

और भी उदाहरण — पगुल का, द्वारपाल का, आरे का 'शमथ-भावना' अध्याय मे पहले दिये गये है ही।

आसन—आसन के बाबत कोई निर्बंध नही है। आसन जिसको जैसा सुलभ

हो उस तरह साधक बैठ सकता है,सुखासन से बैठ सकता है। आसन के कारण ध्यान मे व्यत्यय नही आना चाहिये। पीठ सीधी रखना ही उत्तम है। पद्मासन उत्तम है जिस मे पीठ अपने आप सीधी रह जाती है, किन्तु यह सब को सहज नही होता। कुर्सी पर पाव छोड कर भी बैठा जा सकता है। सोते सोते भी साधना हो सकती है, किन्तु इस मे नीद का भय होता है। सहज पालथी मारकर बैठना सब के लिए सुलभ और आसान है, इसीको सुखासन कहते है। पीठ मे या शरीर मे दर्द हो तो दिवाल के सहारे से भी बैठ सकते है, पाँव फैलाकर भी बैठ सकते है। जिसतरह से ध्यान ठीक लगे, आसन से व्यत्यय न आता हो, उसी तरह साधक को आसन लगाकर बैठना उचित है।

आचार्य---आचार्य कल्याण-मित्र होता है। उनके मार्गदर्शन से उनके सन्निधि मे साधना सीखनी चाहिए। जैसा बताया जाये, वैसा ही करना चाहिए। अपनी ओर से कुछ जोडे नही या तोडे नही। शुद्ध विधि को अपनाने से ही फल-प्राप्ति तक साधक पहुच सकता है। अन्यथा वह भटक जायेगा और अपनी हानि कर बैठेगा। जैसे घुडस्वार एक घोडे पर सवारी करते हुए दूसरे घोडे पर बैठ नही सकता। एक टाग एक घोडे पर और दूसरी टाग दूसरे घोडे पर रखी जाय तो खतरा ही है। वैसे ही, एक शुद्ध विधि के साथ अपनी ओर से दूसरी विधि की मिलावट भी खतरे की ही होती है।

आनापान का आलम्बन यह प्राणायाम नही है, स्वाभाविक श्वास की ही स्मृति है। इसमे प्राणायाम जोड दिया जाय तो सम्यक समाधि प्राप्त नही होगी, विपश्यना नही मिलेगी।

(३) **विपश्यना**---प्रारम्भ मे हमने विपश्यना के विषय मे विस्तार से वर्णन किया है। धर्मो का विशेष रूप मे दर्शन करनेवाली प्रज्ञा 'विपश्यना' है। अन्तर्मुखी होकर 'विशेष रूप से देखना' विपश्यना है। विपश्यना-भावना प्रज्ञा का कर्मस्थान है,जैसे समाधि का कर्मस्थान आनापान-स्मृति है। अनित्य, दु ख, अनात्म, अशुभ का अपने अनुभूतियो के आधार पर यथाभूत दर्शन से बोध होना 'प्रज्ञा' है। समता-पूर्वक यथाभूत दर्शन अतर्मन की गहराईयो मे जाकर करना 'विपश्यना' है।

आनापान-स्मृति द्वारा हम 'समाधि' दृढ करते है, मन की एकाग्रता तीव्र तथा तीक्ष्ण करते है। और फिर, विपश्यना द्वारा हम प्रज्ञा-क्षेत्र मे उतरते है।

इस विधि के दो पहलू है। पहला 'शमथ-भावना' और दूसरा 'विपश्यना भावना'। ये एक ही सिक्के के दो पहलू है, जो अलग हो ही नही सकते। एक पक्ष मे शमथ-भावना द्वारा चित्त की ऐसी एकाग्रता, ऐसी सूक्ष्मता प्राप्त होती है जिससे अन्तर्मन मे वीन्ध कर गहरी सचाईयो को हम जानने लगे। और दूसरा पक्ष यह है कि उस सचाई को जानते हुए चित्त विचलित न होने दे, सन्तुलन न खो दे और समता मे

स्थित रहे। विचलित हुए कि समता खो दी। तब एक पक्ष कमजोर हो जाता है। दोनो पक्ष समान प्रवल रहे तो ही विधि सफल हो सकती है, जैसे कि गाडी के दो पहिये समान होने से ही गाडी' चल सकती है।

समाधि मे आनापान द्वारा ऊपरवाले ओठ पर मध्य मे नासिका के द्वार के सामने चित्त की एकाग्रता का अभ्यास किया जाता है। इस अभ्यास मे ओठ के मध्य पर सवेदना मिलने लगती है। यह तीव्र होने पर, विपश्यना के लिए ऊपरवाले ओठ पर से ध्यान हटाकर सिर के सिरे पर ध्यान ले जाया जाता है। सिर के सिरे पर जहा नन्हे वच्चे के तालू का भाग रहता है (जिसमे हड्डी नही होती) वहा पर ध्यान किया जाता है और वहां पर सवेदनाओ की अनुभूति होने लगती है। ये सवेदनाएं चीटियाँ रेगने जैसी, कपन सी, झनझनाहट सी, खुजलाहाट सी आदि विविध प्रकार की होती है। चित्त का ध्यान उस स्थान पर केन्द्रित रहता है। वाद मे धीरे धीरे एक एक अग का निरीक्षण क्रमश किया जाता है। सिर के सिरे से सारा सिर, सिर का पिछला हिस्सा, चेहरा, गर्दन, दोनो कधे, कधे से दोनो भुजाएँ कुहनी तक, कुहनी से कलाई तक, दोनो हाथ, अगुलियाँ, अगुलियो के छेडे, दोनो हथेलिया, इस प्रकार एक एक अग का मन से निरीक्षण करते करते, फिर आगे गला, छाती, पेट, पीठ, कमर, वैठक, दोनो जाघे, दोनो घुटने, घुटने से एडी तक, दोनो पाव, अगुलियाँ, अगुलियो के छेडे, पाव के तलवो तक धीरे धीरे मन को अग-प्रत्यग मे से क्रमपूर्वक गुजारना होता है। सारे शरीर मे इस तरह मन को गुजारते गुजारते सिर से पाव के तलवो तक और फिर, पाव से सिर के सिरे तक यात्रा मे मन का लगाना होता है। सिर के सिरे से पगतले तक यात्रा को 'अनुलोम' कहते हे और पगतले से सिर के सिरे तक को 'प्रतिलोम' कहते हैं। इस अनुलोम-प्रतिलोम मे मन सारे शरीर के अग-प्रत्यग को छूते हुए चलता है और जहा भी जैसी भी सवेदनाएं महसूस होती हे, उन्हे हर क्षण 'अनिच्चा' (अनित्य) वोध से साधक जानता रहता है। अनित्य है, परिवर्तनशील है, नश्वर है, भगुर है, यही सारी सवेदनाए अनुभूति देती है। सवेदनाओ का अविरत उदय होता हे, व्यय होता है। उदय-व्यय, उदय-व्यय की ही हर क्षण अनुभूति होती रहती है। जैसे जैसे अभ्यास वढता है और जैसी जैसी एकाग्रता तीव्र वनती जाती है वैसे वैसे मन अदर ही अदर चीरता हुआ, वीधता हुआ जाता रहता है, तथा वह स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर वढता रहता है। सूक्ष्म से सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतर से सूक्ष्मतम की ओर मन चला जाता है। इस प्रकार भौतिक सचाई से परमार्थ सचाई तक पहुचना होता है।

हमने 'विज्ञान-दर्शन' विभाग मे यह देखा है कि २० वी शताब्दि मे वैज्ञानिको ने अपने अनुसधानो द्वारा यह स्पष्ट किया है कि यह सारा भौतिक जगत अविभाज्य तरगो से, प्रकम्पो से वन्धा हुआ है। उनमे उत्पन्न असामान्य ऊर्जा से जाल-रूप मे यह वन्धा हुआ है। जो भी वस्तु स्थूल दिखती है, ठोस भासित होती है, (जैसे

लोहा, पत्थर आदि) ये सब ठोस है ही नही, केवल तरगो का, प्रकम्पो का समुच्चय ही है और इन तरगो मे भी आपस मे वडी पोल है। हमारी साधारण दृष्टि मे तो लोहा, पत्थर आदि का टुकडा सर्वथा ठोस, गतिहीन है; परन्तु ये वस्तुत. असख्य लघुकणो से वने हैं, जो प्रतिक्षण अनगिनत वार परिवर्तित होते रहते है, प्रवाहित होते रहते है, नित्य स्थिर कुछ भी नही है। परिवर्तित होते रहना सभी वस्तुओ का ध्रुव धर्म ही है। वैज्ञानिक अपने उपकरणो द्वारा यह सब देखता है और साधक अपने अंतर्मन की गहराई मे जाकर विपश्यना द्वारा अपने शरीर मे स्वय इसकी अनुभूति करता है। अपने शरीर के भीतर हो रहे परिवर्तन को, तरगो को, अविरत होनेवाले प्रकम्पन-प्रवाह को, इनके निरन्तर हो रहे उदय-व्यय को साधक विपश्यना द्वारा स्वानुभूति कर लेता है, अनित्यता का साक्षात्कार कर लेता है। वाह्यरूप, अलग अलग रूपो मे जो दीखता है. वह केवल भासमान्-सत्य है, सवृत्ति सत्य है ,माया है। अन्तिम परमार्थ सत्य मे तो अलग अलग रूप कुछ है ही नही। सारा भौतिक ससार केवल प्रकम्पो का एक-दूसरे मे वन्धा हुआ जाल मात्र है, सारी तरगे ही तरगे मात्र है। अत्यत तीव्र गति से निरन्तर सव कुछ परिवर्तन हो रहा है। इस अन्तिम सत्य का साक्षात्कार विपश्यना-साधना के अभ्यास द्वारा ही प्राप्त होता है।

सवेदनाए हर समय एक जैसी नही होती। वे कभी सुखद और कभी दु खद होती रहती है। तव सभी स्थितियो मे समता भाव से जानते रहना ही साधना की सफलता की ओर वढना है। साधना मे कभी कमर टूटती है, अङग मे कही गहरी पीडा भी उभर आती है। तो उस समय दु ख-दर्द को समता भाव से, तटस्थता से, स्थिर चित्त से देखने रहने का अभ्यास करना चाहिए। सवेदनाओ के प्रति द्वेप करना शुरू कर दिया, 'यह पीडा चली जाय' ऐसा चितन शुरू कर दिया, तो द्वेप के नये सस्कार और वनाने का काम शुरू हो जाता है। वैसे ही सुखद सवेदनाए आने लग जाय, तो 'ऐसी आनी ही चाहिए, वडा आनन्द आने लगा है, यह स्थिति वनी रहे' ऐसा चितन राग के नये सस्कार वनाने लग जाता है। सवेदनाएं दु खद हो या सुखद हो, दोनो ही स्थितियो मे साधक अपना चित्त सतुलित रखे और यह वोध निरन्तर वनाये रखे कि ये स्थितियाँ अनित्य ही है, वदलनेवाली ही है, समाप्त होने के लिए ही उभर आयी है, समाप्त हो ही जायेगी। तो इससे क्या द्वेप करे, क्या राग करे। अत. हर समय साधक अपने चित्त को समता मे रखे रहे और इसे प्रज्ञा भाव से देखते रहे, तो नये सस्कार वनेंगे ही नही और पुराने सस्कार अपना कर्म-फल लेकर ऊपर की सतह पर आने लग जाएगे तथा समाप्त होते जाएंगे। ऐसा अभ्यास करने से एक समय ऐसा आएगा ही, जव कि सारे सचित सस्कार समाप्त हो जायेगे। तव चित्त विशुद्ध हो जायेगा और वह स्रोत के मार्ग मे पड जायगा, साधक को निर्वाण के, मुक्ति के, मोक्ष के दर्शन होगे।

समता-भाव से कैसे देखना यह एक उदाहरण से हम समझें – एक मनुष्य नदी के तट पर बैठा है। नदी बह रही है, पानी बह रहा है । उसमे कभी ऊची लहरे आती है, कभी छोटी लहरे, तो कभी न दीखनेवाली लहरे भी चलती है। कभी उस नदी के प्रवाह मे लाश बहकर जाती हे, तो कभी फूल बहे जाते है। इस हर स्थिति को तट पर बैठा मनुष्य निर्विकार भाव से देखता है। लाश देखने से न भयभीत होता हे, न फूलो को देखकर नाचने लगता हे। वह यह सब समता-भाव से देखता रहता है। यही तटस्थता है, समता-भाव है। इसी तरह, 'विपश्यना' साधना करते समय साधक को कभी गहरी सवेदनाए उत्पन्न होती हे, तो कभी स्थूल, कभी सूक्ष्म कभी सुखद, तो कभी दु खद सवेदनाए होती हे। कभी कभी सवेदनाए मालम भी नही पडती है। इन सभी स्थितियो को अनित्य-भाव से, समता भरे चित्त से या तटस्थ चित्त से जानना चाहिए। यही प्रज्ञा है। साधक राग-द्वेष पैदा नही करे. अन्यथा नये सस्कार बनना प्रारम्भ हो जाते है और पुराने सस्कार ऊपरी सतह पर आते नही है। हमारे नित्य के जीवन मे भी सुखद-दु खद स्थिति उत्पन्न होती ही रहती है। साधक को हर स्थिति मे चित्त की समता बनायी रखनी चाहिये। सतुलित चित्त रखते हुए लिया गया निर्णय सही होगा। अनित्य-बोध बना रहेगा तो राग-द्वेष उत्पन्न नही होगे, चित्त मे व्याकुलता या तनाव भी उत्पन्न नही होगे। बडे शान्त चित्त से जीना जी सकने का साधक अभ्यस्त होता रहेगा। विपश्यना साधना के अभ्यास से जीवन सतुलित बन जायगा, जीवन मे समता-भाव आ जायगा।

अब हम देखेगे कि चित्त मे सस्कारो की गाठे कैसे बन्धती है और विपश्यना-साधना से वे कैसे खुलती है। हम ने 'विज्ञान दर्शन ' विभाग मे देखा है कि यह सारा भौतिक ससार चार महाभूतो के सयोग मे ही बना है। पृथ्वीधातु, अग्निधातु, वायु-धातु व जलधातु ये चार महाभूत और इन चारो के गुणधर्म मिलकर ' अष्ट-कलाप है।'

पृथ्वीधातु याने कोई मिट्टी का कण नही समझ लेना चाहिए, अग्निधातु याने कोई चिनगारी नही समझ लेना चाहिए, वायु धातु याने कोई हवा का कण और जलधातु याने कोई जल का कण नही समझ लेना चाहिए।

पृथ्वीधातु याने भारीपन या हलकापन और जो जगह घेरता है।

अग्निधातु याने तापमान, ठडा या गरम।

वायुधातु याने कम्पन, हलनचलन।

जलधातु याने बाधने का गुणधर्म।

ये चारो महाभूत एव उनके गुणधर्म 'अष्टकलाप' हे।

विपश्यना साधना मे जो अनुभूति होती है, उसमे कभी भारीपन प्रतीत होता है, तो कभी हलकापान, इस प्रकार 'पृथ्वी धातु ' प्रबल होती है। उसमे कभी ठडक

साधना है। कर्म-संस्कार कितने कम हुए, कितने कम हो रहे हैं, यह साधना की प्रगति दर्शाता है। किस समय कौन सा कर्म-संस्कार अंतर्मन की गहराई मे छेड दिया गया और वह उभर कर आया, सतह पर आया, उदीर्णा हुई, तब जिस प्रकार का कर्म-फल उभर कर आया हो, पक कर आया हो, उसी प्रकार की संवेदना होगी। यह संवेदना स्थूल, सूक्ष्म, सुखद, दुःखद आदि विभिन्न प्रकार की हो सकती है। कर्म-संस्कार उभर कर आया उस समय साधक ने उसे कैसे देखा, इस पर साधना की प्रगति निर्भर है। यदि साधक ने समता से देखा तो वह प्रगति की ओर है; उसने यदि राग-द्वेष से देखा, तो और कर्म-संस्कार की गाँठें वह बाधने लग जाता है। कौन सा कर्म-संस्कार उभर कर आया इसे मापा नही जाता। साधक ने समता से देखा या समता खो दी, यह महत्वपूर्ण है। संवेदना प्रकट होने पर यदि उसे साधक ने राग से या द्वेष से देखना शुरू कर दिया, तो साधना की प्रगति नही है। यदि, राग-द्वेष आ भी जाय, तो कितने जल्दी होश जगता है और चित्त-धारा पर राग-द्वेष आरम्भ होने नही दिया जाता है, इसका अभ्यास ही साधना है। कई बार ऐसे होने लगता है की शरीर मे एक-जैसी संवेदना की सूक्ष्म-सूक्ष्म धारा-प्रवाह की अनुभूति का बोध हो रहा है, स्थूलता नही है, सघनता भी टूट गई है और फिर यकायक शरीर के किसी भाग मे घनी पीडा की गाठ उभर आयी, कही मूर्छा छा गयी, कही स्थूल संवेदना जाग पडी, कुछ घनीभूत होने लगा, तो साधक को घबराना नही चाहिए। यह सब साक्षी-भाव से देखते हुए साधक को साधना जारी रखनी चाहिए, तो ही, सघनता या स्थूलता के टुकडे टुकडे होकर फिर से सूक्ष्म संवेदना महसूस हो सकती है। संवेदनाएं उभर कर ऊपर आये और समाप्त हो जाये यही साधना है। 'उपज्जित्वा निरुज्झन्ति' यही साधना है।

जैसे ही चित्त-धारा पर संवेदना उभर आयी और अपने स्वभाव वश भूले-बिसरे राग या द्वेष चित्त मे जगना शुरू हुआ तो कितने शीघ्र स्मृति जागी, होश आया और संवर (संयम) कर लिया याने रोक लगा दी, तब प्रकृति का नियम अपने आप काम करने लगता है, निर्जरा होने लग जाती है, संवेदना का क्षय होने लग जाता है। संवर करते ही फिर, किसी अन्य कर्म-संस्कार का फल उभर कर ऊपर आयेगा ही। तब उभरी हुई संवेदना को समता भाव से देखने से उसकी निर्जरा होगी ही, क्षय होगा ही। संवर होगा तो संवेदना की उदीर्णा होगी, निर्जरा होगी, क्षय हो जायगा। संवर करना ही प्रमुख है। संवर करना ही नही आया तो संस्कार संवर्धन होगा, वह बढता ही जायेगा, बढता ही जायेगा। ऊपरी ऊपरी संवर हुआ तो उतना ही काम होगा, शरीर व वाणी के दुष्कर्मों से बचेंगे, किन्तु मन का संवर अन्तर्मन की गहराई तक करना आ जाय, तो मन का मैल समाप्त होने लगता है। सारे काया-स्कन्ध मे, सारे चित्त-स्कन्ध मे सर्वत्र संवर हो जाय, तो दुःखो से छुटकारा होने ही लगता है।

साधक भावनामयी प्रज्ञा से खब जानने लगता है कि ऐसा ऐसा कारण हो तो ऐसा ऐसा होता ही है और ऐसा ऐसा बन्द हो जाय, तो ऐसा ऐसा होना बन्द हो ही जाता है। प्रकृति का यह नियम साधक के समझ मे ठीक आने लगता है। अनुभतियो के स्तर पर समझ मे आने लग जाय और सचमुच सवर होने लग जाय, तो कल्याण सधने ही लगता है ।

भगवान बुद्ध कहते है—

"अनिच्चा वत सङखारा, उप्पादवयधम्मिनो ।
उपज्जित्वा निरुज्झन्ति, तेस उपसमो सुखो ।। "

कर्म-सस्कार अनित्य है, उनका सवेदनाओ के रूप मे उत्पाद होना और व्यय होना यह नित्य धर्म है, ध्रुव धर्म है। सारी स्थितियाँ, वस्तु, घटनाएँ बदलती ही रहती है, यह बदलने वाली क्रिया नही रुकती है, परिवर्तनशीलता ही इसका नित्य स्वभाव है। अन्तर्मन की गहराई मे जाकर साधक देखता है तो यह बात समझ मे आने लगती है कि जो कर्म-सस्कार उत्पाद होकर बेहोशी मे हो जाता है, वह फिर एक नये उत्पाद का कारण बन जाता है और एक नया कर्म-सस्कार मन पर चिपक जाता है। नया बीज फिर से पडा, फिर मे फल आया और फिर समाप्त हुआ, फिर बीज, फिर फल, फिर समाप्त; फिर बीज . , इसका कोई अन्त ही नही। यह उत्पाद-व्यय का चक्र अविरत चलता ही रहता है; किन्तु साधना मे देखा जाय कि उत्पाद तो हुआ, क्योकि कर्म-सस्कार के बीज पहले जो डाले हुए है इसलिये उत्पाद तो होगा ही, फल भी आया, निरुद्ध भी हो गया, निर्जरा भी हो गयी और व्यय हो गया, क्षय हो गया। उत्पाद हुआ और होश के साथ निरुद्ध हो गया, तो एक के बाद एक अतर्मन की गहराईयो मे से परते उभर कर ऊपर आयी, समाप्त हुईं और ऐसे एक के बाद एक परते उभर कर समाप्त होती जाय तो ऐसा मुख (प्रमोद) मिलता है, जिसके सामने अन्य मुख तुच्छ है। ऐसी परते पूरी तरह क्षय हो जाय, तो 'निब्बाण परम सुख' निब्बाण का परम-मुख उपलब्ध होता है।

प्रकृति के दो अटूट नियम

यह सारा खेल कैसे चलता है, इसको समझना चाहिए। प्रकृति के दो नियमो को समझ लेना चाहिए। एक ओर, सस्कारो के सवर्धन का नियम है, वे बढते है, बढते ही है, 'उप्पाद-वय-धम्मिनो' चलते ही रहता है, और दूसरी ओर, यदि इस सस्कार-सवर्धन पर सवर द्वारा रोक लगा दी गयी, रोक लगाना आ जाय तो पुराने सस्कार घटने का काम, क्षीण होना शुरू हो जाता है। भगवान कहते है 'क्षीण पुराण नव-नत्थि सम्भव '। नये बनना बन्द हो जाते है और पुराने क्षीण होने लग जाते है। इस प्रकार, सभी सस्कार समाप्त हो जाते है। तब भगवान कहते है—

'विसङ्खारगतं चित्तं, तण्हानं खयमज्झगा' याने 'चित्त संस्कारो से मुक्त हो गया, तृष्णा का समूल नाश हो गया।' जिसने संवर करना शुरू किया, उसके संस्कारो की निर्जरा होती जाती ही है। और अन्ततः मुक्त अवस्था प्राप्त होगी ही। यह एक उदाहरण से समझे—

धरती मे एक वटवृक्ष का बीज बोते है। उस नन्हे से बीज मे कितना विशाल वटवृक्ष समाया हुआ है। प्रकृति उसे बाहर लाती है। कितना बडा वृक्ष निकल आता है उस नन्हे से एक बीज मे से! अनेक फल आते है, हर मौसम मे। बीज एक ही था, किन्तु फलो पर फल अनेक मौसमो मे आते ही रहते है, जब तक वह वृक्ष जर्जरित न हो जाय। प्रकृति का नियम है, बढता ही जाता है, बढता ही जाता है। बढने का नाम ही माया है। खूब फैलता है, विशाल होता है, इसलिए ही 'विश्व' कहा गया है। फल देना शुरू किया, ऋतु-ऋतु मे फल ही फल आते है। वृक्ष जर्जरित हुआ, मृत्यु को प्राप्त हुआ, फिर भी कहानी समाप्त नही होती। एक बीज ने जितने फल दिये, वह हर फल एक या अनेक बीज लेकर आता है। उसी प्रकार के गुणधर्मो का बीज लेकर आता है। और, हर बीज के अन्दर विशाल वृक्ष समाया हुआ है। किसी उपजाऊ धरती पर बीज गिर जाय, तो फिर से विशाल वृक्ष होगा। फिर अनेक फल आने प्रारम्भ होगे, आते ही जाएँगे। और, हर फल अपने साथ बीज लेकर आता है और बीज फिर विशाल वृक्ष उत्पन्न करता है। बस, यह ससार-चक्र चलता ही रहता है, चलता ही रहता है। इसका अन्त नही, कितना बढावा, कितना फैलाव होते ही जाता है।

एक ओर, यह सचाई है कि एक बीज डाल दिया तो कैसे फैलाव होता ही जाता है। तो कैसे इस पर रोक लगे! हर फल अपने साथ बीज लेकर आता है, किन्तु यदि उसको उपजाऊ धरती न मिले, तो बीज समाप्त हो ही जायेगा, वह किसी चट्टान पर फेंक दिया जाय, तो नही उपजेगा।

इसी प्रकार, हर संस्कार अपना कर्मफल लेकर आता है और उसमे दुःख समाया हुआ है, क्योंकि वह अपने साथ दुःख का बीज लेकर आता है। हर दुःख का बीज अज्ञान से, अविद्या से, या बेहोशी से उपजाऊ धरती पर डाल दिया गया, तो फिर से अनेक कर्मफल लेकर उत्पन्न होते ही जाता है। दुःख से व्याकुल होना, दुःखी रहना, नया सस्कार डालना और हर नया सस्कार फिरसे दुःख साथमे लेकर नया कर्मफल लाता है। और फिर से, हर फल दुःख के सस्कार के बीज उत्पन्न करता है। इस प्रकार, यह ससारचक्र चलते ही रहता है। इसका कही अन्त नही। किन्तु इस बीज को उपजाऊ धरती देना बद कर दे, याने नये सस्कार बनाने बन्द कर दे, होश रहे, प्रज्ञा जागती रहे, तो नये कर्मफल नही बनेगे। अब रोक लग गयी, ससार-चक्र धर्म-चक्र मे परिवर्तित हो जाता है।

कर्मफल यह दुःख की चिनगारी है। इस समय प्रज्ञा का होश रहा तो यह

चिनगारी जितना जलावन लेकर आयी है, वह जल कर समाप्त हो जायेगी। चित्त मैत्री से भर जायगा, तो चिनगारियाँ समाप्त हो जायगी। इसलिये सवर करना चाहिए। चित्त मे गहराईयो तक रोक लगनी चाहिए। चित्तधारा पर दु ख की चिन-गारी आयी और यदि समता खो दी, तो दु ख को बढावा मिलेगा। यदि सवर हुआ, तो दु ख घटने लग जायगा। नया सस्कार नही बनेगा तो पुराने सस्कार घटने लग जाएँगे। जलावन जले और उसपर नया जलावन नही दिया तो जलकर समाप्त हो जायगा। कर्मसस्कारो का कितना भी संग्रह हो, नये नही बनाएँगे, तो पुराने समाप्त होते ही रहेगे।

क्रोध आया तो, अगला क्षण फिर क्रोध, उसके अगला क्षण फिर क्रोध, हम घंटो व्याकुल होते ही रहते हैं। भय आया तो भय, फिर भय, फिर से भय बना ही रहता है। वासना जागी, तो कितनी ही देरी तक वह बनी ही, बनी ही रहती है। इसको रोक लग जाय, तो चित्तधारा को बहने के लिए कोई-न-कोई आधार आवश्यक होता है। इस कारण ही पुराने सस्कार उखड कर ऊपर आते है। जब हमने नये सस्कार नही बनाए, तो चित्त-धारा के प्रवाह को धक्का देने के लिए पुराने सस्कार उखडेंगे ही। उसीको त्वरतिकरण कहते है। पुराना संस्कार जल्दी पकता है, तब कोई न कोई संस्कार अपना सिर उठाएगा, फल लेकर चित्त-धारा पर आएगा ही। इसीको 'उदीर्णा' कहते है।

पुराने किसी कर्म का फल जब चित्त-धारा पर आता है, तो जैसा कर्म था वैसा ही, फल आएगा। दु खद फल आया, तो फिर बेहोशी मे सस्कार डालने शुरू हो जायेगे। तब साधक इस कर्मफल का द्वेष करना प्रारभ करता है, 'दु ख नही चाहिए, नही चाहिए' का चिंतन करता है। उसी प्रकार यदि सुखद फल आया तो राग करता है और 'चाहिए, अच्छा लगता है, चाहिए' का चितन करता है। तब नये सस्कार बनाना शुरु हो जाता है। अब पुराने सस्कार उखडने की बारी नही आती। किन्तु, यदि नये संस्कार होश मे रह कर बनाने बद कर दिये जाय और चित्त को समता मे रखा जाय, कोई प्रतिक्रिया नही की जाय तो नये सस्कार नही बनेगे। फिर पुराने सस्कार उभर कर ऊपर आएँगे, उदीर्णा होगी। और इस समय भी नये सस्कार नही बनाये, तो फिर पुराने संस्कार उभर कर ऊपर आएँगे और समाप्त होगे। बस, यह क्रम बन जाता है। तब पुराने संस्कारो का चाहे कितना ही सग्रह क्यो न हो, वे उखडेंगे, निर्जरा होगी, क्षय हो जायगा। तब सस्कार समाप्ति का रास्ता निकल आया। यही 'उपज्जित्वा निरुज्झन्ति' है। तब देर-सबेर सचित कर्म-सस्कार समाप्त होगे ही, बशर्ते कि प्रज्ञा जागती रहे। तब सही सुख मिलेगा, दु ख से छुटकारा मिलेगा।

भगवान एक उदाहरण से समझाते है। कासे का बर्तन छेड दिया गया तो उस पर टकार कितनी देरी तक झनझनाती है। यदि उसे फोड दो, तो झंकार बन्द

हो जायेगी या उसपर हात रख दो, तो झनझनाना बन्द हो जायगा। अत कुछ तो करो, कही तो सवर करो। यह तभी होगा, जब हम अन्तर्मुखी होकर अपनी ओर समता से, प्रज्ञा से देखना शुरू कर देगे। नया सस्कार बनाना हम बन्द कर देगे तो संस्कारो का सवर्धन होना बन्द हो जायगा।तब पुराने सस्कार उखड कर क्षय होते जायेगे। अब जीवन मे समता आने लगेगी, भीतर की समता बाहर आने लगेगी और चित्त मे मैत्री तथा करुणा जागने लगेगी, चित्त आनद मे भरने लगेगा और जीवन मे सुख से जीने का रास्ता खुल जायगा।

भगवान कहते है––

"फुट्ठस्स लोकधम्मेहि चित्त यस्स न कम्पति।
असोक विरज खेम एत मङ्गलमुत्तम ॥"

लोक-धर्मो का सम्पर्श जीवन मे होता ही रहता है। चढाव-उतार आता ही रहता है। जय-पराजय, सुखद-दु खद स्थिति आती ही रहती है। ये द्वन्द चलते ही रहते है। इन सभी स्थितियो मे इनका चित्त को स्पर्श जब जब होता है, तब तब चित्त कम्पायमान नही होता, समता मे रहता है, प्रतिक्रिया नही करता, रोने पीटने नही लगता, विरज रहता है याने नया मैल नही डालता, शान्त, निर्भय रहता है, यही उत्तम मङ्गल है। यह सधने लगा तो, अगला क्षण अच्छा ही होगा। अब उस साधक को किसी बात का भय नही है, वह निश्चित है। अत समता जितनी जितनी रहती है, उतना उतना मङ्गल सधने लग जाता है।

महापुरुषो के भी जीवन मे चढाव-उतार आते ही है। तो साधारण लोगो के जीवन का क्या कहना! कोई नही बचा है इससे। कैसे हम स्वय समता के साथ रहे, यही भगवान सिखाते रहे। केवल उपदेशो से ही नही, अपितु भगवान ने एक अनूठी विद्या सिखायी। उस विद्या के बल पर अन्तर्मन मे समता पुष्ट होने लगी, प्रज्ञा पुष्ट होने लगी, शील समाधि मे, प्रज्ञा मे पुष्ट होने लगी, तो इस ससार मे अपना कर्तव्य करते करते साधक धर्म-चक्र मे परिवर्तित हो ही जाता है। वह नितान्त शुद्ध अवस्था पर पहुच ही जाता है। उसे शान्ति प्राप्त होती ही है।

विपश्यना के अभ्यास द्वारा हम नये सस्कार बनने नही देगे और पुराने संस्कार उखड कर समाप्त करते रहेगे, तो एक समय ऐसा आने ही वाला है, जब कि चित्त मैत्री और करुणा से भर उठेगा। तब चित्त की विशुद्धि होती जाएगी और जीवन मे आनद भर जायगा। ऐसी है यह विपश्यना साधना, जो सब का मगल, कल्याण करनेवाली, इसी जीवन मे निर्वाण के साक्षात्कार तक ले जाने वाली विधि है।

भगवान कहते है––

"सब्बे सङ्खारा अनिच्चा'ति, यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया ॥"

––धम्मपद

"सारे संस्कार अनित्य है। जो कुछ उत्पन्न होना है, वह नष्ट होता ही है। इस सचाई को जब साधक विपश्यना-प्रज्ञा से देखता है, तो उस के सभी दुःख दूर हो जाते है, ऐसा है यह विशुद्धि का मार्ग।"

"सब्बे संङखारा दुक्खा'ति, यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया।।"

—धम्मपद

"सारे सस्कार दु ख है, जो कुछ उत्पन्न होता है, वह नाश होने के कारण दु.ख ही है। इस सचाई को जब साधक विपश्यना-प्रज्ञा से देखता है, तो उसके सभी दु ख दूर हो जाते है। ऐसा है यह विशुद्धि का मार्ग।"

"सब्बे धम्मा अनत्ता'ति, यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया।।"

—धम्मपद

"सभी धर्म अनात्म है, याने लौकिक अथवा लोकोत्तर जो कुछ भी है, वह सब अनात्म है, 'मै' 'मेरा' नही है, मेरे वशीभूत नही है। इस सचाई को जब साधक विपश्यना-प्रज्ञा से देखता है, तो उसके सभी दु ख दूर हो जाते हैं। ऐसा है यह विशुद्धि का मार्ग।"

"मोह भिक्खवे, एकधम्म पजहथ।
अह वो पाटिभोगो अनागामितया।।" —इतिवृत्तक

"भिक्षुओ, केवल एक मोह का त्याग कर दो, तो मै तुम्हारे अनागामी (मुक्त) होने की जामीन लेता हू।"

मोह याने मूढता, अज्ञान अवस्था, अविद्या। मोह अवस्था मे ही हम नए नए सस्कारो का सृजन करते रहते है, मन को नए नए विकारो से विकृत करते रहते है। हमे होश ही नही रहता कि हम क्या कर रहे है। हम अपने आपको राग के बन्धनो मे जकडे रखते है द्वेष के बन्धनो मे जकडे रखते है। इस अनजान अवस्था मे इन बन्धनो की गाठे हम बान्धते ही रहते है।

यदि मोह दूर हो याने हमे होश रहे, सावधानी रहे, जागरूकता रहे, तो हम अपने चित्त पर नए सस्कारो की गहरी लकीरे पडने ही नही देगे, अपने आपको राग और द्वेष के बन्धनो मे बन्धने ही नही देगे। यह ज्ञानपूर्ण जागरूकता ही प्रज्ञा है, जो मोह को जड मे उखाड फेकती है।

अत हमे प्रज्ञा को जाग्रत रखने के लिए और उसे पुष्ट बनाए रखने के लिए विपश्यना का अभ्यास करते रहना है।

स्मृति और सम्प्रजन्य

हर क्षण की जागरूकता स्मृति है और हर स्थिति का समता से निरीक्षण सम्प्रजन्य है। स्मृति और सम्प्रजन्य एक ही गाडी के दो पहिये है। स्मृति और सम्प्रजन्य ये दोनो ही तीव्र आदर के साथ सम्पन्न करते रहना चाहिए।

चार विपश्यनाएँ

काया के अग-प्रत्यग का निरीक्षण कायानुपश्यना है। अग-अंग मे स्थूल और सूक्ष्म सवेदनाओ की अनुभूतियाँ, जो कि कभी सुखद, कभी दुखद, कभी न सुखद न दुखद होती रहती है। उन्हे द्रष्टाभाव से निरीक्षण करना वेदनानुपश्यना है।

चित्त मे उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेषादि विकारो का निरीक्षण करना चित्तानुपश्यना है। चित्त की जैसी भी स्थिति होती है,वैसी चित्त की स्थिति को समझना है।

अनित्य, दुःख, अनात्म का बोध होते रहना धम्मानुपश्यना है। चित्त पर जो अच्छा या बुरा भाव उत्पन्न होता है, वह धर्म कहलाता है।

इन चारो अनुपश्यना का विवरण आगे 'सतिपट्ठान' अध्याय मे दिया गया है।

ये चारो विपश्यनाए कम अधिक प्रमाण मे एक साथ चलती रहती है। इनमें वेदनानुपश्यना विशेष महत्वपूर्ण है। इसका अन्य तीनो से सम्बन्ध है। 'वेदना' काया के आधार पर ही अनुभूत होती है। वह चित्त द्वारा ही अनुभूति की जाती है। प्रत्येक चित्त-विकार एक सूक्ष्म सवेदना से सम्बन्धित है। इसी कारण से वेदनानुपश्यना का अपना एक विशिष्ट महत्व है। इस एक की पुष्टि मे चारो की पुष्टि होती चली जाती है।

इस प्रकार, अन्तर्विपश्यनाओ द्वारा स्वय अपने अनुभूतियो से सत्य का साक्षात्कार किया जाता है। यह शरीर तो अष्टकलापो का, सूक्ष्म परमाणु कणो का पुजमात्र है और अनित्यता, परिवर्तनशीलता उसका स्वभाव है। अन्तर्विपश्यना ही महत्व रखती है।

पृथ्वी, अग्नि, वायु, जल इन चारो महाभूतो से बने इस शरीर के परमाणु कण शरीर के भीतर अपने गुण, धर्म, स्वभाव का प्रतिक्षण प्रदर्शन करते ही रहते है। बीधती हुई तीक्ष्ण समाधि के बल पर ही इस परिवर्तनशील शरीर-धारा के प्रवाह का निरीक्षण किया जाता है और इसी प्रकार सतत परिवर्तनशील चित्त-धारा का भी। दोनो का अनित्य स्वभाव और दोनो का दुःख-स्वभाव स्वय अनुभूत होता है, और तब, उनका अनात्म स्वभाव भी स्वय स्पष्ट होने लगता है। तन और मन की इस मिलीजुली प्रवाहमान् धारा मे स्थायी, स्थिर, शाश्वत, ध्रुव ऐसा कुछ भी तो नहीं है, जिसे हम 'मै' 'मेरा' कह सकें, जिस पर अपना आधिपत्य स्थापित कर सके। इसी प्रकार, नाम और रूप की जीवनधारा को भी निरासक्त होकर, निर्लिप्त होकर देख सकने का अभ्यास आरम्भ होता है। जैसे-जैसे सूक्ष्म अनुभूतियो की गहराइयो मे हम उतरते जाते है, वैसे-वैसे यह निर्लिप्तता भी पुष्ट होती जाती है।

जब तक आसक्ति है, तब तक आलंबन का यथाभूत दर्शन हम कर नहीं सकते। विपश्यना-प्रज्ञा द्वारा जैसे जैसे आसक्ति टूटती है, वैसे वैसे सभी आभ्यातरिक आलवनों का यथाभूत, यथास्वभाव, यथालक्षण दर्शन होने लगता है; जैसे, अंधेरे घर में दीपक लेकर प्रवेश करे तो वहा का अंधःकार दूर होता है। प्रकाश उत्पन्न होता है, तो वहां की सभी वस्तु साफ साफ दिखाई देने लगती है। इसी प्रकार, प्रज्ञा के उत्पन्न होने से अविद्या का अंधःकार दूर होता है, विद्या का उजाला जाग उठता है, आर्यसत्यों का प्रकटीकरण होता है और अन्तिम सत्य का, परमार्थ-सत्य का साक्षात्कार होता है।

इस विशुद्धिमार्ग का वर्णन और अधिक विस्तार से आगामी अध्यायों में करेंगे। इसके पूर्व प्रतीत्यसमुत्पाद को समझना चाहिए, जो अगले अध्याय में स्पष्ट किया गया है।

अध्याय २३ वा

'पटिच्चसमुप्पाद' संसारचक्र

'प्रतीत्यसमुत्पाद' को पालि भाषा में 'पटिच्चसमुप्पाद' (The law of dependent origination) कहते हैं।

दुःख-समुदय (उत्पत्ति) का हेतु—दुःख की उत्पत्ति कैसे होती है—इसका यथाभूत ज्ञान-दर्शन दुःख निरोध के लिए अत्यंत आवश्यक है। इस क्रम को प्रतीत्य-समुत्पाद (हेतु-फल-परम्परा) कहते हैं। बुद्ध देशना में इसका बहुत ऊँचा स्थान है।

इसके होने पर, इस हेतु, इस प्रत्यय (कारण) से, वह (फल) होता है। इसके उत्पाद से, उसका उत्पाद होता है। इसके न होने पर वह नहीं होता। इसके निरोध से वह निरुद्ध होता है। यह हेतु-फल-परम्परा है। कोई वस्तु शाश्वत नहीं है, सभी धर्म क्षणिक हैं और हेतु-प्रत्यय-जनित हैं।

'हेतु' तीन दोष हैं—राग, द्वेष, मोह। ये चित्त की अवस्थाओं को अभि-संस्कृत (संस्कारों से व्याप्त) करते हैं। अतः ये अवस्थाएँ सहेतुक कहलाती हैं। इसके विपक्षभूत प्रत्यय (पच्चय) धर्मों का विविध सम्बन्ध है। जो धर्म जिसकी उत्पत्ति में या निवृत्ति में उपकारक होता है, वह उसका 'प्रत्यय' कहलाता है।

राजकुमार सिद्धार्थ राजवैभव को छोडकर दुःख के कारण और दुःख-निरोध के मार्ग की खोज में चल पडे। वे प्रथम तापस आलार कलाम के पास गये। सिद्धार्थ ने पूछा, 'जरा-मरण-रोग से सत्त्व (जीव) कैसे विमुक्त होना है?' आलार ने अपने शास्त्र के निश्चय को बताया। उन्होंने संसार की उत्पत्ति और विवर्त्तन को समझाया। तत्त्वों की शिक्षा देकर उन्होंने नैष्ठिकपद की प्राप्ति का उपाय भी बताया। समाधि के सात ध्यानों को उन्होंने सिखाया। किन्तु सिद्धार्थ को आलार की शिक्षा में सन्तोष नहीं हुआ।

विशेष जानने के लिए सिद्धार्थ उद्रक रामपुत्र नामक तापस के पास गये। उन्होंने आठवा ध्यान सिखाया। साख्ययोग की शिक्षा दी। किन्तु, इनके भी दर्शन से सिद्धार्थ को संतोष नहीं हुआ। तब वे अनुत्तर (सर्वश्रेष्ठ) शान्तिवर-पद की गवेषणा में 'उरुवेला' आये और उन्होंने नेरंजना नदी के तट पर आवास किया। सिद्धार्थ ने विचार किया, 'मुझ में भी श्रद्धा है, वीर्य है, स्मृति है, समाधि है और प्रज्ञा है। मैं स्वयं ही सत्य का साक्षात्कार करूँगा।' सिद्धार्थ के साथ पांच अन्य भिक्षु भी थे। कालान्तर में सिद्धार्थ ने अनशन-व्रत यह समझकर किया कि इससे वे

जन्म-मरण पर विजय प्राप्त करेंगे। वे एकतिल-तण्डुल पर रहने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि वे अत्यन्त कृश हो गये और केवल त्वक् (त्वचा) व अस्थि (हड्डी) शेष रह गयी। तव उनको मालूम हुआ कि यह मार्ग विराग,वोध, मुक्ति के लिए अयोग्य है, दुर्वल साधक इस पद को नही पा सकता। सिद्धार्थ गौतम फिर से भोजन करने लग गये। जव शरीर और मन स्वस्थ हुआ, तव उन्होने समाधि लगायी। उनके साथ के पाच भिक्षुओ ने असन्तुष्ट होकर उनका साथ छोड दिया।

सिद्धार्थ कृतसकल्प हो अश्वत्थ पेड के नीचे पर्यकवद्ध आसन लगाकर वैठ गये। तव उन्होने यह प्रतिज्ञा की, 'जवतक मै कृतकृत्य नही हो जाता, तवतक इसी आसन पर वैठा रहूगा।' रात्रि के प्रथम याम मे उनको पूर्व-जन्मो का ज्ञान हुआ। दूसरे याम मे दिव्य-चक्षु विशुद्ध हुआ, अन्तिम याम मे द्वादश प्रतीत्य-समुत्पाद का साक्षात्कार हुआ और अरुणोदय मे उनको सर्वज्ञता का प्रत्यक्ष हुआ, सम्यक् सम्वोधि प्राप्त हुई। यही उनका वुद्धत्व था। उस दिन से वे सम्यक् सम्वुद्ध कहलाने लगे।

सर्वज्ञता का साक्षात्कार कर भगवान ने सर्वप्रथम ये प्रीतिवचन (उदान) कहे —

"अनेक-जाति-ससार सन्धाविस्स अनिव्विस।
गहकारक गवेसन्तो दुक्खा जाति पुनप्पुन॥
गहकारक! दिट्ठोसि पुन गेहं न काहसि।
सब्वा ते फासुका भग्गा गहकूट विसङ्खित।
विसङखार गत चित्त तण्हान खयमज्झगा॥"

"अनेक जन्मो तक विना रुके ससार मे दौडता रहा। इस कायारूपी घर वनाने वाले की खोज करते हुए पुन पुन दु खमय जन्म लेता रहा। हे गृहकारक! (हे घर वनाने वाले)अव तुझे देख लिया है। अव तू पुन घर नही वना सकेगा। तेरी सारी कडियाँ टूट गई, गृहशिखर ढह गया, गिर गया। चित्त सस्कारो से विहीन हो गया। तृष्णा का समूल नाश हो गया।"

सात सप्ताह तक भगवान विविध वृक्षो के नीचे वैठकर विमुक्ति-सुख, निर्वाण का आनन्द लेते रहे।

पहले उनका विचार 'आलार कलाम' और 'उद्रक रामपुत्र' को धर्मोपदेश (देशना) देने का हुआ। किन्तु समाधि द्वारा यह जानकर कि वे अव जीवित नही है, उन्होने उन पाँच भिक्षुओ को धर्म का उपदेश करने का निश्चय किया जो उनका साथ छोडकर 'ऋषिपत्तन' मृगदाव ('सारनाथ' काशी के पास) चले गये थे।

आषाढ पूर्णिमा के दिन उनका पहला उपदेश 'सारनाथ' में हुआ। यह उपदेश 'धर्मचक्र-प्रवर्त्तन-सूत्र' नाम से विख्यात है। यही धर्मचक्र का प्रथम बार प्रवर्त्तन हुआ। इसलिए सारनाथ भिक्षुओ का एक तीर्थ बन गया। पाचो भिक्षु भगवान के प्रथम शिष्य हुए।

भगवान को सम्बोधि प्राप्त हुई उसी समय प्रतीत्य-समुत्पाद का साक्षात्कार हुआ। तब भगवान ने उस बाबत का उपदेश इस प्रकार दिया ---
अनुलोम---(अवरोहण : पतनोन्मुख)

"अविज्जापच्चया सङखारा, सङखारपच्चया विञ्ञाण,

विञ्ञाणपच्चया नामरूपं, नामरूपपच्चया सळायतन,

सळायतनपच्चया फस्सो, फस्सपच्चया वेदना,

वेदनापच्चया तण्हा, तण्हापच्चया उपादान,

उपादानपच्चया भवो, भवपच्चया जाति,

जातिपच्चया जरा-मरण-सोक-परिदेव-दुक्ख-दोमनस्स--उपायासा सम्भवन्ति।

एवमेतस्स केवलस्स दुक्खखन्धस्स समुदयो होति।।"

अर्थ ---अविद्या के कारण से सस्कार होते है। संस्कार के कारण से विज्ञान, विज्ञान के कारण से नाम-रूप, नाम-रूप के कारण से छ. आयतन, छ आयतन के कारण से स्पर्श, स्पर्श के कारण से वेदना, वेदना के कारण से तृष्णा, तृष्णा के कारण से उपादान, उपादान के कारण से भव, भव के कारण से जन्म, और जन्म के कारण से बूढा होना, मरना, शोक करना, रोना--पीटना, दुःख, बेचैन व परेशान होना होता है। इस प्रकार सारा का सारा दु ख-समुदाय ही उठ खडा हो जाता है।
प्रतिलोम --- (आरोहण. उन्नोन्मुख)

"अविज्जाय त्वेव असेस-विराग-निरोधा सङखारनिरोधो,

सङखारनिरोधा विञ्ञाणनिरोधो, विञ्ञाणनिरोधा नामरूपनिरोधो,

नामरूपनिरोधा सळायतन निरोधो; सळायतननिरोधा फस्सनिरोधो,

फस्सनिरोधा वेदनानिरोधो, वेदनानिरोधा तण्हानिरोधो,

तण्हानिरोधा उपादाननिरोधो, उपादाननिरोधा भवनिरोधो,

भवनिरोधा जातिनिरोधो, जातिनिरोधा जरा-मरण-

सोक-परिदेव-दुक्ख-दोमनस्स-उपायासा निरुज्झन्ति।

एवमेतस्स केवलस्स दुक्खखन्धस्स निरोधो होति।"

अथ :—अविद्या के सम्पूर्णत रुक जाने से सस्कार रुक जाते है । सस्कार के रुक जाने से विज्ञान रुक जाता है। विज्ञान के रुक जाने से नामरूप, नामरूप रुकने से छ आयतन, छ: आयतन रुकने से स्पर्श,स्पर्श रुकने से वेदना, वेदना रुकने से तृष्णा, तृष्णा रुकने से उपादान, उपादान रुकने से भव, भव रुकने से जन्म, जन्म रुकने से बूढा होना, मरना, शोक करना, रोना-पीटना, दु.ख, बेचैन और परेशान होना रुकता है। इस प्रकार, सारा का सारा दु ख-समुदाय ही रुक जाता है।

अनुलोम यह ससारचक्र है, भवचक्र है और प्रतिलोम यह भवचक्र मे धर्मचक्र मे परिवर्तन है।

प्रतीत्यसमुत्पाद 'क्लेश, कर्म और वस्तु' है। बीज से अंकुर, पत्रादि उत्पन्न होते है, इसी प्रकार क्लेश से 'क्लेश, कर्म और वस्तु' उत्पन्न होते है। इस भवचक्र के अविद्या और तृष्णा मूल कारण है। इनके निरोध से धर्मचक्र-परिवर्तन होता है।

इस तरह 'अविद्या ही है' जो संस्कारो को जन्म देती है। इन संस्कारो से ही सभी प्राणियो मे विज्ञानरूपी जीवनधारा प्रवाहित होती है। विज्ञानरूपी जीवनधारा के स्थापित होते ही नाम और रूप (चेतन और जड) स्वत. परस्पर आश्रित हो, उत्पन्न हो जाते है। नाम और रूप से मन और शरीर बनता है और छ इन्द्रियो का विकास होता है ' इन इन्द्रियो से स्पर्श उत्पन्न होता है और इन्द्रियो द्वारा विषयों का स्पर्श होते ही वेदना (सुखद, दु खद, असुखद-अदु खद) उत्पन्न होती है। वेदना से तण्हा (तृष्णा) उत्पन्न होती है और तण्हा से उपादान (तीव्र लालसा)। यह उपादान ही है जो भव (जन्म) का कारण है। यह भव ही जरा, रोग, मृत्यु, शोक, परिताप, पीडा आदि का कारण है, जो सब के सब दु.ख-रूप है। इस प्रकार भगवान बुद्ध ने जान लिया कि दु ख-स्कन्ध का मूल कारण अविद्या ही है। वैसे, मोटे तोर से हम कह सकते है कि दु ख का कारण तृष्णा है।

समाधि (एकाग्रचित्त) के बल से विपश्यना द्वारा हम भीतर की ओर देखते है और परमाणुओ के प्रकम्पन, विकीर्णन और सघर्षण की तीव वेदना महसूस करते है। तभी हमे इस 'आन्तरिक दु ख' का यथार्थ बोध होता है। इस सत्य को न जानना ही अविद्या है और इसे अपने परमार्थ रूप मे जान लेना ही अविद्या का नाश करना है। उस अविद्या का, जो कि दु ख की जननी है, जो कार्य-कारण श्रृङखला द्वारा इस जीवनधारा को प्रवाहित करती है, जो स्वभाव मे ही जरा, व्याधि, पीडा, परिताप और चिन्ता आदि से परिपूर्ण है, नाश करना है।

प्रतीत्य-समुत्पाद के बारह अङग इस प्रकार है —

(१) अविद्या, (२) सस्कार, (३) विज्ञान, (४) नामरूप, (५) षडायतन, (६) स्पर्श, (७) वेदना, (८) तृष्णा, (९) उपादान, (१०) भव, (११) जाति, (१२) जरा-मरण।

ये तीन काण्डो मे विभक्त है——अविद्या और संस्कार अतीत मे पूर्वभव में (पिछले जन्म मे), जाति और जरा-मरण अपर भव मे (अगले जन्म मे), शेष आठ अङ्ग प्रत्युत्पन्न भव मे (वर्तमान जन्म मे)। मध्य के आठ अङ्ग सब सत्त्वो के प्रत्युत्पन्न भव मे सदा पाये जाते ही है, ऐसा नही है। यह 'परिपूरिन्' सत्त्व के अभिप्राय से है, जो सब अगभूत अवस्थाओ से होकर गुजरता है। जिसका अकाल मरण होता है या जिसका मरण गर्भावस्था मे होता है, वह सत्त्व 'परिपूरिन' नही है।

प्रतीत्यसमुत्पाद को दो भागो मे भी विभक्त कर सकते है। पूर्वान्त (अतीत भव १–२, अपने फल के साथ ३ से ७) और अपरान्त (अनागत) भव के हेतु ८ से १० और अनागत-भव ११–१२ के साथ)।

बौद्ध-शास्त्रो के अनुसार जो वस्तु अपने ज्ञान की सीमा से परे है अथवा जो अपने ज्ञान का विषय नही हो सकती, उसपर विचार करना अनुचित माना गया है। यदि पुद्गल हठात् ऐसा करेगा तो उसे वस्तुतत्त्व का सम्यक् ज्ञान न होकर मतिभ्रम ही होगा। अत पुरुपार्थी साधक को मनुष्य-जीवन का जो दुर्लभ क्षण प्राप्त हुआ है, उसका लाभ उटाने की दृष्टि से अपने निर्वाण की सिद्धि के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए। उस क्षण का निरर्थक तर्क-वितर्क, बुद्धि-विलास मे अपव्यय करना श्रेयस्कर नही है।

प्रतीत्यसमुत्पाद के ज्ञान के विना निर्वाण की प्राप्ति स्वप्न मे भी सम्भव नहीं है. इसलिए इसका अभ्यास पुन पुन करना चाहिए, इसे विस्तार से जानना चाहिए।

'प्रतीत्यसमुत्पाद' को पालि भाषा मे 'पटिच्चसमुप्पाद' कहते है। पटिच्च याने प्रत्यय–कारण ऐसा अर्थ है। सम याने सह, साथ और उप्पाद का अर्थ उत्पाद, उत्पन्न ऐसा है। पूर्ण अर्थ हुआ 'इस कारण के साथ यह उत्पन्न हुआ।'

'पच्चयसामग्गि परिच्च सम सह च पच्चयुप्पन्नधम्मे उप्पादेतीति पटिच्च-समुप्पादो' अर्थात्, जो प्रत्ययसमूह प्रत्ययसामग्री की अपेक्षा करके सम और साथ, प्रत्ययोत्पन्न धर्मो का उत्पाद करता है, वह प्रत्ययसमूह 'प्रतीत्यसमुत्पाद' है। उदाहरण. पृथ्वी मे बीज बोने से अकुरित होता है। किन्तु साथ मे पानी चाहिए, वैसे ही सूर्यप्रकाश भी चाहिए। अत पृथ्वी, सूर्य और वर्षा आदि की सहायता से वह बढ कर वृक्ष बन कर फूल-फल देता है। यहाँ बीज प्रत्ययसमूह है और पृथ्वी, सूर्य और वर्षा प्रत्यय-सामग्री साथ मे है और वृक्ष-फल प्रत्ययोत्पन्न है।

'अविज्जापच्चया संङखारा' इसमे अविद्या कारण-'प्रत्यय' है, सस्कार कार्य-'प्रत्ययोत्पन्न' है। सङखारपच्चया विञ्ञाण' इसमे सस्कार कारण-'प्रत्यय' है और विज्ञान कार्य–'प्रत्ययोत्पन्न' है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व कारण-प्रत्ययो द्वारा पश्चिम-पश्चिम कार्य-प्रत्ययोत्पन्न धर्मो का उत्पाद होता है। अर्थात् प्रत्ययसमूह प्रत्ययोत्पन्न धर्मो को उत्पन्न करते है। 'समुत्पाद' शब्द मे 'सम्' शब्द 'सम' एवं

' सह ' अर्थ मे है । ' सम ' का अभिप्राय है—' अविद्या द्वारा सस्कार उत्पन्न करते समय अविद्या केवल सस्कार का ही उत्पाद नही करती, अपितु सस्कार के साथ साथ उत्पन्न (सहभू) चित्त एव चैतसिको का भी सम्पूर्ण और समरूप से उत्पाद करती है, न्यूनाधिक उत्पाद नही करती और एक साथ उत्पाद करती है, इसलिए 'सम शब्द है ।

प्रतीत्य समुत्पाद के प्रारम्भ मे अविद्या है । इसका अर्थ यह नही है कि सर्व-प्रथम प्रत्यय अविद्या है, क्योकि ससारचक्र का कोई आदि नही है । अविद्या के आवरण के कारण ही सत्त्व ससार-चक्र मे घूमते रहते है ।

प्रतीत्यसमुत्पाद यह सिद्धात सत्त्वो के पचस्कन्ध 'नाम-रूप' ही है । यह कारण-कार्य-परम्परा से प्रवाहमान् है और लगातार दु:खो का अन्त नही है । विपश्यना-प्रज्ञा द्वारा ही मार्गफल-धर्म की प्राप्ति द्वारा इस प्रतीत्य-समुत्पाद ससारचक्र मे सत्त्व बाहर निकल सकता है, निर्वाण को प्राप्त होता है और फिर इस चक्र के परे निकल जाता है ।

यह प्रतीत्यसमुत्पाद-चक्र, नाम-रूप-स्कन्ध के जन्म व मरण का चक्र ही है । यह कार्य-कारण-परम्परा चक्र है । इसमे कही भी ' मै ' ' मेरा ' ' आत्मा ' कहने को कुछ नहीं है ।

इस सवृत्ति-सत्य मे याने इस व्यवहार-ससार मे हम मनुष्य, प्राणी आदि अलग अलग देखते है, मानते है, परन्तु अन्तिम सत्य मे, परमार्थ सत्य मे मनुष्य, प्राणी, वस्तु आदि अलग अलग कुछ है ही नही । इसलिए, यह ससारचक्र घुमाने का मूल कारण अविद्या व तृष्णा ही है । यही प्रतीत्यसमुत्पाद से जाना जाता है ।

जैसे, आग और जलावन है । जलावन डालते गये तो आग जलती ही रहती है । उसको जलावन देते रहो तो आग लगातार जलती ही रहेगी । वैसे ही, अविद्या और तृष्णा इस ससारचक्र मे सत्त्व जन्म-मरण से छूटता ही नही, यह चक्र चलता ही रहता है ।

प्रतीत्यसमुत्पाद–चक्र का विभाजन इस प्रकार है –

(१) **दो मूल**—इस चक्र के ' अविज्जा' और 'तण्हा' दो जडे (Roots) है । जिस प्रकार किसी वृक्ष का पोषण करने वाली जडे किसी कारण नष्ट हो जाय, तो उस सम्पूर्ण वृक्ष का नाश हो जाता है, इसी प्रकार ससार मे पुष्ट होने वाले ' सत्त्व' नामक नाम-रूपात्मक स्कन्ध-वृक्ष के अविज्जा, तण्हा नामक दो जडो का विपश्यना-प्रज्ञा-शस्त्र से उच्छेद कर दिया जाय, तो स्कन्ध-वृक्ष समूल विनष्ट हो जाता है ।

(२) **चार सङक्षेप**

सङक्षेप का अर्थ यहाँ ' भाग ' (Sections) है । अतीत हेतु नामक अविज्जा और सङखारा ' प्रथम भाग ' (Past causal continuum) है ।

प्रत्युत्पन्न (वर्तमान) कार्यनामक विञ्ञाण नाम-रूप सळायतन, फस्स एवं वेदना 'द्वितीय भाग' (Present causal Resultant) है।

प्रत्युत्पन्न (वर्तमान) कारण नामक तण्हा, उपादान एव भव 'तृतीय भाग' (Present causal Continuum) है। अनागत कार्य नामक जाति और जरामरण 'चतुर्थ भाग' (Future causal Resultant). है। सोक आदि का भी इस चतुर्थ भाग मे ही समावेश किया जा सकता है।

(३) **बीस आकार** (Twenty Factors)—

(१) अतीत भव मे पाच हेतु (Past Causal Factors) है:— अविज्जा, सङ्खारा, तण्हा, उपादान और भव।

(२) प्रत्युत्पन्न-भव मे पाच फल (Present Resultant Factors) है –विञ्ञाण, नामरूप, सळायतन, फस्स, वेदना।

(३) प्रत्युत्पन्न-भव मे पाच हेतु (Present Causal Factors) है.–तण्हा, उपादान, भव, अविज्जा, सङ्खारा।

(४) अनागत-भव मे पाच फल (Future Causal Resultant Factors) है –विञ्ञाण, नामरूप, सळायतन, फस्स, वेदना।

(४) **बारह अङ्ग** (12 Links)–अविज्जा, संङ्खारा, विञ्ञाण, नाम-रूप, सळायतन, फस्स, वेदना, तण्हा, उपादान, भव, जाति, जरा-मरण।

(५) **तीन अध्व (काल)**—(Three Periods) —अतीत (भूत) (Past), प्रत्युत्पन्न (वर्तमान) (Present), अनागत (भविष्य) (Future)

(६) **तीन सन्धि** – (3 Connections)—प्रतीत्यसमुत्पाद के अङ्गो मे कारण–धर्मो के अन्त एव कार्यधर्मो के आदि तथा कार्यधर्मो के अन्त एवं कारण-धर्मो के आदि को 'सन्धि' कहते है। जैसे, अविज्जा सङ्खारा– विञ्ञाण. नामरूप, सळायतन, फस्स, वेदना – तण्हा, उपादान, भव–जाति, जरा-मरण। उपर्युक्त निर्देशन मे सङ्खारा एव विञ्ञाण के बीच मे अतीत कारण एव प्रत्युत्पन्न कार्य की सन्धि है। वेदना एव तण्हा मे प्रत्युत्पन्न कार्य एव प्रत्युत्पन्न कारण की सन्धि है। तथा भव एव जाति के बीच मे प्रत्युत्पन्न कारण एव अनागत कार्य की सन्धि है।

(1) Past Cause and present Resultant.

(2) Present Cause and Present Resultant.

(3) Present Cause and Future Resultant.

(७) **तीन वट्ट**–'वट्ट' (वर्त) शब्द चक्र की तरह निरन्तर घूमने के अर्थ मे है। इसे 'आवट्ट' (आवर्त्त) भी कहते है। वर्त को वृत्त भी कहते है।

अत 'कारणो' के होने पर कार्य तथा कार्य के होने पर कारण' इस प्रकार कार्यकारण के रूप मे आविच्छिन्न रूप से निरन्तर प्रवर्त्तित होते रहने वाले प्रतीत्य-

समुत्पादधर्मों को 'वट्ट' कहते है। बारह अङ्गो का तीन वट्ट मे विभाजन किया गया है।

(१) किलेश-वट्ट – अविज्जा, तण्हा एवं उपादान ।
(२) कम्म-वट्ट – कम्मभव एव सङ्खारा. (कर्म-भव एव उपपत्ति-भव भेद से भव-द्विविध है, उसमे से यहा कर्मभव का ग्रहण किया है)
(३) विपाक-वट्ट – उपपत्ति-भव, विञ्ञाण, नामरूप, सळायतन, फस्स, वेदना, जाति एव जरा-मरण. (ये सब काय-धर्म हैं)

(1) Kılesa Vatta
(2) Kamma Vatta
(3) Vipaka Vatta

ऊपर तीन अध्व (काल) बताये है – अतीत, प्रत्युत्पन्न और अनागत। इनका विवरण इस प्रकार है :—

अतीत-अध्व—कुछ सत्त्व अतीतभव (पूर्वजन्म) मे अविद्या मे आवृत्त होने के कारण सासारिक आपत्तियो को न देख कर कुशल-अकुशल सस्कारो को कर लेते है। इसीलिए अविद्या एव सस्कार अतीत-अध्व (अतीत-काल) मे उत्पन्न धर्म है।

प्रत्युत्पन्न-अध्व—अतीतभव मे कुशल-अकुशल सस्कारो को करने के कारण इस प्रत्युत्पन्नभव मे प्रतिसन्धि-काल से लेकर विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान एव कर्मभव, ये आठ धर्म होते हैं। इन आठ धर्मो को 'प्रत्युत्पन्न-अध्व' कहते हैं।

अनागत-अध्व—इस 'प्रत्युत्पन्न-भव' मे 'कर्मभव' नामक कुशल एवं अकुशल कर्म किये जाते है। अत अनागत-भव मे जाति, जरा-मरण उत्पन्न होते है। इसीलिये जाति एव जरा-मरण 'अनागत-अध्व' है।

(८) दो सयुक्त सत्य है–(१) दु ख-सत्य और समुदय-सत्य (उत्पत्ति-सत्य) (२) अविद्या के आवरण मे मार्ग एव निरोध-सत्य।

'नामरूप' ही मन-शरीर है, जिसको 'पञ्चस्कन्ध' कहा गया है। पालि भाषा मे इसे 'पञ्चखन्ध' कहते है और सक्षेप मे 'खन्ध' कहते है। अब आगे 'खन्ध' का प्रयोग किया गया है, उसे मन-शरीर समझना चाहिए।

प्रतीत्यसमुत्पाद यह ससारचक्र है और कुछ नही, अपितु अपने स्वय के 'खन्ध' ही है। साधक को अपना स्वय का 'खन्ध' ही यह चक्र है ऐसा जानना चाहिए। खन्ध और अन्य कुछ नही, किन्तु हर क्षण अगणित बार उदय-व्यय होनेवाले प्रकम्पों

का, तरन्गो का पुजमात्र है। यही दु:ख सृजन करते है और यह दु:ख ही दु ख-सत्य है। साधक अपने अन्तर्मन द्वारा इसकी ठीक अनुभूति करता है, जैसा है वैसा ही जानता है और तव शाश्वत दृष्टि, उच्छेद दृष्टि, सत्काय दृष्टि समाप्त हो जाती है।

साधक को पटिच्चसमुप्पाद के प्रदीर्घ अभ्यास द्वारा भलीभाति यह समझ लेना चाहिए। इसके समझने से खन्ध का उदय-व्यय का ज्ञान पुष्ट होता है। कार्य-कारण परम्परा, हेतुफल परम्परा का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। मिथ्या दृष्टि जो शाश्वत एव उच्छेद दृष्टि है, सत्काय दृष्टि है, यह समाप्त हो जाती है।

साधक विपश्यना-प्रज्ञा द्वारा उदय-व्यय की अनुभूति करता है, तो इन्ही उदय-व्यय होनेवाले प्रकम्प-तरन्गो से जानता है कि इसमे स्त्री, पुरुष कुछ नही है। आत्मा कहने जैसा कोई नही है, सत्काय दृष्टि (Egoicm) से वह वाहर निकल आता है 'जिसे तदङग-प्रहाण' कहा हे।

पच्चय-परिग्ग ज्ञान, जो कारण-कार्य परम्परा का ज्ञान है, साधक को प्राप्त होता है।

साधक जव जानता है कि यह पञ्चखन्ध का उत्पाद का कारण अविद्या, तृष्णा और सस्कार ही है, तो फिर (१) ईश्वर निर्माण दृष्टि - यह मानना कि यह सव ईश्वर द्वारा निर्मित है, (२) अक्रिय दृष्टि — कुशल और अकुशल कर्म द्वारा कोई पाप-पुण्य निर्मित नही होता, यह मानना और (३) अहेतुक दृष्टि — यह मानना कि कोई भी कार्य या फल ये सव अकारण उत्पन्न होते है, सभी स्थितियाँ, वस्तु आदि उत्पन्न होने का कोई कारण नही है, ये दृष्टिया समाप्त हो जाती है।

साधक पटिच्चसमुप्पाद के सम्यक् ज्ञान से यह जानता है कि यह खन्ध और कुछ नही है, किन्तु निरन्तर परिवर्तन होने वाले, उदय-व्यय होने वाले तरन्गो का पुजमात्र है और यह खन्ध ही दु ख-सत्य है, दु ख का समूहमात्र है।

साधक को अभ्यास द्वारा जव उपरोक्त ज्ञान की अनुभूति स्थापित हो जाती है, तो फिर वह अपाय गति मे नही गिरता।

खन्ध पटिच्चसमुप्पाद

साधक प्रतीत्यसमुत्पाद के अभ्यास द्वारा अपने खन्ध को ठीक समझने लगता है कि इसका जन्म और उसका कारण एव मृत्यु कैसे और क्यो होती है। यह खन्ध के जन्म के साथ छ आयतन (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिव्हा, त्वचा और मन) जो है, उनका भी जन्म होता है। इन आयतनो का अपने-अपने विषयो से टकराव होता है, तो वह-वह विज्ञान उत्पन्न होता है। जैसे, चक्षु से 'रूप' याने दृश्य पदार्थ देखते है तो चक्षुविज्ञान उत्पन्न होता है, आदि। यहा पर यह समझना चाहिए, ठीक जानना

चाहिए कि यहा केवल चक्षुविज्ञान है, इसमे कोई 'मैं' (I) नही है। चक्षु मे भी कोई 'मै' नही है और उससे टकराने वाले पदार्थ मे भी 'मै' नही है। चक्षुविज्ञान केवल चक्षुविज्ञान है, यह कोई व्यक्ति नही है जो 'मै' हो। 'मै' की इसके साथ उलझन होना गलत है।

चक्षु, दृश्य पदार्थ और चक्षुविज्ञान ये तीनो मिलने पर स्पर्श (फस्स) उत्पन्न होता है और स्पर्श से वेदना (सवेदना) उत्पन्न होती है। वेदना मे भी कोई 'मै' नही है। वेदना केवल वेदना ही है। वेदना के कारण तृष्णा उत्पन्न होती है और तृष्णा से उपादान (तीव्र लालसा), और उपादान के कारण कायकर्म, वाचाकर्म व मनोकर्म (मन मे विचार उत्पन्न होकर मन द्वारा कर्म) याने कर्मभव का उत्पाद होता है। कर्मभव के कारण जन्म-जरा-मरण उत्पन्न होते है। फलत , शोक, दु ख, बेचैनी, रोना-पीटना आदि दु ख-समूह निर्माण हो जाता है।

जैसे चक्षु-द्वार के विषय मे हमने उपरोक्त बाते जानी है, वैसे ही श्रोत्र-द्वार, घ्राण-द्वार, जिव्हा-द्वार, काय-द्वार, मनोद्वार के बारे मे उनके विषय शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श, धर्म और उनके निर्मित विज्ञान, जैसे- श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिव्हाविज्ञान, कायविज्ञान, मनोविज्ञान और इनके स्पर्श से वेदना, इस प्रकार हमे जानना चाहिए।

यह एक उदाहरण से समझे —कोई एक सुन्दर रूप को देखता है, तो उसके मन मे चाह उत्पन्न होती है और यही चाह 'तृष्णा' है। इस चाह को तीव्र लालसा उस रूप को प्राप्त करने की होती है और उसको प्राप्त कर चिपकाव उत्पन्न होना है, वह 'उपादान' है। और फिर, उस सुन्दर वस्तुरूप के साथ मन से, वाचा से, काया से अपना चिपकाव गहरा बनाये रखने का काम करता है, वह 'कम्मभव' है। अब कम्मभव के कारण जन्म होता है और जन्म हुआ तो जरा, मरण तथा सारा दु खसमूह उत्पन्न हो ही जाता है। बस, यह चक्र लगातार चलता ही रहता है और इसलिये यह खन्ध दु खसमूह ही है। अत पटिच्चसमुप्पाद दु खसमूह ही है।

इसी तरह बाकी इन्द्रियो के बारे मे भी जानना चाहिये। हमारे दैनिक जीवन मे हर क्षण, और निरन्तर ही तृष्णा, उपादान, कर्मभव के चक्र मे जाने-अनजाने हम फसे रहते है।

नामरूप याने मन और शरीर के उत्पन्न होने के साथ ही छ. इन्द्रिया (षडायतन) भी निर्माण होती है। ये छ. इन्द्रिया (आँख, कान, नाक, जीभ, काय-त्वचा, और मन) उनके विषय रूप, शब्द, गध, रस, स्पर्श, और धर्म जो है, उनके साथ ही निर्माण होती है। इन उन-उन इन्द्रियो के द्वार पर टकराव होने पर वह-वह विज्ञान उत्पन्न होता है और इन विज्ञानो के स्पर्श (फस्स) के कारण वेदना उत्पन्न होती है, सवेदन-

शीलता निर्माण होती है। और तब, इन सवेदनाओ से वासना (तृष्णा) उत्पन्न होती है। यह प्रिय है या अप्रिय है, इससे राग या द्वेष उत्पन्न होकर तीव्र लालसा उत्पन्न होती है। उस मे चिपकाव या घृणा यही उपादान है। उपादान होते ही वाचा से, काया से या मन से, जो कर्म होता है, वही कर्म-भव है, जिसके कारण ही जन्म (जाति) होता है। अिसीसे आगे व्याधि, वार्धक्य और मरण घटित होते है, जो शोक, दु:ख, बेचैनी, रोना-पीटना आदि दु:ख-समूह खडा करते है।

उदाहरणार्थ, फोटो निकालने का केमेरा है जिसमे एक लेन्स होती है, जो आँख का काम करती है। केमेरे के सामने जिसका फोटो लेना है, वह दृश्य है, रूप है। केमेरे के अदर फिल्म है, जो रसायन-लिप्त है, सवेदनशील है जो विज्ञान है। रूप का लेन्स पर टकराव होकर फिल्म पर स्पर्श होते ही चित्र उभरता है। आँख (लेन्स) रूप (दृश्य) के टकराव से फिल्म (विज्ञान) पर चित्र आता है याने चक्षुविज्ञान उत्पन्न होता है। अब इस दृश्य मे, लेन्स मे, फिल्म मे कोई 'मै' नही है। सारा यंत्रवत् कार्य होता है। वैसे ही आँख, रूप और उस सम्बन्ध मे उत्पन्न विज्ञान और उसके स्पर्श के कारण उत्पन्न वेदना यह भी यंत्रवत् है। इसमे भी कोई 'मैं' 'मेरा' नही है, कोई अह (Ego) नही है।

हमे यह समझना चाहिए कि हम हर रोज, हर क्षण अनेक कर्म बनाते ही रहते है। तृष्णा, उपादान और कर्मभव का चक्कर निरन्तर चलता रहता है, कभी कही रुकता ही नही। फलत: जन्म-जरा-मरण-दु:ख का ढेर उत्पन्न होते ही रहता है। और इस प्रकार यह ससारचक्र चलता ही रहता है, यही 'पटिच्चसमुप्पाद' है।

यदि कोई व्यक्ति चाहे कि इस ससारचक्र मे से बाहर निकलना है, तो उसको बाहर निकलने का मार्ग मिल जाता है। जब भी इन्द्रियो के द्वार पर विषय टकराते है और उन उन इन्द्रियो का विज्ञान उत्पन्न होकर स्पर्श होता है, तो वेदना उत्पन्न होती है, सवेदना, प्रकम्प, तरगे उत्पन्न होती है। इसी समय यदि प्रज्ञा जागे, समता मे चित्त रहे, अनित्यता का, दु:खता का, अनात्मता का बोध बना रहे, साधक जानता भी रहे और समता मे भी स्थित रहे, तो 'वेदनापच्चया तण्हा' के बदले 'वेदनापच्चया पञ्ञा' बन जाता है। याने वेदना के कारण जो तृष्णा उत्पन्न हो जाती है, उसके बदले वेदना के कारण प्रज्ञा उत्पन्न होकर नये सस्कार बनने रुक जाते है और पुराने समाप्त होने लगते है। और यही इस ससारचक्र मे से बाहर निकलने का रास्ता है, जो धर्म-चक्र मे ले जाता है। किन्तु जो व्यक्ति इस ओर स्मृतिपूर्वक प्रज्ञा मे स्थित नही रहता है, वह ससारचक्र मे घूमता ही रहता है, दु:ख के बाद दु:ख भोगता ही रहता है, उसे कही छुटकारा ही नही है।

जब आँख का दृश्य वस्तु से टकराव होता है, तब आँख का विज्ञान, चक्षु-विज्ञान उत्पन्न होता है, याने उस दृश्य वस्तु को जानने का काम उत्पन्न होता है।

अब इसी समय साधक को देखना चाहिए कि यह चक्षुविज्ञान ठहरता है या चला जाता है या अदृश्य हो जाता है। यह समझ मे आएगा कि जब केवल जानने का काम होता है, तो चक्षुविज्ञान भङग हो जाता है, क्योंकि वह क्षणिक होता है।

इसीतरह, जब जब आँख का, कान का, नाक का, जिव्हा का, काया का, या मन का विज्ञान उत्पन्न होता है, तब तब उसके दूसरे ही क्षण मे केवल जानने का विज्ञान उत्पन्न कर के देखना चाहिए। तब कोई प्रतिक्रिया न हो तो नये संस्कार बनेंगे नही, क्योकि दो विज्ञान एक साथ प्रवाहित नही होते। दूसरा विज्ञान उत्पन्न होते ही पहला विज्ञान भङग हो जाता है।

'अञ्ञं उपज्जति चित्त अञ्ञ चित्त निरुज्झति' अर्थात्, एक ही विज्ञानप्रवाह एक समय चलता है, दो विज्ञान एकसाथ नही चलते।

जब भी अनित्य बोध से केवल जानने का काम साधक छोड देता है, तो उस उस इन्द्रिय के विज्ञान से तृष्णा का उत्पाद होगा ही, और इस तृष्णा को भी केवल अनित्य बोध से जानने का काम नही हुवा, तो फिर उपादान (तीव्र लालसा और चिपकाव) का उत्पाद होना अनिवार्य है। उपादान को केवल अनित्य बोध से जानने का काम नही किया गया, तो कर्मभव का उत्पाद हो ही जायगा और फलतः जाति-जरा-मरण का उत्पाद होगा ही। इस प्रकार पटिच्चसमुप्पाद का चक्र चलता ही रहेगा, जिसका कोई अन्त नही।

साधक को यह ध्यान रहे कि जिस खन्ध (स्कन्ध) का उत्पाद होता है, चाहे वह रूप हो, वेदना हो, सज्ञा हो, सस्कार हो या विज्ञान हो, वह उत्पाद क्षणिक ही होता है, क्योंकि यह उत्पाद समाप्त होने के लिए ही होता है। और ठीक ऐसे ही अपने खन्ध मे लगातार उदय-व्यय का प्रवाह चलता रहता है, पुराने खन्ध समाप्त हो कर नये उसके बदले मे उसीकी सन्तति उत्पन्न होती ही जाती है। निरन्तर यह चक्र चलता ही रहता है।

छ. इन्द्रियो के द्वार पर जब जब विषय टकराते है, तब तब तृष्णा का उत्पाद होता है और फिर आगे की श्रृखला का भी उत्पाद होता है। यह श्रृखला ही क्लेश-वृत्त है, जिससे कर्म-वृत्त का उत्पाद होता है और इससे विपाक-वृत्त उत्पन्न होता है। अविद्या, तृष्णा, उपादान क्लेश-वृत्त है, सस्कार और कर्मभव ये 'कम्म' वृत्त है, और विज्ञान, नामरूप, षडायतन, फस्स, वेदना, जाति तथा जरा-मरण 'विपाक वृत्त मे आते है।

खन्ध को ठीक से समझे

हमे यह नही समझना चाहिए कि खन्ध हमारा ५०–१०० किलो वजन का शरीर है। खन्ध यह पञ्चखन्ध (पञ्चस्कन्ध) है याने रूप, विज्ञान, संज्ञा, वेदना,

और सस्कार है। रूप अष्टकलाप है, जो कि रूपखन्ध है। चित्त के चार खन्ध है— विज्ञानखन्ध, सञ्ञाखन्ध, वेदनाखन्ध और सस्कारखन्ध। इन पांच खन्दो को मिला कर सक्षेप मे 'खन्ध' कहा गया है। जब कोई दृश्य चक्षु-द्वार पर टकराता है तो विज्ञान उत्पन्न होता है, यह विज्ञान-खन्ध है। विज्ञान-खन्ध उत्पन्न होते ही संज्ञा-खन्ध जाग उठता है। सञ्ञाखन्ध से वेदनाखन्ध और वेदनाखन्ध से इच्छा-संकल्प-क्रिया की उत्पत्ति होती है। इसी इच्छा-सकल्प की चेतना से सस्कार-खन्ध और रूप से रूपखन्ध उत्पन्न होते है। इस तरह, इन सभी की श्रृखला बन जाती है। यह श्रृखला ही 'पटिच्च-समुप्पाद है और यह खन्ध ही दु.ख-राशी है।

पटिच्चसमुप्पाद मध्य से – वेदना

'विपश्यना' साधना द्वारा ही यह पटिच्चसमुप्पाद का चक्र तोडा जा सकता है। और यह जब 'वेदनापच्चया तण्हा' उत्पन्न होने के बदले 'वेदनापच्चया पञ्ञा' का उत्पाद होता है, तभी चक्र टूटता है। साधक 'विपश्यना' साधना मे वेदना को (सवेदना को) ही महत्त्व देते रहता है और वेदना के उत्पाद मे लगा रहता है। किन्तु वेदना के उत्पाद का ही वास्तव मे लक्ष्य नही है। जब जब इन्द्रियो के द्वारो पर विषय टकराये, तो स्पर्श होगा ही और वेदना का उत्पाद होता ही रहता है, जो सुखद, दु खद, या असुखद-अदु खद होता है। इसलिए जानबूझ कर वेदना के उत्पाद के पीछे नही लगना चाहिए। वेदना के उत्पाद के समय जो भी सुख या दु ख का उत्पाद होता है, उसको जानना है, केवल जानना ही है और समता मे स्थित रहकर कोई प्रतिक्रिया नही करनी है, कोई नये सस्कार नही बनाने है, यही साधक का लक्ष्य रहना चाहिए। वेदना के कारण साधक को उदय-व्यय की अनुभूति होती है, अनित्यता का बोध होता है। वेदना तो अनित्य ही है। साधक इसको ठीक समझकर अभ्यास करे, तो ही प्रगति हो सकती है। 'वेदनानिरोधा तण्हानिरोधो' वेदना को समता से जानने से तृष्णा का निरोध होता है और 'तण्हानिरोधा निब्बाण', तृष्णा का निरोध होने से निर्वाण की प्राप्ति होती है। साधक को इसे ठीक समझकर, सचेत रहकर, साधना का अभ्यास करना चाहिए, तो ही फल की प्राप्ति सम्भव है।

पटिच्चसमुप्पाद प्रारम्भ से — अविद्या

चक्षुर्विज्ञान के उत्पाद और भङ्ग के क्षणो मे जो रूप आरमण (दृश्य) और चक्षु-द्वार (आँख का द्वार) के सम्पर्क से होता है, उस समय यदि साधक स्मृति-विहीन हो जाता है, तो अविद्या के कारण काया-वाचा-मनो सस्कार बनने लगते है और वैसे ही, कान, नाक, जिव्हा, काया, मनोद्वार पर उन-उन विषयो का टकराना होता है तथा वे-वे विज्ञान उत्पन्न होकर उत्पाद-भङ्ग होने पर उसे स्मृतिपूर्वक जानने का काम नही होता है, तो अविद्या का आवरण उत्पन्न होकर सस्कार बनते है। संस्कारो के

कारण विञ्ञाण, विञ्ञाण के कारण नामरूप, नामरूप के कारण सळायतन. . . . भव के कारण जाति, जरा, मरण आदि दु ख-समूह उत्पन्न होकर पटिच्चसमुप्पाद का चक्र अविद्या से प्रारम्भ होकर घूमता ही रहता है। यही मिथ्या प्रतिपदा (मार्ग) है जिससे विञ्ञाण, नामरूप, सळायतन, फस्स, वेदना, तण्हा, उपादान और कम्मभव इन आठ आकारो (Factors) का उत्पाद होता है। और ये ही दु ख-समुदय एव दु ख-सत्य है। समुदय यह ज्वाला है और खन्ध यह जलावन है। यह सारा संसार ज्वाला और जलावन से जल रहा है। इससे वाहर विपश्यना साधना द्वारा ही हम निकल सकते है।

पटिच्चसमुप्पाद अन्त से — दोमनस्स

जव भी हम अपने शत्रु को देखते है या विपरीत स्थिति को प्राप्त होते हैं, तो चित्त मे 'दोस' (दोष, द्वेष) 'दोमनस्स' (दौर्मनस्य, दुर्भाव, वेचैनी, सन्ताप) उत्पन्न होते है और यह सम्पर्क जैसे जैसे होगा, वैसे वैसे चित्त भडक ही उठेगा।

'सोक-परिदेव-दुक्ख-दोमनस्स-उपायासा—सम्भवन्ति।

एवमेतस्स केवलस्स दुक्खखन्धस्स समुदयो होति ॥'

इसतरह सारा का सारा दु ख का ढेर उत्पन्न हो जाता है।

'आसव-समुदया अविज्जा-समुदयो होति।'

आसवो के कारण अविद्या का समुदय (उत्पन्न) होता है।

इसतरह यह पटिच्चसमुप्पाद का चक्र निरन्तर घूमता ही रहता है। दोस (द्वेप), लोभ और मोह ये आसव जव तक उत्पन्न होते रहेगे, दु ख का ढेर वढता ही रहेगा। विपश्यना साधना के अभाव मे पटिच्चसमुप्पाद का ससारचक्र निरन्तर विना रुके घूमता ही रहता है। जव भी यह चक्र द्वेप, लोभ और मोह के कारण घूमता है, तव अकुशल चित्त उत्पन्न होता है और 'अपुण्याभिसस्कारो का' उत्पाद होता है। जव सुखद स्थिति अपने परिवार के साथ या व्यवसाय मे या मित्रगणो के साथ वनती है, तव लोभ के कारण यह चक्र घूमता है। जव विपरीत दु खद स्थिति का सामना करना पडता है, तव दोस (द्वेप) के कारण यह चक्र घूमता है। जव अनजाने, जाने अकुशल कर्म होते है, तव मोह के कारण यह चक्र घूमता है।

दु.ख-सत्य के ज्ञान के अभाव मे या वदले मे कुछ मिलेगा, इस भावना से किये गये दान, धर्म, सेवा आदि कुशल कर्म 'पुण्याभिसस्कार' का उत्पाद करते है। ऐसे भी पुण्य-कर्म किये जाते हैं, जिससे देवभूमि, ब्रह्मभूमि आदि की इच्छा होती है। वे कुशल कर्म भी 'पुण्याभिसंस्कार' की ही उत्पत्ति करते हैं। इनको 'वृत्तकुशल' भी कहते है।

भगवान वुद्ध कहते है, " हे भिक्षुओ ! प्रज्ञा से रहित, अविद्या के आवरणो के कारण सत्त्व (जीव) पुण्याभिसस्कार (सत्‌चरित कर्मों का सम्पादन), अपुण्याभिसस्कार (दुश्चरित कर्मों का सम्पादन) और आनेञ्जाभिसस्कार (देवभूमि, ब्रह्मभूमि आदि प्राप्ति के लिए की जानेवाली साधना, व्रत आदि) ही करते है। अविद्या का नाश होने पर और विद्या का उत्पाद होने पर ऐसे सस्कार सत्त्व (जीव) नही वनाते।"

अर्हत् पुण्याभिसस्कार भी नही वनाता और यह करने की उसे आवश्यकता भी नही होती। जो भी कुशल कर्म अर्हत् द्वारा होते है, उनमे लोभ, मोह नही होता। केवल कुशल कर्म विना उद्देश्य से ही होते है। इसको 'किरिय' (क्रियामात्र) कहते है। ये कर्म-सस्कारो का उत्पाद नही करते।

सोतापन्न, सकदागामी और अनागामी तो विशेष-रूप से दान का एव शील-सम्पन्नता का काम करते है। दान देना उत्तम कर्म है, किन्तु उसका उद्देश्य यदि पुण्य-सपादन हो, जिससे ऊपर की भूमि मिले, तो दान कुशल कर्म तो है किन्तु उसके लिए जो तृष्णा है वह अकुशल कर्म है। इसलिए इस विभाजन को स्पष्ट समझना चाहिए। दान देने मे प्रज्ञाभाव उत्पन्न होना चाहिए, जिससे ससारचक्र से छुटकारा मिल सके। नये सस्कार, भले ही वे पुण्य के हो, फिर भी, नही वनने चाहिए। तव इस दान को 'विवत्त-दान' कहते है।

पटिच्चसमुप्पाद— — अनुलोम

ससार का उत्पाद कव हुआ, कहा नही जा सकता। पटिच्चसमुप्पाद का चक्र यह हमारे ही खन्ध है। पुराना समाप्त होता है, नया उत्पन्न होता है। यह हेतु-फल-परम्परा निरन्तर चल रही है। अविद्या के आवरण के कारण और तण्हा के वन्धन के कारण सत्त्व (जीव) एक जन्म से दूसरा जन्म लगातार भुगतता ही रहता है। ऐसा है यह ससारचक्र।

अविद्या

पटिच्चसमुप्पाद के आदि मे अविज्जा है। अविज्जा याने अविद्या। अविद्या के माने विद्या का अभाव नही है, विद्या का विपक्ष है। जैसे अमित्र मित्र का अभाव नही है किन्तु विपक्ष है, वैरी होना है। अविद्या पूर्वजन्म की क्लेशदशा है। वस्तुत सर्वक्लेश अविद्या के सहचारी है और अविद्यावश उनका समुदाचार होता है। अविद्या रहते हुए जानने योग्य सव स्थानो को नही जाना जा सकता। जैसे, मोतिया-विन्दु द्वारा आँख के ढक जाने पर मनुष्य देखने योग्य स्थानो को नही देख पाता, इसी तरह अविद्या द्वारा आवरण होने पर जानने योग्य स्थानो का ज्ञान नही हो पाता।

अविद्या के आवरण के कारण चार आर्यसत्यो का ज्ञान नही हो पाता और पटिच्च-समुप्पाद का ज्ञान भी नही होता।

(१) तीनो भूमियो में होनेवाले सम्पूर्ण नामरूप-खन्ध 'दु ख-सत्य' है। इन दु खधर्मों को 'दु ख है ऐसा न जानना' यह खन्ध ही दु ख-समूह है, यह न जानना दु ख-सत्य (प्रथम आर्य-सत्य) का आवरण करने वाली अविद्या है।

(२) तृष्णा (लोभ) को दु खो के कारण के रूप मे जानना 'दु ख-समुदय-सत्य' (द्वितीय आर्य-सत्य) का आवरण है। जैसे, मनुष्य मे सोना, चादी आदि सम्पत्ति को प्राप्त करते रहने की वासना यह दु ख का मूल कारण है, यह न जानना।

(३) दु ख का निरोध-सत्य ही (तृतीय आर्य-सत्य) परमोच्च निर्वाण है। यह न जानना अविद्या का आवरण है।

(४) अष्टाङ्गिक मार्ग-सत्य (चतुर्थ आर्य-सत्य) दु ख का समूल नाश कर के निर्वाणगामी मार्ग को न जानना अविद्या है। चार आर्य-सत्यो का सम्यक् ज्ञान ही अविद्या के नाश का मुख्य फल है। यहाँ 'चार आर्य-सत्यो को जानता हूँ' इस प्रकार कहने से, केवल किताब पढकर जानने की तरह ज्ञान को नही कहा गया है। ज्ञान द्वारा दु ख-स्वभाव, समुदय-स्वभाव, निरोध-स्वभाव, एव मार्ग-सत्य को साक्षात् स्वय की अनुभूति से जानना ही 'चार आर्य-सत्यो का जानना' है।

अविद्या भी घनीभूत और तनूभूत ऐसी दो प्रकार की होती है। कुशल और अकुशल कर्मो को न जानना घनीभूत अविद्या है। जिन्हे कुशल और अकुशल कर्म का विवेक है तथा जो कुशल कर्म को कुशल समझ कर उसको सम्पादन करता है और अकुशल कर्म को अकुशल समझकर उससे विरत है, उनमे फिर भी अविद्या नही है ऐसा नहीं कहा जा सकता। अत. ऐसे सत्त्वो की सन्तान (पुराना भङ्ग होकर नये का उत्पाद 'सन्तान' है)मे विद्यमान अविद्या तनूभूत है। सोतापन्न, सकदागामी, अनागामी, आर्य-पुद्गल होकर चार आर्य-सत्यो का सम्यक् ज्ञान होने पर भी उनकी सन्तान से अविद्या का सर्वथा प्रहाण नही हो पाता। अर्हत् होने से ही सम्पूर्ण अविद्या से दूर हुआ जा सकता है।

अविद्या से अपुण्याभिसंस्कार की उत्पत्ति

प्राणातिपात (हत्या) कर्म करने से प्राणी इस भव मे निन्दा का पात्र होता है और राजदण्ड का भागी होता है। वह अनन्तर-भव मे अपायभूमि को प्राप्त होता है तथा मनुष्य होने पर भी अङ्ग-वैकल्य आदि अनेक प्रकार के अनिष्ट फल प्राप्त करता है। इसी प्रकार अदिन्नादान (चोरी) तथा काम-मिथ्याचार आदि दुश्चरित करने पर इहलोक और परलोक

मे विविध अनिष्ट फलों की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार मृत्यु के लिए सकल्प किया हुआ पुरुष विषपान से भयभीत नही होता, उसी प्रकार अविद्या से आवृत् पुद्गल (व्यक्ति) पापकर्मो को नही देखता और उनके आदिनव से (दुष्परिणामो से) भयभीत नही होता। अतएव वह हत्या आदि कुकर्म करता है। कुछ लोग जिन मे अविद्या घनीभत होती है, उनमे कुशल एवं अकुशल विवेक नही होता। किन्तु कुछ लोग जिनमे अविद्या घनीभृत नही होती, उनमे कुशल-अकुशल का विवेक होता है, फिर भी लोभ एव द्वेष के उत्पन्न होने पर उनके साथ सम्प्रयुक्त अविद्या का आवरण हो जाने के कारण वे दुश्चरित कर्मो के सम्पादन मे प्रवृत्त हो जाते है।

अविद्या से पुण्याभिसंस्कार एवं आनेञ्ज्याभिसंस्कार की उत्पत्ति

जब तक नामरूप-स्कन्ध है, तब तक जाति, जरा, मरण आदि प्राकृतिक दु.खो से मुक्ति असम्भव है। तब तक नाना प्रकार के अन्तरायो (विघ्नो) का भोग करना होता है, यश एव सम्पत्ति के विनाश, प्रिय का वियोग, अप्रिय का सयोग, इष्ट की अप्राप्ति आदि से उत्पन्न परिताप इत्यादि दुःख-समूह इसी मनुष्य-योनी मे प्राप्त होते है। देवभूमि और ब्रह्मभूमि मे यद्यपि दु ख अत्यल्प होता है, तथापि वहा से च्युत होते समय जब प्राप्त यश, ऐश्वर्य आदि सुखो से वियोग होता है, तब उन सत्वो को और भी अधिक दु ख होता है। फिर भी मनुष्य, देव, ब्रह्माओ के ऐश्वर्य-सुख की अभिलाषा करनेवाले सत्त्व उस दु ख का स्मरण नही करते। स्मरण होने पर भी अविद्या के आवरण के कारण वे उसे दु ख-रूप मे नही देखते और तृष्णा द्वारा उनमे आसक्त होकर बडे उत्साह से पुण्य एवं आनेञ्ज्य नामक (देवभूमि-ब्रह्मभूमि-प्राप्ति के लिए) अभिसस्कारो का सम्पादन करते है।

जब पुद्गल अविद्या से रहित होकर अर्हत् की प्राप्ति कर लेता है, तभी सब पुण्यकर्म पुण्याभिसस्कार न होकर क्रिया-मात्र होते है। अर्हत् होने से पहले किये गये सम्पूर्ण पुण्य-कर्म क्रिया नही होते। वे अविद्या के क्षेत्र से मुक्त न होने के कारण पुण्याभिसंस्कार नाम से ही कहे जाते है।

अविद्या का कारण

पटिच्चसमुप्पाद मे अविद्या को सब के पहले और शोक आदि को सब के अन्त मे कहा गया है। अत. ऐसा भ्रम हो सकता है कि अविद्या बिना कारण के उत्पन्न होती है। किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नही है। 'आसवानं समुप्पादा अविज्जा च पवत्तति' तथा 'आसवसमुदया अविज्जासमुदयो' के अनुसार अविद्या के कारण कामासव (लोभ, तीव्र लालसा), भवासव (अपर भूमि की तीव्र कामना), दिट्ठासव (मिथ्या दृष्टि) और अविज्जासव (आर्य-सत्यो का अज्ञान) ये चार आसव-धर्म

उत्पन्न होते है। शोक, दौर्मनस्य एव उपायास द्वेषमूल-चित्त मे सम्प्रयुक्त धर्म हैं। अत· जब ये शोकादि धर्म उत्पन्न होते हैं, तब अविद्या नामक मोह भी सर्वदा इनके साथ सम्प्रयुक्त होता है। परिदेव-दु ख भी अविद्या का उत्पाद है। इस तरह इन सब के आसन्न कारण आसव-धर्म है।

दु.ख के मूल कारण को नही जानते हुए हम सारे कर्म स्वय के सुख के लिए, स्वय के परिवार के लिए, स्वय के सपत्ति-सचय के लिए करते रहते हैं, फिर ये कर्म कुशल हैं या अकुशल वह नही सोचते।

कोई मनुष्य अपनी जीवन-चर्या बडी अच्छी रखता है, [पुण्यकर्म करता है, सोच समझकर अपनी आजीविका चलाता है, फिर भी इस पटिच्चसमुप्पाद के चक्र से बाहर नही निकलता। क्या कारण है ? क्या बुरा कर्म उसने किया है ? हो सकता हे वह सभी पुण्य-कर्म करता भी हो, फिर भी, वह इस चक्र मे सन्धि को यदि बनाये रखता है, तो बाहर आने का कोई रास्ता भी नही है। इस सन्धि (Link) को तोड कर ही बाहर आ सकता है। वहा पर अविद्या का आवरण फट जाना आवश्यक है। देवलोक-ब्रह्मलोक की प्राप्ति हेतु कुशल कर्म, दानादि हम करते है, फिर भी यह अविद्या के कारण से ही है। क्योकि इसमे भी इच्छा देवलोक आदि प्राप्ति की हो ही गयी है। देव-ब्रह्मादि लोक मे सुख भोग कर फिर इस चक्र मे जाति (जन्म) होगा ही। कहा छुटकारा हुआ ! ससार का चक्र निरन्तर चलता ही रहता है।

आसवों का कारण

अविद्या आसवो के कारण उत्पन्न होती है, तो आसव किस कारण से उत्पन्न होते है ?

आसव-धर्म तृष्णा, उपादान एव अकुशल कर्मभव आदि मे यथायोग्य अन्तर्भूत है। अत तृष्णा, उपादान एव कर्मभवो के उत्पत्ति-कारण ही आसव-धर्मो के भी उत्पत्ति-कारण हैं।

अविद्या सासारिक धर्मो मे शीर्ष की तरह एक परमावश्यक धर्म है, अत उसे सर्वप्रथम कहा गया है । पटिच्चसमुप्पाद-धर्मो मे अविद्या और तृष्णा ये दो शीर्ष धर्म कहे गये है। उन उन सस्कार-धर्मो को करते समय अविद्या द्वारा आवरण कर दिया जाने से पुद्गल उन्हे तृष्णा से आसक्त होकर करता है । इसप्रकार, सासारिक धर्मो मे अविद्या प्रमुख है, अत उसे सर्वप्रथम कहा गया है।

सङखारपच्चया विञ्ञाण

'अविज्जापच्चया सङखारा' मे कार्य-सस्कार तथा 'सङखारपच्चया विञ्ञाण' मे कारण-सस्कार, इस प्रकार सस्कार द्विविध होते है । यहा

'विज्ञान' शब्द का अभिप्राय 'प्रतिसन्धि-विज्ञान' है, पुनर्जन्म का विज्ञान-प्रवाह है। यह सचित संस्कारो के पुञ्ज का प्रवाह-विज्ञान है, जो पुनर्जन्म मे ले जाता है। जो हमारा वर्तमान जन्म है वही दु:ख-समूह है। इसलिए, साधक को दु:ख-निरोध का अभ्यास करना चाहिए।

विञ्ञाणपच्चया नामरूपं

विज्ञान जो सचित सस्कारो का प्रवाह है, उसके कारण नाम व रूप उत्पन्न होते है। साधक को यह ध्यान रहे कि इस प्रति-सन्धि-विज्ञान मे कोई 'मै' 'मेरा' नही है। वैसे ही, नाम व रूप मे भी 'मै' 'मेरा' ऐसा कोई नहीं है। विज्ञान केवल सस्कारो से उत्पन्न है और नामरूप केवल विज्ञान से उत्पन्न है। इनमे कोई 'अह' (Ego) नही है।

ये सब हेतु-फल परम्परागत प्रवाहमान है, पटिच्चसमुप्पाद है। 'मै' 'मेरा' कहने को कुछ नही है और न कोई 'अहं' है।

नामरूपपच्चया सळायतनं—नामरूप के कारण छ: इन्द्रियो (आँख, कान, नाक, जिव्हा, काया और मन) का उत्पाद होता है। यह भी छ: इन्द्रियाँ हेतु-फल परम्परागत उत्पन्न है। इसमे भी कोई 'मै' 'मेरा' या 'अह' नही है। ये छ: इन्द्रियाँ अपने अपने विषय-धर्मो से ससार को वढावा ही देते है। आख से दृश्यरूप का जव टकराव होता है तो चक्षुविज्ञान जागता है। इस समय साधक को देखना चाहिए कि वह केवल जानता है। यदि कोई सुन्दर रूप सामने आये तो क्या उसकी चाह उत्पन्न होती है? यदि चाह उत्पन्न हो गई तो यह पटिच्चसमुप्पाद का चक्र घूमता ही रहेगा, उसकी सन्धि (Link) वनी ही रहेगी। इसी तरह, शेष इन्द्रियो के वारे मे भी समझना चाहिए।

सळायतनपच्चया फस्सो—आँख के कारण रूप से या दृश्य पदार्थ से स्पर्श होता है। वैसे ही, कान से शब्द, नाक से गन्ध, जिव्हा से रस, काया से स्पर्शव्य-पदार्थ और मन से विचार-धर्म, इनका स्पर्श होता है।

फस्सपच्चया वेदना—स्पर्श के छ प्रकार है। यथा चक्षु-संस्पर्श, श्रोत्र-संस्पर्श, घ्राण-सस्पर्श, जिव्हा-संस्पर्श, काय-सस्पर्श, मन-संस्पर्श। जव छ: स्पर्श उत्पन्न होते है, तो छ वेदनाए भी उनके साथ स्वभावत: उत्पन्न होती है। स्पर्श के अभाव में 'वेदना' नामक अनुभव का उत्पाद असम्भव है। छ: वेदनाए है: चक्षु-सस्पर्शजा वेदना, श्रोत्र-संस्पर्शजा वेदना, घ्राण-सस्पर्शजा वेदना, जिव्हा-सस्पर्शजा वेदना, काय-सस्पर्शजा वेदना, तथा मन-सस्पर्शजा वेदना। वेदना तीन खन्धो मे विभाजित है—सुखद, दु:खद, उपेक्षा (असुखद-अदु:खद) या पांच मे विभाजित है—सुखद, दु:खद,

सौमनस्य, दौर्मनस्य, उपेक्षा। साधक को यह ध्यान रहना चाहिए कि जब भी इन्द्रिय-द्वार पर जो भी विषय टकराता है, तो उसके स्पर्श के कारण वेदना उत्पन्न होती है। इस समय साधक को केवल जानने का ही काम करना चाहिए। यही इस चक्र मे सन्धि है।

वेदनापच्चया तण्हा—तृष्णा भी छ प्रकार की होती है। यथा रूप-तृष्णा, शब्द-तृष्णा, गन्ध-तृष्णा, रस-तृष्णा, स्पर्शव्य-तृष्णा, एव धर्म-तृष्णा। वैसे मुख्यत. कामतृष्णा, भवतृष्णा और विभवतृष्णा ये तीन ही है। इसका पहले के छ से गुणा करने से अठारह तृष्णाए हो जाती है। इसको आध्यात्मिक एव बाह्य इन दो सन्तानो से गुणा करने से तृष्णाओ की सख्या ३६ हो जाती है। इसको भी तीन कालो से गुणा करने से यह सख्या १०८ हो जाती है।

आसक्तिरूप तृष्णा अनुभवरूप तृष्णा का आश्रय लेकर उत्पन्न होती है। अपने अनुभूत आलम्बन मे ही आसक्ति होती है, अननुभृत आलम्बन मे तृष्णा का उत्पाद दुष्कर है। वस्तुत: आसक्ति उस रूपालम्बन को देखते समय उसमे जो सुख-वेदना होती है, उस सुख-वेदना ही के प्रति होनेवाली तृष्णाजन्य आसक्ति होती है। और इस कारण, स्वभावत उस आलम्बन के प्रति भी आसक्ति उत्पन्न होती है। दु ख-वेदना के उत्पत्तिसमय, उसका अनुभव करते समय 'इस दु ख-वेदना से कब मुक्ति होकर सुख होगा' इस प्रकार तृष्णा द्वारा सुख के प्रति अथवा सुखोत्पादक आलम्बन के प्रति कामना की जाती है। जब सुख होता है तब भी न केवल उस सुख के प्रति आसक्ति होती है, अपितु उससे भी अधिक सुख की कामना की जाती है। उपेक्षा-वेदना उपशम-स्वभाववाली है, अत वह सुख-वेदना की ही तरह है।

तण्हापच्चया उपादान—उपादान याने तीव्र लालसा, चिपकाव। उपादान. चार प्रकार का होता है—(१) कामोपादान (कामवासना, इन्द्रियो की वासना) (२) दृष्टयुपादान (मिथ्यादृष्टि) (३) शीलव्रतोपादान (व्रत-उपवासादि मे अभिनिवेश) (४) आत्मवादोपादान (आत्मा के प्रति अभिनिवेश)। साधारणतया आसक्ति का नाम तृष्णा है तथा अतिरेक रूप से होनेवाली आसक्ति 'कामोपादान' है। सर्वप्रथम तृष्णा का उत्पाद होता है। यह तृष्णा शनै शनै वृद्धि को प्राप्त करके कामो-पादान के रूप मे परिवर्तित हो जाती है। आलम्बन के प्रति सर्वप्रथम अभिलापा 'तृष्णा' तथा उसके प्राप्त हो जाने पर पुन पुन· उसकी अभिलापा 'कामोपादान' है।

सभी प्रकार की दृष्टियाँ ग्रहण करना 'दृष्टयुपादान' है। पञ्चस्कन्ध मे उनके अतिरिक्त आत्मनामक पदार्थ है, इस प्रकार ग्रहण करना 'आत्मवादोपादान' है। इसे 'सत्कायदृष्टि' भी कहते है। इसके द्वारा अपने स्कन्ध का आत्मा के रूप मे

उपादान स्वभाव से ही अपने प्रति तृष्णा द्वारा आसक्ति होने के कारण होता है। आत्मसज्ञा होने पर परसज्ञा भी होती है और उनसे राग-द्वेष, नाना विध दोष प्रादुर्भूत होते हैं। 'शीलव्रतोपादान' व्रत-उपवासादि आचरणो को करने वाली 'दृष्टि' है। ये सब दृष्टियाँ उपादान तृष्णा से ही उत्पन्न होती हैं। यह तृष्णा ही सम्पूर्ण दोषो का बीज है।

उपादानपच्चया भवो—भव दो प्रकार के हैं—(१) कामभव (२) उत्पत्ति-भव। लौकिक कुशल एव अकुशल कर्म नामक २९ चेतना 'कर्मभव' है। 'भवति एतस्मा 'ति भवो, कम्ममेव भवो कम्मभवो' अर्थात्, जिस कर्म से फल का उत्पाद होता है उसे 'भव' कहते हैं। कर्म ही 'भव' है, क्योंकि कर्म से ही फलोत्पाद होता है। 'भवति इति भवो'।

कारण-कर्म से उत्पन्न ३२ लौकिक विपाक एवं कर्मज रूपो को 'उपपत्ति-भव' कहते है। अनागत (भविष्य) मे उपपन्न होता है, वह 'उपपत्ति' है। जो होता है वह 'भव' है, जो उपपत्ति है वही भव है, अत: उसे 'उपपत्ति भव' कहते हैं। अर्थात् इस प्रत्युत्पन्नभव मे कृत कुशल, अकुशल कर्म से अनागत-भव मे उत्पन्न होने वाले फलविपाक 'उपपत्ति भव' कहलाते हैं।

सस्कार एवं कर्मभव दोनो लौकिक कुशल एव अकुशल मे सम्प्रयुक्त चेतना ही होती है। अत उनमे क्या भेद है? इस प्रत्युत्पन्न-भव में फल प्राप्त करने के लिए अतीत-भव मे उत्पन्न चेतना को 'सस्कार' कहते है। अनागत-भव मे फल प्राप्त करने के लिये इस भव मे उत्पन्न चेतना 'कर्मभव' है। अत. चेतना मे साम्य होने पर भी भव काल-भेद से भेद होता है। कायाकम्म, वचीकम्म और मनोकम्म ये तीनो मिलकर ही कम्मभव है।

भवपच्चया जाति—जाति याने जन्म। विज्ञान (प्रतिसन्धि-विज्ञान), नाम एव रूपो के सर्वप्रथम उत्पाद को जाति या 'प्रतिसन्धि' कहते है। जाति-कर्मभव एव उपपत्ति-भव दोनो भवो मे उत्पन्न होते हैं। भगवान बुद्ध कहते है, 'जातिपि दुक्खा' जन्म ही दु:ख-सत्य है, भले ही वह मनुष्य, देव या ब्रह्मभूमि में हुआ हो।

जातिपच्चया जरा-मरणं—जन्म के कारण वार्धक्य एवं मरण का प्रादुर्भाव होना अनिवार्य है।

सोक-परिदेव-दुक्ख-दोमनस्स-उपायासा सम्भवन्ति—जाति (जन्म) के कारण शोक, परिताप, दु:ख, दौर्मनस्य, बेचैनी और रोना-पीटना उत्पन्न होता है। अपनी ज्ञाति, सम्पत्ति, गुण, श्री आदि के नाश से जो अनुताप होता है उसे 'शोक' कहते है। और इस ज्ञाति आदि के विनाश से जो विलाप होता है, उस विलाप के ध्वनि को

'परिदेव' कहते है। पञ्चस्कन्ध मे जो दु.खवेदना होती है, उसे ही 'दु ख' कहते हैं और अप्रिय सम्प्रयोग, प्रिय-विप्रयोग, इष्ट की असम्प्राप्ति एव ज्ञाति, सम्पत्ति, गुण, श्री आदि के विनाश से चित्त मे उत्पन्न होनेवाली दु ख-वेदना को दौर्मनस्य' कहते है। शोक और परिदेव से होनेवाले दु ख की अपेक्षा तीव्र दु ख के उत्पाद को 'उपायास' कहते है। जरा-मरण जाति के मुख्य फल है। शोक, परिदेव आदि देवभूमि एव ब्रह्मभूमि मे नही होते, तथा इस मनुष्यभूमि मे भी जाति के कुछ ही क्षणो के अन्दर च्युति करनेवालो मे शोक-परिदेव नही होते। अत जाति के मुख्य फल शोकादि नही है, अपितु 'निष्पन्दफल' है। इसे एक उदाहरण द्वारा समझे – किसी कडाही मे तेल के तप्त होने को 'शोक', उसमे बुलबुले उठने, उफान आने तथा खदखद शब्द को 'परिदेव' तथा उस तेल के जल जल कर समाप्त होने की प्रक्रिया को 'उपायास' समझना चाहिए।

एवमेतस्स .. समुदयो होति— यह पूरे प्रतीत्यसमुत्पाद धर्मसमूह को लेकर यह वाक्य है। अत इसके द्वारा 'अविद्या आदि कारणसमूह से ही इस दु खस्कन्ध (कार्य-समूह) की उत्पत्ति होती है। 'केवल' शब्द असम्मिश्रण तथा अशेष अर्थ मे प्रयुक्त है। 'समुदय' शब्द का अर्थ 'उत्पन्न होना' है। तथा 'होति' शब्द का अर्थ भी 'उत्पन्न होना' है। इन दोनो मे विशेष यह हे कि 'समुदय' शब्द धर्मो के उत्पाद-स्थिति-भङग के रूप मे उत्पन्न होने का द्योतक है, तथा 'होति' शब्द साधारण रूप से उत्पन्न होने का द्योतक है। अत सब का साराश यह कि अविद्या आदि के कारणो से, सुख से आसम्मिश्रित अशेष दु खात्मक नामरूप-स्कन्ध की ही उत्पाद-स्थिति-भङग रूप से उत्पत्ति होती है। पुद्गल, सत्त्व, अहम, त्वम्, स्त्री, पुरुप आदि की उत्पत्ति के अर्थ मे नही है ओर शुभ, सुख आदि भी उत्पन्न नही होते।

प्रतीत्यसमुत्पाद धर्मो मे जाति, जरा, मरण, शोक, परिदेव, दु ख, दौर्मनस्य एव उपायास नामक दु खसमूह जीवन मे स्पष्टरूप से प्रतिभासित होते है। अविद्या, सस्कार, आदि नामरूपात्मक धर्मसमूह ही सत्त्व (जीव) रूप मे प्रतिभासित होते है। उन नामरूप धर्मो मे भी जाति, जरा, मरण आदि देख कर 'ये नामरूप धर्म दु खात्मक है' ऐसा स्थूलत ज्ञान होता है। अनागत नामरूपस्कन्ध प्राप्त करने के लिए पूर्वभाग मे (पहले) जो कर्म किये जाते है, वे भी दु खसाध्य ही होते है। दान, शील, भावना आदि कर्म भी दु ख के विना सम्पन्न नही होते, यह अविद्या एव सस्कार के क्षेत्र मे दु ख की उत्पत्ति है। इन सस्कार-दु खो से निर्मित होने के पश्चात् विज्ञान, नामरूप आदि फलविपाक जब अपायभूमि मे उपपत्ति लाभ करते है, तब वे वहाँ दु ख ही दु ख का अनुभव करते है। यदि मनुष्यभूमि मे उत्पन्न होते है, तब भी जाति, जरा-मरण-शोक-परिदेव आदि दु खो से अनिवार्यतया युक्त होते है। सुखभूमि

कहलानेवाली देवभूमि, ब्रह्मभूमि आदि मे उत्पन्न होने पर भी वहाँ विपरिणाम दु ख तो अपरिहार्य ही है, क्योकि च्युति के समय उस (विपरिणाम दु ख) का सामना करना पडता है। अत नामरूपात्मक सत्त्व के ऊपर सस्कार-दु ख, दु ख-दु ख, और विपरिणाम-दु खो का आधिपत्य होने के कारण नामरूपो को 'केवल दुःखस्कन्धात्मक' कहा जाता है।

'अविद्या और तण्हा' इन मूल कारणो से पटिच्चसमुप्पाद के चक्र का निरन्तर चक्कर लगाते रहना है।

वर्मा मे महाथेर मोगोक सयादो नाम के विपश्यना साधना के महा आचार्य इस वीसवी शताब्दि के उत्तराध मे हुए है। वे द्वितीय महायुद्ध के वाद अमरपुर, मोगोक और वाद मे मान्डले शहर मे विपश्यना साधना शिविर लेते रहे। विपश्यना के वारे मे उनका अन्तर्ज्ञान वडा अगाध रहा है। वे अर्हत् अवस्था मे पहुचे हुए माने जाते थे। उन्होने पटिच्चसमुप्पाद का विश्लेपण वडे ही सुदर ढग से चित्रमय चक्र द्वारा साधको को समझाया है। उस चित्र को यहा पर साधको को इस विपय को सरलता से समझने के लिए चित्रित किया गया है, उसको हम समझे।

पटिच्चसमुप्पाद संसारचक्र का चित्ररूप

साधक इस विषय को समझने के लिए पहले चित्र पटिच्चसमुप्पादचक्र को देखे। इस चक्र के निरन्तर घूमने के और सत्त्व के जन्म पर जन्म का उत्पाद करने के मूल कारण 'अविज्जा और तण्हा' ही है। ये दोनों इस चक्र के ठीक मध्य मे है। 'अविज्जा' (अज्ञान) के कारण चार आर्य-सत्यो पर आवरण है, और 'तण्हा' प्रिय को चाहने की वासना तथा अप्रिय से छुटकारा पाने की वासना है।

जब खन्ध (पञ्चस्कन्ध) का जन्म होता है तो जरा-मरण सहभूत होते ही है। अव यह 'खन्ध' याने यह 'घर' वनानेवाला कौन है, यह देखना है। यह घर वनानेवाले 'अविज्जा' और 'तण्हा' ही इसके मूल मे है। इनका विनाश हुए विना इस चक्र के वाहर निकलना सम्भव नही है। अविज्जा के कारण सस्कार सञ्चित होते है और तण्हा के कारण उपादान का तीव्र प्रादुर्भाव होते रहता है। संस्कारो के कारण वर्तमान-फल की परम्परा वनी रहती है, जो 'विञ्ञाण, नामरूप, सळायतन, फस्स और वेदना है। चाहे इसको खन्ध (पञ्चस्कन्ध) कह ले।

इस चक्र के चार भाग किये है। पहला भाग अतीत (भूत) कारण-परम्परा है (Past causal continuum)। इसमे पाच आकार (Factors) आते है—अविज्जा, सङखारा, तण्हा, उपादान, भव। इस 'अतीतफल' भाग से दूसरे भाग का उत्पाद है, जो प्रत्युत्पन्न (वर्तमान) फल-परम्परा (Present Resultant continuum) है। इसमे विञ्ञाण, नामरूप, सळायतन, फस्स, और वेदना ये आकार (Factors) आते है। यह सव खन्ध ही है।
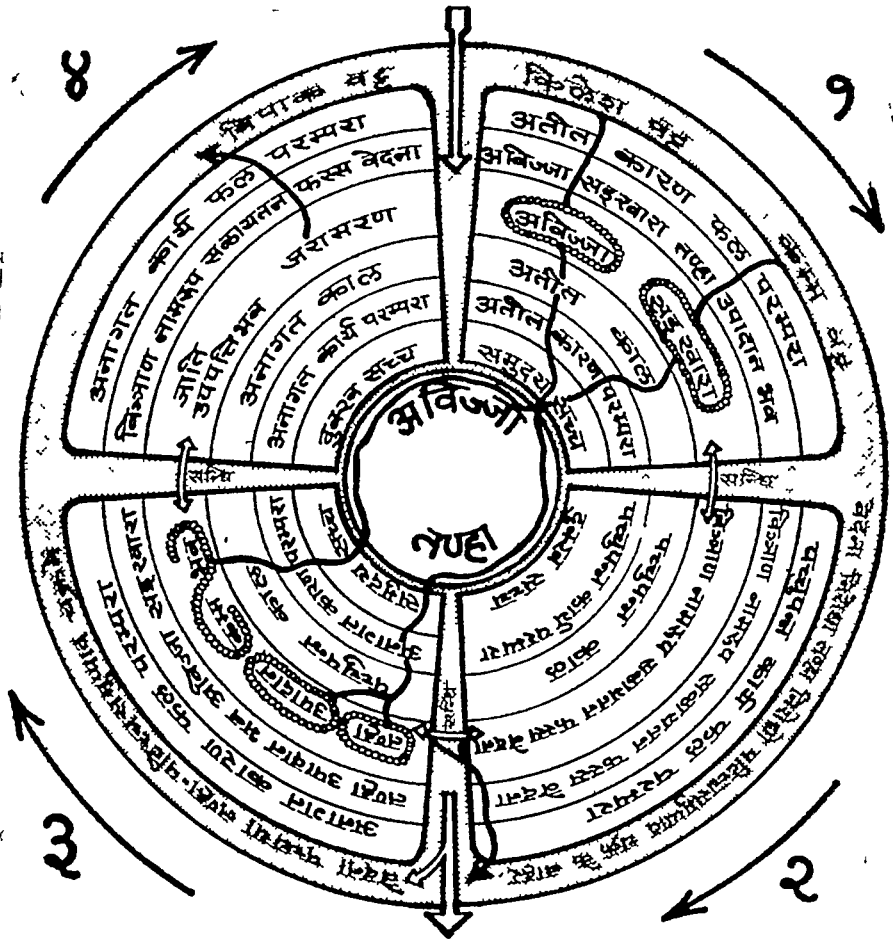
'पटिच्चसमुप्पाद चक्र'

अब आगे और हम देखेंगे तो जान पडेगा कि भाग क्र. २ याने पच्चपन्न (वर्तमान) कार्य फल-परम्परा से भाग क्र. ३ चलता है, जो वर्तमान कारण-परम्परा (Present causal continuum) या अनागत (भविष्य) कारण-परम्परा है (Future causal continuum)। इसमे आकार (Factors) तण्हा, उपादान, भव, अविज्जा और सङखारा है। और यह आर्यसत्यो मे से समुदय-सत्य विभाग मे आते है। अब भाग क्र. ३ से भाग क्र ४ चलता है, जो अनागत (भविष्य) फल-परम्परा (Future Resultant continuum) है। इसमे विञ्ञाण, नामरूप, सळायतन, फस्स और वेदना ये आकार (Factors) आते हैं। यह दुःख-सत्य आर्य-सत्य मे आता है।

इससे यह स्पष्ट होगा कि भाग क्र. १ अतीत (भूत) कारण-परम्परा (Past causal continuum) से भाग क्र. २ पच्चुपन्न (वर्तमान) फल-परम्परा (Present Resultant continuum); और भाग क्र. २ से भाग क्र. ३ पच्चुपन्न (वर्तमान) या अनागत कारण-परम्परा (Present or Future causal continuum), और भाग क्र. ३ से भाग क्र. ४ अनागत (भविष्य) फल-परम्परा (Future Resultant continuum) चलते हैं। और फिर से, भाग. क्र. ४ भाग क्र. १ मे चला जाता है, जो अनागत फल-परम्परा, अतीत कारण-परम्परा बन जाता है। फिर यह चक्कर चलता ही रहता है। इस तरह, भूतकाल से वर्तमान, वर्तमान से भविष्य और भविष्य से फिर भूत होता जाता है। इस तरह, यह पटिच्चसमुप्पाद का ससार चक्र लगातार घूमता ही रहता है। यह हर क्षण का उदय-व्यय इसतरह निरन्तर इस चक्कर मे चलता ही रहता है।

इसी तरह और दूसरे आर्य-सत्य को भी समझे। समुदय-सच्च दुक्ख-सच्च की ओर ले जाता है और दुक्ख-सच्च का उत्पाद फिर से समुदय-सच्च का उत्पाद करता है। इसीतरह भूत वर्तमान बनता है, वर्तमान भविष्य, भविष्य भूत, और फिर से भूत-वर्तमान भविष्य यह चक्र निरन्तर बना ही रहता है। इसका स्पष्टीकरण जो ऊपर दिया गया है, उसको समझे तो ठीक ध्यान मे आएगा। कारण-फल-परम्परा निरन्तर गतिमान् है।

इस चक्र मे केवल दुक्ख-सच्च और समुदय-सच्च ही आते है। कारण मार्ग और निरोध-सच्च इससे परे है। ये लोकोत्तर-सच्च है जो इस चक्र के पथ के बाहर है। यह दृष्टिपथ मे आने के लिए ही विपश्यना साधना है, जिसके अभ्यास से दुःख-निरोध होकर निर्वाण-प्राप्ति का मार्ग सुलभ हो जाता है। भाग क्र २ और भाग क्र ३ मे जो सन्धि है, जहा वेदना के कारण तण्हा (तृष्णा) उत्पन्न होती है, वहा पञ्ञा (प्रज्ञा) जागे तो इस चक्रव्यूह के बाहर निकलने का मार्ग मिल जाता है।

भाग क्र. १ और भाग क्र. २ मे सन्धि सङ्खारा और विञ्ञाण मे है।

भाग क्र. २ और भाग क्र ३ मे सन्धि वेदना और तण्हा मे है।

भाग क्र. ३ और भाग क्र. ४ मे सन्धि भव और जाति मे (कम्म-भव और उप्पत्ति-भव याने जाति) है, इस प्रकार इस चक्र मे तीन सन्धिया है। और यह चक्कर इसी तरह पूरा होकर फिर से घूमता रहता है।

वट्ट---अविज्जा, तण्हा और उपादान ये किलेस-वट्ट है। किलेस वट्ट के कारण कम्म-भव होता है, जिससे विपाक (फल)—वट्ट का उत्पाद होता है, याने खन्ध की उत्पत्ति होती है। इस तरह किलेस-वट्ट के कारण कम्म-वट्ट और कम्म-वट्ट के कारण विपाक-वट्ट के निर्माण का चक्कर निरन्तर चलता ही रहता है।

इसीतरह, समुदय-सच्च और दुक्ख-सच्च का भी चक्कर निरन्तर चलता रहता है।

कालचक्र जो कि भूत, वर्तमान और भविष्य है, उसका भी चक्कर निरन्तर बना रहता है।

इससे यह स्पष्ट है कि पटिच्चसमुप्पाद के ससार-चक्र को तोडे विना बाहर नही निकला जा सकता।

इसलिए, तीन वट्ट और दो आर्य-सच्च (समुदय-सच्च एव दुक्ख-सच्च) को जीतकर ही बाहर निकलने का मार्ग मिल सकता है और इसमे से बाहर निकलने के लिए केवल बुद्धि-विलास से काम नही बनेगा, किन्तु विपश्यना साधना द्वारा अन्तर्मुखी होकर ही मार्ग और फल मिल सकता है, जिससे अविद्या का विद्या मे याने ज्ञान मे और तृष्णा का अलोभ-ज्ञान मे परिवर्तन होगा।

कैसे इस पटिच्चसमुप्पाद के चक्र को तोडे ?

साधक इस विषय को समझने के लिये आगामी पृष्ठ के चित्र 'जन्म-मरण चक्र' को देखे।

आपने गाडी के चक्के को देखा ही है। इस चक्के के मध्य मे धुरा (Axle) है। इस धुरा को घेरनेवाला एक अध्व ((Axle box or hub)) है। इस चक्के को बाहरी किनारा-वर्त्त (वट्ट) याने Rim है। अध्व से वर्त्त को जोडनेवाले चार आरे (spokes) है।

जो धुरा है वे आसव (आश्रव याने लोभ, द्वेष) है, जैसे—कामासव, भवासव दिट्ठासव, अविज्जासव।

दुक्ख दोमनस्स
जरा
उपायासा सम्भवन्ति
मरण
जाति
सोक परिदेव
व्याधि
रूपभूमि
अपायभूमि
अरूपभूमि
कामभूमि
तण्हा
अविज्जा
आसव
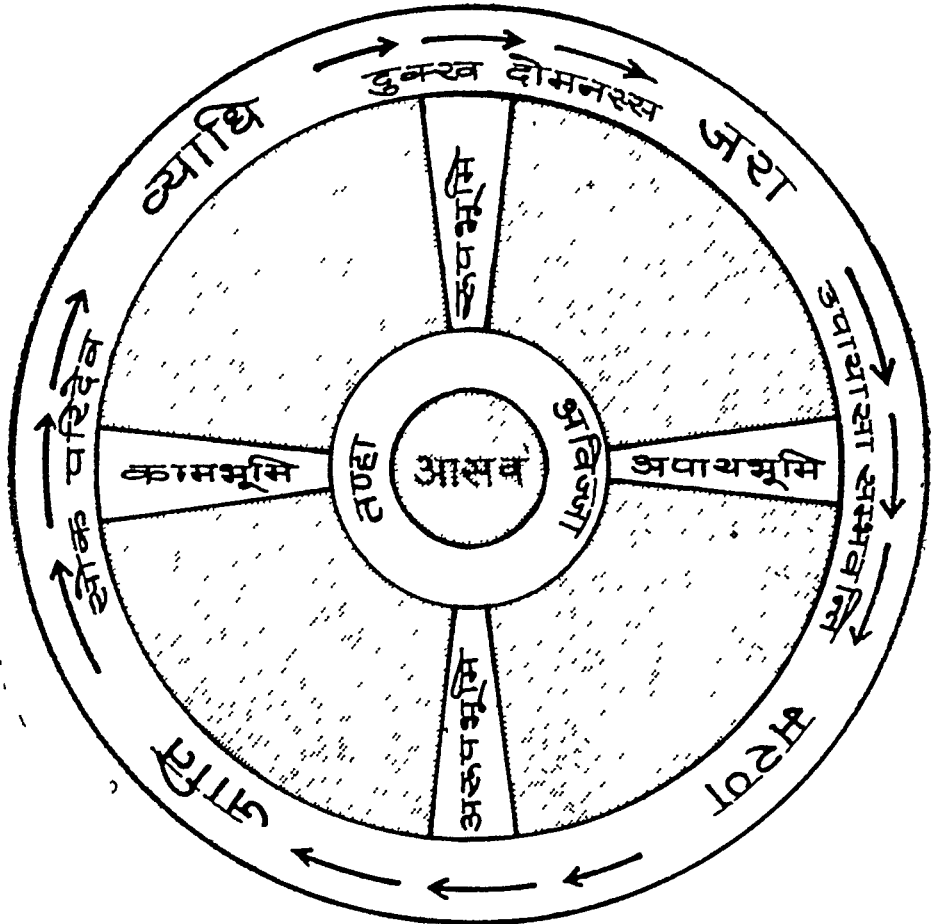
'जन्ममरण चक्र'

धुरा को घेरकर उस पर घूमनेवाला चक्के का जो मध्य (hub) है, वह अविज्जा और तण्हा है।

इस मध्य (Hub) से चक्के के रिम को जोडनेवाले चार आरे(spokes)है–(१) काम-पुण्याभिसङ्खारा (२) रूप-पुण्याभिसङ्खारा (३) अपुण्याभिसङ्खारा (४) आनेञ्जाभिसङ्खारा।

इस चक्के की रिम जो है, वह जाति-व्याधि जरा-मरण है।

इसतरह इस चक्के के पहिये के मध्य, चार आरे और रिम इन पाच पुर्जो से चक्का पक्का वन जाता है, साथ ही सुदृढ-रूप से गतिमान् भी है।

जव कोई सत्त्व दान, शील मे प्रतिष्ठित होता है, तो उसको ऊपर की देव-ब्रह्मभूमि प्राप्त होती है। पटिच्चसमुप्पाद के तौर पर ये पुण्य-सस्कार 'पुण्याभि-संस्कार' है। जव कोई सत्त्व अकुशल कर्मो मे रत है, तो वे सभी 'अपुण्याभिसंस्कार' है, जो अपायभूमि को प्राप्त करायेंगे। अपायभूमि नरक, पशु-पक्षी-योनि आदि है।

जव सत्त्व रूपावचारभूमि (ब्रह्मलोक) की प्राप्ति के लिए समाधि का अभ्यास करता है, तो उसको 'रूप-पुण्याभिसस्कार' कहते है।

जव कोई सत्त्व रूप-भूमि की इच्छा करके अरूपावचर का ध्यान करता है जिससे अरूपावचर-ब्रह्मलोक की प्राप्ति हो (जिस मे रुप का अभाव होता है और नाम के चार खन्ध ही होते है) तो इसको 'आनेञ्जाभिसस्कार' कहते है।

जो भी सस्कार हो, चाहे वे पुण्याभि, अपुण्याभि, या आनेञ्जाभि हो, वे सव जरा-मरण के किनारे के याने जरा-मरण के रिम के वाहर नही निकल सकते। अत, इनसे संसार-लोक के वाहर नही निकला जा सकता और इसी चक्के मे यह सत्त्व घूमता रहता है। किसी भी भूमि मे सत्त्व उत्पन्न हो जरा-मरण से उसका छुटकारा नही है। कुशल सस्कार ऊपर की भूमि की प्राप्ति करा सकते है; फिर भी जरा-मरण से छुटकारा नहीं दिला सकते।

अकुशल सस्कार अपाय-भूमि का आरा है। और मनुष्य-भूमि काम-भूमि का आरा है। कुशल संस्कार जो रूप या अरूपभूमि (देवलोक, ब्रह्मलोक) की प्राप्ति के लिए किये जाते है, वे रूपभूमि का आरा और अरूपभूमि का आरा है। इस प्रकार ये चार आरे है।

अव इस चक्के के मध्य मे धुरा (Axle) है। वह आसव (आश्रव) है। 'आसवसमुदया अविज्जासमुदयो' अव यह चक्का इस आसव धुरा पर घूमता रहता है, यह चक्कर लगातार चलता रहता है। ये खन्ध उत्पन्न होते है, तो जरा-मरण से ही गुजरना पडता है।

अव आर्य-सत्य के द्वारा देखा जाय, तो ये खन्ध दुक्ख-सच्च हैं और अविद्या एवं तृष्णा समुदय-सच्च है। अतः सारे ससार मे ये दुक्ख-सच्च और समुदय-सच्च हमारे साथी हैं। मार्ग-सच्च और निरोध-सच्च दीख नही पडते। इस कारण ही, इस चक्र के वाहर हम निकल नही सकते। मार्ग और निरोध के लिए हम अभ्यास ही नही करते। हमारा अतिमूल्यवान् समय इस ससारचक्र मे घूमते रहने के लिए ही व्यतीत होता रहता है और दु.ख का भोग भोगते ही रहने का काम हम निरन्तर चलाए रखते है।

यदि हमारी तीव्र इच्छा इस संसार से छुटकारा पाने की हो, तो हमे किलेस-वट्ट, कम्म-वट्ट, विपाक-वट्ट और दुक्ख-सच्च एवं समुदय-सच्च से वाहर निकलने के मार्ग का अभ्यास विना रुके करना पडेगा। तो ही, इस संसार चक्र के (चक्के की धुरा, हव, आरा और रिम तोडकर) वाहर निकलने मे हम समर्थ होगे। इसके लिए अष्टांगिक मार्ग मे निहित 'विपश्यना साधना' निरन्तर करते रहना चाहिए और अविद्या को विद्या मे तथा तृष्णा को अलोभ मे परिवर्तन करना चाहिए।

जो पटिच्चसमुप्पाद के चक्र के साथ घूमते रहता है, वह अन्धे के समान है। अविद्या क्या है ? चार आर्य-सत्यो को नही जानना अविद्या है और अविद्या का आवरण जिनपर चढा हुआ है, वे मार्ग-सच्च से पृथक् है, अतः उनको पृथुजन (साधारण जन) कहते है। पृथुजन को अन्धे की उपमा दी गयी है। अन्धे के समान अविद्या है। पुण्याभिसंस्कार दाहिने पाव से चलने के समान है। अपुण्याभि संस्कार वाये पांव से चलने के समान है। आर्यसत्यों का अज्ञान और कुशल व अकुशल संस्कारों का करना दाहिने और वाये पांवो से चलने के समान है। दाहिने पांव से सद्गति खन्ध (देव लोक, मनुष्य लोक) की प्राप्ति होती है और वाये पांव से दुर्गति-खन्ध की प्राप्ति होती है।

अन्धे के फिसलने के समान अविद्या के प्रत्यय (कारण) से संस्कार हैं। फिसले हुए के गिरने के समान संस्कारो के प्रत्यय से विज्ञान है। गिरे हुए को फोडा होने के समान विज्ञान के प्रत्यय से नाम-रूप है। फोडे के फूटने से उत्पन्न फुन्सियो के समान नाम-रूप के प्रत्यय से छः आयतन है। फोडे-फुनसियो के घर्षण के समान छः आयतनों के प्रत्यय से स्पर्श है। घर्षण के दु.ख के समान स्पर्श के प्रत्यय से वेदना है। दु.ख का उपचार करने की इच्छा के समान वेदना के प्रत्यय से तृष्णा है। उपचार की इच्छा से अपथ्य को ग्रहण करने के समान तृष्णा के प्रत्यय से उपादान है। ग्रहण किये गये अपथ्य के आलेपन के समान उपादान के प्रत्यय से भव है। अपथ्य के आलेपन से फोडे के विकार उत्पन्न होने के समान भव के प्रत्यय से जाति है। फोडे के विकार से फोडे के फूटने के समान जाति के प्रत्यय से जरा-मरण है। उससे पीडित पुनः पुनः

होनेवाले संस्कार हमे उसी प्रकार लपेटते है, जैसे रेशम का कीडा कोश वना कर स्वयम् को लपेटता है।

अन्य प्रकार से भी यह उपमा समझायी जा सकती है। नामरूप के कारण छ. आयतन होते है, जैसे फोडे के कारण सव जगह आँख, कान, नाक, जिव्हा, शरीर, मन मे घाव हो जाते है। जव अन्धा चलता है, फिसलता है, घाव हो जाते है, तो सारे शरीर मे पीप होने के समान षडायतन के कारण से स्पर्श है। पीडा तीव्र होने लगती है, जो स्पर्श के कारण वेदना है और रोग उत्पन्न होता है। अव दवा की इच्छा होती है, जो वेदना के कारण तृष्णा है। अन्धा होने के कारण वह ठीक दवा नही ढूढ सकता, क्योकि अविद्या का आवरण है और आर्य-सत्यो का अज्ञान है। गलत दवा लेने के कारण रोग-पीडा वढती ही जाती है। उपादान के कारण कम्म-भव है और कम्म-भव के कारण जाति-जरा-मरण का चक्र वना ही रहता है।

जव अविज्जा विज्जा मे परिवर्तित होती है, और दुक्ख-सच्च का साक्षात्कार हो जाता है, तो 'चक्खु उदपादि, नामं उदपादि, विज्जा उदपादि' होता है।

पटिच्चसमुप्पाद के चार नय (पद्धति या क्रम)

'पटिच्चसमुप्पाद' चक्र का चार नयो से विचार करने पर पुद्गल, सत्त्व, अहम्, त्वम्, स्त्री, पुरुष आदि के मिथ्यात्व (अपरमार्थित्व) का ज्ञान हो जाता है। फलत शाश्वत एवं उच्छेद आदि दृष्टियो का समूल घात हो जाता है। अत· एकत्त (एकत्व) नय, नानत्त (नानत्व) नय, अव्यापारनय तथा एवंधम्मता (एवधर्मता) नय, इन चार नयो द्वारा हमें पुन. पुन विचार करना चाहिए।

(१) **एकत्त-नय**—'सन्तान-सन्तति निरन्तर अविच्छिन्न रूप से प्रवाहमान होती रहती है इसप्रकार जाननेवाले नय को 'एकत्वनय' कहते है। इसके अनुसार, जैसे वीज से अङ्कुर, अङ्कुर से स्कन्ध-शाखादि तक पहुचने के लिए वृक्ष की सन्तति निरतर अविच्छन्न रूप से प्रवृत्त होती है, ठीक उसीप्रकार, अविद्या से सस्कार तथा पूर्व-पूर्व संस्कारो से प्रत्युत्पन्न (वर्तमान) भव में विज्ञान, नाम-रूपादि निरन्तर होते रहते है। इस प्रकार की अविच्छिन्नता का विचार करने पर 'यह भव, यह सत्त्व, यह स्कन्ध' ये तो इस भव, सत्त्व, एवं स्कन्ध के नष्ट होने पर सर्वथा नष्ट हो जाते है तथा अनागत-भव, अनागतसत्त्व और अनागतस्कन्ध, वर्तमान से सर्वथा भिन्न होते है इस प्रकार की उच्छेद-दृष्टि अपने-आप नष्ट हो जाती है।

(२) **नानत्त-नय**—'सन्तान-सन्तति के अविच्छिन्न प्रवृत्त होने पर भी अविद्या, सस्कार आदि धर्म स्वभाव एव लक्षण से भिन्न भिन्न होते है,' इसप्रकार जाननेवाले नय को 'नानत्तनय' कहते है। इस नय के अनुसार अविद्या एवं सस्कारो का भेद तथा सस्कार एवं विज्ञान का भेद, इसी प्रकार अन्य प्रतीत्यसमुत्पाद-धर्मो का भेद

जान कर नये नये कारणो से नवीन नवीन कार्य उत्पन्न होते है, ऐसा ज्ञान होता है। फलत. 'धर्म नित्य है' इस प्रकार की शाश्वत दृष्टि अपने आप नष्ट हो जाती है।

(३) **अव्यापार-नय**--अविद्या से सस्कार के उत्पाद मे 'मैं सस्कार उत्पन्न करूगा' इसप्रकार का अविद्या में कोई व्यापार नही होता। इसीप्रकार संस्कार से विज्ञान की उत्पत्ति मे भी सस्कार मे कोई व्यापार नही होता। इसप्रकार, कार्य-धर्मो के उत्पाद मे कारण-धर्मसमूह मे कोई व्यापार नही होता। इसे ही 'अव्यापारनय' कहते है। इस नय के अनुसार विचार करने से कारण-धर्मो के एवं कार्यधर्मो के अपूर्वापर उत्पाद का सम्यक् ज्ञान हो जाने से 'इस ससार का और सत्त्वों का निर्माण नित्य, ईश्वर आदि द्वारा किया जाता है' इस प्रकार, ईश्वर-निर्माणवाद तथा 'अपने स्कन्ध के अन्तर्गत उन उन कर्मो को करनेवाला या अनुभव करनेवाला नित्य आत्मा है' इस प्रकार उपादान करनेवाला आत्मवाद भी अपने-आप निवृत्त हो जाता है।

(४) **एवंधम्मता-नय**--'इसप्रकार अविद्या आदि कारणो से संस्कार आदि कार्यो की उत्पत्ति 'धर्मता' है।' इसप्रकार जाननेवाले नय को 'एवंधम्मतानय' कहते है। इस नय के अनुसार विचार करने से, जैसे दुग्ध से दही, तिल से तेल, या इक्षु से इक्षु-रस का उत्पाद 'धर्मता' है तथा सिकता (बालू) से तेल का उत्पाद न होना, इक्षु से दुग्ध का उत्पाद न होना आदि भी 'धर्मता' है। इसीप्रकार, अविद्या से सस्कार की उत्पत्ति, संस्कार से अविद्या की उत्पत्ति. कारण के विना कार्य की अनुत्पत्ति आदि भी 'धर्मता' है। इसप्रकार विचार करने से 'कोई भी धर्म सम्बद्ध कारण से उत्पन्न नही होता' इसप्रकार के सहेतुक-वाद के ज्ञान से 'विना-कारण उत्पाद होता है' इस प्रकार की 'अहेतुक दृष्टि' तथा 'कुशल अकुशल' कर्म करने पर भी वे अकृत निरर्थक होते है इस प्रकार की 'अक्रिय दृष्टि' भी अपने-आप नष्ट हो जाती है।

जो वस्तु अपने ज्ञान की सीमा से परे है अथवा जो अपने ज्ञान का विषय नही हो सकता, उसपर विचार करना अनुचित है।

'पटिच्चसमुप्पाद' चक्र का उपर्युक्त चार नयो से विचार करने पर इस ससार अथवा स्कन्ध-सन्तति का कोई 'आदि' नही है, यह ज्ञान हो जाता है।

संसारचक्र का निरोध--जिसप्रकार किसी वृक्ष का पोषण करनेवाला मूल किसी कारण नष्ट हो जाता है, तो उस सम्पूर्ण वृक्ष का भी नाश हो जाता है, इसी प्रकार, ससार मे पुष्ट होनेवाले 'सत्त्व' नामक नाम-रूपात्मक स्कन्ध-वृक्ष के अविद्या, तृष्णा नामक दो मूलो का अर्हत्-मार्गरूपी शस्त्र से उच्छेद कर दिया जाता है, तो स्कन्ध-वृक्ष समूल विनष्ट हो जाता है।

अतएव, पटिच्चसमुप्पाद-चक्र का निरोध इस प्रकार है—

तिलोम (पटिलोम)	— अवरोहण.
अविज्जाय–त्वेव असेस	— अविद्या के सम्पूर्णतः रुक जाने से
विराग–निरोधा सङखार-निरोधो	— संस्कार रुक जाता है।
सङखार–निरोधा विञ्ञाण–निरोधो	— सस्कार के रुक जाने से विज्ञान रुकता है।
विञ्ञाण–निरोधा नामरूप–निरोधो	— विज्ञान रुकने से नामरूप रुकते है।
नामरूप–निरोधा सळायतन-निरोधो	— नामरूप रुकने से षडायतन रुकते है।
सळायतन-निरोधा फस्स-निरोधो	— षडायतन रुकने से स्पर्श रुकता है।
फस्स-निरोधा वेदना-निरोधो	— स्पर्श रुकने से वेदना रुकती है।
वेदना-निरोधा तण्हा-निरोधो	— वेदना रुकने से तृष्णा रुकती है।
तण्हा-निरोधा उपादान-निरोधो	— तृष्णा रुकने से उपादान रुकता है।
उपादान-निरोधा भव-निरोधो	— उपादान रुकने से भव रुकता है।
भव-निरोधा जाति-निरोधो	— भव रुकने से जन्म रुकता है।
जाति-निरोधा जरा-मरण-सोक परिदेव-दुक्ख दोमनस्सुपायासा निरुज्झन्ति।	— जन्म रुकने से जरा, मरण, शोक, रोनापिटना, दु ख, बेचैनी, परेशानी होना रुकती है।
एवमेतस्स केवलस्स दुक्खक्खन्धस्स निरोधो होति।	— इस प्रकार, सारा का सारा दु ख-समुदाय ही रुक जाता है।

भगवान बुद्ध कहते है कि यह कार्यकारण-फल-परम्परा अविच्छिन्न निरन्तर चल रही है। इसका मूल नष्ट होने पर ही यह परम्परा समूल नष्ट हो जाती है। ऐसा ऐसा हो, तो ऐसा ऐसा उत्पाद होता है और ऐसा ऐसा न हो, तो ऐसा ऐसा उत्पाद नही होता।

अविद्या एवं तृष्णा का समूल नाश होकर ही इस चक्र को तोड कर इस परम्परा के बाहर निकलना सम्भव हो सकता है। इसलिए 'अविज्जापच्चया' 'विज्जा' हो जाय एव 'वेदनापच्चया तण्हा' के बदले 'वेदनापच्चया पञ्ञा' हो जाय, तो इस चक्र के बाहर निकला जा सकता है और यह विपश्यना साधना के द्वारा ही सम्भव है।

समाधि (एकाग्र चित्त) के बल से विपश्यना द्वारा साधक भीतर की ओर देखता है, अन्तर्मुखी होकर देखता है और निरन्तर होनेवाले लघुकणो के प्रकम्पन, विकीर्णन, सघर्पण तथा परिवर्तन की तीव्र एवं त्वरित वेदना महसूस करता है, तभी साधक को इस आन्तरिक दु ख का यथार्थ अनुभव होता है। इस सत्य को न जानना ही अविद्या है और इसे परमार्थ-रूप मे, अन्तिम जान लेना ही अविद्या का नाश करना है। उस अविद्या का, जो कि दु ख की जननी है, जो कार्य-कारण-

श्रृंखला द्वारा इस जीवन-धारा को प्रवाहित करती है, जो स्वभाव से ही जरा, व्याधि, पीडा, परिताप और चिन्ता आदि से परिपूर्ण है, नाश करना है।

यह हुआ 'पटिच्चसमुप्पाद' संसार-चक्र का और दुःख के मूल उद्गम का वर्णन। अब हम अगले अध्याय मे कार्य-कारण सम्बन्ध के नियमो पर दृष्टि डालेगे। यही भगवान बुद्ध ने 'पट्ठान-नय' मे विशद किया है।

अध्याय २४

पट्ठान-नय

कार्य-कारण-धर्मो को समझाने के लिए प्रत्यय-सङ्ग्रह का उद्बोधन है। कार्य-धर्मो के कारण को 'प्रत्यय' तथा कारण-धर्मो से उत्पन्न कार्य-धर्मो को 'प्रत्ययोत्पन्न' कहते हैं।

पटिच्चसमुप्पाद-नय और पट्ठान-नय इस तरह दो प्रकार का प्रत्यय-सङ्ग्रह हमे जानना चाहिए। 'नय' का अर्थ पद्धति या क्रम है।

'पटिच्चसमुप्पाद' नय में प्रत्यय एव प्रत्ययोत्पन्न धर्म दिखलाये गये है। पट्ठान-नय मे प्रत्यय एवं प्रत्ययोत्पन्न के अतिरिक्त प्रत्यय-शक्ति भी दिखलायी है। हेतु-धर्मो मे 'हेतुशक्ति' नामक शक्तिविशेष, आलम्बन-धर्मो मे 'आलम्बनशक्ति' नामक शक्तिविशेष, इस प्रकार प्रत्यय-धर्मो मे अपने अपने शक्ति-विशेष होते हैं। उन उन शक्ति-विशेषो के कारण सम्बद्ध प्रत्ययोत्पन्न धर्मो के उत्पाद के लिए दृढतापूर्वक स्थिति हो सकती है। इसलिए उन शक्ति-विशेषो को 'प्रत्यय-स्थिति' (पच्चय-ट्ठिति) कहा गया है।

पटिच्चसमुप्पाद-नय मे हेतुशक्ति, आलम्बनशक्ति का विशेष वर्णन नही है। केवल प्रत्यय एव प्रत्ययोत्पन्न की उत्पत्तिमात्र दिखलायी गयी है। पट्ठान-नय मे प्रत्यय एव प्रत्ययोत्पन्न के अतिरिक्त प्रत्यय-शक्ति-विशेष भी दिखलायी गयी है। यही दोनो की विशेषता है।

पट्ठान शब्द मे 'प' का अर्थ 'प्रकार' है और 'ठान' शब्द प्रत्यय शब्द का पर्याय होने से 'कारण' अर्थ मे है। यहा कार्य-धर्मो की कारणभूत प्रत्यय-शक्ति एव शक्तिमान् धर्मसमूह 'ठान' (कारण) कहे गये है।

"नानप्पकारानि ठानानि एत्था'ति पट्ठानं" अर्थात्, जिस ग्रन्थ मे नाना प्रकार की कारणभूत प्रत्यय-शक्ति एव शक्तिमान् धर्म प्रतिपादित हैं, उस ग्रन्थ को पट्ठान कहते है।

पट्ठान-नय मे प्रत्यय, प्रत्ययोत्पन्न एव प्रत्यनीक ये तीन धर्मराशि प्रधान होती है। इसको 'त्रिराशि' कहा गया है। कारण से उत्पन्न कार्य (फल)-धर्मो को 'प्रत्ययोत्पन्न', 'हेतुप्रत्यय से उत्पन्न प्रत्ययोत्पन्न धर्म,' 'हेतुप्रत्यय से अनुत्पन्न प्रत्यनीक

धर्म ' इस प्रकार प्रत्ययोत्पन्न एवं प्रत्यनीक धर्मों को अनुलोम एवं प्रतिलोम के रूप मे कहा जाने से प्रत्ययोत्पन्न के विरोधी धर्मसमूह को (प्रत्ययोत्पन्न मे न आकर उस प्रत्ययोत्पन्न के विपरित धर्मसमूह को) प्रत्यनीक कहते है।

'पटिच्चसमुप्पाद' नय द्वारा कार्य-कारण-सम्बन्ध का सामान्य ज्ञान कर लेने के वाद पट्ठान-नय द्वारा कार्य-कारण के सम्बन्ध में 'अमुक धर्म अमुक धर्म का अमुक शक्ति से सम्बद्ध होकर उपकार करता है'—इसप्रकार का सूक्ष्म ज्ञान किया जा सकता है।

इस पट्ठान-नय मे २४ प्रत्यय है, वे इस प्रकार है:—(१) हेतु-प्रत्यय, (२) आलम्वन-प्रत्यय, (३) अधिपति-प्रत्यय (४)अनन्तर-प्रत्यय (५) समनन्तर-प्रत्यय (६) सहजात-प्रत्यय (७) अन्योन्य-प्रत्यय (८) निश्रय-प्रत्यय (९) उपनिश्रय-प्रत्यय (१०) पुरेजात-प्रत्यय (११) पश्चाज्जात-प्रत्यय (१२) आसेवन-प्रत्यय (१३) कर्म-प्रत्यय (१४) विपाक-प्रत्यय (१५) आहार-प्रत्यय (१६) इन्द्रिय-प्रत्यय (१७) ज्ञान-प्रत्यय (१८) मार्ग-प्रत्यय (१९) सम्प्रयुक्त-प्रत्यय (२०) विप्रयुक्त-प्रत्यय (२१) अस्ति-प्रत्यय (२२) नास्ति-प्रत्यय (२३) विगत-प्रत्यय (२४) अविगत-प्रत्यय.

अव हेतु और कर्म के पारस्परिक सम्वन्धो और उनके कारण उत्पन्न कर्म-फल को हम समझे।

कायिक, वाचिक अथवा मानसिक कर्म के प्रत्येक सचेतन क्षण में जो मनस्थिति होती है, वही 'हेतु' है। इस कारण प्रत्येक कर्म एक मनस्थिति उत्पन्न करता है, जो या तो कुशल है या अकुशल है, अथवा न कुशल है न अकुशल है। इन्हे ही हम कुशल धर्म, अकुशल धर्म और अव्याकृत धर्म कहते है। ये धर्म मानसिक शक्तियाँ मात्र है जो कि मिलकर 'संसार-लोक' का निर्माण करती है।

कुशल शक्तियाँ—दान, सेवा, शील, श्रद्धा, भक्ति, चित्त-विशुद्धि जैसी सद्वृत्तियो से प्रेरित होकर कायिक, वाचिक, मानसिक शुभकर्मो द्वारा उत्पन्न शक्तियाँ घनात्मक शक्तियाँ है।

अकुशल शक्तियाँ—तृष्णा, द्वेप, क्रोध, घृणा, असन्तोप, निंदा जैसी दुष्ट प्रवृत्तियो से अनुप्रेरित कायिक, वाचिक और मानसिक अशुभ कर्मो द्वारा उत्पन्न शक्तियाँ ऋणात्मक है।

अव्याकृत शक्तियाँ—ये न कुशल है, न अकुशल है। यह अरहन्तो की नित्य अवस्था है, जिन्होने अविद्या को पूर्णतया छिन्नमूल कर दिया है। अरहन्त की इन्द्रियाँ जव इन्द्रियगम्य विपय को स्पर्श करती है, तो फलस्वरूप जो वेदना (अनुभूति)

उत्पन्न होती है, वह न कुशलधर्मा है, न अकुशल धर्मा। अतः इससे कोई तृष्णामूलक गम्भीर प्रभाव नही पडता।

अव हम देखे, सहेतुक कर्मो द्वारा उत्पन्न कुशल और अकुशल शक्तियो का विभिन्न प्राणी-लोको से क्या सम्वन्ध है। पहले हम प्राणी-लोको का विभाजन समझे—

(१) **अरूप और रूप ब्रह्मलोक**—ये लोक इन्द्रियजन्य वासनाओ के प्रभाव से परे हैं। चित्त के चार महान् गुणधर्म हैं: परम मैत्री, परम करुणा, परम मुदिता, और परम उपेक्षा (समता)। इन चित्तधर्मो से नितांत विशुद्ध, तेजस्वी, आनन्दमयी और शान्त मानसिक शक्तियो का प्रजनन होता है, जो कि इन सर्वोच्च प्राणी-लोको मे स्थापित होती हैं। इसलिए, यहाँ के रूप-ब्रह्मलोको के भौतिक पदार्थ अत्यन्त सूक्ष्म है और केवल प्रकाशमात्र है। अरूप-ब्रह्मलोको मे तो भौतिकता का लेशमात्र भी नही है। ब्रह्मलोक मे शरीर प्रकाशमान् हैं, वे भौतिक पदार्थो से नही वने है।

(२) **कामवासना-लोक**—ये तीन लोक है: (१) देवलोक (२) मानवलोक (३) अधोलोक।

(१) **देवलोक**—किञ्चित भी राग-रञ्जित सारे कायिक, वाचिक, मानसिक कुशल-कर्म ऐसी मानसिक शक्तियाँ सृजन करते हैं, जो कि वहुतकुछ विशुद्ध, तेजस्वी, आनन्दमयी और लघिष्ट (हलकी) है। ये शक्तियाँ ऐसे उच्च देवलोको मे स्थापित होती है, जहाँ का भौतिक पदार्थ भी वहुतकुछ सूक्ष्म, प्रकाशमान, आनन्दमय और लघिष्ठ (हलका) है। तभी तो देवलोको के निवासियो के शरीर भी सूक्ष्म है। अलग अलग देवो की शारीरिक सूक्ष्मता, तेजस्विता, वर्णलावण्यता अलग अलग देव-लोक के अनुरूप कम या अधिक है। साधारणतया ये देव तव तक स्वर्गीय आनन्द का उपभोग करते है, जव तक कि उनके कुशल पुण्यकर्मो की सञ्चित मानसिक शक्तियाँ क्षीण नहीं हो जाती। और ऐसा हो जाने पर, अधिकतर ये निम्नतर लोको मे ही पुनर्जन्म ग्रहण करते है। विशिष्ट विकसित प्राणियो की वात अलग है।

(२) **मानवलोक**—यह लोक स्वर्ग (देवलोक) और नरक (अधोलोक) के वीच स्थित है। यहा हम दु ख और सुख दोनो का अनुभव करते हैं। इनकी न्यूनाधिक मात्रा हमारे पूर्वकृत कर्मो पर निर्भर करती है। यही से हम अपनी मानसिक अवस्था को उन्नत करके ऊर्ध्व लोको से अपनी पूर्व-सञ्चित कुशल मानसिक शक्तियो को खीच सकते है, उनसे वल प्राप्त कर सकते है। यही से हम दुराचार और दुष्प्रवृत्तियो की गहराइयो तक भी जा सकते है और अधोलोक की शक्तियो से सन्तुलन स्थापित कर सकते है। न यहा ऊर्ध्वलोको का सा एकान्तिक सुख है और न अधोलोको का सा एकान्तिक दु.ख है। आज जो सन्त है, कल वही महान दुष्ट हो सकता है। आज जो धनी है, वही कल निर्धन हो सकता है।

मनुष्यप्राणी यदि केवल पञ्चशील का ही पालन करे, तो देश-देश मे जो भयावह अन्तर्कलह वढता जा रहा है, क्रूरता, निर्दयता, लूट-खटोस आदि आदि की घनता वढी जा रही है, वह तो अवश्य ही कम हो जायगी। किन्तु लोगो की दृष्टि मे केवल जीना ही परम आवश्यक हो गया है और उनके जीवन मे जीने से अधिक मूल्यवान अन्य कुछ उन्हे समझ मे ही नही आ रहा है। इसलिए लोग अपनी और अपने परिवार-वालो की जिन्दगी वनाए रखने के लिए किसी भी प्रकार के अनुशासन का, नियमो का भग करने से नही हिचकिचाते, चाहे वह धार्मिक अनुशासन हो या सामाजिक अथवा राजतान्त्रिक (सरकारी) हो। परन्तु लोग यह नही सोचते कि वर्तमान जीवन के कष्टो का उत्तरदायित्व उनकी पूर्वकालीन अकुशल वृत्तियो का ही तो फल है और अनागत भव के लिए वे नया संचय कर रहे है, जिसको फिर से उन्हे भुगतना ही पडनेवाला है।

आवश्यकता तो इस वात की है कि अधिक से अधिक शुद्ध और कुशल मानसिक शक्तियो का सृजन और विकास किया जाय, जिनसे कि मानव-समाज पर छायी हुई अकुशल और दुष्ट मानसिक शक्तियो का सामना किया जा सके। परन्तु यह काम इतना सरल नही है। विना सद्गुरु की सहायता के, शुद्ध मानसिक स्थिति के स्तर तक नही पहुचा जा सकता। दुष्ट प्रवृत्तियो का सामना करने के लिए हमे प्रभावशाली शक्तियाँ चाहिये, जो शुद्ध धर्म के मार्ग से ही प्राप्त की जा सकती है। आधुनिक भौतिक विज्ञान ने आश्चर्यजनक प्रगति करके मनुष्य-प्राणी के सुख-समाधान के लिए नए नए उपकरणो का उत्पादन भले ही किये हो, अणुवम जैसे भयानक, शक्तिशाली, विध्वसक उपकरणो का उत्पादन भी इनके साथ साथ हुआ है। इन सव को देखते हुए ये शक्तियाँ कुशल शक्तियो से दूर, वहुत दूर ले जा रही है। इस पर विजय पाने के लिए हमे आन्तरिक शक्ति का ही उत्पाद करना अनिवार्य है, जिससे हमे, अपने परिवार को, समाज को, राष्ट्र को एव सारे मानव-प्राणी को विश्वशाति मिल सके और सुख-शान्ति वितरित की जा सके। एक दीपक के प्रकाश मे सारे कमरे के अन्ध.कार को दूर कर सकने की शक्ति है; इसीप्रकार, एक व्यक्ति मे जाग्रत किया गया प्रकाश अनेको के अन्ध.कार को दूर कर सकने की क्षमता रखता है। मनुष्य को भौतिक पदार्थो पर ही प्रभुत्व प्राप्त कर लेना पर्याप्त नही है, परंतु अधिक आवश्यकता इस वात की है कि मन पर भी प्रभुत्व स्थापित किया जाये।

आखिर मानव क्या है? मनोवृत्तियो का अभिव्यक्तिकरण मात्र ही तो मानव है। इसीप्रकार, पदार्थ क्या है? मनोवृत्तियो का शरीरीकरण मात्र ही तो पदार्थ है। घनात्मक और ऋणात्मक अकुशल शक्तियो की प्रतिक्रिया का परिणाम ही पदार्थ है। भगवान वुद्ध कहते है, 'चित्तेन नियतो लोको' याने ससार चित्त की ही उपज है। इसलिए चित्त ही प्रधान है, सर्वोपरि है। अत. हमे चित्त और उसकी

विशेषताओं का अध्ययन करना चाहिए, जिससे कि हम विश्व की समस्याओं का उचित समाधान ढूंढ सकें।

ऊपर जो प्राणी-लोको के विभाजन के विषय में वर्णन किया गया है, उस बाबत बुद्धशासन के अनुसार लोकों के नाम इस प्रकार है:—

(१) अरूप-लोक=मनोमय ब्रह्मलोक।
(२) रूप-लोक=सूक्ष्म पार्थिव ब्रह्मलोक।
(३) काम-लोक=देवलोक,, मनुष्यलोक और अधोलोक।

अरूप-लोक मे चार ब्रह्मभुवन है। ये ब्रह्मलोक जड भौतिक पदार्थों से नही बने हुए है, परन्तु केवल नाम याने चित्त से बने हुए हैं।

रूप-लोक मे १६ ब्रह्मभुवन है। ये अत्यन्त सूक्ष्म रूप है, जो प्रकाश की अवस्था मे भौतिक पदार्थो से बने हैं।

काम-लोक मे—(क) छ. देवभुवन है—(१) चतुर्महाराजिक (२) तावतिस (३) याम (४) तुषित (५) निर्माण-रति (६) परनिर्मित वसवर्ती।

(ख) एक मानव भुवन है।
(ग) चार अधोभुवन (अपाय भूमि) है—
(१) निरय (नरक) (२) तिरच्छान-तिर्यक् (पशु-पक्षी आदि) (३) प्रेत (४) असुर

हेतुप्रत्यय—इसको और स्पष्टिकरण मे समझे। 'हेतुपच्चयो' इस शब्द द्वारा शक्तिमान् छः हेतु एव उन हेतुओ की शक्ति का ग्रहण होता है। छः हेतु ये है—लोभ, द्वेष एवं मोह, अलोभ, अद्वेष एव अमोह। 'हेतुपच्चयो ' इस प्रत्यय- उद्देश मे तीन स्वरूप-धर्म होते है, जो त्रिराशि है—प्रत्यय, प्रत्ययोत्पन्न एवं प्रत्यनीक। इसे एक उदाहरण से समझे—महान वृक्ष मे जल ग्रहण करनेवाला एक प्रधान मूल (जड) होता है और उस मूल के कारण सम्पूर्ण वृक्ष दृढ एवं पुष्ट होता रहता है तथा उस मूल मे सम्पूर्ण वृक्ष को स्थिर, दृढ एवं पुष्ट करने की विशेष शक्ति निहित होती है। उसी तरह लोभ-आदि हेतुओ मे भी सम्प्रयुक्त धर्मो को स्थिर, दृढ एव पुष्ट करने मे समर्थ ऐसी विशेष शक्ति निहित होती है। अर्थात्, किसी एक अभीष्ट आलम्बन मे जब लोभरूपी मूल (जड) अनुषक्त हो जाता है, तो सम्प्रयुक्त धर्म भी उसी आलम्बन मे दृढतापूर्वक स्थित हो जाते है। लोभमूल जितना दृढ होता है सम्प्रयुक्त धर्म भी उतने ही दृढ होते है। लोभमूल जितना जितना दृढ होता है, चेतना के भी उतने ही दृढ होने से अनन्तर काल मे फल देते समय लोभ की दृढता के अनुसार ही चेतना अकुशल फल देती है। द्वेषादि मूलो के बारे मे भी इसीप्रकार समझना चाहिए।

इस प्रकार, वृक्ष के मूल की तरह सम्बद्ध आलम्बन मे सम्प्रयुक्त धर्मो को दृढतापूर्वक स्थापित करने मे समर्थ शक्तिविशेप 'हेतुशक्ति' कहलाता है।

इसप्रकार के शक्तिविशेप से उपकार प्राप्त न होनेवाले अहेतुक चित्त मूल-विरहित होने से, हवा के झोके से पानी के ऊपर इधर-उधर तैरनेवाली लताओ की भाति, सम्बद्ध आलम्बन एवं कृत्यो मे अदृढ एव अस्थिर होते है।

रूपधर्म—ये अनालम्बन-स्वभाव (आलम्बन का ग्रहण न कर सकनेवाले) के होते है। अत सम्बद्ध आलम्बन मे दृढ होने के लिए हेतु-धर्म रूपधर्मो का उपकार नही कर सकते। शक्तिमान् हेतु-धर्मो के साथ साथ उत्पन्न होने के कारण उन्हे (रूप-धर्मो को) प्रत्ययोत्पन्न धर्मो मे सङ्ग्रहित किया जाता है। जैसे—प्रभावशाली किसी पुरुप-विशेष के अपने मकान एव परिवार पर शासन करते समय उसके प्रभाव से उसके परिवार वाले भी शक्तिशाली एवं प्रभावशाली होते है, फिर भी उसके शासन या प्रभाव की वजह से उस मकान मे कोई दृढता आदि वैशिष्ट्य नही आता, हालाकि उसके शासन मे मकान भी रहता है। उसी तरह, छ. हेतुओ से उपकार प्राप्त करने वाले प्रत्युत्पन्न धर्मो मे रूप-धर्म भी आते है। तथापि उन छ. हेतुओ की वजह से इन रूप-धर्मो मे कोई विशेप (वैशिष्ट्य) नही आता। यहाँ प्रभाव प्रभावशाली पुरुप की तरह हेतु-धर्म है, परिवार की तरह चित्त-चैतसिक धर्म है तथा मकान की भाति चित्तज एव प्रतिसन्धिकर्मज-रूप है।

और एक उदाहरण से समझे—किसी एक रूपालम्बन मे जव लोभ होता है, तव चक्षु भी उस रूपालम्बन मे अभिनिध्यान (ध्यानपूर्वक देखना) कृत्य करता है। उसका इसप्रकार का कृत्य, रूपालम्बन के अभिनिध्यान के लिए अर्थात उससे हटने न देने के लिए लोभ-हेतु द्वारा चित्तज रूपो का हेतुशक्ति से उपकार करने से ही सम्पन्न होता है। द्वेष-हेतु द्वारा उपकार करने पर व्यक्तिविशेष को मारने, पीटने आदि के समय उग्रता, क्रोध से रक्तक्षणता (रक्तका संचलन जोर से होना) एव देह का कम्पन आदि रूप-विकार होते है। मोह-हेतु द्वारा उपकार करने पर सपूर्ण शरीर जड, भारी एव आलस्ययुक्त होता है। अलोभ आदि हेतुओ द्वारा उपकार करने पर सम्बद्ध आलम्बन मे आसक्ति नही होती, द्वेप नही होता तथा शरीर मे जडता न होकर स्फूर्ति आदि होते है, ऐसा जानना चाहिए।

हेतु—जिस धर्म मे प्रत्ययोत्पन्न (फल) धर्म प्रतिष्ठित होते है, उसे 'हेतु' कहते है। यहाँ 'हेतु' शव्द 'कारण' अर्थ मे नही है; अपितु सम्वद्ध प्रत्ययोत्पन्न (फल) धर्मो के प्रतिष्ठित होने के 'आधार', इस अर्थ मे है। जो हेतु होते हुए प्रत्यय भी होता है, उसे 'हेतुप्रत्यय' कहते है। यहाँ 'हेतुप्रत्यय' शव्द द्वारा शक्तिमान् छः हेतुओ का ही मुख्यरूप से ग्रहण होता है।

आलम्वन प्रत्यय—'आरम्मण' तथा 'आलम्वन' शव्दो का स्वभाव समान होने पर भी शव्दार्थ मे भेद होता है। 'आरम्मण' शव्द 'अत्यन्त रमण करने के योग्य' इस अर्थ में होता है। नानाप्रकार के सुगन्धित पुष्प एवं लताओ आदि से अलकृत उद्यान के अत्यन्त रमणीय होने से, जैसे उसमे 'रमणीयत्व' नामक एक प्रकार का शक्तिविशेष होता है, उसी तरह आलम्वन मे भी चित्त-चैतसिको द्वारा 'रमण करने योग्य' एक शक्तिविशेष होता है। इसीलिए चित्त-चैतसिक आलम्वन के विना वे प्रवृत्त नही हो पाते। इस तरह जिस वजह से चित्त-चैतसिक धर्म विरक्त रहने मे असमर्थ होते है, वह रमणीयत्व नामक शक्तिविशेप 'आरम्मणशक्ति' कहलाती है। आलम्वन शव्द अवलम्व (सहारा) या आश्रय देने वाले इस अर्थ मे प्रयुक्त होता है। जिस प्रकार उठने-वैठने एवं चलने आदि मे असमर्थ व्यक्ति लाठी एवं रस्सी आदि के अवलम्व से उठ-वैठ एवं चल सकने मे समर्थ हो जाता है, अत' उस लाठी एव रस्सी आदि मे सहारा देने योग्य शक्तिविशेप मानी जाती है, उसी प्रकार सभी चित्त-चैतसिक धर्म किसी एक आलम्वन का अवलम्व किये विना प्रवृत्त होने मे असमर्थ होते है। इस कारण, जिस धर्म का विना अवलम्व (आश्रय) लिए चित्त-चैतसिक प्रवृत्त होने मे असमर्थ होते है, वह अवलम्वनीयत्व (धारण करने योग्य) शक्ति-विशेप 'आलम्वनशक्ति' कहलाती है। जैसे, लाठी। सव से असम्वद्ध होकर अकेले भी वह स्थित हो सकती है। उसी तरह, नाम, प्रज्ञप्ति एव निर्वाण आलम्वन भी किसी से सम्वद्ध न होते हुए अकेले ही स्वतन्त्रतापूर्वक स्थित होते हैं। जैसे, रस्सी अपने अवयवभूत अनेक तन्तुओ के समूह से निर्मित होती है, उसी तरह आलम्वन भी रूपकलापो के समूह के रूप मे अवस्थित होते हैं। इसलिए कहा गया है कि नाम-आलम्वन, निर्वाण एव प्रज्ञप्ति लाठी के सदृश्य है तथा रूपालम्वन रस्सी की भॉति है।

(अन्य प्रत्ययो का विशदीकरण इस ग्रन्थ मे सीमित पृष्ठो के कारण नही दिया गया है।)

भगवान वुद्ध कहते है—

"सव्व पापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा।
सचित्तपरियोदपनं एतं वुद्धानसासनं॥"

"सभी पापो को न करना, कुशल (पुण्य) कार्यो का सम्पादन करना और चित्त निर्मल करना, यही समस्त वुद्धो की शिक्षा है।"

अव आगामी अध्याय मे मिथ्यादृष्टि के विपय मे वर्णन करेगे। मिथ्यादृष्टि समाप्त किये विना साधना मे प्रगति असम्भव है, इसको हमे ठीक से समझना चाहिए।

◈ ◈ ◈

अध्याय २५

मिच्छादिट्ठि

मिथ्या-दृष्टि को पालि मे 'मिच्छादिट्ठि' कहते है।

भगवान बुद्ध कहते है कि अपायगति (अधोलोक) मे पडने का मूल कारण मिथ्या-दृष्टि की पकड है, जकड है। चोरी, हिंसा, व्यभिचार आदि तो क्या, किन्तु घृणा से घृणित काम करने मे मिथ्या-दृष्टि से जकडा हुआ व्यक्ति डरता नही।

साधारणतया समझा जाता है कि अकुशल कर्मो के कारण अपायगति प्राप्त होती है। किन्तु सूक्ष्मता से जाँच करने से यह जान पडता है कि इसका मूल मिथ्या-दृष्टि ही है।

किसी को फाँसी पर लटकाने वाला व्यक्ति निर्दय हो सकता है, किन्तु फाँसी पर लटकाने का हुक्म तो न्यायाधीश ही देता है। ऐसे ही, किसी प्राणी को अपाय-गति मे पटकने का काम मिथ्यादृष्टि ही करती है, वही हुक्म चलाती है।

'मिच्छा पस्सतीति मिच्छादिट्ठि' मिथ्या अर्थात् विपरीत रूप से जो देखती है वह 'मिथ्या-दृष्टि' है। श्रेष्ठ आर्य-पुद्गलो द्वारा प्रज्ञप्त (उपदिष्ट) सत्य-धर्मो को न मान कर उन्हे विपरीत रूप मे देखने वाले दृष्टि-चैतसिक को 'मिथ्या-दृष्टि' कहते हैं। यह मिथ्या-दृष्टि रूप, वेदना, संज्ञा, सस्कार एव विज्ञान नामक पाच स्कन्धो मे से किसी एक स्कन्ध मे 'यह आत्मा है' इसप्रकार उपादान करने वाली 'सत्काय-दृष्टि' वैसेही 'नास्तिक-दृष्टि' आदि ६२ प्रकार की होती है। इनमे से नास्तिक-दृष्टि, 'अहेतुक- दृष्टि' 'अक्रिय-दृष्टि' ये तीन दृष्टियाँ ही कर्मपथ होती है। शेष दृष्टियाँ सामान्य दृष्टियाँ होती है। मिथ्या-दृष्टि के दो सम्भार (अङ्ग) होते है—(१) गृहीतवस्तु-की विपरीतता (२) उसे (विपरीत को) सत्यरूप मानना।

नत्थिक दिट्ठि—नास्तिक दृष्टि—'अनन्तर-भव मे कर्मो का विपाक नही होता' इसप्रकार कर्मफल का अपलाप (समाप्त) करनेवाली दृष्टि ही 'नास्तिक दृष्टि' है। अथवा 'सत्त्व मरने पर उच्छिन्न हो जाता है' अर्थात् 'उसकी सन्तति मरणोत्तर विद्यमान नही रहती' इस प्रकार की 'उच्छेददृष्टि' भी नत्थिक दिट्ठि है। यथा—दान नही है, यजन नही है, हवन नही है, सुकृत-दुष्कृत कर्मो का फल नही है, यह लोक नही है, परलोक नही है, माता नही है, पिता नही है, ससार में ऐसे ऐक्य-सम्पन्न एवं सम्यक्-प्रतिपन्न श्रमण, ब्राह्मण नही है, जो इस लोक एवं परलोक को स्वय जान कर, साक्षात् करके लोगो को उपदेश करे, यह नास्तिक दृष्टि है।

'अनन्तर मे फल नही होता' इसप्रकार का मत 'नास्तिक दृष्टि' है। ये कर्मविपाक को नही मानते, इहलोक-परलोक को नही मानते। 'जव सत्त्व काल (मृत्य) करता है, तव पृथिवी-काय पृथिवी-अनुपगम करती हे'......इत्यादि।

अहेतुक दिट्ठि—'हेतु (कारण) भी नही है और फल (कार्य का विपाक) भी नही है' इसप्रकार हेतु और फल दोनो का अपलाप करनेवाली दृष्टि 'अहेतुक दृष्टि' है।

सत्त्वो के सङ्क्लेश के लिए हेतु (जनक-कारण) नही है, प्रत्यय भी नही है। कारण नही होते हुए भी सत्त्व स्वय सङ्क्लिष्ट होते है। सत्त्वो की विशुद्धि के लिए भी कारण नही है। सत्त्व अपनेआप विशुद्ध हो जाते है। यहा भी हेतु के अपलाप के कारण उनसे सम्प्रयुक्त (होनेवाले) फलो का भी अपलाप होता है (लोप होता है) ऐसा मानने वाली 'अहेतुक दृष्टि' है।

अकिरियदिट्ठि—अक्रिय दृष्टि—कुशल एव अकुशल कर्म किये जाने पर भी वे नही के बराबर है, अर्थात् वे कुछ नही हैं—इसप्रकार कारणभूत कर्मो का अपलाप (लोप) करने वाली दृष्टि ही 'अक्रिय दृष्टि' है। कर्मो का अपलाप करने से उनके फलों का भी अपलाप होता है और ऐसा मानना कि 'करते हुए, कराते हुए, काटते हुए, कटवाते हुए भी कोई पाप नही किया जाता। 'करोन्तो खो महाराज! कारयतो छिन्दतो छेदापयतो .. .. न करियति पाप।' ऐसा मानने की दृष्टि 'अक्रिय-दृष्टि' है।

इसप्रकार 'नास्तिक (उच्छेद) दृष्टि, अहेतुक दृष्टि, अक्रिय दृष्टि' ये तीनो दृष्टियाँ कर्म एव कर्मफल का अपलाप (लोप) करती है।

नियत मिथ्या-दृष्टि का होना—उपर्युक्त तीन मिथ्या-दृष्टियो मे से 'नत्थिक' (नास्तिक-उच्छेद) दृष्टि को अजित केसकम्वली ने, अहेतुक दृष्टि को मक्खली गोसाल ने एव अक्रियदृष्टि को पूरण कस्सपने ग्रहण किया था। इन दृष्टियों को 'नियत-मिथ्या-दृष्टि' कहते है। च्युति के अनन्तर नरक मे नियतफल देने वाली होने के कारण इस प्रकार की दृष्टियो को 'नियत-मिथ्या-दृष्टि' कहते है।

मिच्छत्तनियतदिट्ठि—दृष्टि एव प्रज्ञा मे आकाश-पाताल का अन्तर है। प्रज्ञा के पक्ष मे श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, एव समाधि होने से उसकी वृद्धि होकर जव चार आर्यसत्य का ज्ञान होता है एवं त्रिरत्न (वुद्ध-वोधि, धम्म, सङ्घ) के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है तथा पुद्गल 'सम्मत्तनियत' होकर स्रोतापन्न होता है, उसके अपाय-गमन का पथ सर्वथा सर्वदा के लिए अवरुद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार दृष्टि के पक्ष मे भी मिथ्यास्मृति, मिथ्यासमाधि एवं मिथ्यावीर्य होने से, जव वह वृद्धि को प्राप्त होकर दृढ हो जाती है और जव वुद्ध-आदि भी उसको

हटाने मे असमर्थ हो जाते है, तब पुद्गल 'मिच्छत्तनियत' होकर मार्ग एवं फल की प्राप्ति का अनधिकारी हो जाता है और मृत्यु के अनन्तर वह अवश्य अवीचि मे उत्पन्न होता है। यह 'मिच्छत्तनियतदिट्ठि' सङ्घ-भेद नामक कर्म से भी अधिक आपत्ति-जनक होती है।

शाश्वत-दृष्टि––शाश्वत-दृष्टि को 'भव' कहते है; क्योकि यह निरन्तर होने की दृष्टि है। रूपालम्बन आदि आलम्बनो मे 'आत्मा' है और वह 'आत्मा नित्य है' इसप्रकार की मिथ्या-दृष्टि को 'शाश्वत-दृष्टि' कहते है। इस शाश्वत दृष्टि के साथ होने वाली तृष्णा को 'भवतृष्णा' कहते है।

उच्छेद-दृष्टि को 'विभव' कहते है। 'न भवति इति विभवो' अर्थात्, न होने की दृष्टि को 'विभव' कहा जाता है। रूपालम्बन आदि आलम्बनो मे जो आत्मा (स्वभाव) है, वह निरन्तर न होकर उच्छिन्न हो जाता है, यह 'उच्छेद-दृष्टि' है। इसके साथ रहने वाली तृष्णा को 'विभव-तृष्णा' कहते है।

सत्काय-दृष्टि–पाच स्कन्धो मे से किसी एक स्कन्ध मे 'आत्मा है' ऐसा उपादान करना, उसको 'सत्काय-दृष्टि' कहते है। सभी दृष्टियाँ इस सत्काय-दृष्टि से सम्बद्ध होकर उत्पन्न होती है, अत: यह सत्काय-दृष्टि सभी ६२ मिथ्या-दृष्टियो की मूलबीज कही गयी है।

'सन्तो कायो सक्कायो, सक्काये पवत्ता दिट्ठि सक्कायदिट्ठि।' अर्थात्, सविद्यमान पञ्च-स्कन्ध-समूह ही 'सत्काय' है। इस सत्काय मे प्रवृत्त दृष्टि 'सत्काय-दृष्टि' है।

पञ्चस्कन्ध मे 'मै' 'मेरा' (Ego) देखना, 'आत्मा' है देखना, मिथ्या-दृष्टि है। भगवान बुद्ध कहते है––

'वज्जान भिक्खवे! मिच्छादिट्ठि परमा' याने 'सब दुष्कर्मो मे मिथ्या-दृष्टि अत्यत खतरनाक है।' भगवान कहते है, 'जैसे वालुकण पानी मे तैरते नही, वैसे ही मिथ्या-दृष्टि ग्रहण किये हुए सत्त्व ससार-सागर को तैर कर पार नही कर सकते।'

सत्काय-दृष्टि रखने वाला सत्त्व सुगति-भूमि (देवलोक आदि) दान, शील आदि से अवश्य प्राप्त कर सकता है, किन्तु मार्गफल प्राप्त नही कर सकता, जो निर्वाण है। अत. वह ससारचक्र से छुटकारा नही पा सकता। अह के कारण ही मनुष्य अकुशल कर्मो मे प्रवृत्त हो जाता है। धन के लोभ के लिए, राजसत्ता प्राप्त करने के लिए पुत्र पिता की हत्या भी कर देता है। कारण, 'मै' 'मेरा' 'मुझे' 'अह' की भावना उसमे स्थापित रहती है।

उपमा— जैसे पतंग उसके बन्धे हुए धागे की जितनी लम्बाई होगी, उतना ही आकाश मे उड सकेगा और फिर नीचे गिर जाएगा; वैसे ही सत्काय-दृष्टि भी सीमा के बाहर नही जाने देती और नीचे की ओर ही गिराती है।

सत्काय-दृष्टि वाला देवलोक या ब्रह्मलोक तक पहुंच कर पुण्यभोग के बाद नीचे लोक मे ही फिर से आ गिरता है। उसका कारण, ' मुझे ' देवलोक, ब्रह्मलोक चाहिए' इस भावना से पुण्यकर्म किया होता है। यहा अहभाव उत्पन्न रहता है। ' मै ', ' मुझे ', ' मेरा ', आत्मा ', यह भाव रहता है।

रूप, विज्ञान, सज्ञा, वेदना, सस्कार, ये सब अनित्य है, परिवर्तनशील है, निरन्तर परिवर्तन होते रहते है, उदय-व्यय होते रहते है, बदलते रहते है। इनमे नित्य कुछ है ही नही, यह 'विपश्यना' मे साधक स्वय अनुभूति करता है। नित्य कुछ है ही नही, ' आत्मा ' ऐसा नित्य [कुछ है ही नही। साधक साधना मे देखता है कि ' मेरे वशीभूत कुछ है ही नही'। अपने स्वभाव से, कारण-कार्य, हेतुफल परम्परा से सब उदय-व्यय हो रहा है, यह साधक जैसा है यथाभूत वैसा ही जानता रहता है, यही ' सम्यक्-दृष्टि ' है।

भगवान बुद्ध के समय की छन्ना भिक्षु की बात है। छन्ना भिक्षु ' विपश्यना ' साधना बडे ही तीव्र आदर और वीर्य के साथ करता रहा। पञ्चस्कन्ध मे अनित्य एव दु ख का बोध बराबर बनाये रखा। किन्तु जब जब अनात्म का बोध करता था, तब तब उसके मन मे द्विधा स्थिति उत्पन्न हो जाती थी और यह प्रश्न उठता रहता था कि फिर मुझे किस की शरण लेना है, जब कि सब अनात्म है। ऐसी साधना करते करते ४० वर्ष बीत गये, फिर भी उसको मार्ग-फल का स्रोतापन्न का पहला फल (साक्षात्कार) भी नही मिला। तब उसने आनन्द के पास जाकर सारी स्थिति बतायी। आनन्द के ध्यान मे तुरन्त आ गया कि उसको पटिच्चसमुप्पाद का यथार्थ ज्ञान नहीं हुआ है और उसने पञ्चस्कन्ध का ज्ञान नही समझा है। फिर आनन्द ने उसको पटिच्च-समुप्पाद का यथार्थ ज्ञान कराया, जिससे छन्ना की सत्काय-दृष्टि का समूल नाश होकर ' स्रोतापन्न ' का पहला मार्ग-फल प्राप्त हो गया। इससे यह स्पष्ट है कि मिथ्या-दृष्टि के कारण पहला फल भी ४० वर्ष तक प्राप्त न हो सका।

जब तक साधक को ' विपश्यना ' साधना मे पञ्चस्कन्ध के उदय-व्यय का यथार्थ ज्ञान प्राप्त नही होता, 'ये पञ्चस्कन्ध अनित्य है, दु ख है, अनात्म है ' इसका बोध नही होता, तब तक मार्ग-फल प्राप्त नही होता। कारण, साधक के मन मे मिथ्या-दृष्टि घर कर लेती है, तो उसका निकलना कठिन हो जाता है। मिथ्या-दृष्टि के कारण ही पञ्चस्कन्ध के प्रति आत्मभाव, ' मै-मेरा ', के भाव के कारण ही अविद्या एव तृष्णा का उत्पाद होता है, और फिर इसका आवरण बन जाता है। अविद्या और तृष्णा से भी मिथ्या-दृष्टि अत्यत खतरनाक है, क्योकि मार्ग-फल का पहला फल

स्रोतापन्न ' प्राप्त होने मे वह बाधक हो जाती है। तृष्णा हो जाय, तो फिर भी देवलोक (अपरलोक) सुगति-भूमि प्राप्त हो सकती है, किन्तु मिथ्या-दृष्टि होने पर अपाय-भूमि का ही वीज गिरता है। मार्ग-फल के चार फल है—स्रोतापन्न, सकृतागामी, अनागामी और अर्हत्। अर्हत् होने पर अविद्या का नाश हो जाता है। स्रोतापन्न, सकृदागामी, अनागामी होने पर तृष्णा का नाश हो जाता है। किन्तु मिथ्या-दृष्टि होने पर अपाय-भूमि मे ही सत्त्व जा गिरता है। इसलिए अविद्या और तृष्णा से भी मिथ्या-दृष्टि अत्यन्त खतरनाक है।

दायिका विशाखा वडी दानशूर थी। उसे स्रोतापन्न का फल भी प्राप्त हो गया था। उसके लाडले पोते की मृत्यु होने पर उसे तीव्र दु ख हुआ। किन्तु इसतरह का दौर्मनस्य और उपायास उत्पन्न होने पर भी स्रोतापन्न अपायगामिनी नही होता, क्योकि अपाय-भूमि मे ले जानेवाली मिथ्या-दृष्टि उनमे जो नही थी।

भगवान वुद्ध कहते है, ' हे भिक्षुओ! जो भी विज्ञान उत्पन्न है, वह किसी कारण से ही उत्पन्न होता है। दो चीजो का सम्वन्ध आने से विज्ञान उत्पन्न होता है। जैसे, आँख का और आरम्मण (रूप) का सम्पर्क होते ही चक्षु का विज्ञान जाग उठता है, वैसे ही कान, नाक, जिव्हा, काया, मन के वारे मे जानना चाहिए। पञ्चस्कन्ध के इन छ दरवाजो पर उन उन विषयो का टकराव होने पर वह वह विज्ञान उत्पन्न होता है। विज्ञान कार्य-कारण के बिना उत्पन्न नही होता। कार्य-कारण-परम्परा निरन्तर चलती रहती है, जैसे कोई भी अग्नि जलावन देने से ही जलती रहती है। जैसा जलावन दिया जाय, वैसे ही उसतरह की अग्नि उत्पन्न होती है। जैसे, यह लकडी की आग है, यह घास की है, यह तेल की है, आदि। उस उस कारण से ही वह वह आग जलती है। उसीतरह उस उस द्वार पर वह वह विषय टकराने से ही उस उस विज्ञान का उत्पाद होता है। यह कार्य-कारण-परम्परा याने हेतु-फल-परम्परा के सिद्धान्त के अनुसार ही घटता रहता है। जव यह है तो उसका उत्पाद होता है, जव यह नही है. तो उसका उत्पाद नही होता। यही पटिच्चसमुप्पाद का चक्र है।

इस जीवन की मृत्यु के समय के विज्ञान को ' च्युति-विज्ञान ' कहते है। इसके अगले जीवन के साथ जुडनेवाला विज्ञान ' प्रतिसन्धि-विज्ञान ' है। यह केवल हेतु-फल-कार्य-कारण-परम्परा के सिद्धान्त के अनुसार है। इसमे कोई आत्मा एक जीवन से दूसरे जीवन मे नही जा रहा है। च्युति-विज्ञान जो आगे प्रतिसन्धि-विज्ञान वनता है, ये दोनो एक नही है। कारण, विज्ञान अनित्य है, नित्य नही है। हर क्षण तीव्र गति से उदय-व्यय होता ही रहता है। उसकी सन्तति हर क्षण वनती जाती है। इस-तरह कोई भी दो क्षणो मे एकसी स्थिति, एकसा विज्ञान नही रहता।

जव यह दृष्टि होती है कि इस जीवन का ही आत्मा अगले जन्म मे चला जाता है, तो वह शाश्वत-दृष्टि है। जव यह दृष्टि होती है कि इस जीवन के अन्त मे सव नष्ट

हो जाता है और अगले जन्म मे इस जीवन से कुछ नही जाता, तो वह उच्छेद-दृष्टि है। दोनों दृष्टियो का भगवान ने अन्त किया है और मध्यम मार्ग की शिक्षा दी है; जिससे कि मार्ग-फल प्राप्त हो सकता है। मिथ्या-दृष्टि इस मार्ग-फल मे वडी रुकावट है। मिथ्या-दृष्टि के रहते कितना भी 'विपश्यना' साधना का प्रयास किया जाय, फिर भी मार्गफल की प्राप्ति सम्भव नही है।

मिथ्या-दृष्टि का कैसे विनाश हो

अपाय गति मे ले जाने का मूलभूत कारण मिथ्या-दृष्टि ही है। मिथ्या-दृष्टि के कारण ही अकुशल कर्म का उत्पाद होता है। इसे एक उदाहरण से समझे--

किसी के मन मे खाने का विचार, सोने का विचार, वोलने का विचार आदि विचार उत्पन्न होते है और ये सव व्यक्ति के लिए होते है। यथा--मुझे खाना है, मुझे सोना है, मुझे बोलना है, आदि आदि। इसतरह 'मै' 'मुझे' का मिथ्या ग्रहण होता है। जब जब विचार उत्पन्न होता है, तब तव 'मै--मुझे' का मिथ्या-भाव वन जाता है। जब जव इन्द्रिय-द्वार पर विषय टकराते है, तव तव उस विज्ञान का उत्पाद होता है। जैसे, ऑख पर कोई आरम्मन (रूप) टकराता है, तो ऑख का विज्ञान जाग उठता है। वैसे ही, नाक, कान, जिव्हा, काया, मन का है। मन मे विचार उत्पन्न हुआ तो मनोविज्ञान जाग उठता है और यहां पर हम 'मै,' 'मेरा', 'मुझे' अह का भाव उत्पन्न कर लेते है। इसलिए देखने को 'यह मैं देख रहा हू' ऐसा मिथ्याभाव नही वनाना चाहिए। देखना यह सीर्फ देखना मात्र है। वहा बीच मे 'मै' को नही डालना चाहिए। कारण, देखने वाला कोई नही है। वैसे ही, शेष इन्द्रियो के वारे मे है। यह केवल कारण का कार्य-फल मात्र ही है। 'मैं देख रहा हू, मै सुन रहा हू' यह मिथ्या है। व्यवहार जगत् मे तो ऐसा कहना ठीक है, किन्तु परमार्थ-सत्य मे यह मिथ्या है, इसको प्रज्ञा से समझना चाहिए।

जव भी द्वेप-चित्त, लोभ-चित्त उत्पन्न होता है, तो यह द्वेप-चित्त है, यह लोभ-चित्त है, यही जानना, समझना, देखना है। यह ठीक से समझना चाहिए कि अपने अपने कारण-कार्य-फल-परम्परानुगत उत्पन्न होते है। सतत अभ्यास से साधक को यह स्वय अनुभूति होगी कि यह विज्ञान का उत्पाद है, 'मै', 'मेरा' कुछ है ही नही।

कभी मन मे दान देने का विचार उत्पन्न होता है, तो कभी द्वेष का विचार जाग उठता है। जो भी विचार उत्पन्न होता है, यह मन की अवस्था है, यही जानना है। इस मे 'मै, मेरा, मुझे' कुछ भी नही है। ये अपने कार्य-कारण सिद्धान्त से वनते रहते है। केवल यही जानते रहना है कि इन्द्रिय-द्वार और विषय इन दोनो के टकराव से ये विचार, विज्ञान उत्पन्न होते है।

श्वास अन्दर जा रहा है या वाहर निकल रहा है, यह केवल जानना मात्र है। 'मैं श्वास अन्दर ले रहा हू,या मैं श्वास वाहर छोड रहा हू,' ऐसा समझकर नही चलना है। केवल जाना जा रहा है, इतना ही जानना मात्र है। यह अत्यत महत्वपूर्ण है। क्योकि साधारणत. साधक 'मै श्वास अन्दर ले रहा हूं, मैं श्वास वाहर छोड रहा हूं' इसतरह आनापान के अभ्यास मे भूल कर देता है। जैसे जैसे यह 'मै-मेरे' का वोध क्षीण होते जाता है, वैसे वैसे सत्काय-दृष्टि भी क्षीण होती जाती है और सम्यक् दृष्टि का अभ्यास होता है। सम्यक् दृष्टि और सम्यक् सकल्प (विचार) (जैसा है, वैसा ही जाननामात्र है) से सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि दृढ होती है।

विपश्यना अभ्यास मे जव जव वेदना जागती है, तव तव 'यह वेदना है' यही केवल जानना है। 'मुझे वेदना जान पडती है, या मैं वेदना देख रहा हू, या मुझे वेदना हो रही है' ऐसा भाव नही करना चाहिये। जव जव सस्कार ऊपरी स्तर पर उदय होते है और तीव्र पीडा का अनुभव होता है, उस समय यह पीडा है, दु ख है, यह केवल जानना है। 'मुझे पीडा हो रही है, मै दु ख भोग रहा हू,' यह वोध होने से सत्काय-दृष्टि उत्पन्न होती है। इस से बचना चाहिए। इसे ठीक प्रज्ञा के वोध से जानना चाहिए। यह वेदना, यह दु ख-पीडा अनित्य है, समाप्त होने के लिए ही उत्पन्न हुई है, यह वोध कायम रहना चाहिए। साधक अपने पञ्चस्कन्ध मे जैसे जैसे वीन्धते हुए, सम्यक् समाधि के तीव्र अभ्यास से छेदते हुए, अन्दर की ओर जाता रहेगा, वैसे वैसे सचित सस्कार उखड कर ऊपरी स्तर पर आएगे ही। और उस समय सम्यक् दृष्टि, समता भाव से केवल जानने का ही अभ्यास होता रहे, तो सत्काय-दृष्टि क्षीण होती रहेगी। यह अनित्य है, दु ख है, अनात्म है, यह वोध सतत वनाये रखने का अभ्यास अत्यन्त महत्वपूर्ण है। हर क्षण की स्मृति के प्रति तीव्र आदर के साथ, अटूट श्रद्धा के एवं वीर्य के साथ अभ्यास करने से मार्गफल निश्चित है। अपने ही कल्याण के लिए ऐसा अभ्यास निरन्तर वनाये रखना अत्यंत आवश्यक है।

शाश्वत दृष्टि और उच्छेद दृष्टि का कैसे नाश हो

किसी मनुष्य के सामने भोजन की मेज पर स्वादिष्ट भोजन रखा जाय तो उसके मन मे भोजन देख कर भोजन के प्रति पहले तृष्णा-इच्छा जागती है। वाद मे भोजन करने की तीव्र इच्छा (उपादान) होती है। और वाद मे, कम्मभव (भोजन करने का काम) प्रारम्भ होता है। इसतरह तृष्णा, उपादान और कम्मभव तीनो एक के वाद एक उत्पन्न होते जाते है।

भगवान बुद्ध कहते है, 'तण्हापच्चया उपादान' अर्थात, तृष्णा के और उपादान के वीच 'पच्चया' (कारण) है। यदि यह 'पच्चया' न हो, तो न तृष्णा है और

न उपादान है। तब कोई कार्यफल उत्पन्न नही होगा। 'उपादानपच्चया कम्मभवं' उपादान न हो, तो कम्मभव भी नही होगा। उपादान उत्पन्न होकर नष्ट होता है और 'पच्चया' रहता है, तो आगे 'कम्मभव' का उत्पाद होता है। इसप्रकार, कारण-कार्य की श्रृङखला बरावर चलती जाती है।

सभी सत्त्व निरन्तर, विना रुके इस तृष्णा, उपादान, कम्मभव के भंवर मे घूमते ही रहते है। पटिच्चसमुप्पाद के इस ससारचक्र मे वह गोते लगाते ही रहता है।

'तण्हापच्चया उपादानं' मे 'पच्चया' को अलग से नही जानना है, किन्तु केवल इतना ही जानना है कि यह कारण-कार्य परम्परा है। तृष्णा और उपादान स्वत अपने-आप उत्पन्न नही होते है। तृष्णा के कारण उपादान सम्भव है, अन्यथा नही, यह दृष्टि समझ लेनी चाहिए। पटिच्चसमुप्पाद को गहराई से समझना चाहिए। साधक को समझना चाहिए कि भूत की कारण-श्रृङखला से वर्तमान फल का उत्पाद होता है और यही फल भविष्य के कार्य का कारण बन जाता है। इसतरह, भूत-वर्तमान, वर्तमान-भविष्य इन मे बरावर सम्वन्ध स्थापित है, कडी वनी हुई है, सन्धि वनी हुई है। स्वत कुछ नही होता। किन्तु यदि साधक इस कडी को, सन्धि को भूल कर यह सब स्वत ही उत्पन्न हो रहा है, ऐसा ग्रहण करने लग जाता है, तो वह 'उच्छेद दृष्टि मे पतित होता है। फिर, साधक को मार्गफल की, स्रोतापन्न की प्रथम अवस्था प्राप्त होना असम्भव है।

फिर से हम समझे। हमे भूख लगी है, खाने की इच्छा होती है, तीव्र इच्छा के कारण दुकान से हमने कुछ खाने को ले लिया और लेकर खाने का काम किया। इसे ठीक से समझे कि भूख की तृष्णा-इच्छा उत्पन्न होने पर खाने की इच्छा हुई, भूख की सवेदना के कारण तृष्णा उत्पन्न हुई। तृष्णा के कारण तीव्र इच्छा-उपादान उत्पन्न हुआ और खाने का सामान लेकर खाने का काम किया, याने उपादान के कारण कम्मभव हो गया। हर स्थिति के वीच 'कारण' है। यदि साधक यह दृष्टि रखे कि यह सब आत्मा की ही शक्ति से बन रहा है, तो वह 'शाश्वत-दृष्टि मे' पतित होता है। यदि वह यह बोध रखता है कि यह जो सब घट रहा है वह कार्य-कारण-कार्य परपरानुगत बन रहा है, तो साधक इस शाश्वत दृष्टि के आवरण को तोड कर वाहर निकल जाता है।

साधक को यह स्मृति बरावर रखनी चाहिये कि जव जव इन्द्रियो के द्वार पर विषय टकराते है और उस उस विज्ञान का उत्पाद होता है, तो वह केवल कार्य-कारण परम्परा से विज्ञान उत्पन्न है। 'मै', 'मेरा', 'अहं' कुछ नही है। यदि वह यह समझे कि 'मै' देख रहा हू या 'मै' सुन रहा हूं. . . .तो यह शाश्वत-दृष्टि मे पड जाता है। तव लोभ, मोह, द्वेप का चित्त मे उत्पाद होना स्वाभाविक है। ये भी कार्य-कारण परम्परा से ही उत्पन्न होकर नष्ट होते है। इस उत्पाद को केवल यह लोभ-

चित्त, मोह-चित्त, द्वेष-चित्त का उत्पाद है, ऐसा जानना मात्र है। 'मुझे लोभ उत्पन्न हुआ है, मुझे मोह, मुझे द्वेष उत्पन्न हुआ है' वह शाश्वत-दृष्टि मे पड जाता है। 'मैं', 'मेरा,' 'मुझे' (ego) आदि वास्तव मे है ही नही, केवल विज्ञान उत्पन्न हुआ है और उसको वैसे ही जानना है। यह केवल पञ्चस्कन्ध है, केवल सत्काय है। मैं-मेरे की दृष्टि होना मिथ्या-दृष्टि है। यथा - जब आँख का रूप से सम्पर्क होकर आँख का विज्ञान उत्पन्न होता है, तो वह केवल आँख का विज्ञान है। 'मै देख रहा हू' यह समझना मिथ्या-दृष्टि का उत्पाद है। वैसे ही, कान का, नाक का, जिव्हा का, काया का, चित्त का भी जानना चाहिए। इनमे 'मै,' 'मेरा' कुछ है ही नही। सभी हेतु-फल-परम्परानुगत है, पटिच्चसमुप्पाद है। जब 'मै देख रहा हूं' यह भाव उत्पन्न होता है, तो वह सत्काय-दृष्टि है। 'मै सुन रहा हू, सूघ रहा हू . . आदि' सब सत्काय-दृष्टि है। जब भी विज्ञानखन्ध को 'मै-मेरा' समझा जाता है, तो वह सत्काय-दृष्टि है, मिथ्या-दृष्टि है। जब साधक केवल खन्ध के उत्पाद-व्यय को ही देखता है, (देखना, सुनना, सूघना आदि ये खन्ध के ही उदय-व्यय है) तब वह इस मिथ्या-दृष्टि का विनाश करता है और अपाय गति मे गिरने से बचता है। अपने पञ्च-स्कन्ध मे 'मै-मेरे' का बोध ही मिथ्यादृष्टि है, वह समाप्त होनी ही चाहिए।

शीलव्रत-परामर्श---अहेतु मे हेतुदृष्टि, अमार्ग मे मार्गदृष्टि, यह शीलव्रत-परामर्श है। अर्थात्, महेश्वर, प्रजापति या किसी अन्य को, जो लोक का हेतु नही है, उसे लोक का हेतु मानना; अग्निप्रवेश या जलप्रवेश इन आत्महत्या के अनुष्ठानो के फल को स्वर्गोपपत्ति मानना, शीलव्रत मात्र को, जो स्वय मे मोक्षमार्ग नही है, मोक्ष-मार्ग अवधारित करना, यह दृष्टि शीलव्रत-परामर्श कहलाती है।

यह दृष्टि दूसरे का अपकार करती है। यथा, पशुयज्ञ मे यह दृष्टि अपना अपकार करती है। आत्महत्या का कष्ट होता है। किन्तु, सब से अधिक दोष यह है कि यह स्वर्ग और निर्वाण के द्वार को बंद करती है, क्योकि यह अमार्ग को मार्ग अवधारित करती है।

यह समझना कि प्रार्थना और तीर्थयात्रा से पुत्रलाभ होता है, तो मूर्खता है। यदि पुत्रप्राप्ति के लिए प्रार्थना पर्याप्त होती, तो प्रत्येक के चक्रवर्ती राजा के समान सहस्र पुत्र उत्पन्न होते।

यह समझना कि स्तोत्र-पाठ और मन्त्र-जाप से मृतक को स्वर्ग का लाभ होता है, घोर मूर्खता है।

स्नान से पाप का अपकर्षण (समाप्त) नही होता। यदि जल से पापक्षालन होता, तो मगर-मछलिओ की स्वर्ग मे उत्पत्ति होती। जल से शुद्धि नही होती।

वही शुद्ध, यथार्थ ब्राह्मण है, जो सत्यवादी है। भगवान बुद्ध कहते है कि पवित्र नदियो मे स्नान करने से पाप करने वाला मनुष्य शुद्ध नही होता।

अंगच्छेद, जलाग्नि-प्रवेश, पर्वत-निपात, अनशन-मरण आदि कष्टप्रद अनुष्ठान से भी स्वर्गोपपत्ति या मोक्ष का लाभ नही होता। इनसे नारकीय दु.ख ही होता है।

किन्तु, शुभ-मंगल, व्रत, अनुष्ठान का कुछ उपयोग है। कतिपय विद्याओ से भी सिद्धि का लाभ होता है। पर-चित्त का ज्ञान होता है। ऋद्धि-प्रातिहार्य होता है। अभिज्ञाओ की सिद्धि भी होती है। किन्तु यह सब अकुशल है। भगवान बुद्ध कहते है कि यदि शीलव्रत को मोक्ष का साधन समझे, तो सब प्रकार के शीलव्रत निन्द्य है। किन्तु चित्त-संशोधन के लिए तथा निर्वाण के लिए कई अनुष्ठान आवश्यक है।

ऐसा मोह मिथ्या-दृष्टि है, जो 'अकुशल' नही है। यथा – सत्काय-दृष्टि और शाश्वत-दृष्टि शुभ कर्म मे हेतु हो सकते है। 'मैं शुभ कर्म करता हूं; क्योकि मै फल की आशा करता हू; मै दूसरे पर करुणा करता हूं, क्योकि उसकी आत्मा भी मेरे समान दु ख भोगती है, ऐसी लौकिक करुणा के अभ्यास के बिना यथार्थ करुणा का उत्पाद नही होता। प्रथम लौकिक करुणा की साधना होनी चाहिए। इस मे दु खी 'आत्मा' का अवधारण होता है। पश्चात् दु.खी सत्त्व से पृथक् दु.ख का अवधारण होता है, आदि। बुद्ध और आर्य लौकिक-चित्त का प्रत्याख्यान नही करते।

किन्तु आत्माभिनिवेश सर्व अकुशल में हेतु है। "जो आत्मा मे प्रतिपन्न है, वह उसमे अभिनिविष्ट होता है। वह आत्मा मे अभिनिविष्ट कामसुख के लिए सतृष्ण होता है, तृष्णावश वह सुख-सम्प्रयुक्त दुःख को नही देखता।" "जब तक मन अहंकार सहित होता है, तब तक जन्म-प्रबन्ध शान्त नही होता। जब तक आत्मदृष्टि होती है, तब तक हृदय से अहंकार नही जाता।"

'आत्मा नित्य है, ध्रुव है, वस्तुसत् है,' इस दृष्टि का परित्याग करना चाहिए। जो चित्त-सन्तति कर्म का उत्पाद करती है और कर्मफल का परिभोग करती है, उस प्रज्ञप्ति-सत् का प्रतिषेध (इन्कार) नही करना चाहिए।

मनुष्य की चेतना जैसी है, चित्त और कर्म वैसे ही होते है, वैसा ही वह (मनुष्य) होता है। सत्त्वो की अवस्था मे जो वैचित्र्य पाया जाता है, वह सत्त्वो की गति का कर्मज है। प्रत्येक के कर्म के अतिरिक्त, कोई दूसरा प्रमुख कारण नही है। लोक-वैचित्र्य सत्त्वो के कर्मो से उत्पन्न होता है।

जो साधक अनित्य मे नित्य होने के भ्रम को त्यागता है, वह अविद्या की बाढ को तर जाता है; अविद्या के संयोग से अलग हो जाता है; अविद्या-आश्रव से अनाश्रव हो

अध्याय २६

सतिपट्ठान

सतिपट्ठान – पट्ठातीति पट्ठान । आलम्बन मे अत्यंत अनुप्रविष्ट धर्म को 'पट्ठान' कहते है । यहा सम्बद्ध आलम्बन मे अत्यन्त दृढतापूर्वक अनुप्रविष्ट स्मृति-चैतसिक को पालि मे 'सतिपट्ठान' एव सस्कृत मे 'स्मृतिप्रस्थान' कहते है ।

'आर्य-अष्टांगिक' मार्ग मे समाधि क्षेत्र मे 'सम्मासति' अर्थात् 'सम्यक् स्मृति' यह एक अङ्ग है ।

साधना के क्षेत्र मे सम्मासति का अत्यत महत्व है । पहले समझे, सति क्या है ? सति याने स्मृति । पालि मे इसे 'सति' कहते है । सस्कृत मे स्मृति कहते है। सति का एक अर्थ आज वडा प्रचलित है, वह याददाश्त है, स्मरण है । किन्तु उन दिनो मे सति शब्द का अर्थ सजगता, सावधानता, सचेत रहना था । साधना के क्षेत्र मे तो यही अर्थ है।

साधना की दो धाराएँ चल पडी । एक तो सति का अर्थ जो स्मृति याने याद-दाश्त हुवा, और उसीका स्मरण तथा सुमरण हो गया । जो आख से दीख रहा है, जिसकी अनुभति हो रही है, उसका सुमरण नही होता । सुमरण होता है किसी कल्पना का । सुना है हम ने कोई ऐसी देवी, ऐसा देवता है, कोई ऐसा ईश्वर है, ब्रह्मा है, बुद्ध है, महावीर है, उसको याद करेगे । इसतरह की उनकी आकृति थी, इसतरह की उनकी वाते थी । इसप्रकार, सुमरण करते करते चित्त को एकाग्र करने की विधि, इस प्रकार साधना की एक धारा चल पडी ।

दूसरी धारा चली, इस क्षण जो सच्चाई अनुभूति पर उतर रही है, उसके प्रति सजग रहना, 'सति' है ।

सतिपट्ठान—क्या पट्ठान है ? सति मे प्रस्थापित हो गया, जागरूकता मे स्थित हो गया, दृढ हो गया, पुष्ट हो गया, जम गया, इस क्षण की जो सच्चाई है उसमे। यथाभूत मे, यथाकृत मे नही । हमने कोई कल्पना कर ली और उसके प्रति हम सजग हो रहे है, तो वह यथार्थ नही । जो अपने-आप घटना घट रही है, जो सच्चाई इस क्षण अपनेआप प्रगट हो रही है, 'यथाभूत ञाण दस्सन' वस, उसके प्रति ज्ञानपूर्वक सजग हो रहे है, साक्षीभाव से उसे जान रहे है, सजगता मे याने धर्म मे प्रतिष्ठित हुए जा रहे है, यह सतिपट्ठान है ।

जब सति याने स्मृति प्रतिस्थापित हो जाय, स्मृति जब सम्यक् स्मृति हो जाय तो कल्याणकारी हुई। जैसे समाधि सम्यक् समाधि हो जाय तो कल्याणकारी हुई। बाकी तो, चित्त को एकाग्र करने को समाधि कहते है। चित्त एकाग्र हुआ और सम्यक् रूप से एकाग्र नही हुआ, याने रागविहीन, द्वेषविहीन, मोहविहीन आलम्बन पर एकाग्र नही हुआ, सच्चाई पर एकाग्र नही हुआ, किसी कल्पना पर एकाग्र हो गया, राग के या द्वेप के आधार पर एकाग्र हो गया, तो सम्यक् समाधि नही हुई, यह समाधि हमारे कल्याण की नहीं है। तो फिर स्मृति भी याने सजगता भी सम्यक नहीं है, जो हमारे लिए कल्याणकारी नही हुई। जागरूकता, सजगता तो हरएक काम मे हो सकती है। वुरा काम करे तो भी उसको सजग रहना पडेगा। सर्कस मे काम करने वाली नटी कितनी सजग रहती है, उसे एक रस्सी पर चलना पडता है, जरा सा उसने अपना सतुलन खोया, तो गिरी और भयकर चोट आई। एक एक कदम वह कितनी सजग है, किन्तु वह अर्हन्त तो नही वनती, मुक्त तो नही होती। ऐसे ही, नाच करने वाली नर्तकी अपने एक एक कदम पर कितनी सजग है, कैसे मेरा पाव पडना चाहिए, कैसे मेरे शरीर की हलन-चलन होनी चाहिए, इस ओर वहुत सजग है। किन्तु इस नर्तन मे इतनी सजग रहने पर भी वह अर्हन्त नही हो जाती, मुक्त नही हो जाती। इसीलिये, साधक को सम्यक् रूप से सजग रहना है।

किसको सम्यक् कहते है? जो एक के साथ सयुक्त हो जाय, एक के साथ जुड जाय। एक क्या है? एक तो केवल सत्य ही होता है। कल्पनाएँ अनेक होती है असत्य अनेक होते है। सत्य तो एक ही होगा। इसलिये जो सत्य के साथ जुड गयी और सजगता प्रतिक्षण की आयी, तो वह सम्यक् स्मृति हुई, सम्मा सति हुई। सत्य क्या है? हमारी अनुभति मे इस क्षण जो सत्य प्रकट हुआ, उस सत्य के प्रति स्मृति संयुक्त हो गयी, उसे ही जान रही है और किसी को नही। इस क्षण जो सच्चाई प्रकट हुई हमारे वारे मे, उसीको जान रही है, तो सम्यक स्मृति हुई, सम्मा सति हुई।

'आर्य-अष्टागिक' मार्ग मे वोधि के सात अगो मे, पाच इन्द्रियो मे और पाच वलो मे भी 'सम्मासति' निर्देशित है। सति का धर्म के क्षेत्र मे वहुत वडा महत्व है। 'यथाभूत' जैसा इस क्षण है, उसके प्रति सजग रहना 'सम्मासति,' 'सम्यक् स्मृति' है। सम्यक् कैसे है? प्रज्ञापित याने भासमान् जो सत्य है, उसका भेदन करते करते, उसके टुकडे करते करते, विश्लेषण-विभाजन करते करते अन्तिम सत्य तक कैसे पहुंच जाय। पहले स्थूल सत्य ही सामने आता है। स्थूल सत्य के प्रति सजग रह कर केवल साक्षीभाव से हम जान रहे है, न उसे अच्छा मानते है, न उसे वुरा मानते है, केवल जैसा है वैसा ही जान रहे है। हमें कुछ नही करना पडता। कुदरत अपना काम करती है। विघटन होने लगता है। स्थूल शरीर के टुकडे टुकडे होने लगते है। उसके फलस्वरूप सूक्ष्म सच्चाई हमारे सामने आने लगती है और आगे, सूक्ष्म से सूक्ष्म सच्चाई

सामने आने लगती है। यह होते होते, इस काया के अन्तिम सच्चाई तक जा पहुंचते हैं। जानते है कि केवल प्रकम्पन ही प्रकम्पन-मात्र है। वैसे ही, चैतसिक याने चित्तवृत्तियो के अन्तिम सत्य तक जा पहुंचते है और वे भी प्रकम्पन ही प्रकम्पन-मात्र है। और वहां तक पहुचने के बाद, उसका अतिक्रमण करते करते, निर्वाण के सत्य तक जा पहुचते है। ऐसे, विपश्यना साधना मे सम्मासति प्रतिभेदन करती है। जब उसके साथ प्रज्ञा जुड जाती है, तभी स्मृति प्रतिस्थापित होती है। जब तक प्रज्ञा नहीं जुडे, तब तक अकेली स्मृति उस नर्तकी वाली स्मृति हे। काम की तो वह है, सजग रहना उत्तम है, उसका अपना लाभ है किन्तु, जब लोकोत्तर की, मुक्ति की, निर्वाण की बात करते हैं, तो स्मृति के साथ प्रज्ञा जुडे, तो ही 'स्मृतिप्रस्थान' याने, सतिपट्ठान' अर्थात स्मृति मे प्रस्थापित होना, कल्याणकारी स्मृति हुई। वह मुक्ति तक ले जाने वाली स्मृति हुई।

लोक क्या है?

इसतरह प्रज्ञापित के याने स्थूल के टुकडे करते करते उस अवस्था तक साधक पहुचता है, जहा 'सब्बो लोको पकम्पितो' सारा लोक प्रकम्पन ही प्रकम्पन है, सारा ससार प्रकम्पन ही प्रकम्पन-मात्र है। 'लोक' शब्द का एक बहुत प्रचलित अर्थ है। सारे विश्व को, सारे ससार को लोक कहते हैं और इसके भी अलग अलग विभाजन है। जैसे – निरीय लोक, पशु लोक, मनुष्य लोक, देवलोक, ब्रह्मलोक। लोक का दूसरा अर्थ है, जो प्रतिक्षण नष्ट होता है, उसको 'लोक' कहा है। प्रतिक्षण जो नष्ट हो रहा है, वह सारा का सारा लौकिय क्षेत्र है। उसको 'लोक' कहा है। सारा लोक प्रकम्पन-मात्र है। यह सारा जो शरीर की सीमा के बाहर है, उसको हम तब जानेंगे, जब हम अन्तर्मुखी होकर काया मे अनुपश्यना करते हुए इस स्थूल अंग-प्रत्यंग के टुकडे करते करते सूक्ष्म प्रकम्पन ही प्रकम्पन तक पहुंचेंगे। सारे ससार मे जो चल रहा है, वही इस साढेतीन हाथ के शरीर मे चल रहा है। बाहर भी प्रकम्पन ही प्रकम्पन है और शरीर के अन्दर भी प्रकम्पन ही प्रकम्पन-मात्र है। इस शरीर में सारे, लोक समाये हुए हैं। इसीलिये इस काया को 'लोक' कहा है।

कैसे लोक की उत्पत्ति होती है, कैसे लोक नष्ट होते है, उनका उदय, उनका व्यय कैसा होता है, यह काया में 'कायानुपश्यना' करते हुए अनुभूत होता है। और, सारे लोको के परे की निर्वाणिक अवस्था भी इसी काया के भीतर अनुभूत होगी, बाहर नही।

इस काया के भीतर देखे, तो सारे प्रकम्पन ही प्रकम्पन-मात्र, उदय-व्यय, उदय-व्यय ही है।

स्मृति और सम्प्रजन्य

स्मृति याने सम्यक् स्मृति । और इस सम्यक् स्मृति के साथ जुडी हुई प्रज्ञा 'सम्प्रजन्य' है । ये दोनो एक गाडी के दो पहिये है, एक पंछी के दो पख हैं । एक साथ दोनो ही रहेंगे । एक के बिना दूसरा चल नही सकता । पालि में इसे 'सति और सम्पजन्य' कहा है ।

"यतो यतो सम्मसति, खन्धान उदयव्वयं ।
लभति पीतिपामोज्य, अमत तं विजानत ।।"

सम्यक् स्मृति जहा जाती है, वहा उदय-व्यय, उदय-व्यय के सिवा और कुछ भी नही है। केवल सम्यक् स्मृति ही नही है तो वह प्रज्ञा के साथ जुडी हुई है, सम्प्रजन्य साथ मे है । तभी स्थूल सच्चाई को बीधते बीधते उस सूक्ष्म अवस्था तक स्मृति जा पहुंची, जहा केवल उदय-व्यय, प्रकम्पन ही प्रकम्पन हैं । अब स्मृति प्रस्थापित हुई ।

जहा प्रकम्पन ही प्रकम्पन है, उसके परे जहा कम्पन है ही नही, जहा उदय भी नही है और व्यय भी नही है, जहा कुछ भी उत्पाद नही होता और नष्ट भी नही होता, ऐसी जो अवस्था है, जो अमृत है, अजर है, अमर है, अवर्णनीय है, अनिर्वचनीय है, वहां हम तब पहुचेंगे जहा सारा का सारा इन्द्रिय-क्षेत्र, लौकिय-क्षेत्र, हमारे शरीर के भीतर ही सम्यक् स्मृति के एवं सम्प्रजन्य के साथ जानते जानते, इस क्षेत्र के अन्तिम सत्य तक हम पहुच जायेगे । फिर उसके आगे, अपने–आप निर्वाणिक अवस्था तक हम पहुचेंगे ही ।

प्रथम आर्यसत्य का दर्शन

इस प्रथम आर्यसत्य मे जो कहा है– 'सङखित्तेन पञ्चउपादानखन्धा दुक्खा,' अनित्य को देखते देखते यह स्थिति आयेगी कि प्रथम आर्य-सत्य का दर्शन हमे हो जायगा । यहा केवल दु ख ही है, ऐसा हम जान जायेगे । जहा केवल उत्पाद-व्यय, उत्पाद-व्यय ही चलता है, जहा कुछ भी नित्य नही है, कुछ भी ध्रुव नही है, शाश्वत नही है और उसको 'मैं' माने जा रहा हू, उसको 'मेरा' माने जा रहा हूं, तथा उसके प्रति आसक्ति पैदा कर रहा हू, तो दु ख ही उत्पन्न होता है ऐसा सक्षेप मे जान कर साधक प्रतिभेदन करता है । स्थूल सवेदनाओ को देखते देखते, स्थूल सच्चाईयो को देखते देखते, साधक उस अवस्था तक पहुंच जायगा, जहा एकदम गहराई मे जा कर के सङखित्तेन याने संक्षेप मे पाचो स्कन्धो को स्मृति के आधार पर वह जान जायगा । शरीर का स्कन्ध याने कलापो का पुञ्ज है, परमाणुओका पुञ्ज है । इन सारे परमाणुओ के पुञ्ज को अनुभूति के स्तर पर साधक जानता है । उत्पाद होना, व्यय होना, यही इसका धर्म है, इसके अतिरिक्त और कोई धर्म नही है, यही इसका स्वभाव है, यह उसके

समझ मे आने लगेगा। एक ओर अनुभूति हो रही है और दूसरी ओर सब कुछ अनित्य है यह प्रज्ञा से समझा जा रहा है, तो यह यथाभूत ज्ञानदर्शन हुआ। यथाभूत याने जैसा है वैसा जानना। यह सारा रूप-स्कन्ध अनित्य है ऐसा जब साक्षीभाव से साधक देखता है, तो इसके प्रति कैसे राग रहेगा, कैसे द्वेष रहेगा? कैसे इसके प्रति मैं-मेरे का भाव रहेगा? वह अपने-आप टूटेगा ही। ऐसे ही, शेष चारों स्कन्ध याने चेतना के, चित्त के वे चारों खण्ड : विज्ञान अर्थात् जानने वाला हिस्सा, संज्ञा अर्थात् पहचानने वाला हिस्सा, वेदना अर्थात् संवेदनशील होने वाला हिस्सा और संस्कार अर्थात् प्रतिक्रिया करने वाला हिस्सा, इन चारों को ही इसी सम्यक् स्मृति द्वारा साधक जानेगा। यही सतिपट्ठान है। इन सब को जानते जानते उसमें अच्छी तरह से साधक प्रस्थापित हो जाता है, प्रतिष्ठित हो जाता है, तब इस दुःख-आर्यसत्य का साक्षात्कार हो जाता है।

मुक्त होने का एक ही मार्ग है

लक्ष्य यह है कि वीतराग, वीतद्वेष, वीतमोह अवस्था तक पहुंचना है। विकारों से मुक्ति का एकमात्र मार्ग यही है। विकारों को दूर करने के लिये राग-द्वेष-मोह को दूर करे, यही एक मार्ग है। राग भी रहे, द्वेष भी रहे और मुक्त अवस्था तक साधक पहुंच जाय, यह असम्भव है। राग, द्वेष और मोह को दूर करना ही एकमात्र मार्ग है, यही इसे मुक्ति तक ले जाता है। और यही सतिपट्ठान से साध्य है।

सतिपट्ठान चार हैं

(१) कायानुपस्सना (२) वेदनानुपस्सना (३) चित्तानुपस्सना (४) धम्मानुपस्सना।

ये चार सतिपट्ठान जो हैं, ये स्मृति को प्रस्थापित करने के चार तरीके हैं। इन्हीं का उपदेश भगवान ने दिया है। यह चार तरह की विपश्यना है, स्मृतिप्रस्थान है। ये चारों ऐसे हैं, जो साधक को मुक्त अवस्था तक, निर्वाण तक पहुंचा देंगे, दुःखों के बाहर निकाल देंगे।

विपल्लास

लोक मे चार विपल्लास हैं। 'विपल्लास' पालि भाषा में है, जिसका अर्थ 'विपर्यास' है। (१) शुभ-विपर्यास (२) सुख-विपर्यास (३) नित्य-विपर्यास (४) आत्म-विपर्यास।

प्रज्ञा के चार अङ्ग बताये हैं— (१) अशुभ (२) दुःख (३) अनित्य (४) अनात्म। इनके विपरीत समझना या मान लेना विपल्लास है, विपर्यास है, जो हमे अधोगति की ओर ले जाता है। अनित्य नाम-रूप धर्मों में नित्य संज्ञा (बोध) होना

दु खस्वरूप नाम-रूप धर्मोंमे सुख-सज्ञा होना, अनात्म नाम-रूप धर्मो मे आत्म-सज्ञा होना और अशुभ नाम-रूप धर्मो मे शुभ-सज्ञा होना, ये चारो विपर्यास है।

सतिपट्ठान की भावना करनेवाला साधक इन चार विपर्यास-धर्मो का यथायोग्य प्रहाण (नाश) करता है। कायानुपश्यना मे शुभ-विपर्यास का प्रहाण-कृत्य होकर अशुभ का वोध पुष्ट होता है। वेदनानुपश्यना मे सुख-विपर्यास का प्रहाण-कृत्य होकर दु ख का वोध पुष्ट होता है। चित्तानुपश्यना मे नित्य-विपर्यास का प्रहाण-कृत्य होकर अनित्य का वोध पुष्ट होता है। धम्मानुपश्यना मे आत्म-विपर्यास का प्रहाण-कृत्य होकर अनात्म-वोध पुष्ट होता है।

कायानुपस्सना – सतिपट्ठान

साधक प्रथम काया मे कायानुपश्यना करता है। प्रारम्भ मे काया के ठोसपने की अनुभूति होती है। अभ्यास द्वारा ठोस का प्रतिभेदन करते हुए सूक्ष्मता की ओर वह वढता है। वीधते हुए तीक्ष्ण चित्त से सिर से पाव तक और पाव से सिर तक निरीक्षण करते करते स्वत शरीर का घनत्व नष्ट होता है। इसी तीक्ष्णता से समग्र शरीर-पिड को चीरता हुआ भीतर तक की घनसज्ञा वह नष्ट कर देता है। रूपकलाप याने शरीर के परमाणुओ की सूक्ष्म सच्चाई तक वह जा पहुचता है, जो भौतिक जगत् का अतिम सत्य है। शरीर का एक एक कण खुल जाता है। कही भी संकलन, सघटन, संयोजन, सश्लेपण नही रह जाता। जैसे, कोई वालू का गीला पिड सूख जाय, कण-कण को वाध रखने वाली सयोजन रूपी नमी दूर हो जाय, घनीभूत पिंड विघटित हो जाय, विखर जाय।

शरीर के वाहर (काया को लग कर) एव भीतर (पूरी काया मे) कही भी कोई नित्य, शाश्वत्, ध्रुव, स्थिर, अचल, ठोस पदार्थ है, ऐसा भ्रम नही रह जाय। यही रूप-स्कन्ध की याने भौतिक रूप की अतिम सच्चाई तक पहुचना है। यही रूप का सूक्ष्मतम साक्षात्कार है। इसमे भासमान् प्रकट सत्य परमसत्य के रूप मे अनुभूत होने लगता है।

काया सघटित है, तव तक तो सुदर सी लगती है। जैसे वाल है, दात है, चमडी है। और ये टूट जाने से, इस का विघटन होने से, काया असुदर, कुरूप, गन्दी लगती है। सुदरसी लगती है, तो शुभ सज्ञा है, जो शुभ-विपर्यास है। काया का साधना द्वारा विघटन अनुभूत होते रहने पर अशुभ का वोध होता है। इस माने मे शुभ-विपर्यास का प्रहाण-कृत्य (नाश) होता है। रूप की घनता विदीर्ण होती है, तव अशुभ आकार प्रतिभासित होता है।

वेदनानुपस्सना – सतिपट्ठान

विपश्यी साधक वेदनानुपश्यना करता हुआ देखता है कि प्रारम्भ मे समस्त

शरीर पर अधिकतर स्थूल स्थूल सवेदनाएँ महसूस होती है। जैसे कि घनीभूत दबाव, दुखाव, तनाव, खिचाव, भारीपन अथवा मूर्छा, अर्धमूर्छा, आदि आदि। परन्तु सजग-शान्त-समता भरे चित्त से इन स्थूल सवेदनाओ का साक्षीकरण करते करते, इनका अपनेआप भेदन, विघटन होने लगता है। धीरे धीरे, शरीर के भीतर-बाहर सर्वत्र स्थूल सवेदनाएँ क्षीण होने लगती है, उनका विघटन-विश्लेषण होने लगता है और एक ऐसी अवस्था आती है जब कि शरीर पर कही भी मूर्च्छा या अर्धमूर्छा नही रह जाती, कही कोई सघन [संवेदना नही रह जाती। सर्वत्र तरगे, उदय-व्यय ही उदय-व्यय की अनुभूति होने लगती है। अनासक्त भाव से, अनित्य-बोधपूर्वक इसी का दर्शन करते करते सवेदना की यह उदय-व्यय अनुभूति अधिक सूक्ष्मता की ओर प्रयाण करने लगती है और सूक्ष्मतम अवस्था तक पहुंच जाती है। तब उदय और व्यय की अलग अलग अनुभूति भी बद हो जाती है। उदय होते ही व्यय होता है, बीच की स्थिति ही समाप्त हो जाती है। यह परमाणुओं से चित्त के स्पर्श होते ही वेदन" की उत्पत्ति की सूक्ष्मतम सच्चाई है, जो तत्क्षण व्यय मे बदलती है। इस अवस्था मे सारा प्रपच इस तीव्र गति से प्रवाहमान् प्रतीत होता है, सर्वत्र भङ्ग ही भङ्ग का बोध होता है, जैसे बहती हुई नदी बालू के तटवर्ती कगार को काट दे और वह बालू का ढेर भरभराकर गिर पडे, कण कण बिखर जाय। ऐसे ही सारे शरीर-स्कन्ध पर जो सवेदना महसूस होती है, वह अत्यत तीव्र गति से भङ्ग होती हुई, बिखरती हुई ही महसूस होती है, कही ठोसपना नही, स्थूलता नही; कही अटकाव नही, व्यवधान नही, रुकावट नही, बाधा नही। सर्वत्र धारा-प्रवाह की अनुभूति होती है। यह भङ्ग-बोध ही सवेदना की सूक्ष्मतम अवस्था का साक्षीकरण है, जो सवेदनाओं को सामिष नही बनने देता याने इनके प्रतिराग-द्वेष नही जगने देता, जो संवेदनाओ को निरामिष बनाए रखता है, याने उनके प्रति अनासक्त-भाव पुष्ट करता है।

इस सतिपट्ठान की भावना मे साधक जब सुखद सवेदना का एव उपेक्षा (ना सुखद, ना दुखद) सवेदना का दर्शन करता है, तब उनका विपरिणाम (बदलने-वाला, उदय-व्यय) स्वभाव दिखायी पडने से तथा दु.ख-वेदना का दर्शन करते समय उसका उत्पीडन-स्वभाव दिखायी पडने से, अरे, इस पञ्चस्कन्ध में काहे का सुख है, इसमे सब दु ख ही दु ख प्रतिभासित होता है। सुख-विपर्यास का प्रहाण-कृत्य होता है।

किसप्रकार साधक वेदना मे वेदनानुपश्यी होकर विहार करता है? वेदना मे ही वेदना को वह जानेगा, कल्पना नही करेगा। जब सुख-वेदना की वह अनुभूति होती है, तो 'यह सुख-वेदना है' ऐसे वह जानता है। जब दु ख-वेदना की अनुभूति होती है, तो 'यह दु ख-वेदना है' ऐसे वह जानता है। जो उपेक्षा (असुखद-अदुखद) वेदना है, तो वह जानता है कि यह सुखद भी नही है और दुखद भी नही है।

सुखद-वेदना के प्रति साधक राग पैदा कर लेता है, तो वह सामिष हो जाती है और फिर वह हानिकारक हो जाती है। सामिप माने वह वेदना, जो हमे लोकचक्र मे उलझाये ही रखे, जो गदगी को वढाती ही चली जाय। फिर तो, लोकचक्र मे, दु खचक्र मे साधक पड गया। तव, यह सवेदना साधक के लिए हानिकारक हुयी, क्योकि उसने उसके प्रति राग पैदा किया, प्रिय मान कर 'ऐसी ही संवेदना चलती रहे' ऐसी आसक्ति उसने पैदा कर ली। और, यदि सुखद-वेदना के प्रति साधक ने राग नही जगाया, नि सग रह गया, समता मे चित्त रहा, तो लोकचक्र के वजाय धर्मचक्र चलने लगता है। तो, उसका छुटकारा होने लगा, तो वह निरामिप की ओर जाने लगा, पवित्रता की ओर जाने लगा। कितनी ही सुखद सवेदना आयी हो, उसके प्रति उसने प्रतिक्रिया नही की, तो सवेदना निरामिप रही। और यदि उसने प्रतिक्रिया कर दी, तो सवेदना सामिष हो गयी, मैल पैदा करने वाली हो गयी।

दुखद वेदना भी इसीतरह प्रतिक्रिया करने पर, उसके प्रति द्वेप करने पर, 'ऐसी वेदना नही चाहिए, जल्द समाप्त हो जाय' ऐसा भाव हो े पर वेदना सामिष हो जाती है। और प्रतिक्रिया न करने पर, 'अरे यह अनित्य है, नश्वर है, भङ्गुर है' यह भाव होने पर वेदना निरामिष हो जाती है, पवित्रता की ओर ले जानेवाली हो जाती है।

असुखद-अदुखद वेदना भी सामिष-निरामिष हो सकती है। असुखद-अदुखद याने जो न्यूट्रल है। वह आने लग जाय, तो भी जो घवराने लगता है कि वार वार इस वेदना को देखते देखते साधक ऊव जाता है। और 'कुछ नया चाहिए' ऐसा भाव होने लगता है। वह ऊवने लगा, तो उस वेदना के प्रति द्वेप पैदा करने लगा। फिर वह सामिप हो गयी। और 'ऐसी तो वनी रहे' ऐसा राग पैदा करने लगा, तो भी सामिप हो गयी। किन्तु 'अरे, इस प्रकार की वेदना हुई तो क्या हुआ, यह भी अनित्य है, सदा रहने वाली नही है, उत्पाद-व्यय धर्मवाली है' ऐसा भाव आने पर उसके प्रति न द्वेप जागे, न राग जागे और साक्षीभाव से साधक देखता है, तो वेदना निरामिष होने लग जाती है।

साधक काया के भीतर-वाहर की वेदना को देख कर विहार करता है और सवेदना का समुदय-व्यय होना भी देखता है। वह जान जाता है कि वेदना ऐसी होती है। जिस तरह, वह काया के अन्तिम सत्य को जान गया कि केवल तरन्गे ही तरन्गे मात्र है, केवल प्रकम्पो का पुन्ज मात्र है, 'अरे, इस मे कुछ भी तो नही है, जिसको मै-मेरा कहूं, किस के प्रति राग हो, द्वेष हो, ऐसा कुछ भी तो नही है इस काया मे, ऐसी है यह काया ऐसा भाव जागता है। वैसे ही, वेदना को भी साधक जान जाता है कि तरन्गो के विना कुछ भी तो नही है, उत्पाद-व्यय के विना कुछ भी तो नही है।

इस प्रकार, अपने स्मृति को स्थापित करता है। वेदनाओ के उस अन्तिम केवल तरङ्गो की स्थिति मे जाकर अपनी सजगता को, सति को साधक पुष्ट करता है, जिससे दर्शन केवल दर्शन-मात्र रह जाय, ज्ञान केवल ज्ञान-मात्र रह जाय, ऐसी अवस्था प्राप्त करने के लिये इस काया में, वेदना मे नि.सग होकर साधक विहार करता है। इस काया मे, लोक मे, प्रपच मे किंचित्-मात्र भी उसे चिपकाव नही है, उपादान नही है। इस प्रकार, वेदना मे वेदना की विपश्यना करता हुआ साधक विहार करता है। उसका अनित्य बोध पुष्ट होता है और नित्य-सज्ञा का प्रहाण-कृत्य होता है।

चित्तानुपस्सना–सतिपट्ठान

विपश्यी साधक चित्तानुपश्यना करता हुआ, चित्त के उस खंड के क्रिया-कलापो को देखता है, जिसे सज्ञा कहते है, जिस का काम ' प्रिय है या अप्रिय है ' ऐसा मूल्यांकन करना है। पूर्व-अनुभूतियो और यादगारो के वल पर, पूर्व-सस्कारो के रगीन चश्मे चढाए हुए चित्त का यह संज्ञा-स्कन्ध प्रत्येक अनुभूति को अच्छा या वुरा, प्रिय या अप्रिय, सुखद या दुखद आदि आदि मूल्य देता रहता है। साधक देखता है कि यह सज्ञा-स्कन्ध कितना प्रवल है। प्रत्येक अनुभूति अच्छे-वुरे, प्रिय-अप्रिय मूल्याकन से जुडी ही रहती है। जिस अनुभूति को वह अच्छी मान लेता है, उसे लगातार कितने अर्से तक वह अच्छी माने जाता है। जिसे वुरी मान लेता है, उसे वह लगातार कितने [अर्से तक वुरी ही माने जाता है। उसका सिलसिला टूटता ही नही। सज्ञा की निरन्तरता वनी ही रहती है। परिणामत˙, सज्ञा-स्कन्ध घनीभूत होता जाता है। विपश्यना के वल पर साक्षीभाव का अभ्यास करते करते साधक देखने लगता है कि किसप्रकार घनीभूत सज्ञा के कारण ही प्रतिक्रियाओ से अभिभूत चित्त रागद्वेष के नये नये सस्कार वनाता है और दोष-चित्त उत्पन्न करते ही रहता है; और कैसे जब सज्ञा की निरन्तरता टूटती है, तो सघनता दुर्वल होती है। स्थूल से सूक्ष्म होती हुई सज्ञा की जकड कम होती है, तो प्रतिक्रियाओ का प्रभाव भी अपने-आप कम होने लगता है।

जव चित्त मे राग जागता है, तो साधक केवल जानता है कि ' देख मेरा चित्त राग वाला है ' जव उसका चित्त वीत-राग हो जाता है, तो वह केवल जानता है कि ' देख मेरा चित्त अव वीतराग वाला है' । जव उसके चित्त मे द्वेष जागता है, तो वह जानता है कि चित्त द्वेष-दूषित है। जव द्वेष नही है, तो यह जानता है कि 'अव इस समय मेरे चित्त मे द्वेष नही है '। जव मोह उत्पन्न होता है, तो साधक जानता है कि चित्त मोहवाला है। जव मोह नही है, तो वह जानता है कि चित्त विना मोह का है। चित्त जव एकाग्र हुआ है, तो वह जानता है कि चित्त सक्षिप्त हो गया है याने थोडी जगह मे संग्रहित हो गया है। जव चित्त विखर गया है, विचारो मे लोटपोट लगाने

लगता है, तो वह जानता है कि ' मेरा चित्त अव विक्षिप्त हो गया है ' । चित्त समाहित हो गया, तो वह जानता है कि चित्त समाधिष्ट हो गया है और असमाहित हो तो वह वैसे जानता है । चित्त विकारो से जकडा हुआ है, तो वह जानता है कि चित्त अविमुक्त है और चित्त वैसे जकडा नही है, तो वह जानता है कि चित्त विमुक्त है । महग्गत चित्त (आठो ध्यान की अवस्था मे) है तो वैसे वह जानता है, अमहग्गत चित्त है तो वैसे वह जानता है । चित्त सउत्तर है, तो वैसे वह जानता है और अनुत्तर है तो वैसे वह जानता है । अनुत्तर चित्त याने इसके आगे की चित्त की कोई अवस्था नही है ।

चित्त को जानने के लिए सवेदनाओ का ही सहारा लेना पडता है । सवेदनाओ के सहारे ही चित्त भीतर से कैसे है यह साधक जानता है । भीतर कैसी सवेदना मिल रही है, वाहर कैसी संवेदना मिल रही है, इसी के आधार पर चित्त कैसा है यह जाना जाता है । सवेदना के सहारे ही समुदय-चित्त उत्पन्न हुआ, व्यय-चित्त नष्ट हुआ, एकसाथ उत्पन्न और व्यय शीघ्रगति से हो रहा है, ऐसा साधक जानता है । फिर इसीप्रकार, ' अरे ! यह चित्त ऐसा है, ऐसा वह जानता है । चित्त के वारे मे अपनी सति को, जागरूकता को साधक पुष्ट करता है, प्रस्थापित करता है और नि संग होकर वह विहार करता है । इस शरीर मे हो रहे प्रपंच के प्रति जरा भी आसक्ति, उपादान वह नही आने देता। और इसलिए, ' ञानमत्ताय पटिसतिमत्ताय ' तक पहुचने के लिए अर्थात् दर्शन याने केवल देखनामात्र, जानना केवल जानना-मात्र रह जाय, ऐसे कैवल्य अवस्था तक पहुचने के लिए चित्त की विपश्यना करता हुआ साधक विहार करता है ।

चित्त मे विचार चलते है, उन्हे देखना है, यह गलत तरीका साधना के नाम पर चल पडा है । सारे जगत् मे इसतरह गलत साधना फैल गयी है । अव यह विचार उठा, अव चला गया । जो जो विचार उठे, उन विचारों को देखते जाना यह मन एकाग्र करने के लिए एक आलम्वन होता है । इस मे नुकसान नही है, किन्तु विकारो को वाहर निकालने का काम नही होता । यह विपश्यना नही हुई, सतिपट्ठान नही हुआ। कभी भी, विचारो को देखना चित्तानुपश्यना का अङग नही है । चित्तानुपश्यना का अङग सवेदना को देखते हुए चित्त की क्या स्थिति है, यह साधक जानता है । मन वातूनी है, तो वह जानता है कि मन इससमय वातूनी है, वस, इतना ही मात्र जान लेता है । यह नही करता कि मन वहुत वातूनी है, तो उसे जवरदस्ती मौन कैसे करूं । यह विलकुल आवश्यक नही है । जान लिया मात्र, वस है । मन अपने आप मौन हो जायगा । क्या वाते कर रहा है, उसमे साधक उलझ गया, तो फिर वाते वढती ही जायगी, उसका अन्त नही आएगा। यदि मन वाते कर रहा है और साधक सवेदना के साथ है, उसने इतना भर जान लिया कि इस समय मन वडा वातूनी है और शरीर

पर होने वाले सवेदनाओ को भी वह जान रहा है, तो बाते अपने आप बन्द हो जायगी। वह यह भी जान जायगा कि 'देख ! बाते बद हो गयी, चित्त अब मौन हो गया' और फिर भी वह सवेदना के साथ है। यदि साधक के मन मे कोई जोरो का भावावेश उठा, तो क्या भावावेश उठा उसके विवरण मे उसे नही जाना है। ऐसे विवरण मे साधक चला गया तो सारी सवेदना छूट जायगी और उसी विवरण मे वह लोटपोट होने लगेगा, और तब सवर्धन ही होते चला जायगा। फिर छुटकारा नही हुआ। इसलिए भूल कर भी, चित्तानुपश्यना के नाम पर अपने चित्त पर उभरे हुए विचारो का दर्शन साधक को नही करना है। विचार आये तो वह केवल इतना ही जान कर रह जाय कि विचार आये है, इतना पर्याप्त है, इसके आगे उसे नही जाना है। तब चित्त अपने आप मौन होता जायगा। साक्षीभाव से देखना मात्र है, उसके विवरण मे उसे नही जाना है। साक्षीभाव से देखने का अर्थ ही है कि चित्त निर्मल हो रहा है। निर्मल होना शुरू हुआ तो गन्दगी को हटना ही होगा। निर्मल चित्त पुरानी गन्दगी को भी उखाड कर निकाल देता है। साक्षीभाव मे, द्रष्टाभाव मे, बहुत बडा बल है। साधक केवल साक्षीभाव से दर्शन करके ही रह गया और उसने कोई प्रतिक्रिया नही की; तो उसमे इतना बडा बल है कि पुराने दबे हुए विकारो को उखाड कर फेक देता है। तो जो उभर कर आये है, उनको तो जाना ही पडेगा, क्योकि वे टिक ही नही सकते; यह कुदरत का नियम है।

साधना के प्रारम्भ मे बात समझने के लिए शुभ संकल्प होता है और तभी साधक अन्तर्मुखी होता है, नही तो नही होता। सम्मा सकप्पो याने सकल्प, विकल्प, विचार है। मन बाहर ही रहेगा तो वह कभी अपने अदर नही झाकेगा। केवल जान लिया कि मेरे मन मे सकल्प-विकल्प चल रहे है, यह शुभ विचार आया है, यह अशुभ विचार आया है, तो वे अपने-आप चले जाएंगे। उनके विवरण मे नही जाना है। विवरण मे चले गये, तो मूल्याकन होने लगता है, फिर तो लगे बन्धने। केवल साक्षीभाव से देखना मात्र है, तो अन्दर का मैल जो है, वह अपनेआप निकलता जाएगा, यह कुदरत का नियम है। जैसे, प्रकाश आया तो अन्धेरे को भागना ही पडता है, वह टिक ही नही सकता। शुभ वृत्तियाँ तो आरम्भ मे बढेगी। जैसे ही अतिम अवस्था आती जाएगी, शुभ-अशुभ विचार समाप्त होते जाएंगे। पहले तो शुभ विचार साधक को नौका की तरह सहायता देने वाला होता है। तब अशुभ दूर होते चला जायगा और शुभ का संवर्धन होते चला जायगा। जैसे, हमने नदी पार कर ली, तो हम नौका को सिर पर उठाए नही चलेगे, वह वही छूट जायगी। जब साधक अर्हन्त हो जाता है, तो वह शुभअशुभ कर्म नही करता, उसके सब कर्म क्रिया मात्र रह जाते है, और उसके कर्म को 'क्रिया' कहते है। तब उससे अशुभ कर्म होता नही और शुभ कर्म भी बान्धने वाला होता नही, ऐसी उसकी अवस्था हो जाती है।

इतना भर जानना मात्र है कि चित्त की अवस्था इस क्षण क्या है, और सवेदना को नही छोडना है।

मोह वावलेपने की स्थिति है। तव 'मैं क्या कर रहा हू' इसका साधक को ज्ञान नही होता, वोध नही होता। धर्म के वारे मे वौद्धिक स्तर पर भी वह नहीं जानता कि वह क्या कर रहा है। तव विल्कुल मोह अवस्था मे वह होता है और फिर राग-द्वेप पैदा करता है।

मेरा इस क्षण राग वाला चित्त है, ऐसा केवल जानना मूल्याकन नही हुआ। तव सज्ञा काम नही करती। 'वस, ऐसी स्थिति है' इतना भर उसे जान लेना मात्र है।

हमारे जितने विकार है, वे सास से और सवेदना से वन्धे हुए है। ऐसा हो ही नही सकता कि विकार इनसे वन्धे हुए नही है। सवेदना नही मिलती है, तो सास पर आ जाना चाहिए। विकारो के जड को पकडे रहना चाहिए। मन उछाल मार कर कही चला गया, तो केवल जानना मात्र है, मन अपने-आप आ जायगा। पर यह तभी होगा, जव हम सास का या सवेदना का आधार नही छोडेगे।

आनापान मे जव चित्त एकाग्र होने लगता है, तो सास अपने-आप पतला पडने लग जाता है और कुम्भक भी अपने-आप हो जाता है, यह अच्छी वात है। जवर्दस्ती कुम्भक नही करना है। स्वत. कुम्भक हो जाय, तो चित्त की एकाग्रता के कारण होता है। यह एक रास्ते मे मील के पत्थर जैसा है। तव प्राणवायु की आवश्यकता नही होती है, कुम्भक स्वत हो जाता है। तव चित्त स्थिर हो जाता है, कोई विचार नही उठते और केवल आलम्वन मात्र रह जाता है। इस समय केवल ओठ पर की जगह पर मन टिकाये रखना है, कही खो नही जाना है। सास को जानना और ओठ के ऊपर के हिस्से पर जानना, ये दो काम है। सास वन्द हो जाय, तो ओठ के उसी स्थान पर मन लगाये रखना है।

धम्मानुपश्यना – सतिपट्ठान

धर्म क्या है इसको पहले समझे। काया है और काया पर प्रकट होनेवाली सवेदना है, यह एक पक्ष है। दूसरा पक्ष चित्त है और चित्त पर जो उत्पन्न होता है, वह धर्म कहलाता है, जो चेतना है याने चैतसिक धर्म है। लोक-व्यवहार मे जिसको धर्म कहते हैं, वह यह धर्म नही है। चित्त का एक खण्ड विज्ञान है और यही शुद्ध चित्त है। और जैसे ही उसमे सज्ञा जागी, जैसे ही उसमे सस्कार जागा, तो वह विज्ञान का धर्म हुआ, चित्त का धर्म हुआ। इस तरह, जो कुछ चित्त पर जागेगा, अच्छा या वुरा, प्रिय या अप्रिय, वह सारा चित्त पर जागा हुवा धर्म ही है। चित्तानुपश्यना मे हमने इतना ही जाना कि चित्त की क्या अवस्था है। अव धम्मानुपश्यना मे चित्त पर क्या जागा,

उसको जानना है, उसके विवरण मे नही जाना है। किन्तु उसके रहने से क्या कठिनाई हो रही है और नही रहने से कठिनाईयो से कैसे वाहर निकल रहे है, चित्त के इस स्वभाव को जानने का यह अभ्यास है। जानते जानते साधक सारे धर्म को जान जायगा कि यह सारे प्रपच का धर्म क्या है। कैसे प्रपच फैलता है, कैसे उससे वधते जाते है, कैसे यह प्रपच रुकता है, कैसे ये वंधन अपनेआप टूटते है और कैसे अपनेआप समाप्त होते है, यह सारा का सारा प्रकार साधक समझेगा। यह सारा प्रपच काया की सीमा के भीतर ही समझना है।

साधक धम्मानुपश्यना करने लगता है, तव रूपकलापो याने परमाणुओ के धर्म-स्वभाव को वह देखता है, वेदनाओं के धर्म-स्वभाव को देखता है। वैसे ही, सज्ञा को वह देखता है और उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न हो रहे सस्कारो के धर्मस्वभाव को भी। शरीर पर होनेवाली किसी संवेदना के अनुभव का संज्ञा जव अच्छा, प्रिय, सुखद आदि मूल्याकन करती है, तो तुरन्त रागात्मक संस्कार जागने लगते है और घनीभूत होने लगते है। सज्ञा जव बुरा, अप्रिय, दु खद मूल्याकन करती है, तो द्वेषात्मक सस्कार उभरने लगते है और घनीभूत होने लगते हैं। इन घनीभृत सस्कारो का तूफान ही भावावेश वन कर समस्त चित्तस्कन्ध पर छा जाता है और चित्त-धारा को व्याकुल, व्यथित कर देता है। साधक विपश्यना के आधार पर समझता है कि ये सस्कार कितने दु खप्रद है। विपश्यना द्वारा ही इनके दु.खद होने का कारण भी समझ मे आने लगता है। इन संस्कारो के प्रति कितना तादात्म्य उसने स्थापित कर लिया है—आत्मभाव, 'मै' 'मेरे' का भाव। यही भाव आसक्ति पैदा करता है और परिणामत दु ख पैदा होता है। साधक को देखते देखते स्पष्ट होने लगता है कि यह आत्मीयभाव, मै-मेरे का भाव रूप-स्कन्ध या शरीर-स्कन्ध के प्रति याने धनीभृत परमाणुओ के पुज के प्रति कितना गहन हो उठता है। फलत दु ख भी उतना ही गहन हो उठा, ऐसा भी जान पडता है। विपश्यना द्वारा सत्य का साक्षात्कार करते करते यह स्पष्ट होने लगता है कि जिस प्रकार रूप-स्कन्ध याने परमाणु-पुन्ज उदयव्यय स्वभाव के है, अनित्य-धर्मा है, वैमे ही वेदना भी, संज्ञा भी और सस्कार भी है। यह अनित्य वोध जितना जितना पुष्ट होते जाता है, उतना सस्कारो के प्रति मैं-मेरे का भाव क्षीण होते जाता है और अनात्मभाव स्वत: पुष्ट होता जाता है। देखते देखते आसक्ति क्षीण होती है और अनासक्ति पुष्ट होती है। दु ख का कारण दूर होता है और फलत: दु ख भी दूर होता है।

अनात्मभाव पुष्ट होता है, तो ही संज्ञा का घनत्व क्षीण होता है, सस्कार का घनत्व क्षीण होता है। तव दर्शन 'केवल दर्शन' मात्र वन जाता है, ज्ञान 'केवल ज्ञान' वन जाता है। कर्ता और भोक्ता की भ्राति तो दूर होती ही है. समय पाकर द्रष्टा और ज्ञाता की भ्राति भी दूर हो जाती है। 'देख रहा हूं' के स्थान पर 'देखा जा

रहा है ' रह जाता है । ' जान रहा हूं ' के स्थान पर ' जाना जा रहा है ' रह जाता है । द्रष्टा, दर्शन और दृश्य तीनो एकाकार होकर ' केवल दर्शन ' मात्र रह जाता है । ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनो एकाकार होकर ' केवल ज्ञान ' रह जाता है । यही सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान की चरम अवस्था है । ऐसी अवस्था मे ही सज्ञा का निरोध होता है और साधक आध्यात्म की गहनतम अवस्था प्राप्त करता है । केवल ज्ञान, केवल दर्शन से वह ' कैवल्य ' की उपलब्धि करता है. ' केवली ' हो जाता है । वह इन्द्रियातीत ' निर्वाण ' परमपद को प्राप्त करता है ।

इस तरह साधक रूप, वेदना, सज्ञा और सस्कार स्कन्धो की उन सूक्ष्मतम परम सच्चाइयो की अवस्थाओ का साक्षात्कार कर लेता है, जिनके आगे इन स्कन्धो के क्षेत्र मे कुछ और सूक्ष्मतर नही रह जाता । और तदनन्तर, इनसे परे उस परमसत्य ' निर्वाण का ' साक्षात्कार करता है, जो कि इन्द्रियातीत है, नाम-रूपातीत है। इस-तरह, साधक प्रत्यक्षानुभूति द्वारा इस विपश्यना साधना-विद्या द्वारा स्थूल भासमान सच्चाइयो का भेदन कर सूक्ष्मतम सच्चाई तक पहुंचता है और उसके परे इन्द्रियातीत ' निर्वाण ' तक पहुच जाता है । तव मनुष्य-जीवन सफल, सार्थक वन जाता है ।

साधक धम्मानुपश्यना मे पाच नीवरण-धर्मो को, पाच खन्दो के धर्मो को, छ: आयतन भीतर के और छ आयतन वाहर के, इनके संयोजन-धर्मो को, सात वोधि के अङ्गो के धर्मो को और चार आर्य-सत्यो के धर्मो को जानते हुए विपश्यना करता है ।

हम पहले पाच नीवरण-धर्मो को जानेंगे – नीवरण याने ऐसा आवरण जो हमे मुक्ति की ओर नही जाने देता, जो हमारी साधना मे वाधा वनता है ।

विपश्यना करते समय जव कामछन्द का उत्पाद होता है याने राग जागता है; तो साधक केवल जानता है कि अपने अदर राग जागा है । अव राग नही है, यह भी वह जानता है । पहले कामछन्द नही था, अव उत्पन्न हुआ यह भी वह जानता है । जो कामछन्द उत्पन्न हुआ, उसका प्रहाण हो गया, उसको भी वह जानता है । यह जो कामछन्द उत्पन्न होकर नष्ट हुआ, अव यह उखड गया, अव आने वाला नही है, यह भी वह जान लेता है। समाप्त हो गया, अव उत्पाद नही हो रहा है, ऐसा भी वह जान लेता है । कामछन्द माने कामनाएँ जागती है, ऐसा भी वह जानता है । कामनाएं नही जाग रही है, ऐसा भी वह जानता है । जो कामनाएँ जागी थी, वह जाग कर समाप्त हो गयी है; अव जो समाप्त हो गयी है, वह अव आने वाली नही है इत्यादि जानना, यह सारी की सारी धम्मानुपश्यना है । अतिम स्थिति है साधना की । यहा पर अपने अन्दर एक एक विकार कैसे जागता है, कैसे समाप्त होता है, जागता है तो साधक जानता है कि अभी भी राग जागता है । राग से वह द्वेष नही करता तथा राग चला जाय यह भी नही कहता। देख, राग आ रहा है, अव चला गया, वस, इतना

तो सज्ञा नही होगी, उसकी जगह प्रज्ञा होगी। यह विशेष ज्ञान है, जो विज्ञान को पुष्ट करता है और यही प्रमुख हो जायगा, होना चाहिए। भगवान बुद्ध ने बार बार कहा कि 'विज्ञान' बडा निर्मल है, इसमे दोष का बिल्कुल नामोनिशान नही है। इसमे हम यदि बाहर से सस्कारो को डाल लेते है, तो मैल डाल लेते है, नही तो मैल का क्या काम! 'सज्ञा' यह सयुक्त ज्ञान है, अपने पुराने संस्कारो के साथ वह जुडी हुई है। जो अपना पुराना लेप है, अनुभव है, उसीके अनुसार मूल्याकन याने प्रतिक्रिया करना वह प्रारम्भ कर देती है। यह सज्ञा जब तक मूल्याकन करती रहेगी, तब तक नये सस्कार बनते जायेगे। इसलिए, साधक को सजग और समता भरे चित्त से निरीक्षण का काम बनाये रखना चाहिए। प्रज्ञा जागृत रखनी चाहिए, तब संज्ञा का निरोध हो जाता है। भवचक्र का धर्मचक्र मे प्रवर्तन होता है। विज्ञान पुष्ट होता है, जो शुद्ध चित्त है।

अब इस विज्ञान को कोई किसी नाम से भले ही पुकार ले, तो कुछ नही बिगडता। इसको 'आत्मा' नाम से पुकार लिया तो केवल कठिनाई यही हुई कि 'मै-मेरे' का भाव आ गया। यह 'मै-मेरे' का भाव जब तक है, तब तक मुक्ति असम्भव है। इसीलिये भगवान बुद्ध ने केवल विज्ञान ही कहा। आत्मा क्यो नही कहते, तो उन्होने लोगो को समझाया कि जैसे ही आत्मा कहोगे, उससे 'मै-मेरे' का भाव आये बिना नही रहेगा और यह 'मै' का भाव तो समाप्त करना है। यदि 'मै-मेरे का भाव रहेगा, तो मुक्त अवस्था तक नही पहुंचा जा सकता।

अब साधक पाच खन्धो के आधार पर धम्मानुपश्यना करता है।

यह देखो, रूप है, यह रूप का उदय होता है और यह उसका अस्त हो जाता है। इसतरह, अपने शरीर के भीतर परमाणुओ की उत्पत्ति को देखता है, उनके नष्ट होने को देखता है। ये परमाणुओ के पुन्ज है, कैसे उत्पन्न होते है और कैसे नष्ट होते है, इस बात को साधक देखता है।

यह देखो, वेदना (सवेदना) है। कैसे वेदना उत्पन्न हुई और कैसे नष्ट हुई, यह वह जानता है।

यह देखो, सज्ञा (पहचानना, मूल्यांकन करना) जागी और किस प्रकार वह समाप्त हो गयी, यह वह जानता है।

यह देखो, संस्कार है। कैसे वे जागते है और समाप्त होते है, यह वह जानता है।

यह देखो, विज्ञान (जानना) है। कैसे वह जागता है और कैसे समाप्त हो जाता है, इसको भी साधक जानता है।

यहां पर प्रश्न उटता है कि विज्ञान अन्त मे क्यो आया। साधना करते हुए विज्ञान अन्त मे ही आता है। साधना करते हुए रूप मालुम होगा, सारे परमाणुओं का खेल मालुम होगा और पहली वार, चित्त के स्तर पर वेदना ही मालूम होगी। मन अभी इतना नही पका कि पहले वह शुद्ध विज्ञान जान ले; याने ऐसा विज्ञान, जिस मे संज्ञा नही जाग रही है, सस्कार नही जाग रहा है और जिस मे वेदना नही है। इसतरह के विज्ञान को अलग करके जानना वडा कठिन काम है। इसलिए, पहले वेदना से ही काम शुरू होता है।

जानने की वात शुरू हुई, तो पहले वेदना मालूम हुई, फिर तुरत उसकी सज्ञा मालूम हुई याने उसका मूल्याकन हुआ, फिर उसका सस्कार हुआ, इतना होते होते होश आया कि यह तो सव कुछ निकम्मा है। फिर केवल विज्ञान रह गया, भले ही थोडी देर के लिये ही क्यो न हो। फिर इतनी देर मे वेदना जागी, सज्ञा आयी, सस्कार आया, और फिर उन्ही को देखने लगा। फिर होश आया और विज्ञान रह गया। यो इस विज्ञान को देखना अन्तिम अवस्था है। अभ्यास से ही ऐसी अवस्था पर जाकर हम पहुचेंगे जव कि विज्ञान मे केवल विज्ञान रह गया और कुछ नही। ऐसी अवस्था आने मे देरी लगती है।

इसप्रकार, उपादान-खन्दो के आधार पर साधक धर्म की विपश्यना करता है।

साधक छ भीतरी और छ वाहरी आयतनों के आधार पर धम्मानुपश्यना करता है।

शरीर पर छ आयतन है, जो कि आख, कान, नाक, जिव्हा, काया की त्वचा और मन है।

और वाहरी इनके छ. आलम्वन है (उनको भी आयतन कहा गया है), जो कि रूप, शव्द, गन्ध, रस, स्पर्शव्य पदार्थ और विचार है।

एक ओर साधक आंख को जानता है और एक ओर रूप को जानता है। इन दोनो के कारण वन्धन उत्पन्न हुआ, सयोजन उत्पन्न हुआ, उसको भी वह जानता है। जो सयोजन पहले नही था, उसका उत्पाद देख कर वह जानता है। सयोजन का कैसे प्रहाण हुआ यह भी वह जानता है। जितने भी ये संयोजन उत्पन्न हुए, वह उत्पन्न होते होते सारे नष्ट हो गए, अव उत्पन्न नही हो रहे हैं यह भी वह जानता है। ये तीनो अवस्थाएं वह अनुभव करता है। जव तक धर्म मे साधक पका नही, तव तक तो वह वन्धन मे वन्ध रहा है और उसको भी वह जानता है। 'आया, चला गया' इस सारे खेल को वह देखता है। क्योकि साक्षीभाव से वह देखता है। देखते देखते यह वन्धन का क्रम भी समाप्त हो जाता है। तात्पर्य, सयोजन आरम्भ ही नहीं होता तो वन्धने वाली वात ही नही वनती।

ऐसे ही, कान को और शब्द को साधक जानता है। इन दोनो के कारण संयोजन उत्पन्न हुआ, उसको भी वह जानता है। जो संयोजन नही था, वह उत्पन्न हुआ उसको भी वह जानता है। जो संयोजन उत्पन्न हुए वह नष्ट हो गये यह भी वह जानता है, बस केवल जानता है। उसको वह दूर नही करता। संयोजन समाप्त हो रहे है, उनको भी वह जानता है। समाप्त होने के लिए वह कुछ नही करता। दोनो को केवल साक्षीभाव से साधक देखता है। देखते देखते, वह ऐसे जानने लगता है कि अब उत्पाद नही हो रहा है। इस प्रकार इन बातो को वह जानता है।

ऐसे ही साधक नाक और गन्ध को जानता है, जिव्हा और रस को जानता है, काया और स्पर्शव्य पदार्थ को जानता है और मन तथा उस पर उत्पन्न विचार को जानता है। उपरोक्त प्रकार से वह सब जानता है।

साधक जानेगा सभी, संवेदना के आधार पर ही। वह जानेगा कि देख, आख पर सवेदना का खेल है, रूप है, हमने प्रतिक्रिया शुरु की और बन्धन बन्धने लगे। यह प्रतिक्रिया करना बन्द कर दी, तो ये बन्धन बन्धना बन्द हो गया। यो, बार बार अभ्यास होते होते, वह प्रतिक्रिया करता ही नही, तो फिर बन्धन जागता ही नही।

स्पर्श कहा होता है यह पहले बताया है। जैसे, आंख पर रूप का, कान पर शब्द का आदि स्पर्श होता है। स्पर्श के होते ही बन्धन शुरु हो गया। किनका किनका स्पर्श हुआ और कैसे बन्धन शुरु हुए, यह समय पाकर साधक को सारा स्पष्ट हो जायगा। यह सारा खेल इतना स्पष्ट होगा, तब ऐसी अवस्था आयेगी कि एक एक टुकडा टुकडा करके स्पष्ट होगा। अभी तो बहुत घनीभत है, उसके टुकडे हो रहे है, हो रहे है। अर्हत् होने पर एक एक टुकडे को अलग से साधक जान जायगा।

ऐसे ही उपरोक्त प्रकार से सभी आयतनों पर साधक सभी जानता है।

मन का स्थान है हृदयवस्तु। उस पर धर्म जागता है। मन पर जो कुछ जागता है, वह सब धर्म कहलाता है। मन पर जो जागे याने विचार, वितर्क, भावावेश, राग-द्वेष जो जागे, वह सारा 'धर्म' कहलाता है। धर्म का मतलब है स्वभाव। मन का यह स्वभाव है कि कुछ-न-कुछ जागते ही रहता है। मन पर जो जागा वही धर्म है।

अब बोधि के सात अङग है जो बोज्झङग है, उन पर धम्मानुपश्यना होती है। बुद्ध-अवस्था प्राप्त होने के लिये, परिपूर्ण बोधि प्राप्त करने के लिये इन सात अङगो की परिपूर्णता करनी होती है। ये बोधि के सात अङग 'बोध्यङग' कहलाते है। पालि मे इसे 'बोज्झङग' कहा गया है।

सब से पहले 'सति' बोध्यङग है। यह सति मेरे भीतर कायम है, इसको देखते हुए उसे साधक अच्छी तरह से जानता है। जिस समय यह नहीं है तो नहीं है,

छूट गयी ऐसे वह जानता है। जो सति (सजगता) नही उत्पन्न हुई, उसको जगा कर वह कैसे परिपूर्ण कर रहा है, उसको वह जानता है। अव तक जो सति हमारी परिपूर्ण नही थी, अव भावना द्वारा साधक उसका संवर्धन करते करते उसको परिपूर्ण करता है। भावना याने अपनी अनुभूतियो के वल पर, जिसका वहुलीकरण हो रहा है वह। जैसे भावनामयी प्रज्ञा है, वैसे ही भावनामयी सति है। सति को वह परिपूर्ण करता है।

इसी तरह, 'धम्मविचय' वोज्झङग यह सम्वोधि का दूसरा अङग है। धर्म का विवेचन अव वुद्धि के स्तर पर साधक समझता है, जिसको सम्यक् सकल्प कहा है। साधक जागरूक है और समझ रहा है कि यह सारा खेल क्या है, प्रपंच क्या है। इस सारे प्रपच को वुद्धि के स्तर पर वह जान रहा है। धम्मविचय को हम विवेचन कहे, विचार कहे, सकल्प-विकल्प कहे। जिस समय धम्मविचय नही है, ठीक उस समय साधक जानता है कि इस समय धम्मविचय नही है। धर्म को अलग अलग विश्लेपण करके देखना जो है, वह धम्मविचय है। देखो, ये वात ऐसी है, ऐसे होता है, इस तरह उसको सम्यक सकल्प द्वारा वह समझता है। उपरोक्त प्रकार से भावना करके वह जानता है।

इसी प्रकार, 'विरिय सम्वोज्झङग' को साधक जानता है। प्रयत्न, परिश्रम, पुरुषार्थ को उन दिनो वीर्य कहते थे। पुरुषार्थ है तो वह जानता है कि इस समय है, नही है तो वह जानता है कि इस समय नही है। जो नही उत्पन्न हुआ है, वह अब उत्पन्न हुआ है ऐसा वह जानता है। कैसे यह 'विरिय सम्वोज्झङग' जाग रहा है और जाग कर कैसे इसको वह पूरा कर रहा है, उसकी परिपूर्णता की ओर साधक देखते जाता है।

इसी तरह 'पीति सम्वोज्झङग' को साधक जानता है। आज जिसको हम आनन्द कहते है, उसे उन दिनो प्रीति या सुख ये शव्द थे। चित्त मे पुलक-रोमाञ्चसा होता है, उसको प्रीति कहते है। साधक जानता है कि प्रीति, आनन्द जागा है, नही है तो वह जानता है कि नही है। जो नही थी उसका उत्पाद हुआ उसको वह जानता है। यह वात समझनी चाहिये कि प्रीति, आनन्द उत्पन्न हुआ और उसके साथ चिपकाव हो गया, तो हम अटक जायेगे। यह वात यद्यपि विल्कुल ठीक है, किन्तु यह जो आनन्द ध्यान करते हुए आता है, वह वोधि का एक अङग है। दुःखो के वाहर निकलना है तो आनन्द आता ही है, किन्तु उसके साथ चिपकाव नही होना चाहिये। क्योकि यह भी अनित्य स्वभाव है, ऐसा साधक जानता है। जैसे-जैसे चित्त पर का मैल निकलेगा, वैसे-वैसे चित्त पर आनन्द आने ही वाला है, वह रोका नही जा सकता। उसका विरोध नही करना चाहिए और समझना नही चाहिए कि आनन्द आ गया, तो हम कही फस जायेगे, आसक्ति हो जायगी और हम उलझ जायेगे। यह वोधि का एक अङग है, उसको परिपूर्ण करना है, ऐसा साधक को समझना चाहिए।

इसीतरह 'पस्सद्धि सम्बोज्झङग' है, प्रश्रव्धि है। प्रश्रव्धि याने प्रशान्ति; भीतर नितान्त शान्ति मालूम होगी। आनन्द अपनी जगह है, आनन्द की अनुभूति अपनी एक होती है, शान्ति की अनुभूति अपनी एक होती है। नितान्त प्रश्रव्धि है; भीतर नितान्त शान्ति है। जिस समय शान्ति है, तो साधक वैसे जानता है, नही है तो वैसे जानता है। शान्ति नही थी और फिर वह जागने लगी, तो साधक जानता है कि वह जागने लगी है। जो शान्ति उत्पन्न हुई है भावना द्वारा, वह परिपूर्ण हो रही है, ऐसा वह जानता है।

अब 'समाधिसम्बोज्झङग' समाधि है, इसकी भी उपरोक्त प्रकार से साधक परिपूर्णता करता है।

इसी प्रकार 'उपेक्षासम्बोज्झङग' है जो उपेक्षा का, समता का भाव है। है तो है, नही है तो नही है, नही था और उत्पन्न हुआ है तो कैसे उसे परिपूर्ण करे, इस भावना द्वारा साधक परिपूर्ण करता है।

चाहे जिस प्रकार से वह करे, काम तो यही करना है कि कैसे उत्पाद होता है, कैसे व्यय होता है, शरीर मे कैसे उत्पाद-व्यय हो रहा है, यह सारा साधक को जानना होता है।

'सति' याने एक एक क्षण की जागरूकता। समाधि याने जागरूकता जो लम्बे अर्से तक रहती है और गहरी होती जाती है। वीर्य (परिश्रम) सारे कामो के लिए आवश्यक होता है। एक साथ सारे अङग जुड जाते है, किन्तु एक एक अङग प्रमुखता देकर देखते है कि यह बढ रहा है या नही। हर समय सति तो रहेगी ही। सति का अङग बडा महत्वपूर्ण है।

अब 'चतु आर्यसच्च' के आधार पर 'धम्मानुपश्यना' चलती है। अरे! 'यह दु ख है', इसको साधक यथाभूत जानता है। वह दु ख को भोगता है, तो 'आर्यसत्य' नही है। जैसा है वैसा केवल जानना मात्र है और कुछ भी नही करना है। रोना-पीटना, बेचैन, व्याकुल नही होना है, तभी वह 'आर्यसत्य' हुआ। इसी-प्रकार 'यह दु ख-समुदय है', ऐसा केवल जानना है। कैसे दु.ख उत्पन्न होता है, उसे भी साधक यथाभूत देखता है और देखते देखते अपने आप दु ख दूर हो रहा है, इसे भी जानता है। 'दु ख-निरोध' जो निर्वाण की अवस्था है, उसको भी यथाभूत देख कर साधक जानता है। वह एक एक कदम रास्ता चलता है, उसको भी जानते हुए वह चलता है और जानता है कि ऐसा दु ख-निरोध-गामिनी आर्यसत्य है।

सस्कारो के मजबूत बन्धन जो है, वह क्षीण होते जाएँगे तो साधक 'स्रोतापन्न' हो जाएगा। और अधिक क्षीण हो जाएँगे, तो वह 'सकृदागामी' हो जाएगा। और

उससे भी अधिक क्षीण हो जाएँगे, तो वह 'अनागामी' हो जाएगा। सारे के सारे सस्कार पूर्णत: क्षीण हो गये, तो वह 'अर्हन्त' हो जाएगा।

अर्हन्त की अवस्था अशेप दु ख-निरोध की है। जहा तृष्णा अशेप हो जाय, उसका नाम ही न रहे, पूर्ण निरोध हो जाय, निकल जाय, तृष्णा से मुक्त हो जाय, उस अवस्था को दु ख-निरोध अवस्था कहते हैं। ये जो लोक है (छ इन्द्रिया ही लोक हैं), जहा जहा हम प्रिय मानते है, अच्छा मानते है, या अप्रिय मानते है, बुरा मानते है; वहा वहा तृष्णा शुरु हो जाती है। जहा भी हम मूल्याकन करते है, (याने सज्ञा काम करती है) वही तृष्णा शुरू हो जाती है। इसलिए इसका निरोध भी वही होना चाहिए, वही प्रहाण होना चाहिए। पूरी तरह से प्रहाण नही हुआ, तो दु ख-निरोध की अवस्था नही आयी। सचमुच निरोध की अवस्था तो जहा तृष्णा आरम्भ होती है, वही वह समाप्त होनी चाहिए, वही उसका निरोध होना चाहिए। वहा तक हम साक्षीभाव से नही पहुचते हैं, तो तृष्णा अपना काम करती है। ऊपरी ऊपरी स्तर पर दु ख-निरोध हुआ हो, तो उसको दु ख-निरोध नही कहते। तृष्णा का जहा आरम्भ होता है, वही अनारम्भ हो जाय, तब समझो कि दु ख-निरोध हुआ। यदि वहा हम अनारम्भी नही है, तो तृष्णा बढ गयी और आगे जाकर प्रहाण हो, तो दु ख-निरोध की अवस्था नही आयी। सारा नितान्त दु ख-निरोध हो जाय, तो ही निर्वाण की अवस्था है। इसलिए निरोध-सत्य की बात कही गयी है। जडो तक तृष्णा नही रह जाय, तो ही जडो तक का दु ख समाप्त हो जाता है।

इसतरह, साधक सारा धर्म जान जाता है। अब कुछ बाकी नही रह गया, इसी को परिपूर्ण और परिशुद्ध धर्म कहते हैं। परिपूर्ण इस माने मे कि इसमे जोडने के लिए कुछ है ही नही और परिशुद्ध इस माने मे कि इसमे से निकालने को कुछ है ही नही जो अशुद्ध है। ऐसे, साधक जान जाता है सारे धर्म को।

इसतरह साधक चारो सतिपट्टान की भावना करता है।

साधक को यह ध्यान रहे कि जब वह कायानुपश्यना करता है, इसका आशय यह नही है कि शेप तीन अनुपश्यनाएं उस समय नही है। चारो भी एकसाथ उपस्थित होती रहती है, जिनमे एक विशेप प्रभावित होती है और शेप तीन कमवेशी होती रहती है।

प्रश्न यह है कि परमार्थ-रूप से स्मृतिचैतसिक एक होने पर भी यह स्मृति-प्रस्थान चार कैसे है?

स्पष्टीकरण यह है कि स्मृतिचैतसिक एक होने पर भी आलम्बन के प्रकार चार होने से, ग्रहण करने के आकार चतुर्विध होने से एव प्रहाण-कृत्य के प्रकार भी चार होने से स्मृतिप्रस्थान चतुर्विध है। आलम्बन को चतुर्विध कहना, केवल लौकिक

स्मृतिप्रस्थान को लक्ष्य करके ही कहा है। लोकोत्तर स्मृतिप्रस्थान केवल निर्वाण का ही आलम्बन करता है।

सतिपट्ठान सुत्त में भगवान बुद्ध कहते है—"इध भिक्खवे भिक्खु कायं कायानुपस्सी विहरति, आतापि सम्पजानो सतिमा विनेय्य लोके अभिज्झा दोमस्सं, वेदनासु...... चित्ते .... धम्मेसु धम्मानुपस्सी विहरति, आतापि सम्पजानो............।"

प्रत्येक अनुपश्यना के साथ 'आतापि.... .' जुडा हुआ है। यह अत्यन महत्व का वचन है। इसका साधक को बडा ध्यान रखना चाहिये। 'आतापि... ' का अर्थ है—"आन्तरिक तप करता हुआ (चित्त को निर्मल करने के लिए जो तप कर रहे है कि हम समता मे कैसे स्थापित हो जाय वह) प्रज्ञा से जुडी हुई सम्यक् स्मृति के साथ इस लोक मे याने अपने शरीर मे भीतर जो सच्चाईया है, अनित्य स्वभाव-वाली है, उनके प्रति निस्संग, निर्लिप्त रह कर आसक्त याने अतिलोभ, या द्वेष नही करता, ऐसा साधक विहार करता है।" ऐसे चार प्रकार से वह सतिपट्ठान करता है।

भगवान बुद्ध आगे कहते है—"एकायनो अयं भिक्खवे मग्गो सत्तानं विसुद्धिया
सोकपरिदेवानं समतिक्कमाय दुक्खदोमनस्सनं अत्थंगमाय
ञाणस्स अधिगमाय निब्बानस्स सच्छिकिरियाय
यदिदं चत्तारो सतिपट्ठाना।" इसका अर्थ है—

"भिक्षुओ! मुक्ति के लक्ष्य तक पहुचाने का एक ही मार्ग है। वह मार्ग है, जो एक सत्य तक पहुंचा दे, परम सत्य जो एक ही है। इस अन्तिम सत्य तक पहुचा दे। और इस माने मे 'एकायनो' याने इस मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति एकाकी चलता है। हर व्यक्ति को अपना काम स्वय ही करना होता है। मार्ग क्या है? इस काया के भीतर की सच्चाई को देखना, यही तो मार्ग है। दूसरे के भीतर की सच्चाई को थोडे ही देखा जा सकता है? अकेला, एकाकी, अपने भीतर एकान्त होकर, जो हो रहा है, वह जानता है इस माने मे भी 'एकायनो अयं मग्गो' है। दर्शन को विशुद्ध करने के लिए, सम्यक् दर्शन बनाने के लिए सत्त्वो के लिए एक ही मार्ग है। सत्त्व याने प्राणी, इनके विशुद्धि के लिए यह एकमात्र मार्ग है। विशुद्ध होगा तो ही मुक्त होगा। विशुद्ध कैसे? सारे विकार निकल जाएगे और तभी चित्त विशुद्ध हो जाएगा। शोक है, परिदेव है, रोना है, पीटना है, उन सब का तब अतिक्रमण हो जायगा। शारीरिक दु ख हो या मन के दु.ख हो, इन सब को समाप्त करने का यह एक ही मार्ग है।

"यह न्याय का मार्ग है, सत्य का मार्ग है। दु ख का अन्त इस एकमेव रास्ते पर चल कर करो। सारे मार्गो मे आर्य-अष्टागिक मार्ग ही श्रेष्ठ है, जो मुक्त अवस्था तक

ले जाएगा। जितने भी पथ है, उनमे ये चार आर्यसत्यो वाला ही श्रेष्ठ है, क्योकि ये ही मुक्त अवस्था तक पहुचाता है। इसीप्रकार यह विराग का, अनासक्ति का धर्म है, यही श्रेष्ठ है।

"इस मार्ग पर चलते चलते मुक्त अवस्था तक पहुच ही जायेगा। कहा पहुचेगा? निर्वाण का साक्षात्कार करने के लिए पहुचेगा। शोक, रोना-पीटना आदि से छुटकारा पाना, दु खो को दूर करना, मन को शुद्ध करना, धर्म के रास्ते कदम उठाना शुरू कर देना, यह सारा इसलिए है कि निर्वाण का साक्षात्कार हो जाय। इसलिए यह एक ही मार्ग है। कैसा है?

"ये जो चार सतिपट्ठान है, स्मृति को स्थापित करने के चार तरीके है। यह चार तरह की विपश्यना जो है, वही स्मृतिप्रस्थान है। चारो ऐसे है, जो हमे मुक्त अवस्था तक पहुचा ही देगे, दु खो के वाहर निकाल ही देगे।"

काया मे ही कायानुपश्यना करनी है। वेदना मे ही वेदनानुपश्यना करनी है। चित्त मे ही चित्तानुपश्यना करनी है और धर्म मे धर्म की विपश्यना करनी है, उनमें याने उनको जानते हुए। कही उसके परे कल्पना मे नही चले जाना है। 'यथाभूत ञाणदस्सनं' यथाभूत ज्ञानदर्शन के आधार पर जानना है।

काया, वेदना, चित्त और धर्म, ये चार वाते वतायी गयी है और यह जो कहा गया कि एकमात्र मार्ग है, यह ऐसा क्यो कहा गया उसको हम समझे। जव तक आदमी अपने विकारो को अपने भीतर से नही निकाल लेगा, तो वह मुक्त कैसे होगा? तो, विकार जहा से उत्पन्न होते है, वही से उसे निकालने का काम होगा। तदर्थ, वाहर की दुनिया मे थोडे ही घूमना पडेगा? जव विकार भीतर है, तो भीतर ही देखना पडेगा। यह काया है और यह चित्त है। काया और काया पर होने वाली सवेदना यह कायानु-पश्यना और वेदनानुपश्यना मे आया। चित्त और चित्त का जो स्वभाव है, धर्म है जो चित्त पर उत्पन्न होता है। जैसे काया और काया की सवेदना उत्पन्न होती है, वैसे ही चित्त और चित्त पर जो धर्म उत्पन्न होता है, वह चित्तानुपश्यना और धम्मानु-पश्यना मे आया।

हमारे सारे विकार जो जागते है, वे चित्त के आधार पर और शरीर के आधार पर जागते है। ये विकार वेदना के रूप मे जागते है और उसी रास्ते निकलते है। दूसरा कोई रास्ता नही है। इस माने मे 'एकायनो मग्गो' कहा है। विकार कहा जागते है, तो 'वेदनापच्चया तण्हा' याने वेदना होगी तो तृष्णा जागेगी। वेदना शरीर पर प्रकट होगी और तृष्णा चित्त मे जागेगी। शरीरपर होनेवाली वेदना को भी यथाभूत देखा और चित्त पर होनेवाली तृष्णा को भी देखा, तव छुटकारा होगा। आरम्भ जहा हुआ, वहा उसे साक्षीभाव से देखे विना छुटकारा नही होता। सन्धि

कहा होती है, वहा उसे साक्षीभाव से जाने बिना छुटकारा नही होता। अत इन चारो बातो का महत्त्व है। काया का भी और काया के ऊपर होनेवाली सवेदना का भी, तथा चित्त का भी और चित्त पर उत्पन्न होने वाले धर्म का भी महत्त्व है। जो काया पर उत्पन्न होता है-वह वेदना और जो चित्त पर उत्पन्न होता है वह धर्म। धर्म का अर्थ व्यापक है। काया और वेदना, चित्त और धर्म इन चारो की अनुपश्यना होती है, तभी विकारो से विमुक्त होकर मुक्ति तक, निर्वाण तक साधक पहुचता है।

विकारो से विमुक्त होने का एकमात्र रास्ता यही है कि विकारो को दूर करो, राग को दूर करो और द्वेष को दूर करो। यही मार्ग है और अन्य है ही नही। राग भी रहे तथा द्वेष भी रहे और हम मुक्त अवस्था तक पहुंच जाए, यह असम्भव है। इस लिए जिससे राग निकलता है, द्वेप निकलता है, वही एकमात्र मार्ग हो सकता है।

.इसको समझना चाहिए कि यह बौद्धो का नही, धर्म का मार्ग है। राग से मुक्त होगे, द्वेप से मुक्त होगे, सभी विकारो से मुक्त होगे, तो ही हम मुक्ति तक जा सकते है। ऐसा यह एकमेव मार्ग है।

साधक को मुख्य बात समझने की यह है कि यह बार बार काये कायानुपस्सी, वेदनासु वेदनानुपस्सी, चित्ते चित्तानुपस्सी और धम्मेसु धम्मानुपस्सी कहा गया है। हमारे सामने काया जो सत्य है, उसीमे काया को देखना है, कही बाहर कल्पना नही करनी है। वेदना जो हो रही है, उसीमे वेदना को देखना है, बाहर कल्पना नही करनी है। वैसे ही चित्त मे चित्त को एवं चित्त पर जगने वाले धर्म को वेदना के आधार पर ही देखना है। यथार्थ के ही सहारे रहने की यह 'विपश्यना' साधना है। कल्पना के सहारे कोई काम इस रास्ते पर नही होगा। कल्पना के सहारे यदि चले, तो सत्य के सहारे नही चल रहे है और मुक्ति तक नही पहुंचेगे।

साधक को यह ध्यान रहे कि चित्त और वेदना सहजात (एक साथ) धर्म है एव वेदना और सज्ञा ये चित्त – सस्कार मे आते है। जब नामस्कन्ध का ध्यान होता है, तो रूपस्कन्ध भी साथ रहता है, दोनो अलग नही हो सकते। चित्त और काया का ध्यान दोनो साथ ही होगे। सभी स्कन्ध सहजात, सहभू, सहमृत (सह-उत्पन्न, सहस्थिति, सहलय) होते रहते है। एक से दूसरे अलग नही होते। केवल एक का प्रभुत्व होता है इसलिए भ्रम होता है कि एक ही का जानना होता है, बाकी जान नही पडते। इस दृष्टिकोण से चित्त का प्रभुत्व होने के कारण चित्तानुपश्यना का महत्त्व हो जाता है।

जो साधक शील मे प्रतिष्ठित है, समाधि और प्रज्ञा की विपश्यना द्वारा भावना करता है, वह प्रज्ञावान् और वीर्यवान् तृष्णा-जटा का नाश करता है। तृष्णा का नाश किये बिना दुःख का अत्यत निरोध नही होता। विगत-तृष्णा ही निर्वाणपद

का लाभ कराती है। मिथ्यादृष्टि का निर्मूलन हुए विना मार्ग - फल की सम्भावना नही है। इसीलिए चित्तानुपश्यना का विशेप महत्व है।

साधक का अभ्यास जैसे दृढ होता जायगा, वैसे वह स्मृतिपूर्वक उदय-व्यय को ही जानेगा। साधक अन्तर्मन की गहराई मे यह जानता है कि जव कोई भी विज्ञान उत्पन्न होता है, फिर वह लोभ, द्वेप, मोह, हो या अलोभ, अद्वेप हो, उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है। कोई भी विज्ञान लगातार दो क्षणो तक रहता ही नही, एक ही क्षण मे उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है। किन्तु उसकी सन्तती चलती रहती है, इससे भ्रम होता है कि वही अभी तक चल रहा है। हर क्षण उदय-व्यय होते ही रहता हे। इसको स्मृतिपूर्वक जानना, अनित्य वोध को पुष्ट करना हे।

जव साधक को विज्ञान-भड्ग का वोध नही होता और वही विज्ञान जान पड रहा है, नित्य ही जान पड रहा है, तो वह 'अनिच्चानुपस्सना' नही कर रहा है। तव वह नित्य-सज्ञा के पार नही हो रहा है। साधक को चाहिए कि इन स्कन्धो के स्वाभाविक उदय-व्यय के प्रति गहराई से स्मृतिपूर्वक ध्यान लगाए, तो अनित्य-वोध स्पष्ट होने लगता है। जव अनित्य-वोध होने लगता है, तो दु ख की अनुभूति होने लगती है और फिर अनात्म का वोध होने लगता है।

अनित्यता का वोध 'अनिच्चा' 'अनिच्चा' को रटना नही है। स्कन्धो मे निरन्तर हरक्षण उदय-व्यय होते ही रहता है, उसको स्मृतिपूर्वक जानना ही अनित्य-वोध है। यह वोध विपश्यना मे अनुभूति द्वारा ही प्राप्त होता है। इस निरतन्र होने वाले स्कन्धो मे उदय-व्यय को 'चित्त-नियम' कहते है। इसको अन्तर्मन मे अनुभूति द्वारा जानना ही 'यथाभूत ज्ञान' है, जो केवल उत्पन्न होना, नष्ट होना, उदय होना, व्यय होना निरन्तर चल रहा है और यही अनित्यता का वास्तविक दर्शन है।

इस उदय-व्यय की गति इतनी तीव्र होती है कि साधक को इस गति को या इस मार्ग को या 'वीथि' को जानने की आवश्यकता नही है। केवल इस उदय-व्यय को स्मृतिपूर्वक, समता से जानने का ही काम है। साथ ही, स्मृतिपूर्वक अपने आश्वास-प्रश्वास के विज्ञान की भी जानकारी रखनी चाहिए।

चित्तानुपश्यना का अभ्यास साधना मे वैठ कर ही करना है ऐसा नही है। हर क्रिया के समय, चलते उठते .खाते पीते .आदि जव जव चित्त-विज्ञान का उत्पाद होता है, स्मृतिपूर्वक निरीक्षण करते रहना चाहिए। अपने आफिस के टेवल के पास वैठे रहने पर भी अनित्य-वोध वना रहना चाहिए। जिस समय चित्त मे तनाव उत्पन्न हो जाता है, वेचैनी हो जाती है, उस समय वेहोशी मे लोभ, द्वेप, मोह ये क्लेश हमारे चित्त मे प्रवेश कर अपना घर वना लेते है। इसीलिए सावधान रहना चाहिए और उदय-व्यय की अनुभूति अनित्य-वोध के साथ स्मृतिपूर्वक रखनी चाहिए।

साधक को ठीक से समझना चाहिए कि पहला चित्त जो नष्ट होता है वह 'अनिच्चा' है और तत्क्षण उत्पन्न चित्त 'मग्ग' चित्त है। इसप्रकार 'अनिच्चा के' वाद 'मग्ग', 'अनिच्चा मग्ग' 'अनिच्चा मग्ग' ऐसी श्रृङखला चलती रहती है। नष्ट होने वाले चित्त की अनुभूति की जानकारी 'विपश्यना सम्मा दिट्ठि' है याने 'विपश्यना मग्ग' है। 'अनिच्चा' एव 'मग्ग चित्त' साथ साथ साधक को अनुभूत होता रहे, तो इस वीच मे लोभ, द्वेप, मोह जैसे क्लेश प्रवेश नही कर सकते। और तव, पुराने सस्कार उभर कर नष्ट होने लगते है। इस समय दु ख, पीडा उत्पन्न होने पर भी चित्त समता मे रखना चाहिए और अनित्यवोध वनाए रखना चाहिए।

कभी कभी साधक के मन मे यह सम्भ्रम होता है कि यह लगातार उदय-व्यय को जानने से क्या लाभ है? इसका समाधान यह है कि जव लोभ-चित्त का उत्पाद होता है, तो साधक को लोभ-चित्त के वजाय केवल उदय-व्यय वेदना की ही अनुभूति होती है। लोभ-चित्त की तरन्गे रूप-तरन्गो मे बदल कर वेदना के आधार पर ही अनुभूत होती है और इस समय प्रज्ञा का प्रादुर्भाव होकर वेदना के वहा ही 'वेदना-पच्चया पञ्ञा' के कारण पटिच्चसमुप्पाद टूट कर धर्मचक्र चलता है। यदि इस समय भूल हो जाती है तो लोभ-चित्त उत्पन्न होते ही उपादान-चित्त उत्पन्न हो जाता है और फिर कम्मभव हो जाता है। कम्मभव से सस्कार सञ्चित होकर जाति याने जन्म-मरण का ससारचक्र चलता रहता है और दु.ख का कतई अन्त नही होता।

साधक विपश्यना साधना मे स्कन्धो के उदय-व्यय की अनुभूति से 'अनिच्चा' वोध प्राप्त करते रहता है, यह 'यथाभूत ज्ञान' है। अनिच्चा-वोध के कारण साधक स्कन्धो के प्रति दोष देखता है और उससे विराग उत्पन्न होता है। इसीको 'निब्विदा ज्ञान' कहते है। साधक अपने नित्य अभ्यास द्वारा अन्तिम सत्य तक पहुचता है, जो 'मग्ग-ज्ञान' है। अन्तिम सत्य अष्टकलाप की अनुभूति है। सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्म-तम तक पहुच कर अनुभूति होना स्कन्धो के अन्तिम सत्य की अनुभूति है। ये तीनो 'यथाभूत ज्ञान' 'निब्विदाज्ञान' और 'मग्गज्ञान' से साधक स्रोत मे पड जाता है और 'सोतापन्न' की अवस्था प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था को प्राप्त होने पर वह अपाय भूमि मे गिरने से वच जाता है। फिर सात ही जन्म रह जाते है और अन्त मे निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है।

अव आगे के अध्याय मे हमे मैत्री-भावना की साधना को समझेगे।

◈ ◈ ◈

अध्याय २७

मेत्ताभावना ब्रह्मविहार

चित्त की सर्वोत्कृष्ट और दिव्य अवस्थाएँ **मैत्री, करुणा, मुदिता** और **उपेक्षा** है। इनको ही 'चार ब्रह्मविहार' कहते है। समाधि के लिए जो चालीस कर्मस्थान वताये गये है, उनमे ये चार ब्रह्मविहार भी है। चित्त-विशुद्धि के ये उत्तम साधन है। इन चार ब्रह्मविहारो को चार अप्रामाण्य कहा गया है। (पालि मे 'अप्पमञ्ञ' कहा है।) 'अप्रमाण' भी कहा है। क्योकि इनकी इयत्ता नही है। अपरिमाण जीव इन भावनाओ के आलम्वन होते हैं। जीवो के प्रति किस प्रकार सम्यक् व्यवहार करना चाहिए, इसका भी यह निदर्शन है। जो साधक इन चार ब्रह्मविहारो की भावना करता है, उनकी सम्यक् प्रतिपत्ति (मार्ग) होती है। वह सव प्राणियो के हित-सुख की कामना करता हुआ, दूसरो के दु खो को दूर करने की चेष्टा करता है। जो समभाव-सम्पन्न होता है, वह किसी के साथ पक्षपात नही करता।

इन चार भावनाओ द्वारा राग, द्वेप, ईर्ष्या, असूया आदि चित्त के मलो का क्षालन होता है। समाधि के अन्य कर्मस्थान आत्महित के साधन हैं, किन्तु ये चार ब्रह्मविहार परहित के भी साधन है।

मैत्री (मेत्ता)— "मिज्जति सिनेहेतीति मेत्ता" अर्थात् स्नेह करने वाले धर्म को 'मैत्री' कहते हैं। परमार्थ-रूप से अद्वेप-चैतसिक ही 'मैत्री' है। जीवो के प्रति स्नेह और सुहृद्भाव प्रवर्तित करना 'मैत्री' है। मैत्री की प्रवृत्ति परहित-साधन के लिए है। जीवो का उपकार करना, उनके सुख की कामना करना, द्वेष और द्रोह का परित्याग करना ये इसके लक्षण है। मैत्री-भावना की सम्यक् निष्पत्ति से द्वेप का उपशम होता है। राग इसका आसन्न शत्रु है। राग के उत्पन्न होने से इस भावना का नाश होता है। मैत्री की प्रवृत्ति जीवो के शील आदि गुण-ग्रहणवश होती है। राग (अनुराग) भी गुण देख कर प्रलोभित होता है। इस प्रकार, राग और मैत्री की समानशीलता है। इसलिए, कभी-कभी राग मैत्रीवत् प्रतीयमान होकर प्रवचना उत्पन्न करता है। स्मृति का किंचित्मात्र भी लोप होने से राग मैत्री को अपनीत करते हुए आलम्वन मे प्रवेश करता है। इसीलिए, यदि विवेक और सावधानपूर्वक भावना न की जाय, तो चित्त के रागारूढ होने का भय रहता है। हमे सदा स्मरण रखना चाहिए कि मैत्री का सौहार्द तृष्णावश नही होता, किन्तु जीवो की हित-साधना के

लिए होता है। राग तो लोभ और मोह के वश होता है, किन्तु मैत्री का स्नेह मोह-वश नही होता, परंतु ज्ञानपूर्वक होता है। मैत्री का स्वभाव अद्वेप है और यह अलोभ-युक्त होता है।

तृष्णा के कारण अपने प्रियजनो के प्रति जो स्नेह होता है, उसे मैत्री यद्यपि कहा जा सकता है, किन्तु वह यथार्थ मैत्री (मेत्ता) न होकर **प्रतिरूपिका** मैत्री है। यथार्थ मैत्री वह है, जिसमे कुशल चित्त अथवा क्रिया-चित्त इनमे से कोई एक होता है जब कि तृष्णाजन्य स्नेह की अवस्था मे अकुशल लोभ-चित्त होता है। अपनी भार्या एवं पुत्र आदि के प्रति होने वाला प्रेम यथार्थ मैत्री नही है। उसका मूल तृष्णा है। इसे 'गेहाश्रित प्रेम' कहा गया है। यह लोभमूल अकुशल चित्त है। अत, यह आवश्यक है कि मैत्री-भावना करते समय द्वेप नामक दूर के शत्रु तथा लोभ नामक समीप के शत्रु से सावधानी के साथ वच कर भावना की जानी चाहिए।

करुणा—पराये दु.ख को देख कर सत्पुरुपो के हृदय का जो कम्पन होता है, उसे 'करुणा' कहते है। करुणा की प्रवृत्ति जीवो के दु ख को दूर करने के लिए होती है। दूसरे के दु ख को देख कर साधु-पुरुष का हृदय करुणा से द्रवित हो जाता है। वह दूसरे के दु ख को सहन नही कर सकता। जो करुणाशील पुरुप है, वह दूसरो की विहिंसा (निर्दयता) नही करता। करुणा-भावना की सम्यक् निष्पत्ति से विहिंसा का उपशम होता है, शोक की उत्पत्ति से इस भावना का नाश होता है। शोक, दोर्मनस्य इस भावना के निकट-शत्रु है।

अपने किसी सम्वन्धी-परिजन को दुखी देख कर जो एक करुणा-सदृश भाव (हृदय के द्रवीभाव) की उत्पत्ति होती है वह वास्तविक करुणा नही है, अपितु प्रति-रूपिका करुणा है। अर्थात्, यह 'शोक' नामक दौर्मनस्य की वेदना है। दुखी सत्त्वो को देख कर करुणा के उत्पाद-काल मे चित्त क्लेश-युक्त (दुखी) नही होता, अपितु प्रसाद-युक्त होता है, क्योकि करुणा एक कुशल धर्म है।

मुदिता— मुदिता का लक्षण 'हर्प' है। जो मुदिता की भावना करता है, वह दूसरो को सम्पन्न देख कर हर्प करता है, उनसे ईर्ष्या या द्वेष नही करता। दूसरो की सम्पत्ति, पुण्य और गुणोत्कर्ष को देख कर उसको असूया और अप्रीति नही उत्पन्न होती। मुदिता की भावना की निष्पत्ति से अरति का उपशम होता है। परतु, यह प्रीति ससारी पुरुपो की प्रीति नही है। पृथग्जनोचित (साधारण मनुष्य) प्रीतिवश जो हर्प होता है, उससे इस भावना का नाश होता है। मुदिता-भावना मे हर्ष का जो उत्पाद होता है, उसका शान्त प्रवाह होता है। वह उद्वेग और लोभ से रहित होती है। अपने परिजनो को सम्पन्न देख कर उत्पन्न होने वाला प्रमोद 'मुदिता' न होकर प्रतिरूपिका मुदिता है। यह प्रीति के वल से उत्पन्न लोभमूल-चित्त है।

अपने परिजनो की सम्पत्ति को देख कर उत्पन्न होने वाले प्रमोद का आलम्बन उनकी सम्पत्ति होती है। उनकी विपत्ति को देख कर उत्पन्न होने वाले दया-भाव का आलम्बन उनकी विपत्ति होती है। करुणा एव मुदिता का आलम्बन कभी भी किसी की सम्पत्ति या विपत्ति नही होती, अपितु पञ्चस्कन्धात्मक सत्त्व-प्रज्ञप्ति ही उनका सदा आलम्बन होती है। अत परिजनो की सम्पत्ति को देख कर उत्पन्न हर्ष या उनकी विपत्ति को देख कर दया-भाव कभी भी 'मुदिता' या 'करुणा' नही हो सकते।

उपेक्षा — जीवो के प्रति उदासीन-भाव 'उपेक्षा' है। जीवो के प्रति सम-भाव रखना, प्रिय-अप्रिय मे भेद नही करना, यह 'उपेक्षा' की भावना है। उसकी सब के प्रति उदासीन-वृत्ति होती है। उपेक्षा की भावना करने वाला साधक प्रतिकूल और अनुकल इन दोनो आकारो को ग्रहण नही करता। इसीलिए, उपेक्षा-भावना की निष्पत्ति होने से विहिंसा और अनुनय (प्रार्थना) दोनो का उपशम होता है। उपेक्षा-भावना द्वारा इस ज्ञान का उदय होता है कि 'सब्बे सत्ता कम्मस्सका' मनुष्य कर्म के अधीन है। वह कर्मानुसार ही सुख से सम्पन्न होता है या दु ख से मुक्त होता है, या प्राप्त सम्पत्ति से च्युत नही होता। सब अपने कर्म के अनुसार फल भोगते है। उपेक्षा करना मात्र 'उपेक्षा-ब्रह्मविहार' नही है। राग और द्वेष का ज्ञान (सवेदना) नही होने से सत्त्वो के प्रति उपेक्षा करने वाली एक अज्ञान-उपेक्षा भी होती है, यह मोह है। जिसका किसी आलम्बन के प्रति न राग होता है और न द्वेप, उसे 'उपेक्षा' कहते है। यह मैत्री की तरह न तो अन्य सत्त्वो के हित की कामना करता है, न करुणा के भाति अन्य सत्त्वो के दु खो का प्रहाण करने की अभिलाषा करता है और न मुदिता के समान अन्य सत्त्वो की सुख-सम्पत्ति देख कर सुख का अनुभव ही करता है।

उपेक्षा-ब्रह्मविहार का स्वभाव मुख्यत सत्त्वो के प्रति मैत्री, करुणा या मुदिता न करके, केवल उपेक्षा मात्र करना है। उपेक्षा-भावना करते समय 'सब्बे सत्ता दुक्खा मुञ्चन्तु' (सभी सत्व दु खो से मुक्त हो) के स्थान पर 'सब्बे सत्ता कम्मस्सका' (सभी सत्त्व अपने अपने कर्म के धनी है) इस प्रकार भावना की जाती है।

मैत्री-भावना करते समय 'अवेरा होन्तु, अब्यापज्जा होन्तु, अनीघा होन्तु, सुखी अत्तान परिहरन्तु' इसप्रकार भावना करनी चाहिए।

करुणा भावना करते समय 'सब्बे सत्ता दु खा मुञ्चन्तु' और मुदिता की भावना करते समय 'सब्बे सत्ता यथालद्धसम्पत्तितो मा विगच्छन्तु' इसप्रकार भावना करनी चाहिए।

ब्रह्मविहार — मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा इन धर्मो द्वारा सत्पुरुष विहरण करते है, उन्हे 'विहार' कहते है। यही 'ब्रह्मविहार' (उत्तम विहार) कहलाता है। अथवा, ब्रह्मा के विहार की तरह होने से इन्हे 'ब्रह्मविहार' कहते है।

ये चारो ब्रह्मविहार आलम्बन-कम्मट्ठान न होकर आलम्बनक-कम्मट्ठान होते है।

मैत्री-भावना का विशेप कार्य द्वेष (व्यापाद) का प्रतिघात करना है। करुणा-भावना का विशेष कार्य विहिसा (निर्दयता) का प्रतिघात करना है। मुदिता-भावना का विशेष कार्य अरति, अप्रीति का नाश करना है और उपेक्षा भावना का विशेष कार्य राग-द्वेप का प्रतिघात करना है।

प्रत्येक भावना के दो शत्रु है—(१) समीपवर्ती और (२) दूरवर्त्ती।

मैत्री-भावना का समीपवर्त्ती शत्रु राग है। राग की मैत्री से समानता है, व्यापाद (द्वेप) उसका दूरवर्त्ती शत्रु है। दोनो एक साथ नही रह सकते। दोनो एक दूसरे के प्रतिकूल है। व्यापाद का नाश करके ही मैत्री की प्रवृत्ति होती है।

करुणा-भावना का समीपवर्त्ती शत्रु शोक, दौर्मनस्य है। जिन जीवो की भोगादि विपत्ति को देख कर चित्त करुणा से आर्द्र हो जाता है, उन्हीके विषय मे तन्निमित्त शोक भी उत्पन्न हो सकता है। यह शोक 'दौर्मनस्य पृथग्जनोचित' है। अर्थात् एसे संसारी पुरुष इष्ट, प्रिय, मनोरम और कमनीय रूप की अप्राप्ति से और प्राप्त सम्पत्ति के नाश से उद्विग्न और शोकाकुल हो जाते है। जिस प्रकार दु ख के दर्शन से करुणा उत्पन्न होती है, उसी प्रकार शोक भी उत्पन्न हो सकता है। शोक करुणा-भावना का आसन्न-शत्रु है और विहिसा (निर्दयता) दूरवर्त्ती शत्रु है। इन दोनो से करुणा-भावना की रक्षा करनी चाहिए।

मुदिता-भावना का सौमनस्य समीपवर्त्ती शत्रु है। जिन जीवो की भोग-सम्पत्ति देख कर मुदिता की प्रवृत्ति होती है, उन्हीके विषय मे तन्निमित्त 'सौमनस्य पृथग्जनोचित' भी उत्पन्न हो सकता है। अर्थात् ऐसा पुरुष इष्ट, प्रिय, मनोरम और कमनीय रूपो के लाभ से ससारी पुरुषो की तरह प्रसन्न हो जाता है। जिस प्रकार सम्पत्ति-दर्शन से मुदिता की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार पृथग्जनोचित सौमनस्य भी उत्पन्न होता है। यह सौमनस्य मुदिता का आसन्न-शत्रु है। अरति, अप्रीति दूरवर्त्ती शत्रु है। इन दोनो से मुदिता-भावना को सुरक्षित रखना चाहिए।

उपेक्षा-भावना का अज्ञान-सम्मोह-प्रवर्तित उपेक्षा आसन्न-शत्रु है। मूढ और अज्ञ पुरुप, जिसने क्लेशो को नही जीता है, जिसने सव क्लेशो के मूलभूत सम्मोह के दोष को नही जाना है और जिसने शास्त्र का मनन नही किया है, वह रूपो को देख कर उपेक्षा-भाव प्रदर्शित कर सकता है, परतु वह इस सम्मोहपूर्वक उपेक्षा द्वारा क्लेशो का अतिक्रमण नही कर सकता। जिस प्रकार उपेक्षा-भावना गुण-दोष का विचार न कर केवल उदासीन वृत्ति का आलम्बन करती है, उसी प्रकार अज्ञानोपेक्षा जीवो के गुण-दोप का विचार न कर केवल उपेक्षावश प्रवृत्त होती है। यही

दोनो की समानता है। इसलिए, यह अज्ञानोपेक्षा उपेक्षा-भावना का आसन्न-शत्रु है। यह अज्ञान-उपेक्षा पृथग्जनोचित है। राग और द्वेष इस भावना के दूरवर्त्ती शत्रु है। इन दोनो से उपेक्षा-भावना-चित्त की रक्षा करनी चाहिए।

सब कुशल कर्म इच्छामूलक है। इसलिए चारो ब्रह्म-विहार के आदि मे इच्छा है, नीवरण आदि क्लेशो का परित्याग मध्य मे है और अर्पणा-समाधि पर्यवसान मे है। एक जीव या प्रज्ञप्ति रूप मे इन भावनाओ के आलम्वन है। आलम्वन की वृद्धि क्रमश होती है। पहले एक आवास के जीवो के प्रति भावना की जाती है। अनुक्रम से आलम्वन की वृद्धि कर एक ग्राम, एक जनपद, एक राज्य, एक दिशा, एक चक्रवाल के जीवो के प्रति भावना होती है।

सब क्लेश द्वेष, मोह, राग के पाक्षिक (प्रतिपक्ष) है। इनमे चित्त को विशुद्ध करने के लिए ही ये चार ब्रह्मविहार उत्तम उपाय हैं। जीवो के प्रति कुशल चित्त की चार वृत्तियाँ है — दूसरो का हित-साधन करना, उनके दु ख का अपनयन (निवारण) करना, उनकी सम्पन्न अवस्था देख कर प्रसन्न होना और सब प्राणियो के प्रति पक्षपात-रहित समदर्शी होना। इसलिए ब्रह्मविहारो की सख्या चार है। जो साधक इन चारो की भावना चाहता है, उसे पहले मैत्री-भावना द्वारा जीवो का हित करना चाहिए। तदनन्तर दु ख से अभिभूत जीवो की प्रार्थना सुन कर करुणा-भावना द्वारा उनके दु.ख का अपनयन (निवारण) करना चाहिए। तदनन्तर, दुखी लोगो की सम्पन्न अवस्था देख कर मुदिता-भावना द्वारा प्रमुदित होना चाहिए और तत्पश्चात् कर्तव्य के अभाव मे उपेक्षा-भावना द्वारा उदासीन (तटस्थ) वृत्ति का अवलम्व करना चाहिए। इसी क्रम से इन भावनाओ की प्रवृत्ति होती है, अन्यथा नही।

यद्यपि चारो ब्रह्मविहार अप्रमाण है, तथापि पहले तीन ब्रह्मविहार केवल प्रथम तीन ध्यानो का ही उत्पाद करते है और चौथा ब्रह्म-विहार अन्तिम ध्यान का ही उत्पाद करता है। इसका कारण यह है कि मैत्री, करुणा और मुदिता, ये तीनो दौर्मनस्य- सम्भूत, व्यापाद, विहिंसा और अरति के प्रतिपक्ष होने से सौमनस्य-रहित नही होते। सौमनस्य-सहित होने के कारण इनमे सौमनस्य-विरहित उपेक्षा-सहगत चतुर्थ ध्यान का उत्पाद नही हो सकता। उपेक्षा-वेदना से सयुक्त होने के कारण केवल उपेक्षा - ब्रह्मविहार मे अन्तिम ध्यान का लाभ होता है।

साधक को सर्वप्रथम मैत्री-भावना करनी चाहिए। प्रारम्भ से द्वेष मे अवगुण और शान्ति मे गुण का प्रत्यवेक्षण करना चाहिए। अप्रिय व्यक्ति, अतिप्रिय सहायक, मध्यस्थ और वैरी व्यक्ति इन चारो मे पहले मैत्री-भावना नही करनी चाहिए। असमान-लिङ्ग मे विभाग करके मैत्री-भावना नही करनी चाहिए। मरे हुए की भी भावना नही करनी चाहिए।

किस कारण से अप्रिय आदि मे पहले मैत्री-भावना नही करनी चाहिए ? अप्रिय को प्रिय के स्थान पर रखते हुए साधक क्लान्त होता है। अत्यत प्रिय सहायक को मध्यस्थ के स्थान पर रखते हुए वह क्लान्त होता है। उसके थोडे से भी दु ख के उत्पन्न होने पर रोना आने के समान वह हो जाता है। मध्यस्थ को गौरव और प्रिय के स्थान पर रखते हुए वह क्लान्त होता है । वैरी का अनुस्मरण करने वाले को क्रोध उत्पन्न होता है । इसलिए, अप्रिय आदि मे पहले मैत्री-भावना नही करनी चाहिए ।

असमान लिङग मे मैत्री-भावना करने वाले साधक को राग उत्पन्न होता है । अपनी प्रिय स्त्री मे मैत्री-भावना करने पर भी राग उत्पन्न होता है । मरे हुए मे भावना करते हुए न तो वह अर्पण को प्राप्त होता है और न उपचार को ही ।

सब से पहले–" अह सुखितो होमि, निद्दुक्खो " (मै सुखी हूँ, दु ख-रहित हू) या " अवेरो अब्यापज्झो अनीघो सुखी अत्तान परिहरामि " (मै वैररहित हूं, व्यापाद (द्वेष) रहित हूं, उपद्रव-रहित हू, सुखपूर्वक अपना परिहरण कर रहा हूं) ऐसे बार-बार अपने मे ही भावना करनी चाहिए ।

ऐसा होने पर, जैसे कि एक प्रिय व्यक्ति को देख कर मैत्री की भावना होती है, ऐसे ही सारे सत्त्वो को मैत्री से पूर्ण करने की भावना करनी चाहिए ।

" सब्बे सत्ता अवेरा अब्यापज्झा अनीघा सुखी अत्तानं परिहरन्तु । सब्बेपाणा सब्बेभूता सब्बे पुग्गला सब्बे अत्तभाव-परियापन्ना अवेरा अब्यापज्झा अनीघा सुखी अत्तानं परिहरन्तू'ति । (सारे सत्त्व वैर-रहित, व्यापाद-रहित उपद्रव-रहित, सुख-पूर्वक अपना परिहरण (निवारण) करे । सारे प्राणी, सारे भूत (उत्पन्न हुए जीव), सारे व्यक्ति,सारे आत्म-भाव (पञ्चस्कन्ध से बने शरीर) मे पडे हुए वैर-रहित, व्यापाद-रहित, उपद्रव-रहित, सुखपूर्वक अपना परिहरण करे)

मेत्तसुत्त में कहा है—

" सुखिनो वा खेमिनो होन्तु
सब्बे सत्ता भवन्तु सुखितत्ता । "

(सारे सत्त्व सुखी हो, कल्याण-प्राप्त हो, सुखी चित्त वाले हो ।)

साधक को पहले अपने को मैत्री से पूर्ण कर पश्चात् सुखपूर्वक प्रवर्तित होने के लिए उसके प्रिय, सत्कार करने योग्य आचार्य का अनुस्मरण करके 'यह सत्पुरुष सुखी हो, दु ख-रहित हो ' आदि से मैत्री-भावना करनी चाहिए।

उसके बाद अत्यन्त प्रिय सहायक के ऊपर, उसके बाद मध्यस्थ पर, उसके बाद वैरी व्यक्ति पर भी मैत्री-भावना करनी चाहिए ।

करुणा-भावना का प्रारम्भ भी मैत्री-भावना के परिक्रम वताये अनुसार ही करना चाहिए। आरम्भ करते हुए, पहले प्रिय व्यक्ति आदि पर नही आरम्भ करना चाहिए, क्योकि प्रिय व्यक्ति प्रिय ही होकर रहता है, अत्यन्त प्रिय सहायक अत्यन्त प्रिय सहायक ही होकर रहता है, मध्यस्थ मध्यस्थ ही होकर, अप्रिय अप्रिय ही होकर और वैरी वैरी ही होकर रहता है। लिङ्ग का असमान होना, मरा हुआ होना अक्षेत्र ही है।

सव दुखी सत्त्वो के प्रति पहले करुणा उत्पन्न होनी चाहिए। "जैसे एक निर्धन, वुरी दशा को प्राप्त व्यक्ति को देख कर करुणा करे, ऐसे ही सव सत्त्वो पर करुणा से स्फरण (परिपूर्ण) करके भिक्षु विहरता है।" इसके वाद प्रिय व्यक्ति पर, तत्पश्चात् मध्यस्थ पर, उसके पीछे वैरी पर, इस प्रकार क्रमश करुणा करनी चाहिए।

मुदिता की भावना का क्रम भी इसी प्रकार करना चाहिए। उपेक्षा-भावना भी इसी प्रकार करना चाहिए। इसतरह ब्रह्म-विहार की भावना करनी चाहिए।

मैत्री-भावना की साधना

यह मैत्री-भावना की साधना मङ्गल मैत्री की साधना है। यह जो विपश्यना साधना है, उसका यह अन्तिम चरण है। इसको पुण्य-वितरण की साधना भी कहते है। जव कोई विपश्यी साधक धर्म के मार्ग पर आगे वढता है, तो अपने-आप को देखने का काम ही करता है। तव दो चार वाते वहुत स्पष्ट हो जाती है, अपनी अनुभूतियो से स्पष्ट हो जाती है। एक तो यह कि मै जव जव मन मे विकार जगाता हू, तव तव वडा व्याकुल हो जाता हू और जव जव व्याकुल हो जाता हू, तव तव अपनी व्याकुलता मैं अपने तक ही सीमित नही रखता, परन्तु वह लोगो को भी वाटता हू और आसपास के सारे वातावरण को व्याकुल कर देता हू। जो लोग मेरे सम्पर्क मे आते है, उन्हे व्याकुल ही कर देता हू। मैं भी दुखी हू और ओरो को भी दुखी वनाता हू। ऐसे सारे जीवन भर मै यही करता रहा। स्वय भी दुखी रहा, ओरो को भी दुखी वनाता रहा। और तव एक वात समझ मे आती है कि इसका प्रमुख कारण मुझे अपने अह के प्रति, अपने-आप के प्रति वहुत गहरी आसक्ति है। तव मै चाहता हू कि सारी वाते मेरी मनचाही होएं और कोई अनचाही वाते न हो। अपने अहं के प्रति कितनी वडी आसक्ति है, यह सच्चाई सामने आती है। साधना करने पर यह अहभाव पिघलता है, वह थोडा थोडा भी पिघलता है, मैल थोडा थोडा भी उतरता है, निर्मलता थोडी थोडी भी आती है और तव देखता हू कि चारो ओर लोग कितने दुखियारे है! जो अभाव मे है, वे अभाव के मारे दुखियारे है। परतु जिन्हे अभाव नही है, वे भी कितने दुखियारे है! क्योकि भीतर ही भीतर, जव देखो तव हम विकार ही पैदा करते रहते है और दुखी ही होते रहते है। चित्त मे थोडी भी निर्मलता आती है, तो

ओरों के प्रति प्यार उमडता है, अपना अहंभाव जो टूटता है। तो, व्यक्ति सोचता है कि अब तक मैंने दु ख ही बांटा और स्वयं भी दुखी रहा। जो कुछ मुझे प्रिय लगता था, उसको अपने लिये समेट कर रखता था। जो अप्रिय लगता था, वह लोगों को बांटता था। 'विपश्यना' से अब यह अहभाव पिघलता है। भीतर से थोडी-सी भी सुखशान्ति महसूस होती है, तो जी चाहता है कि अपना यह सुख ओरो को भी बांटू, अपनी यह शान्ति ओरो को भी दू। मेरे सुख-शान्ति में सभी भागीदार हों। मुझे यह जो कल्याणकारी विपश्यना-विद्या का धर्म मिला है, यह कल्याणकारी मार्ग मिला है, ऐसा धर्म, ऐसा मार्ग, ऐसी विद्या, ऐसी साधना सब को मिले। वे दु खों से छुटकारा पाएं। सब इसी प्रकार सुख-शान्ति भोगें। इसमें मैं कैसे सहयोगी बन सकू, ऐसा ओरो के प्रति मङ्गल-भाव जागता है, मैत्री जागती है, करुणा जागती है।

प्राणी-जगत् का सर्वोच्च प्राणी ब्रह्मा सदैव अनन्त मैत्री में विहार करता है, अनन्त करुणा मे विहार करता है, अनन्त मुदिता में विहार करता है, अनन्त उपेक्षा (समता-भाव) में विहार करता है। यह उसका स्वभाव है। इसलिये इन चारो को ब्रह्मविहार कहते है। सभी मनुष्यों के भीतर भी ये चारों सद्गुण समाये हुए है, लेकिन वे विकसित नही हुए है, बीजरूप से समाये हुए है। वे विकसित इस कारण नही होते, क्योकि ऊपर मैल की परतें चढी हुई है। विपश्यना-साधना करने से यह मैल की परते उतरती है, परत पर परत उतरती जाती हैं। इसीलिये हमारे लिये विपश्यना साधना सदा प्रमुख रहेगी, इसीसे मैल उतरेगा। मैल उतरते उतरते एक समय ऐसा आएगा कि गहराई मे मोटी मोटी चट्टानों की तरह चढा हुआ मैल इस साधना द्वारा टूटता जाएगा, तब भीतर से प्यार का एक झरना फूटेगा और सदा प्रतिक्षण मैत्री ही मैत्री जागेगी, करुणा ही करुणा जागेगी। ऐसी अवस्था प्राप्त होने के पहले एक ओर तो हमे विपश्यना-साधना करते रहना चाहिये, जिससे मैल उतरता जाता है, और दूसरी ओर हर विपश्यना की बैठक के बाद पांच या दस मिनट हमें मङ्गल मैत्री का अभ्यास करना चाहिए, मैत्री-भावना का अभ्यास करना चाहिये।

कैसे अभ्यास करेंगे? अभ्यास करने के पहले अपने-आपको जांच के देख लेना होगा, शरीर के स्तर पर भी जांच के देखना होगा, मन के स्तर पर भी जांच के देखना होगा कि मैं मङ्गल-मैत्री की साधना करने योग्य हू या नहीं। जब साधक कोई लम्बे शिविर मे अभ्यास करता है, तो ऑपरेशन शुरू हो जाता है। गहरा ऑपरेशन कभी कभी होता है, तो अन्तर्मन की गहराईयों में जो विकार दबे हुए है, वे फोडे के पीप की तरह बाहर निकलते हैं और चेतन-चित्त पर आते है। तब विकार शरीर पर दु.खद संवेदनाओं के रूप में ही प्रकट होते हैं। लेकिन घर में भी प्रति दिन सुबह-शाम घंटे-घंटे हम साधना करेंगे तो इतना गहरा ऑपरेशन होने की

सम्भावना नही है। हर घटे भर की बैठक के वाद देखेंगे कि शरीर में कही कोई अप्रिय संवेदना नही है, शरीर हलका नजर आता है, तो साधक मङ्गल मैत्री करने लायक है। अगर शरीर मे कही भी कोई पीडा है, कोई अप्रिय सवेदना है, कोई स्थूल सवेदना है, तो मैत्री-भावना की साधना के लिये कुछ देर रुकेंगे। शरीर का शिथिलीकरण करेंगे और उसके वाद मङ्गल-मैत्री का अभ्यास करेंगे। साधक को शरीर मे पीडाएँ महसूस होती हो, तो जव कि हमे ही सुखशान्ति महसूस नही हो रही है तव ओरो को सुखशान्ति क्या वांटेंगे, तव थोडी देर रुकेंगे और उसके वाद मङ्गल-मैत्री का अभ्यास करेंगे।

इसी प्रकार अपने मन को भी हम जांचेंगे। किसी घटे भर की वैठक के वाद यदि ऐसा हुआ कि किसी भी कारण से उस समय किसी भी व्यक्ति के प्रति मन मे थोडा भी वैरभाव जागा है, द्रोह-द्वेष जागा है, दौर्मनस्यता जागी है, तो मन मङ्गल-मैत्री की साधना करने लायक नही है। जव द्वेष-द्रोह जागता है, तो सुख-शान्ति नही महसूस होती, तव ओरो को सुख-शाति क्या वाटेंगे ? तो कुछ देर रुकेंगे और इस विकार को दूर करेंगे, वह दूर हो जाय तो ही मङ्गल-मैत्री का अभ्यास करेंगे। जाच के देख लिया कि शरीर के स्तर पर भी और मानस के स्तर पर भी मङ्गल-मैत्री करने लायक हम है, तो कैसे मङ्गल-मैत्री का अभ्यास करेंगे, इसको समझे।

'विपश्यना' साधना मे सारे शरीर मे सूक्ष्म सूक्ष्म सवेदनाओ का अनुभव होने लगता है, धाराप्रवाह महसूस होने लगता है, पुलक-रोमाञ्च महसूस होने लगता है। जव विपश्यना करते है, तो कितना ही पुलक-रोमाञ्च हो, सुखद तरन्गें हो; वे सभी अनित्य है, अनित्य है, इसी समझदारी के साथ साक्षी-भाव से निरीक्षण करेंगे, क्योकि इसीसे मैल उतरता है। लेकिन मङ्गल-मैत्री की साधना विल्कुल भिन्न है। जव मङ्गल-मैत्री की साधना करेंगे, तो इन्ही तरन्गो को प्यार के भावो से भरेंगे, मङ्गल के भावो से भरेंगे, 'सव का मङ्गल हो, सव का भला हो, सव का कल्याण हो, सारे प्राणी सुखी हो' इसप्रकार सही माने मे सुखी हो, इस माने मे कि विकारो से मुक्त हो, तो 'सारे प्राणी अपने विकारो से मुक्त हो, सही माने मे सुखी हो, सारे प्राणी, दृश्य हो, अदृश्य हो, वडे हो, छोटे हो; समीप के हो, दूर के हो, मनुष्य हो, मनुष्येतर हो, सारे प्राणी सुखी हो, सव का मङ्गल हो, सव का भला हो, सव का कल्याण हो' इन भावो से, इन तरन्गो से अपने मानस को भर लेंगे।

विपश्यी साधक हर रोज अपने घर मे सुवह-शाम एक-एक घटे साधना के स्थान पर विपश्यना करके मङ्गल-मैत्री की साधना पाच-दस मिनट करे, तो वह देखेगा कि सारा शरीर तरन्गो से, पुलक-रोमाञ्च से भरने लगा। और वह देखेगा ऐसी स्थिति भी जल्दी आएगी कि मङ्ल-मैत्री की ये तरन्गे शरीर की सीमा तक ही

सीमित नही रहती। जब विपश्यना साधना करते है, तो मन को शरीर की सीमा मे ही सीमित रखना है, बाहर मन नही ले जाना है। परंतु मङ्गल-मैत्री की साधना भिन्न है। मङ्गल-मैत्री की साधना मे तरङ्गें बाहर जाती हैं, तो जाने देंगे और देखेंगे कि शरीर के पोर-पोर मे तरङ्गें फूट रही है और आसपास के सारे वातावरण में व्याप्त हो रही हैं। तब धर्म की तरङ्गो से कमरा भी तरङ्गित होने लग जाता है। विपश्यी साधक का तो कहना ही क्या, विपश्यना न करने वाला, थका-मांदा, व्याकुल मनुष्य भी उस स्थान पर आकर बैठता है, तो बडी शान्ति महसूस करने लगता है।

एक ही घर में अनेक विपश्यी साधक हों, और ऐसा परिवार बडा पुण्यशाली होता है, तो वे सभी सुबह-शाम साथ मे बैठ कर घंटे-घंटे की साधना करें और उसके बाद मङ्गल मैत्री करें, तो बडा कल्याण होता है। साथ साथ रहने वाले लोग किसी न किसी बात को लेकर परस्पर मनमुटाव हो ही जाता है, तनाव हो ही जाता है, मन मे मैल आ ही जाता है। लेकिन विपश्यना साधना के बाद मङ्गल मैत्री के अभ्यास से ये जब उठते है, तो मुस्कराते हुए उठते हैं। सारा मनोमालिन्य धुल जाता है। सारा वैरभाव दूर हो जाता है। प्यार ही प्यार उमडता है। ऐसे घरो मे परस्पर मे बहुत मेलमिलाफ रहता है, सुख-शान्ति विराजती है, सही माने मे वहा देवता रमण करते है।

धर्म, जीवन जीने की कला है। कैसे सुखशान्ति से जिएं, औरो के लिए भी सुख-शान्ति का सृजन करें और औरो की सुखशान्ति बढाने का काम करे, यही सही धर्म है।

चतुर्थ विभाग

विशुद्धि दर्शन

अध्याय २८

विशुद्धि निर्देश

विपश्यना साधना ही विशुद्धि का सही मार्ग है, जो निर्वाण के साक्षात्कार तक पहुचाता है।

विपश्यना-कम्मट्ठान (कर्मस्थान) मे महत्वपूर्ण विषय इसप्रकार है—

सात विशुद्धियाँ, तीन लक्षण, तीन अनुपश्यनाएं, दस ज्ञान, तीन विमोक्ष एव तीन विमोक्षमुख।

प्रथम हम तीन लक्षणो को जानेगे।

तीन लक्षण

लक्षण —जिसके द्वारा लक्षितव्य धर्मो को लक्षित किया जाता है, उसे 'लक्षण' कहते है। अर्थात्, 'धर्म सस्कृत है अथवा नही है' इसकी परीक्षा करने की कसौटी को 'लक्षण' कहते है। लक्षण तीन प्रकार के होते है –'अनित्यता, दु.खता एवं अनात्मता।' किसी एक धर्म को लेकर उसको 'यह धर्म नित्य है या अनित्य' इस प्रकार परीक्षा करने पर यदि यह ज्ञात हो कि यह निश्चित रूप से नाशस्वभाव है, तो 'यह सस्कृत-धर्म है' ऐसा निश्चय करना चाहिये। इसी तरह, परीक्षा करने पर धर्म यदि दु.ख-स्वभाव या अनात्म-स्वभाव ज्ञात हो, तो 'ये धर्म एकान्तत सस्कृत है' ऐसा निश्चय करना चाहिए। यदि धर्म नित्य एव दु.ख-अभावस्वरूप होने से सस्कृत निश्चित नही होता है, तो 'वह अवश्य असंस्कृत निर्वाण है' ऐसा जानना चाहिए।

अनित्य-लक्षण —अनित्य नाम-रूपात्मक सस्कृत धर्म 'अनित्य' कहे जाते हैं। उन अनित्य सस्कृत धर्मो के जानने के चिन्ह को 'अनित्य-लक्षण' कहते हैं।

पञ्चस्कन्ध अनित्य है। क्यो? उत्पत्ति, लय और अन्यथा होने से, अथवा होकर अभाव को प्राप्त हो जाने से। यहा पञ्चस्कन्ध 'अनित्य' है और 'उत्पत्ति, लय, अन्यथा' होना 'अनित्य-लक्षण' है।

ऐसे ही दु ख, दु ख-लक्षण और अनात्म, अनात्म-लक्षण को जानना चाहिए।

दु ख-लक्षण – 'जो अनित्य है, वह दु ख है' इस वचन से पाँचो स्कन्ध दु ख है। क्यो? सर्वदा पीडित करने से। सर्वदा पीडित करने का आकार

'दु ख-लक्षण' है।

अनात्म-लक्षण– 'जो दु ख है, वह अनात्म है' इस वचन से पाँचो स्कन्ध अनात्म है। क्यो ? अ-वशवर्ती होने से। दु ख का होना या वद करना हमारे वश मे नही है। इसलिए पाँचो स्कन्ध अनात्म है। वशवर्ती न होने का आकार 'अनात्म-लक्षण' है। नाम-रूपात्मक स्कन्धो से व्यतिरिक्त निर्वाण एव प्रज्ञप्ति धर्मो मे भी आत्मा नही है। अत. सस्कृत एव असस्कृत सभी धर्म सर्वथा 'अनात्म' है।

यहा यह ध्यान देने योग्य है कि अनित्य एव दुःख द्वारा सस्कृत धर्मो का, तथा अनात्म शब्द द्वारा सस्कृत एव असंस्कृत सभी प्रकार के धर्मो का ग्रहण होता है। इसीलिए "सब्बे सङखारा अनिच्चा, सब्बे सङखारा दुक्खा," कह कर पुन. "सब्बे धम्मा अनत्ता" ऐसा कहा गया है।

लोग विश्वास करते है कि नाम-रूप धर्मो मे आत्मा नामक एक नित्य एवं सारभूत धर्म होता हे, जिसकी इच्छा से नाम-रूपात्मक धर्म परिचालित होते हैं। किन्तु अनुभूति द्वारा परीक्षा करने पर इनमे 'नित्य एव सारभूत कुछ भी तत्त्व नही है' ऐसा स्पष्ट जान पडता है। वे नाम-रूप धर्म किसी भी वस्तु को अपने वश मे नही कर सकते तथा स्वय भी किसी के वशवर्ती नही होते। अपितु, कार्य-कारणवश उत्पाद के समानन्तर निरुद्ध होते है। इसीलिए 'सारभूत न होना' एवं 'वशीभूत न होना' ये पञ्चस्कन्धो मे आत्मा न होने का लक्षण है।

सक्षेप मे, नाम-रूप धर्मो की विपरिणामता (वदलने वाली स्थिति) 'अनित्य-लक्षण' है। उदय-व्यय एवं परिपीडन स्वभाव 'दु.ख-लक्षण' है; तथा, असारता एव अवशवर्तिता 'अनात्म-लक्षण' है। "अनिच्चलक्खण, दुक्खलक्खण, अनत्त-लक्खण चेति तीणि लक्खणानि।"

तीन अनुपश्यनाएँ

'अनित्य, दु ख, अनात्म' ये त्रैभूमिक (काम, रूप, अरूप) संस्कृत धर्मो के अनित्य-लक्षण, दु ख-लक्षण, एव अनात्म-लक्षण अवभासित (अनुभूत) होने के लिए पुन पुन विपश्यना करने वाला ज्ञान ही 'अनुपश्यना' कहलाता है।

अनित्यानुपश्यना, दु खानुपश्यना एव अनात्मानुपश्यना इस प्रकार तीन अनुपश्यनाए जाननी चाहिए। "अनिच्चानुपस्सना, दुक्खानुपस्सना, अनत्तानुपस्सना चेति तिस्सो अनुपस्सना।"

सात विशुद्धियाँ

विपश्यना कमट्ठान मे (१) शील-विशुद्धि (२) चित्त-विशुद्धि, (३) दृष्टि-विशुद्धि, (४) काङक्षावितरण-विशुद्धि (५) मार्गामार्ग-ज्ञानदर्शन-विशुद्धि

(६) प्रतिपदा-ज्ञानदर्शन-विशुद्धि एव (७) ज्ञानदर्शन-विशुद्धि – इस तरह सात प्रकार मे विशुद्धि-सङ्ग्रह जानना चाहिए। "विपस्सनाकम्मट्ठाने पन मीलविसुद्धि, चित्त-विसुद्धि, दिट्ठीविसुद्धि, काङ्खावितरणविसुद्धि, मग्गामग्गञाणविसुद्धि, पटिपदाञाण-दस्सनविसुद्धि, ञाणदस्सनविसुद्धि चेति सत्तविधेन विसुद्धिसङ्गहो।" (यह पालि मे समझने के लिये दिया है)

शील-विशुद्धि–इसका वर्णन पिछले शीलनिर्देश अध्याय मे दिया है। काय-दुश्च-रित, वाग्दुश्चरित एव मनोदुश्चरित के अनुत्पाद के लिए अपने काय, वाक् एव मनस का सवरण (सयमन) करना ही 'शील' है। शीलसम्पन्न 'शील-विशुद्धि' है।

दृष्टि-विशुद्धि – इसका वर्णन पिछले प्रज्ञा-निर्देश एव दिटिर अध्यायो मे दिया गया है। विपश्यना करने से 'पञ्च-स्कन्धो (रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार व विज्ञान) से अतिरिक्त 'आत्मा' नामक कोई पृथक् धर्म नही होता' इत्यादि प्रकार का ज्ञान हो सकता है। इसको 'दृष्टि-विशुद्धि' कहा गया है।

दर्शनस्वभाव धर्म ही 'दृष्टि' है (ज्ञान है) आत्ममल (अह Ego) से विशुद्ध ज्ञान ही 'विशुद्धि' है। नाम-रूप धर्मो को अनित्य आदि लक्षणो से जानने वाला ज्ञान ही आत्ममल से विशुद्ध होने के कारण 'दृष्टि-विशुद्धि' कहा जाता है।

चित्त-विशुद्धि – इसका वर्णन पिछले 'समाधि निर्देश' अध्याय मे दिया गया है। कामच्छन्द, नीवरण आदि मलो से चित्त की विशुद्धि को 'चित्त-विशुद्धि' कहते है। शमथकम्मटठान को आरब्ध करके जब साधक उपचार-भावना तक पहुँचता है, तब चित्त नीवरण-धर्मो से विशुद्ध हो जाता है, अत उपचार-भावना को 'चित्त-विशुद्धि' कहते है। अर्पणा-भावना द्वारा चित्त-विशुद्धि के विषय मे तो कुछ कहना ही नही है। इसलिए विपश्यना-भावना को आरब्ध करने का अभिलाषी साधक शमथ-कम्मट्ठान की सर्वप्रथम उपचार-समाधिपर्यन्त या अर्पणा-समाधिपर्यन्त भावना करके अपने चित्त को नीवरण आदि मलो से विशुद्ध करे।

काङ्क्षावितरण–विशुद्धि– 'मैं अतीत भव मे था या नही ?' या भगवान बुद्ध 'सर्वज्ञ' हुये कि नही ?' इत्यादि प्रकार से शका करना 'कङ्खा' (शका) कही जाती है। जिस ज्ञान द्वारा इस प्रकार की शकाओ का अतिक्रमण किया जाता है, वह 'काङ्क्षावितरण' है। यह ज्ञान अहेतुक-दृष्टि, विषम हेतुक-दृष्टि आदि मलो से सुविशुद्ध होने के कारण 'विशुद्धि' कहा जाता है।

'नाम-रूप धर्म कारण के विना स्वय (अपने-आप) उत्पन्न होते है' इस प्रकार मिथ्या-दृष्टि 'अहेतुक-दृष्टि' कहलाती है।

'ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर आदि ही सृष्टि का निर्माण करते है, अतः समस्त नाम-रूप धर्म इन्हीके द्वारा उत्पन्न होते हैं' इस प्रकार की मिथ्या-दृष्टि 'विपमहेतुक-दृष्टि' कहलाती है।

इन मिथ्या-दृष्टियो का ग्रहण करके कारण-कार्य से सम्बद्ध समहेतुओं का अन्वेपण करना चाहिए। ऐसा अन्वेपण करने वाला भिक्षु, जैसे दक्ष वैद्य रोग को देख कर उसके कारण को ढूढता है अथवा दयालु पुरुप गली मे सोये हुअे वच्चे को देख कर 'यह किसका पुत्र है ?' उसके माँ-बाप का आवर्जन करता है, वैसे ही नाम-रूप के हेतुप्रत्ययो को साधक ढूढता है। इस विषय मे विस्तार से 'प्रतीत्यसमुत्पाद' एव 'पट्ठा-ननय' अध्यायो मे वर्णन किया गया है।

नाम-रूप धर्मो की उत्पत्ति मे नाम एव रूप-स्कधात्मक ससार का कारक (निर्माता) कोई देव, ब्रह्मा आदि नही है, अपितु हेतु-सामग्री के कारण केवल शुद्ध धर्म-मात्र प्रवृत्त होते रहते है। इस प्रकार से प्रत्युत्पन्न (वर्तमान) भव मे उत्पन्न नाम एव रूप धर्मो की उत्पत्ति के कारणो का सम्यक् ज्ञान होने पर 'पूर्व-भव मे भी कारणवश नाम-रूप-स्कध उत्पन्न हुए थे तथा जव तक अर्हत्व की प्राप्ति नहीं होती, तव तक कारण से नाम-रूपो की उत्पत्ति होती रहेगी' इस प्रकार का ज्ञान होता है और इस ज्ञान से सोलह प्रकार की कङखाओ (शकाओ) का विनाश हो जाता है। ये षोडश (१६) शकाए इस प्रकार है :-

पूर्वान्त के प्रति ५ शकाएं—'क्या मै अतीत-भव मे था ?' 'क्या मैं अतीत भव मे नही था ?' 'अतीत-भव मे मै कौन था ? (किस जाति में था ?)' 'मै अतीत के पूर्वभव मे किस जाति मे उत्पन्न हुआ था ?'

अनागत-भव के प्रति भी इसीप्रकार ५ शंकाएँ होती है।

प्रत्युत्पन्न-भव के प्रति ६ शंकाएँ होती है—

'मैं हू या नही हूं ?' 'क्या मै नही हूं ?' 'मैं कौन हूँ ?'

'मैं किस प्रकार के संस्थान (आकार) वाला हूं ?'

'यह सत्त्व कहाँ से आया है और कहा जाएगा ?'

जव कारणो के अनुसार कार्य की उत्पत्ति का सम्यक् ज्ञान हो जाता है, तो उपर्युक्त शकाओ का उत्पाद नही होता। इसप्रकार, इन सभी शंकाओ का अतिक्रमण करके जव अहेतुक-दृष्टि एव विपयहेतुक-दृष्टि नामक मलो से विशुद्धि हो जाती है, तव 'काङक्षावितरण-विशुद्धि' की उत्पत्ति होती है।

चूळ-सोतापन्न पुद्गल — स्रोतापन्न पुद्गल अपनी सन्तान मे विद्यमान दृष्टि एवं विचिकित्सा का अशेप प्रहाण कर सकता है। इस काङक्षा वितरण-विशुद्धि को

प्राप्त साधक उस दृष्टि एव विचिकित्सा का समूल समुच्छद न कर सकने पर भी वहुत समय तक उन्हे अपनी सन्तान से हटा सकता है। अतएव स्रोतापन्न के सदृश होने के कारण 'चूळ-स्रोतापन्न पुद्गल' कहा जाता है। मार्ग एव फल को प्राप्त न होने पर भी वह अनागतभव मे एकान्तरूप से सुगति को प्राप्त करेगा इसमे सन्देह नही है। इसलिए मनुष्य-योनि मे उत्पन्न सत्त्वो को कम से कम 'चूळ-स्रोतापन्न' होने के लिए भरसक प्रयत्न करना चाहिए।

"विसुद्धिसीलचित्तेहि काङ्खावितरणञाणिको।

चूलसोतापन्नो नाम पदत्थ वायमे ततो॥"

मार्गामार्ग ज्ञान-दर्शन विशुद्धि

'यह मार्ग है' 'यह अमार्ग है' इस प्रकार मार्ग और अमार्ग को जान कर प्राप्त हुआ ज्ञान 'मार्गामार्ग-ज्ञानदर्शन विशुद्धि' है। अर्थात्, विशुद्धि मे सलग्न होने पर साधक की सन्तान मे पूर्व-अनुत्पन्न अवभास (शारीरिक कान्ति), प्रीति आदि दस धर्म उत्पन्न हो जाते है। इस समय अपने शरीर मे कान्ति एवं प्रीति आदि देख कर उनके प्रति अनुराग (निकन्ति) हो जाने से, यदि साधक 'मुझे मार्ग एव फल की प्राप्ति हो गई' ऐसा मानने लगता है, तो उसका विपश्यना-क्रम विगड जाता है। ऐसे समय मे शरीर-कान्ति आदि के प्रति उत्पन्न निकन्ति नामक तृष्णा का प्रहाण कर के पुन विपश्यना भावना करने से पुनः मार्ग प्राप्त हो जाता है और इसे ही 'मार्ग' कहते है। शरीर-कान्ति, कल्पना आदि के प्रति अनुरक्त होना, सच्चाई की अनुभूति के सहारे न चलना और मार्गफल के प्राप्ति का प्रयास करना 'अमार्ग' है।

सम्मर्शन-ज्ञान

'सम्मस्सन' का अर्थ है विचार, मनन। जिस ज्ञान द्वारा सम्मर्शन किया जाता है, उसे 'सम्मर्शन (सम्मस्सन) ज्ञान' कहते है।

पूर्वकथित चार विशुद्धियो के क्षण मे अनित्य, दु.ख, अनात्म रूप से 'विपश्यना' नही की जाती। शील-विशुद्धि के क्षण मे केवल शील की विशुद्धि के लिए प्रयास होता है। चित्त-विशुद्धि मे चित्त के विशोधन के लिए या समाधि की प्राप्ति के लिए प्रयत्न होता है। दृष्टि-विशुद्धि मे नाम-रूप धर्मो का परिच्छेद कर के उनका सम्यक् ज्ञान किया जाता है, तथा काक्षा-वितरण-विशुद्धि के समय नाम-रूप धर्मो के मुख्य कारणो का अन्वेपण किया जाता है।

इस मार्गामार्ग-ज्ञानदर्शन-विशुद्धि की उत्पत्ति के लिए नाम-रूप धर्मो का कारणो के साथ परिच्छेद करके ज्ञात त्रैभूमिक नाम-रूपो को अनित्य आदि तीन लक्षणो मे आरोपित कर के उनका सम्मर्शन-ज्ञान द्वारा विचार किया जाता है।

सम्मर्शन के चार नय (प्रकार) है। (१) कलाप-सम्मर्शन (कलापवसेन) (२) अध्व-सम्मर्शन (अद्धानवसेन), (३) सन्तति-सम्मर्शन (सन्ततिवसेन) (४) क्षण-सम्मर्शन (खणवसेन)।

कलाप-सम्मर्शन —— अतीत भव मे उत्पन्न रूप या प्रत्युत्पन्न भव मे उत्पन्न रूप इत्यादि प्रकारो से धर्मो का विभाग न कर समग्र रूपस्कन्ध, समग्र वेदनास्कन्ध इत्यादि प्रकार से सम्पूर्ण एक एक स्कन्ध का सम्पिण्डन कर के सम्मर्शन करना 'कलाप-सम्मर्शन ज्ञान' है।

अध्व-सम्मर्शन —— अतीतभव मे उत्पन्न रूप-स्कन्ध, प्रत्युत्पन्न भव मे उत्पन्न रूप-स्कन्ध इत्यादि प्रकारो से भव-भेद कर के सम्मर्शन करना 'अध्व-सम्मर्शन' है।

सन्तति-सम्मर्शन —— एक भव मे उत्पन्न रूप-स्कन्ध का 'यह शीतरूप-सन्तति है', 'यह उष्णरूप-सन्तति है' इत्यादि प्रकार से विभाजन कर के सम्मर्शन करना 'सन्तति-सम्मर्शन' है।

क्षण-सम्मर्शन —— एक रूप-सन्तति मे ही उत्पाद-स्थिति-भङ्ग नामक क्षणो से भेद कर के सम्मर्शन करना 'क्षण-सम्मर्शन' है।

कलाप-सम्मर्शन नय —— सभी रूप क्षयस्वभाव होने से, अनित्य, भयजनक होने से, दु ख एवं सारहीन होने से अनात्म-लक्षण है। सभी वेदनाए, सभी सज्ञाएं, सभी सस्कार, सभी विज्ञान क्षय अर्थ से अनित्य, भय अर्थ से दु ख एव असार अर्थ से अनात्म लक्षण है; इस प्रकार सम्मर्शन करना चाहिए।

अनिच्चं खयट्ठेन —— रूप आदि स्कन्धो का उत्पाद एवं विनाश देखा जाने से उनकी अनित्यता सुस्पष्ट होती है। सभी धर्म अपने कारणो से उत्पन्न होने के समनन्तर ही निरुद्ध हो जाते है, इसलिए रूप आदि पञ्चस्कन्ध अनित्य है।

दुक्खं भयट्ठेन —— नष्ट होने वाले सभी धर्म एकान्तरूप से भयावह होते हैं। स्वसन्तान मे विद्यमान रूप-स्कन्ध भी विनष्ट होने वाला है, अत वह भी भयावह है।

मनुष्य प्रतिदिन आहार आदि द्वारा चार महाभूतो का (पृथ्वी आदि) परि-पोषण करता है, फिर भी व्याधिया होती है, जरा आती है और एक दिन मरण भी अवश्य होता ही है। इसप्रकार रूप-स्कन्ध विनश्वर-स्वभाव होने से भयावह होता है। यही स्थिति सभी नाम एव रूप धर्मो की है, उनमे भयोत्पादक लक्षण अत्यधिक होते है।

अनत्ता असारकट्ठेन —— जिसप्रकार रूप-धर्म अनित्य एवं दु खस्वरूप है, उसीप्रकार उनमे कुछ भी सारभूत तत्त्व न होने से वे अनात्म-लक्षण भी है। रूप-

स्कन्ध की ही भाति वेदना आदि स्कन्धो मे भी अनित्य आदि की भावना करनी चाहिए। अनित्य, दु ख, एव अनात्म – ये तीनो लक्षण परस्पर अत्यन्त सम्बद्ध है। सारहीनता के कारण विनश्वरता होती है, विनश्वरता के कारण भयोत्पादकता, तथा भयोत्पादकता के कारण दु ख-रूपता होती है। भय एव दु ख इष्ट न होने पर भी होते ही है। अत इनमे किसी का भी अधिपत्य नही होता। इसतरह रूप आदि धर्म अनित्य, दु ख, अनात्म-लक्षण होते है। एक लक्षण का ज्ञान होने पर, अन्य दो लक्षणो का ज्ञान स्वय ही हो जाता है।

अध्व-सम्मर्शन नय — अतीत भव मे उत्पन्न रूप-स्कन्ध अतीत भव मे ही नष्ट हो चुका है, वह इस प्रत्युत भव मे उत्पन्न नही हुआ, अर्थात् क्षय अर्थ से अनित्य है, भयप्रद अर्थ से दु.ख है तथा सारहीन अर्थ से अनात्म है। जो रूप-स्कन्ध अनागत अनन्तर भव मे उत्पन्न होगा, वह उसी अनागत भव मे नष्ट हो जाएगा, उसके बाद होने वाले भव मे नही जाएगा, अत अनित्य, दु ख, अनात्म है। प्रत्युत्पन्न भव मे उत्पन्न रूप-स्कन्ध इसी भव मे नष्ट हो जाता है, अन्यत्र-भव मे नही जाता; अत अनित्य, दु ख, अनात्म है। वेदना-स्कन्ध आदि चार नाम-स्कन्धो की भी इसीप्रकार भावना करनी चाहिए।

सन्तति-सम्मर्शन नय — धूप मे उष्ण रूप-सन्तति का उत्पाद होता है। छाया मे पहुचने पर उस उष्णरूप-सन्तति का विनाश होकर शीतल रूप-सन्तति का उत्पाद होने लगता है। रुग्णावस्था मे रुग्ण रूप-सन्तति का उत्पाद होता है तथा स्वस्थ होने पर उस रुग्ण रूप-सन्तति का विनाश होकर स्वस्थ रूप-सन्तति का उत्पाद होता है। बैठने के समय उत्पन्न रूप-सन्तति का उठने के समय विनाश हो जाता है और उत्थान रूप-सन्तति का उत्पाद होता है, आदि। रूपालम्बन को प्रेरित करने वाली सस्कार-स्कन्ध-सन्तति शब्दालम्बन को सस्कार-स्कन्ध-सन्तति मे नही पहुचती। इसीतरह रूपालम्बन को जानने वाली विज्ञान-स्कन्ध-सन्तति शब्दालम्बन को जानने वाली विज्ञान-स्कन्ध-सन्तति मे नही पहुचती। इसी तरह वेदना, सज्ञा के बावत जानना चाहिए। इसप्रकार, सन्तति-सम्मर्शन-नय जानना चाहिए। उष्ण रूप-सन्तति शीतल रूप-सन्तति मे न पहुच कर विनष्ट हो जाती है, अत अनित्य है, दु ख है, अनात्म है, इसप्रकार सन्ततियो के बारे मे सम्मर्शन करना चाहिए।

क्षण-सम्मर्शन नय — उत्पाद, स्थिति एव भङ्ग इनमे से किसी एक क्षण के रूप मे 'अतीत क्षण मे उत्पन्न रूप प्रत्युत्पन्न क्षण मे न पहुच कर नष्ट हो जाता है, अत अनित्य है, तथा अतीत भवङ्ग-चित्त भवङ्ग-चलन तक न पहुचने से अनित्य है' इस प्रकार रूप-वीथि एव नाम-वीथि की भावना की जा सकती है।

इसप्रकार, त्रैभूमिक (काम, रूप, एव अरूप ये तीन भूमियां) सस्कारो मे कलाप-सम्मर्शन आदि नयो द्वारा अनित्य, दु ख एव अनात्म लक्षणो द्वारा सम्मर्शन (मनन)

करने वाला ज्ञान ही ' सम्मर्शन-ज्ञान ' कहलाता है। इन चारों नयों में कलाप-सम्मर्शन नय सब से ज्यादा सुकर होता है। ऊपर ऊपर के नय के सम्मर्शन क्रमश सूक्ष्म, सूक्ष्मतर होते है।

उदय-व्यय ज्ञान

सम्मर्शन-ज्ञान के परिपक्व होने के अनन्तर पुन· भावना करने पर उदय-व्यय ज्ञान उत्पन्न होता है। नाम-रूप धर्म अपने उत्पाद से पूर्व विद्यमान नही रहते। निरोध के अनन्तर भी वे किसी रूप मे नही रहते। जिस तरह वीणा वजाते समय उसके तारो पर अगुलियाँ पडते ही शव्द उत्पन्न होते है और अंगुलियाँ उठते ही पूर्वोत्पन्न शव्द निरुद्ध हो जाते है, उसीतरह नाम-रूप धर्म भी कारण-सामग्री सन्निधान के उत्तर-क्षण मे उत्पन्न होकर उत्पाद-समनन्तर ही निरुद्ध हो जाते है। अत. उत्पद्यमान सभी नाम-रूप धर्म न पहले, न पीछे, किसी भी प्रकार की सत्ता से सम्वद्ध न होते हुए प्रतिक्षण नवीन ही उत्पन्न होते है। अर्थात्, वीणाजन्य शव्द की भाति सभी सस्कार पहले अनुत्पन्न रह कर पश्चात् उत्पन्न होते है तथा उत्पन्न होकर समनन्तर निरुद्ध होते है, इसीतरह वे सर्वदा नवीन ही होते है।

पूर्वोक्त प्रकार से विचार करने के अनन्तर नाम-रूप धर्मो के कारणो के साथ पुन विपश्यना करनी चाहिए। रूप-धर्मो की उत्पत्ति के कारण अविद्या, तृष्णा एव आहार है। नाम-धर्मो के कारण अविद्या, तृष्णा, कर्म एव स्पर्श है, ऐसा जानना चाहिए। इन कारण-धर्मो को जान कर ' अविद्या होने से नाम-रूप होते है। यदि अविद्या का अशेष प्रहाण किया जा सके, तो इन नाम-रूपो की उत्पत्ति भी नही होगी,' इस प्रकार, पुन. भावना करने पर उत्पाद-भङग नामक उदय-व्यय-लक्षण का स्पष्ट अवभास होगा। उसके स्पष्ट अवभासित होने पर उत्पाद-क्षण और भङ-क्षण का भी पृथक् पृथक् अववोध होगा। क्षण के स्पष्ट अववोध के लिए विशेप प्रयत्न आवश्यक नही है।

पानी मे रेखा की तरह (जैसे, पानी मे की गई रेखा तत्क्षण ही दिखाई पडती है, पूर्वपूर्व क्षण मे उत्पन्न रेखा विलुप्त होती जाती है, उसी प्रकार) नाम-रूप धर्म उत्पन्न होकर विनष्ट होते रहते है। वे पानी के वुलवुले की तरह उत्पन्न होकर विनष्ट होते है। जैसे, सुई के अग्रभाग पर सरसो रखने पर वह रखने के समय ही गिर जाती है, उसी तरह नाम-रूप धर्म उत्पाद के अनन्तर ही विनष्ट हो जाते है।

इस प्रकार, उत्पाद-क्षण एव भङग-क्षण को स्पष्ट करने वाले उदय-व्यय ज्ञान की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार से उदय-व्यय की अनुपश्यना नाम का प्रथम तरुण विपश्यना-ज्ञान प्राप्त होता है, जिसके प्राप्त होने से " आरव्ध-विपश्यक " कहा जाता है।

विपश्यना के दस उपक्लेश

तव इस तरुणविपश्यना से उस आरब्ध विपश्यक को दस विपश्यना उपक्लेश उत्पन्न होते हैं। दस उपक्लेश ये है—(१) अवभास (२) ज्ञान (३) प्रीति (४) प्रश्रब्धि (५) सुख (६) अधिमोक्ष (७) प्रग्रह (८) उपस्थान (९) उपेक्षा (१०) निकन्ति।

अवभास (ओभासो) — नाम-रूप धर्मों के उदय-व्यय का स्पष्ट ज्ञान होने से चित्त की अत्यन्त स्वच्छता हो जाने पर सर्वप्रथम चित्तज-कान्ति उत्पन्न होती है। उस समय 'मुझे मार्ग या फल की प्राप्ति हो गई है' इस प्रकार की भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती है। फलत, साधक कम्मट्ठान को छोड कर उत्पन्न कान्तियो के प्रति अनुरक्त होने लगता है और इस कारण उसका विपश्यना-क्रम भ्रष्ट हो जाता है।

ज्ञान (ञाणं) — वज्र की तरह अत्यत कठोर एवं तीक्ष्ण विपश्यना-ज्ञान की उत्पत्ति होती है। अर्थात्, विपश्यना करते करते नाम-रूपो का उत्पाद एव व्यय अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है।

प्रीति (पीति)— केवल अवभास ही नही, अपितु पाच प्रीतियाँ (क्षुद्र, क्षणिक, अवक्रान्तिक, उद्वेग और स्फरण) भी यथायोग्य उत्पन्न होकर साधक मे प्रीति-उद्रेक का उत्पाद करती है।

प्रश्रब्दि (पस्सद्धि)—काय व चित्त प्रश्रब्ध (शान्त), लघु (हलका) और मृदु होते है। इनके उत्पाद के समय साधक अमानुषी रति (आनन्द) का अनुभव करता है। फलत, वह कम्मट्ठान मे ही रमण करने लगता है।

सुख (सुखं)—साधक को उस समय सारे शरीर मे सचार करता हुआ अति-उत्तम सुख उत्पन्न होता है, जैसे, तेल रुई मे व्याप्त हो जाता है।

अधिमोक्ष (अधिमोक्खो)— कम्मट्ठान मे श्रद्धा उत्पन्न होती है। यह सामान्य श्रद्धा नही है, अपितु चित्त-चैतिसिको मे अत्यधिक प्रसाद (प्रसन्नता) उत्पन्न करने वाली है, अत इसे 'अधिमोक्ष' कहते हैं।

प्रग्रह (पग्गहो)— विपश्यना-चित्त को अनुत्साहित न होने देने के लिए उसे उत्प्रेरित करने वाले वीर्य (परिश्रम) की उत्पत्ति होती हे।

उपस्थान (उपट्ठानं)— कम्मट्ठान-आलम्बन मे सुमेरु की तरह अत्यन्त दृढ एव अचल स्मृति की उत्पत्ति होती है।

उपेक्षा (उपेक्खा)— विपश्यना-उपेक्षा एव आवर्जन-उपेक्षा नामक दो उपेक्षाओ की उत्पत्ति होती है। उदय एव व्यय के अत्यन्त सुस्पष्ट होने पर उदय-

व्यय की विपश्यना करने में कोई अतिरिक्त व्यापार अपेक्षित न होने से, अनायास ही विपश्यना मे समर्थ ज्ञान से सम्प्रयुक्त सब संस्कारो मे मध्यस्थ हुई 'विपश्यना-उपेक्षा' उत्पन्न होती है, तथा उस उदय-व्यय का आवर्जन करने में समर्थ चेतना 'आवर्जन-उपेक्षा' है।

निकन्ति—अवभास, आदि द्वारा प्रतिमण्डित विपश्यना के प्रति आसक्त सूक्ष्म तृष्णा "निकन्ति" है। यह निकन्ति भी साधक की सन्तान में विद्यमान होती है। उस निकन्ति (तृष्णा) के अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण साधक उसे तृष्णा नही समझ पाता, अपितु वह उसे 'विपश्यना-रति' समझने लगता है।

प्रीति आदि की उत्पत्ति होते समय भी 'मुझ मे पहले कभी इस प्रकार की प्रीति आदि की उत्पत्ति नहीं हुई थी, अब हुई है, इस तरह की प्रीति आदि का उत्पादक चित्त अवश्य ही मार्ग या फल-चित्त होगा, मुझे मार्ग अथवा फल की प्राप्ति हो गई है' इस प्रकार भ्रान्ति का उत्पाद हो जाता है। फलत . साधक विपश्यना-भावना-मार्ग से भ्रष्ट हो जाता है।

उपक्लेश (उपक्किलेस)—विपश्यना को क्लिष्ट करने वाले धर्मो को 'उप क्लेश' कहते है। अवभास से लेकर उपेक्षा तक कहे गये सभी नौ धर्म अकुशल नही है। इस उदय-व्यय ज्ञान के उत्पन्न होने पर इनका भी अनिवार्यत. उत्पाद होता है।

अन्तिम धर्म 'निकन्ति' तो मुख्य रूप से उपक्लेशक धर्म होता है।

इन अवभास आदि के प्रति अनुराग करना 'अमार्ग' है। इनकी ओर ध्यान न देकर अपने द्वारा आरब्ध विपश्यना को समुचित रूप से करना ही मार्ग एव फल की प्राप्ति का कारणभूत सम्यक् 'मार्ग' है। इस प्रकार मार्ग एवं अमार्ग का परिच्छेद करने वाले ज्ञान की उत्पत्ति होती है। यह ज्ञान सामान्य ज्ञान ही नही है, अपितु मार्ग एवं अमार्ग को आँख से देखने की तरह देखने वाला विशेष ज्ञान है। अतः इसे 'दर्शन' कहा जाता है तथा विपश्यना के उपक्लेशक धर्मों से विशुद्ध होने के कारण यह 'विशुद्धि' भी कहलाता है। अतः इसे 'मार्गामार्ग-ज्ञानदर्शन-विशुद्धि' कहते है।

प्रतिपदा-ज्ञानदर्शन-विशुद्धि

आठ ज्ञानो के अनुसार सिरे को प्राप्त हुई विपश्यना और नववॉ सत्य के अनुलोम जाने वाला ज्ञान यह 'प्रतिपदा-ज्ञानदर्शन-विशुद्धि' है। उपक्लेश से रहित, वीथि (मार्ग) मे लगे हुए विपश्यना वाले आठ ज्ञान—(१) उदय-व्यय की अनुपश्यना का ज्ञान (२) भङ्गानुपश्यना का ज्ञान (३) भयतोपस्थान ज्ञान (४) आदिनवा-नुपश्यना ज्ञान (५) निर्वेदानुपश्यना ज्ञान (६) मुञ्चितुकम्यता ज्ञान (७) प्रति-सख्यानुपश्यना ज्ञान और (८) संस्कारोपेक्षा ज्ञान है। नववॉ सत्य के अनुलोम,

जानेवाला ज्ञान है, इसे ' अनुलोम ' कहते है। इसलिए, उसे पूर्ण करने की इच्छा वाले को उपक्लेश से रहित उदय-व्यय ज्ञान को प्रारम्भ करके इन सभी ज्ञानो मे साधना करनी चाहिए।

मार्ग एव फल प्राप्त करने मे कारणभूत आवरण को ' प्रतिपदा ' कहते है। त्रैभूमिक सस्कारो को अनित्य, दु ख एव अनात्म-रूप मे जानने के कारण उसे 'ज्ञान' भी कहते है। प्रतिपक्षभूत क्लेश-धर्मो से अत्यन्त विरहित और अत्यन्त विशुद्ध होने से इसे ' विशुद्धि ' भी कहा जाता है। इसीलिए, इसे ' प्रतिपदा-ज्ञानदर्शन-विशुद्धि ' कहते है।

उदय-व्यय ज्ञान — पहले उदय-व्यय ज्ञान उत्पन्न होने पर भी विपश्यनोपक्लेशक धर्मो द्वारा विघ्न किया जा सकने के कारण अनित्य, दु ख, अनात्म ये तीन लक्षण स्पष्ट नही होते। इसलिए, उन उपक्लेश-धर्मो से विमुक्त होने के अनन्तर इन तीन लक्षणो का स्पष्ट ज्ञान होने के लिए उदय-व्यय ज्ञान की पुन पुन भावना की जाती है। इस उदय-व्यय ज्ञान से लेकर अनुलोम ज्ञान तक पहुच जाने पर प्रतिपदा-ज्ञानदर्शन-विशुद्धि का क्षेत्र समाप्त हो जाता है।

" तेभूमकसङखारेसु पस्सतो लक्खणत्तय।
सम्मसननाम ञाणं जातं पठमयोगिनो।। "

अर्थात्, त्रैभूमिक (काम, रूप अरूप) सस्कारो मे लक्षण-त्रय (अनित्य, दु ख, अनात्म) को देखने वाले प्रथम (प्रारम्भिक) योगी की सन्तान मे ' सम्मर्शन ' नामक ज्ञान उत्पन्न होता है।

" तेभूमकसङखारेसु पस्सतो उदयब्बय।
उदयब्बयनाम ञाणं जात दुतिययोगिनो। "

अर्थात्, त्रैभूमिक सस्कारो मे उदय-व्यय को देखने वाले द्वितीय योगी की सन्तान मे उदय-व्यय नामक ज्ञान उत्पन्न होता है।

भङगज्ञान — उदय-व्यय ज्ञान द्वारा नाम एवं रूप धर्मो के उदय (उत्पाद) एव व्यय (निरोध) दोनो की सुस्पष्ट विपश्यना की जाने से जब नाम-रूप धर्मो के उदय एव व्यय स्पष्ट प्रतिभासित होने लगते है, तब इन (उदय एवं व्यय) के अत्यन्त शीघ्रता से घटित होने के कारण इन दोनो मे से उदय का आलम्बन न कर पा सकने के कारण केवल भङग का ही दर्शन हो पाता है, जैसे, किसी तालाब मे उत्पन्न होने वाले बुलबुलो के उत्पाद का उतना स्पष्ट ज्ञान नही हो पाता, जितना उनके विनाश का दर्शन होता है। योगी जब प्रत्युत्पन्न नाम-रूप धर्मो के भङग की विधिपूर्वक विपश्यना करने मे समर्थ हो जाता है, तो वह अतीत, अनागत नाम-रूप धर्मो का अनुमान से

आलम्वन करके विपश्यना करता है और तव भी उनके भङग का ही आलम्वन हो पाता है। किसी एक सस्कार के भङग को आलम्वन वनाने वाले भङगज्ञान के भी भङग का आलम्वन करने मे जव कोई अन्य ज्ञान समर्थ हो जाता है, तव भङगज्ञान अपने विकास की चरम कोटि को प्राप्त हो जाता है।

"सङखारा मे वुब्बुल व भिज्जरे भिज्जरे खण।
पस्सतो व भङगञाणं जातं ततिययोगिनो॥"

अर्थात्, ये नाम-रूप सस्कार-धर्म पानी के वलवुलो की भाँति क्षण-क्षण मे निरन्तर विनष्ट हो रहे है, इस प्रकार विपश्यना करने वाले तृतीय योगी की सन्तान मे 'भङगज्ञान' उत्पन्न हो जाता है।

भयज्ञान — जिस प्रकार दीर्घायुष्य एव सुख की कामना करने वाले पुद्गल, सिह, व्याघ्र आदि से व्याप्त भयानक जगल को देख कर 'यह भय-स्थान है' ऐसा सोच कर उस जंगल से तथा इसी तरह आयु एवं सुख के विघातक अन्य अन्तरायो से (विघ्नो से) भयभीत होते है, उसी प्रकार, नाम एव रूप धर्मो मे केवल भङगज्ञान के द्रष्टा योगी 'इन नाम-रूप धर्मों का अतीत भव मे भी भङग हुआ था, प्रत्युत्पन्न भव मे भी भङग हो रहा है एव अनागत भव मे भी भङग होगा, ये नाम-रूप भयोत्पादक है,' इसप्रकार उनके भङग-ज्ञान से भयभीत होते है और उससमय उनमे भयज्ञान की उत्पत्ति होती है।

"निरुद्धातीता सङखारा पच्चुप्पन्ना च भिज्जरे।
अनागता भिज्जिस्सन्ति सब्वे पि भायितव्वका॥"

अर्थात, हमारी सन्तान मे वारबार उत्पन्न होकर निरुद्ध हो चुके संस्कार अतीत याने समाप्त हो गये है, प्रत्युत्पन्न संस्कार भी निरुद्ध हो रहे है तथा इसी प्रकार अनागत सस्कार भी अवश्य ही निरुद्ध होगे, अत सभी सस्कार-धर्म भय को उत्पन्न करने वाले है।

जिस प्रकार अपने साथियो एव मातापिता आदि को कष्ट पहुँचाने वाले लडके को देख कर 'यह लडका वडा भयानक है' ऐसा कहा जाता है, फिर भी वडी आयु वाले व्यक्ति उससे भयभीत नही होते, उसी प्रकार त्रैभूमिक सस्कार-धर्मो के 'ये भयोत्पाद धर्म है,' ऐसा जान कर विपश्यना करने से विपश्यना-ज्ञान ही 'भयज्ञान' है ऐसा जानना चाहिए। न भयज्ञान को भय होता है, न तो साधक को ही भय होता है।

साधक को 'भूतकाल के सस्कार निरुद्ध हो गये, वर्तमानकाल के निरुद्ध हो रहे है और भविष्यकाल मे उत्पन्न होने वाले सस्कार भी इसी प्रकार निरुद्ध हो

जाएगे; ऐसा देखते हुए, सभी संस्कार महाभयानक जान पडते है', ऐसा 'भयतोपस्थान' ज्ञान उत्पन्न होता है।

उपमा—एक स्त्री के तीन पुत्रो ने राजा का अपराध किया था। राजा ने उनके सिर काट लेने की आज्ञा दी। पुत्रो के साथ यह स्त्री भी वधस्थल पर गई। वहा उसके वडे पुत्र का सिर काटकर मझले का काटना प्रारम्भ किया था। वह स्त्री वडे के सिर को कटा हुआ और मझले का कटता हुआ देख छोटे के आलय को त्याग दी, 'यह भी इन्ही के समान होगा।' उसके वडे पुत्र के कटे हुए सिर को देखने के समान साधक का भूतकाल के सस्कारो के निरोध को देखना है, मझले के कटते हुए सिर को देखने के समान वर्तमानकाल के संस्कारो के निरोध को देखना है। 'यह भी इसके समान होगा, 'ऐसा सोच कर छोटे के आलय को त्याग ने के समान भविष्यकाल मे भी उत्पन्न होने वाले सस्कार नाश हो जाएँगे, इस प्रकार, भविष्यकाल के सस्कारो के निरोध को देखना है। साधक ऐसे देखते हुए, उसे इस स्थान मे भयतोपस्थान-ज्ञान उत्पन्न होता है।

जैसे, आँख वाला पुरुष नगर के द्वार पर अग्नि के तीन गड्ढो को देखते हुए स्वय नही डरता है, केवल उसे 'जो जो इसमे गिरेंगे, सब महादु ख पाएगे' ऐसा विचार-मात्र होता है। इसीप्रकार, भयज्ञान स्वय नही डरता है, केवल उसे, अग्नि के तीन गड्ढो के समान 'भूतकाल के संस्कार निरुद्ध हो गये, वर्तमानकाल के निरुद्ध हो रहे है, भविष्यकाल के निरुद्ध होगे' ऐसा विचार-मात्र होता है।

चूकि साधक को विपश्यना ज्ञान मे केवल सारे योनि, गति, स्थिति और निवास के संस्कार विनाश मे पडे हुए भययुक्त होकर भय के तौर पर जान पडते हैं, इसलिये भयतोपस्थान-ज्ञान याने भयज्ञान कहा गया है।

विपश्यना साधना मे अभ्यस्त साधक को उदय-व्यय ज्ञान एव भङ्गज्ञान को विशेप स्पष्टीकरण के साथ जानना चाहिए। इसलिए, विपश्यना के मूलभूत सिद्धातो को समझे। इससे साधना मे मौलिक प्रगति मिलेगी। वैसे तो 'सतिपट्ठान' अध्याय मे विस्तार से वर्णन किया है ही। फिर से इसे ठीक से समझना उपयुक्त होगा।

विपश्यना साधना मे साधक कायानुपश्यना करते हुए अपनी काया मे सिर से पाव तक और पाव से सिर तक मन से निरीक्षण करते हुए यात्रा करते ही रहता है। स्थूल से सूक्ष्म तक पहुचने के लिए वीधता हुआ, चीरता हुआ निरीक्षण करते ही रहता है।

शरीर-स्कन्ध याने कलापो का पुञ्ज है और निरन्तर उदय-व्यय हो ही रहा है, यह अनुभूतियो के स्तर पर साधक जानता है। उत्पाद होना, व्यय होना यही

इसका ध्रुव धर्म है, यही इसका स्वभाव है, यह साधक के समझ मे आने लगता है। साथ ही, सब कुछ अनित्य है, यह प्रज्ञा का बोध भी होते रहता है। यथाभूत जैसा है, वैसा वह जानता है। ऐसे ही वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना एवं धम्मानुपश्यना का अभ्यास साधक करता है। इसी द्वारा अनित्य, अनात्म एव दु ख, ये प्रज्ञा के बोध पुष्ट होते है। स्थूल के टुकडे-टुकडे होते होते सूक्ष्म-सूक्ष्म धाराप्रवाह तक अपने अनुभूतियो के स्तर पर साधक पहुचता है, जब कि काया मे कही भी किसी ठोस का नामोनिशान नही रह जाता। उदय-व्यय, उदय-व्यय, केवल भड्ग ही भड्ग अनुभूत होता है। ऐसे वह भड्गज्ञान तक पहुच जाता है।

विपश्यना के मूलभूत सिद्धांत और साधना के अभ्यास में मार्गदर्शन

साधक को साधना मे चित्त सदा शान्त, सजग और समता मे रखना चाहिए। विपश्यना के सिद्धातो को समझते हुए वह काम करे। मन को शरीर की सीमाओं के भीतर ही रख कर काम करना चाहिए। भीतर ही अनुभूति होगी। बाहर सोचेगा तो वह भटक जाएगा। इसलिए, शरीर की सीमा के भीतर जो सच्चाई प्रकट हो रही है, वह अनुभूति के स्तर पर जानना है। मन को किसी एक स्थान पर नही टिकाये रखना है। देर तक एक स्थान पर वह टिका रह जायगा, तो बाकी स्थानो मे मूर्च्छा आ जाने का खतरा है। शरीर मे कही मूर्च्छा न रहने पाए, इसलिये आवश्यक है कि मन सारे शरीर की, सिर से पाव तक, पांव से सिर तक, यात्रा करते ही रहना है। कही बहुत आवश्यक हो गया, तो अधिक से अधिक पाच मिनिट तक वह रुके। उससे अधिक समय कदापि नही रुके। यात्रा करते ही रहे। शरीर का कोई अग छूटने न पाए। साधना मे सवेदना जो भी महसूस हो, जैसी भी महसूस हो, किसी भी सवेदना को अच्छी मान कर साधक न राग पैदा करने लग जाय और किसी भी सवेदना को बुरी मान कर वह न द्वेष करने लग जाय तथा समता बनी ही रहे। हर प्रकार की सवेदना के प्रति यह समता बनी रहे। यदि शरीर के किसी अंग मे सवेदना न महसूस होती हो, मूर्च्छा हो, अर्धमूर्च्छा हो, तो भी समता तो बनी ही रहे। अनित्य है, सारी स्थितियाँ अनित्य है. इस समझदारी के साथ चित्त को समता मे ही वह स्थापित रखे और अनित्य-बोध पुष्ट करते रहे, अनुभूतियो के स्तर पर पुष्ट करते रहे। उत्पाद होता है, व्यय होता है; उदय है, व्यय है; अनित्य ही अनित्य है, ऐसी अनुभूति और समता ही निर्मलता है, ऐसा बोध बना रहे।

विपश्यना के इन मूलभूत सिद्धातो को ध्यान मे रखते हुए सजग और समता भरे चित्त से साधक निरीक्षण करता है।

तीन तरह की सच्चाइयाँ शरीर मे सवेदनाओ के स्तर पर प्रकट होगी। एक अवस्था यह हो सकती है कि सारे शरीर मे केवल स्थूल ही स्थूल सवेदनाएँ है, घनीभूत

सवेदनाएँ है, कही सूक्ष्म सवेदनाओ का नामोनिशान नही है। दूसरी अवस्था यह हो सकती है कि शरीर के कुछ हिस्सो पर स्थूल घनीभूत सवेदनाएँ है, मूर्च्छाएँ भी है और शरीर के कुछ हिस्सो मे एक जैसी, एक जैसी सूक्ष्म सवेदनाएँ भी है। ओर तीसरी अवस्था यह हो सकती है कि सारे शरीर मे केवल एक जैसी सूक्ष्म सूक्ष्म सवेदनाएँ है और कही भी कोई स्थूल सवेदना नही है, कही भी मूर्च्छा, अर्धमूर्च्छा नही है। हरेक साधक को समय समय पर इन तीनो स्थितियो मे से किसी भी अवस्था से गुजरना पडता है, पडते ही रहता है। न एक को अच्छी मान कर उसके प्रति आसक्ति पैदा कर ले, न दूसरी को बुरी मान कर उसके प्रति द्वेप पैदा कर ले। कुदरत अपना काम करती है, धर्म अपना काम करता है। अनेक कारणो से, और सब से प्रमुख कारण यही है कि हमारे जो पुराने सग्रहित सस्कार है, उनकी वजह से समय समय पर शरीर-स्कन्ध पर विभिन्न प्रकार की अनुभूतियाँ होगी ही, भिन्न भिन्न प्रकार की सवेदनाएँ प्रकट होगी ही। कभी स्थूल ही स्थूल सवेदनाएँ, कभी स्थूल और सूक्ष्म मिली जुली, तो कभी सूक्ष्म ही सूक्ष्म प्रकट होगी। इस प्रकटीकरण को धर्म पर छोड दे। यह अपने वश की बात नही है। अपने अधिकार की बात तो यही है कि हर अवस्था मे समता बनी रहे। हर अनुभूति समता ही पैदा करे। राग जगने न पाए, द्वेप जगने न पाए और जरा भी प्रतिक्रिया नही करे। जो प्रकट हुआ है, हम उसे जान भी रहे है और साथ ही समता मे भी स्थित है। रागविहीन हो, द्वेपविहीन हो हम स्थित है। इस समझदारी के साथ साधक को काम करना चाहिए।

समझदारी से हम काम करेगे, तो मन का मैल उतरने ही लगेगा। जिस समय साधक एक जैसी स्थूल या भिन्न भिन्न प्रकार की स्थूल सवेदनाओ मे से गुजर रहा है, सारे शरीर मे स्थूल सवेदनाएँ है या कही मर्च्छा है, अर्धमूर्च्छा है, तो ऐसे समय समता कायम रखते हुए, धीरज के साथ, एक एक अग मे से मन गुजारते रहना है। एकसाथ अगो मे से साधक मन नही गुजार सकता, क्योकि भिन्न भिन्न अगो मे स्थूल सवेदनाएँ होती है। इसलिए अलग अलग अगो मे से ही वह मन गुजारे। तब वह ऐसा न समझे कि हम पिछड गये। जो स्थिति आयी है उसीको समता मे, साक्षीभाव से देखना है, तो ही हम आगे बढ सकेगे।

कभी साधक ऐसी स्थिति मे से गुजरता है कि कही स्थूल सवेदनाएँ है, कही मूर्च्छाएँ है और कही कही एक जैसी सूक्ष्म सवेदनाएँ भी है, तो उस समय जहा जहा सूक्ष्म सवेदनाएँ है, वहा वहा धाराप्रवाह का अनुभव तो हो ही जाएगा। ऊपर से नीचे की ओर, नीचे से ऊपर की ओर धाराप्रवाह ही धाराप्रवाह। तब फिर से एक एक अग मे से साधक मन गुजारेगा वे स्थान, जहा धाराप्रवाह की अनुभूति नही हुई, उनका निरीक्षण वह अलग से करेगा। इस पर दो मिनट या ज्यादा से ज्यादा पाच मिनट तक का समय वह एक एक अग पर लगाएगा। ऐसे रुकते रुकते, मन को समता मे रखते

रखते, जव समय पकेगा, तो ये स्थूल संवेदनाएँ अपने-आप पिघल जायगी। जहां मूर्च्छा है, वहा की मूर्च्छा भी टूट ही जायगी। साधक को हर स्थिति मे शान्ति और समता मे रहना चाहिए। जहां वह समता खोने लगे, तो और भी कठिनाइयाँ वह पैदा करने लगेगा। जहा सूक्ष्म सवेदनाओं के प्रति वह राग जगाने लगेगा, जहा स्थूल संवेदनाओ के प्रति वह द्वेष जगाने लगेगा, तो अपने लिये और भी कठिनाईयाँ वह पैदा करने लगेगा। खूव समझदारी से काम करना चाहिये। चाहे जैसी भी संवेदनाएँ हो, उन्हे मात्र जानना है और समता मे रहना है।

और, साधक ऐसी अवस्था मे गुजर रहा है कि सारे शरीर मे एक जैसो मूक्ष्म मूक्ष्म सवेदनाएँ है, कही मूर्च्छा का नामोनिशान नही हे, कही किसी स्थूल सवेदनाओ का नामोनिशान नही है, तो समग्र शरीर-पिण्ड मे से धाराप्रवाह ही धाराप्रवाह; जैसे, पानी भरी वालटी सिर पर उंडेल दे और पानी सारे शरीर मे भिगोता हुआ पेंदे तक चला जाय; ऐसे ही, सिर के सिरे से धाराप्रवाह की अनुभूति हो; अनित्य वोध की. धारा-प्रवाह की अनुभूति हो एवं सारे शरीर मे से मन गुजर जाय और उसी प्रकार, नीचे से ऊपर की ओर सारे शरीर मे से मन गुजर जाय, ऐसा हो तो भी फिर एक वार एक एक अग मे से साधक मन गुजार कर देखे, धीमे धीमे शरीर की यात्रा करके देखे। हो सकता है, कही किसी छोटे से स्थान में मूर्च्छा हो। हो सकता है, कही किसी छोटे से स्थान मे कही स्थूल संवेदना हो, घनीभूत संवेदना हो। अगर ऐसा कोई भी स्थान ध्यान मे आए, अनुभूति पर उतरे, तो वहां रुके, दो मिनट, चार मिनट अधिक से अधिक पाच मिनट रुके और आगे वढ जाय। फिर सारे शरीर में धाराप्रवाह ही धाराप्रवाह। फिर एक एक अग मे से, एक एक अंग मे से वडे ध्यान से देखते हुए, कहां मूर्च्छा है, कहां स्थूल संवेदना है, ध्यान से देखते हुए और उन उन जगह रुकते हुए, फिर धाराप्रवाह ही धाराप्रवाह। यो करते करते साधक ऐसी अवस्था पर पहुच जाता है कि शरीर मे सचमुच कही भी कोई मूर्च्छा नही है, कही भी कोई स्थूल सवेदना नही है। उस समय जव एक एक अंग मे से मन गुजरता है, तो शरीर के ऊपरी ऊपरी हिस्से पर ही सवेदना जान कर नही रह जाय, केवल सतह-सतह पर ही संवेदना जान कर नही रह जाय। अव साधक शरीर में वींधने लग जाय, अपने मन को वींधते हुए गुजारे, भीतर तक चीरते हुए मन गुजारे। शरीर के सामने के हिस्से से वींधते हुए पीछे की ओर मन निकालने की कोशीश करे और पीछे से वींधते हुए सामने की ओर मन निकालने की कोशीश करे। वांई ओर से वींधते हुए दाहिनी ओर मन निकाले, दाहिनी ओर से वींधते वींधते वांई ओर मन निकाले। यों, भीतर तक वींधते हुए, वींधते हुए, भीतर की क्या दशा है, भीतर की कैसी संवेदना है, उसे भी साधक जानेगा। यो वींधते हुए. हो सकता है कि भीतर मे कोई जगह मूर्च्छा मालूम हो, कोई घनीभूत सवेदना मालूम हो, तो साधक को उदासी नही, निराशा नही होनी चाहिए। उनको

भी उसी प्रकार साक्षीभाव से वह देखेगा। जैसे, शरीर के ऊपर की ओर मूर्च्छाओ को देखा, घनीभूत सवेदनाओ को देखा, ऐसे ही भीतर भी खूव सजग और समता मे स्थित, दो मिनट, चार मिनट, पाच मिनट इस प्रकार एक एक हिस्से पर साधक टिके। समय पा कर वह सवेदना भी पिघलने लगेगी ही। फिर सारे शरीर मे से मन गुजारेगा। और इस वार, वह मन को भी वीधता हुआ, चीरता हुआ, शरीर के ऊपरी ऊपरी हिस्से पर ही प्रवाह न मालूम हो जाय, परतु भीतर तक धाराप्रवाह की उसे अनुभूति मालूम हो।

फिर साधक एक एक अग मे से मन गुजारेगा, वीधते हुए, चीरते हुए। फिर समग्र शरीर-पिण्ड मे से धाराप्रवाह अनुभव करते हुए मन गुजारेगा वीधते हुए, चीरते हुए। यो करते करते, स्थिति आ सकती है कि शरीर के भीतर भी कही कोई मूर्च्छा नही, कही कोई सघन सवेदना नही, सारे के सारे शरीर मे कही कोई ठोसपना रह नही गया, ऊपर से मन चलता है, तो सारे शरीर मे धाराप्रवाह ही धाराप्रवाह पेंदे तक पहुच जाता है; नीचे से ऊपर चलता है तो सारे शरीर को वीधता हुआ धाराप्रवाह ही धाराप्रवाह अनुभूत होता है। जसे, किसी पानी भरे ग्लास मे स्याही की एक वूद डाल दे, तो स्याही की वूद सारे पानी मे वीधती हुई रगती हुई नीचे पेंदे तक पहुच जाती है, ऐसे ही मन सिर से शुरू हो, तो सारे शरीर को वीधता हुआ, चीरता हुआ नीचे तक पहुच जाए। इसी प्रकार, नीचे से शुरू हो, तो यो वीधता हुआ, चीरता हुआ सिर तक मन आ जाए। इस क्रिया मे कही कोई रुकावट नही, कही कोई वाधा नही, कही कोई मूर्च्छा नही, कही कोई स्थूल सवेदना नही और सारा शरीर परमाणुओ का पुञ्ज, अष्टकलापो का पुञ्ज, सारा शरीर वुद्वुदो का पुञ्ज, नन्ही नन्ही लहरियो का पुञ्ज, उर्मियो का पुञ्ज, तरन्गो का पुञ्ज, उर्जा का पुञ्ज, उष्मा का पुञ्ज, विद्युत् का पुञ्ज, जिसको जैसे महसूस हो, सारा शरीर एक जैसा एक जैसा, जहा ठोसपने का नामोनिशान नही। सारे शरीर मे केवल उत्पाद-व्यय, उत्पाद-व्यय, तरगे ही तरंगे, तरगे ही तरगे अनुभूत हो। और ऐसा वारवार साधक जानते रहे, सिर से पाव तक समग्र शरीर-पिण्ड मे धाराप्रवाह की अनुभूति करते हुए वह जानते रहे, एक एक अग को वीधते हुए, चीरते हुए वह जानते रहे, और अविरत समता वनाए रखे, समता वनाए ही रखे। यो, साधक समग्र भङ्गज्ञान की अनुभूति करते रहे।

जव धाराप्रवाह की अनुभूति हो रही हो, एक एक अग मे भी धाराप्रवाह, समग्र शरीरपिण्ड मे भी धाराप्रवाह, तव ऐसा हो सकता है कि वहुत गहराइयो से, अन्तर्मन की गहराइयो से कोई दवे हुए पुराने सस्कार की उदीर्णा हो जाय। उदीर्णा होगी तो वह शरीर पर ही प्रकट होगी, कोई सवेदना के रूप मे प्रकट होगी। तव कोई स्थूल सवेदना आ सकती है, कही कोई मूर्च्छा आ सकती है। तो इसकी वजह से

निराशा नही आनी चाहिए, उदासी नही आनी चाहिए। तब साधक यह न समझ बैठे कि उसकी प्रगति रुक गयी है और वह पीछे की ओर हट गया है। नही, उसकी प्रगति ही हो रही है। सारी साधना इसीलिए करते है कि गहरे से गहरे संस्कार फूट कर बाहर आ जाय 'उपज्जित्वा निरुज्झन्ति'। उभर कर आएगे तो ही संस्कारो की निर्जरा होगी, क्षय होगा। तो यह कल्याण की, मंगल की ही बात है। तो साधना मे प्रगति ही हो रही है, ऐसा ही साधक समझे। साधक को जरा भी निराशा नही आनी चाहिए। यो होते होते सारी स्थूल सवेदना पिघल जाय, तो फिर सारे शरीर मे धारा-प्रवाह ही धाराप्रवाह की अनुभूति होगी। फिर जाच के देख ले जगह जगह कि कही मूर्च्छा तो नही है। 'यतो यतो सम्मसति, खन्धानं उदयब्बय' जहा जहां जब जब, इस शरीर-स्कन्ध पर, चित्त-स्कन्ध पर सम्यक् स्मृति के साथ चित्त जाय, जागरूकता के साथ चित्त जाय, वहा केवल उदय-व्यय, उदय-व्यय, तरन्गें ही तरन्गें, भङ्ग ही भङ्ग की अनुभूति होगी। सारे शरीर की सघनता का भङ्ग, ऐसे भङ्गज्ञान की साधक को अनुभूति होती रहेगी।

इस स्थिति के प्रति कही कोई आसक्ति पैदा न हो जाय। नही तो फिर, स्थूल सवेदना जागते ही निराशा, उदासी जाग उठेगी। तब साधक राग और द्वेष का ही खल खेलने लगेगा। ये सारी स्थितियां साधक को आने वाली ही है। किस साधक को कब कौन सी स्थिति आ जाय, यह कोई कह नही सकता। जो भी स्थिति आए, उसे तटस्थ-भाव से केवल देखना-मात्र है और अपनी समता बराबर बनाए रखनी है, तो साधक निश्चित रूप से आगे बढते ही जा रहा है, ऐसा वह समझे।

बडी गभीरता से, निरन्तरता से काम करना होगा। जब समग्र शरीर-पिण्ड मे कोई मूर्च्छा नही है, बाहर-भीतर, बाहर-भीतर, अज्झत्त-बहिद्ध, अज्झत्त-बहिद्ध कही भी मूर्च्छा नही है, केवल तरन्गें ही तरन्गे अनुभूत होती हो, तो सिर से पाव तक, पांव से सिर तक इतनी शीघ्र गति से धाराप्रवाह की अनुभूति होने लगेगी कि एक ही सास मे सिर से पांव तक, एक ही सांस मे पांव से सिर तक संवेदना ही अनुभूत होगी। सास बाहर छोडेंगे तो सिर से पांव तक आप पहुंच जाएगे, सास भीतर लेंगे तो पांव से सिर तक आप पहुंच जाएगे। इतने शीघ्र गति से प्रवाह महसूस होने लगे, सांस के साथ साथ महसूस होने लगे, तो भी फिर एक एक अङ्ग मे से आप मन गुजारें, बींधते हुए, चीरते हुए।

ऐसी अवस्था हो, उस समय आप अपने-आपको जाच कर देखेगें, अपने मन को जाच कर देखेगे, अपने शरीर को जाच कर देखेंगे। मन के बारे में यह जांचना है, यह मन कितना सवेदनशील हो गया, कितना एकाग्र हो गया, कितना कुशाग्र हो गया, बडा तीक्ष्ण, बडा सूक्ष्म हुआ है। और, शरीर के बारे मे यह जांचना है कि सचमुच शरीर मे कही कोई ठोसपना तो नही है. सचमुच सारा शरीर तरन्ग ही

तरन्ग-मात्र है। इन दोनो बातो को जाचने के लिये आप अपने मन को शरीर के किसी छोटे से हिस्से मे ले जाएँगे, कही किसी भी जगह एक अगुली टिकाये इतनी सी जगह पर मन लगा कर आप देखेगे। जिस जगह भी अपना मन ले गये, एक अगुली टिकाये इतनी जगह पर मन ले गये, तो आप यह जाचेंगे कि कितने जल्दी वहा सवेदना महसूस हुई। उस जगह मन पहुचा और पहुचते ही सवेदना महसूस हुई। और, सवेदना महसूस हुई, तो उतनी ही दूरी तक सीमित रही या फैल गयी, यह भी आप देखेगे। अगुली टिकाये उतनी ही दूरी तक आप सवेदना को महसूस कर सके या नही कर सके, ऐसे जाचेगे। मन यदि सचमुच सूक्ष्म, तीक्ष्ण हो गया है, तो जहा पहुंचा वहा तुरन्त संवेदना महसूस करेंगे और वह उस छोटे से स्थान पर ही महसूस करेंगे। यह भी आप महसूस करेगे कि शरीर भी सचमुच खुल गया है, कही मूर्च्छा नही है, कही सघनता नही है, तो जहा मन जाय वहा तरन्गे ही तरन्गें, उदय-व्यय ही उदय-व्यय अनुभृत हो रहा है। ऐसे ही, शरीर पर कही भी अगुली टिकाये इतनी-सी जगह पर आप मन ले जाएगे और वहा तुरन्त सवेदना महसूस हुई, तो वहा से मन को छलाग लगा कर किसी दूसरे हिस्से पर ले जाएगे, इस समय कोई पूर्वनिश्चित योजना नही होनी चाहिए, किसी भी दूसरे स्थान पर मन को आप ले जाएगे, तो वहा भी अगुली टिकाये उतनी दूरी पर तुरन्त सवेदना महसूस हुई या नही यह जानेगे, उतनी ही दूरी मे सीमित रही या नही यह जानेगे। और फिर, कही दूसरी जगह, अगुली टिकाये इतनी जगह पर, शरीर के भिन्न भिन्न हिस्सो पर आख के भीतर, नाक के भीतर, कान के भीतर, जीभ पर, मसुडो पर, गले मे, अगुली के पोर पर, घुटनो पर, कही भी, जहा जी चाहे आप मन ले जाएगे। जहा भी मन गया वहा उदय-व्यय, उदय-व्यय, तरन्गें ही तरन्गें, ऐसी अनुभूति होगी, यो आप अपने-आपको जाच कर देखेगे। थोडी देर इस प्रकार जाच कर देख लिया और काम तो वही करना है। अग-प्रत्यग मे वीधते हुए, चीरते हुए मन को हमे गुजारते रहना है, मन को सजग और समता मे रख कर निरन्तर काम करते रहना है।

जो साधक 'विपश्यना' साधना के अधिकृत, शुद्ध शिक्षा के आचार्य के मार्ग-दर्शन मे शिविर मे से गुजरा है, उन्ही साधको के लिये उपरोक्त मार्गदर्शन है। कोई नया जिज्ञासु उपरोक्त विवरण को पढ कर अभ्यास करेगा तो भटक ही जाएगा, उसे कुछ लाभ नही होगा। इसलिये उसे सतर्क रहना चाहिए। शिविर मे से प्रथम गुजरना ही होगा, तव लाभ होगा और धर्म के प्रगति-पथ पर आगे वढते वढते निर्वाण के साक्षात्कार तक साधक पहुच ही जाएगा।

आदिनव-ज्ञान (आदिनव-ञाण) – विपश्यना भावना मे साधक को सारे भव, योनि, गति, स्थिति, निवास के सस्कारो मे से एक सस्कार मे भी प्रार्थना (चाह) या परामर्श (दृढाग्रह) नही होता। तीनो भव (काम, रूप, अरूप) लपट-रहित अग्नि से पूर्ण गडढे के समान, चारो महाभूत (पृथ्वी, अग्नि, वायु, जल) भयानक विषैले

वाला, बूढा होने के स्वभाव वाला, व्याधि, शोक, परिदेव, उपायास, सक्लेष होने के स्वभाव वाला होने आदि के कारण 'दु.ख' है, ऐसा वह देखता है।

असुन्दर, दुर्गन्ध, जिगुप्सित, प्रतिकूल, सवारने के अयोग्य, कुरूप, बीभत्स होने आदि के कारणो मे दु ख-लक्षण परिवार हुए 'अशुभ' के तौर पर वह जानता है।

परवश, रिक्त, तुच्छ, शून्य, स्वामी-रहित, अनात्मा, अवशवर्ती आदि होने के कारणो से 'अनात्म' के तौर पर वह देखता है।

ऐसे देखते हुए, त्रिलक्षण (अनित्य, दु ख, अनात्म) का आरोपण कर के सस्कार देखे जाते है।

'मुञ्चितुकम्यता-ञाण' द्वारा संस्कार-धर्मो से केवल मुक्त होने की कामना-मात्र होती है। योगी उनसे मुक्त हो नही जाता। इस प्रतिसंख्या-ज्ञान द्वारा योगी उन संस्कार-धर्मो से यद्यपि मुक्त होना चाहता है, किन्तु चाहने पर भी वे धर्म आसानी से छूट नही पाते। अत. वह साधक-योगी उन सस्कार-धर्मो मे नित्य, सुख एवं आत्मो-पादान दृष्टि उत्पन्न न होने देने के लिए अनित्य-दु ख-अनात्म लक्षणो की पुन.पुन: विपश्यना करता है।

जिस प्रकार मछली पकडने वाले व्यक्ति के हाथ मे कभी सहसा मछली के स्थान पर सर्प का सिर आ जाता है, तब पहले तो वह उसे बडी मछली समझ कर प्रसन्न होता है, किन्तु बाद मे 'यह सर्प है' ऐसा ज्ञान लेने पर भी डंस लेने के भय से वह उसे यकायक नही छोडता, अपितु युक्तिपूर्वक उसकी पूछ को पकड कर, पटक-पटक कर दुर्बल बना कर धीरे से छोडता है, इसीप्रकार नाम-रूपात्मक सस्कार-धर्मो के प्रति पहले अनुराग होने पर भी जब उनमे अनित्य, दु.ख, अनात्म लक्षण दिखायी पडते है, तो भय, आदीनव, निर्वेद एवं मुञ्चितुकम्यता-ज्ञान होने के अनन्तर योगी उन संस्कार-धर्मो से सर्वथा मुक्त होने के लिए उनकी अनित्य-दु ख-अनात्म लक्षणो द्वारा पुन.पुन. विपश्यना करता है।

संस्कारोपेक्षा-ज्ञान (संङ्खारुपेक्खा-ञाण) प्रतिसंख्या-ज्ञान द्वारा सस्कार-धर्मो को छोड देने के बाद उन संस्कार-धर्मो को भय, आदिनव आदि द्वारा न देख कर उनकी उपेक्षा करने मे समर्थ ज्ञान 'संस्कारोपेक्षा-ज्ञान' कहलाता है। इस ज्ञान द्वारा उपेक्षा होने पर योगी 'इन सस्कार-धर्मो का आलम्बन भी नही करना' ऐसा नहीं कहा जा रहा है, क्योकि सभी विपश्यना-ज्ञान संस्कार-धर्मो का आलम्बन करके ही प्रवृत्त होते है। अपितु उनका आलम्बन करने पर भी न तो उनमे अनुराग करता है और न उन्हें भयानक ही समझता है, केवल उनकी उपेक्षा करके उनमे अनित्य, दु ख, अनात्म की विपश्यना मात्र करता है, केवल द्रष्टा-भाव से ही देखता है।

योगी 'सव सस्कार-शून्य है' ऐसा जानता है। इस प्रकार शून्य के तौर पर देख कर वह त्रिलक्षण (अनित्य, दु ख, अनात्म) का आरोपण कर संस्कारो का परिग्रह (देखना) करते हुए, भय और नन्दि (तृष्णा) को त्याग कर, मस्कारो मे मध्यस्थ (उदासीन) होता है। 'मै' या 'मेरा' ग्रहण नही करता, जैसे कि छोड दी गयी हुई स्त्री को पुरुष।

उपमा — जैसे, किसी पुरुष की स्त्री प्यारी, सुन्दरी हो, जो उसके विना एक मुहूर्त भी वह नही रह सके, उसे अत्यन्त ममत्व करे। उस स्त्री को अन्य पुरुष के साथ खडी, वैठी, वात करती, हँसती हुई देख कर वह क्रोधित हो, अप्रसन्न हो, वहुत अधिक दौर्मनस्य का अनुभव करे। कुछ समय के वाद उस स्त्री के दोष को देख कर उसे त्यागने की इच्छा वाला होकर वह उसे छोड दे। उसे 'यह मेरी है' ऐसा न माने, तव से लेकर उसे जिस किसी के साथ जो कुछ करते हुए देख कर भी, न क्रोध करे, न दौर्मनस्य का अनुभव करे, प्रत्युत मध्यस्थ (उदासीन) होए, ऐसे ही, इन सव सस्कारो से छुटकारा पाने की इच्छा वाला हो कर योगी प्रतिसख्यानुपश्यना से सस्कारो का परिग्रह (देखते) करते हुए, 'मै' 'मेरा' ग्रहण करने योग्य को न देख कर, भय और नन्दि (तृष्णा) को त्याग कर सव सस्कारो मे मध्यस्थ (उदासीन) होता है।

योगी को ऐसा जानते, ऐसा देखते तीनो भवो मे, चारो योनियो मे, पाँचो गतियो मे, सातो विज्ञान की स्थितियो मे, नौसत्त्वावासो मे चित्त सिकुड जाता है, स्थिर हो जाता है, इधर उधर, नही फैलता है और उपेक्षा या प्रतिकूलता उत्पन्न होती है, जैसे, थोडे से ढालुआ कमल के पत्ते पर वर्षा की वूदे सिकुड जाती हैं, एकत्र हो जाती है, इधर-उधर नही फैलती है। तत्पश्चात्, योगी को सस्कारोपेक्षा-ज्ञान उत्पन्न हो जाता है।

अन्न को साफ करने के लिए सूप मे फरकने के समान या वीज निकाली हुई कपास को धुनने के समान वह योगी नाना प्रकार के सस्कारो का परिग्रह कर के भय और नन्दि को त्याग कर तथा सस्कारो का विचार करने मे उदासीन होकर तीन प्रकार (अनित्य, दु ख, अनात्म) की अनुपश्यना के अनुसार ठहरता है। अनित्य के तौर पर मनस्कार करने वाले को क्षय के तौर पर सस्कार जान पडते हैं। अनात्म के तौर पर मनस्कार करने वाले को शून्य के तौर पर सस्कार जान पडते हैं।

"मुञ्चितुकामतो येव पटिसङखाय जानतो।
सङखारुपक्खानाम, ञाण जात नवमयोगिनो॥"

अर्थात्, सस्कार-धर्मो को छोडने की इच्छा होने से उन्हे प्रतिसख्या ज्ञान (मोक्तु कामता के वाद पुन तीन लक्षणो के द्वारा विपश्यना करने वाला ज्ञान) द्वारा जानते हुए नवम योगी की सन्तान मे 'सस्कारोपेक्षा' नामक ज्ञान उत्पन्न होता है।

अनुलोम-ज्ञान — इस ज्ञान से ऊपर जाने पर योगी को मार्ग एवं फल की प्राप्ति होती है, इसीलिए ऊपर के मार्ग-ज्ञान एवं फल-ज्ञान मे प्राप्त होने वाले वोधिपक्षीय धर्मो के तथा उदय-व्यय आदि नीचे के आठ ज्ञानो के अनुरूप होने के कारण इस ज्ञान को 'अनुलोम-ज्ञान' कहा जाता है।

यह अनुलोम-ज्ञान भी इस से पूर्व के आठ ज्ञानो की तरह अनित्य, दुःख एव अनात्म लक्षणो द्वारा ही विपश्यना करता है। इसलिए यह पूर्व के ज्ञानो के अनुरूप होता है। मार्गक्षण मे प्राप्त होने वाले वोधिपक्षीय धर्मों को प्राप्त करना योगी का मुख्य उद्देश्य होता है। इस उद्देश्य के अनुसार यह ज्ञान उन वोधिपक्षीय धर्मो को एकान्तरूप से प्राप्त करने वाला होने से उन वोधिपक्षीय धर्मो के भी अनुरूप होता है। (वोधिपक्षीय धर्म अध्याय ३० मे देखें)

उपमा — जैसे किसी राजा के मंत्रियो ने किसी अपराध का धर्मशास्त्रो के अनुसार निर्णय दिया और राजा ने उस निर्णय की घोषणा कर दी 'ऐसा हो', तो राजा की यह आज्ञा धर्मशास्त्रो के अनुरूप भी होती है और मन्त्रियो के अनुरूप भी होती है।

योगी को सस्कारोपेक्षा-ज्ञान का आसेवन करते हुए, भावना करते हुए, अभ्यास करते हुए, अधिमोक्ष-श्रद्धा प्रवलतर उत्पन्न होती है। (आलम्बन मे निश्चल-रूप से रहने को अधिमोक्ष कहते है, उससे उत्पन्न श्रद्धा अधिमोक्ष-श्रद्धा है) वीर्य भली प्रकार प्रयत्नशील होता है, स्मृति भली प्रकार उपस्थित होती है, चित्त भली प्रकार एकाग्र होता है और सस्कारोपेक्षा वहुत ही तेज होकर उत्पन्न होती है।

'अव मार्ग उत्पन्न होगा' ऐसा सोचते हुए योगी की संस्कारोपेक्षा, सस्कारो को अनित्य, दु ख, अनात्म के तौर पर विचार कर के, भवाङग मे उतर जाती है। भवाङग के अनन्तर सस्कारोपेक्षा मे किए हुए ढंग से ही सस्कारों को अनित्य, दु.ख, अनात्म के तौर पर आलम्वन करते हुए मनोद्वारावर्जन उत्पन्न होता है। तत्पश्चात् भवाङग रुक कर उत्पन्न हुए उसके क्रिया-चित्त के अनन्तर वीचि (चित्त-प्रवर्ति) रहित चित्त की सन्तति को वनाए हुए उसी प्रकार (जैसे पहले आठ ज्ञानो की भावना करने के समय सस्कारो को आलम्वन किया, उसीप्रकार) सस्कारो को आलम्वन कर के पहला जवन-चित्त उत्पन्न होता है, जो 'परिकर्म' कहा जाता है। उसके पश्चात् वैसे ही सस्कारो को आलम्वन कर के दूसरा जवन-चित्त उत्पन्न होता है, जो 'उपचार' कहलाता है। उसके अनन्तर भी वैसे ही सस्कारो को आलम्वन करके तीसरा जवन-चित्त उत्पन्न होता है, जो 'अनुलोम' कहा जाता है।

किसके अनुलोम है? पूर्व का भाग पिछले भागो का। वह पूर्व के आठ विपश्यना-ज्ञानो और ऊपर के ३७ वोधिपाक्षिक धर्मो के वैसे कृत्य के लिए अनुलोम करता है।

ऊपर उपमा मे बताये अनुसार राजा के समान अनुलोम-ज्ञान है। मन्त्रियो के समान इसके पूर्व के आठ ज्ञान है। धर्मशास्त्र के समान ३७ बोधिपाक्षिक धर्म है। वहा, जैसे राजा 'ऐसा हो' कहते हुए निर्णय करने वाले मंत्रियो का और धर्मशास्त्रो का अनुलोम करता है, ऐसे ही, यह अनित्य आदि के अनुसार संस्कारो के प्रति उत्पन्न हुआ हुआ, आठो ज्ञानो और ऊपर के ३७ धर्मो के अनुलोम करता है। इसी को सत्य का अनुलोम-ज्ञान कहा जाता है।

यह अनुलोम-ज्ञान सस्कारो के आलम्वन वाली उत्थानगामिनी विपश्यना के अन्त मे होता है, किन्तु सभी प्रकार के गोत्रभू-ज्ञान उत्थानगामिनी विपश्यना का अन्त है।

गोत्रभू सस्कार-धर्मो को आलम्वन नही करता, अपितु केवल निर्वाण का ही आलम्वन करता है। अत. वह विपश्यना ज्ञान मे सम्मिलित नही होता, अपितु विपश्यना ज्ञान के मूर्धा के सदृश होने से विपश्यना मे सङ्गृहित होता हे।

अनुलोम-ज्ञान की उत्पत्ति — सस्कारोपेक्षा ज्ञान द्वारा सस्कार-धर्मो के प्रति उपेक्षा करके पुन अनित्य, दु ख, अनात्म लक्षणो की वारवार विपश्यना करने पर सस्कार-धर्मो का आलम्वन करने की कामना न होने से उन धर्मो से निरपेक्ष होकर सस्कार-धर्मो से *विमुक्त निर्वाण की ओर चित्त का झुकाव होता है।* परन्तु *निर्वाण* को सीधे प्राप्त न कर पाने से निर्वाण को खोजते खोजते अन्त मे यह अनुलोम-ज्ञान सस्कार-धर्मो का ही आलम्वन करता है।

उपमा — पुराने समय मे समुद्र-यात्रा करने वाले यात्री नौका मे अपने साथ एक कौआ ले जाया करते थे। जव वे मार्ग भूल जाते थे, तव किनारा खोजने के लिए कौआ छोडते थे। वह कौआ यद्यपि किनारा खोजने के लिए नौका से उड कर भिन्न भिन्न दिशाओ मे जाता, किन्तु किनारा न मिलने पर पुन पुन उसी नौका पर लौट कर आ जाता। अन्त मे, किनारा मिल जाने पर वह किनारे पर चला जाता।

इसी प्रकार, सस्कार-धर्मो से उपेक्षा हो जाने पर यह ज्ञान निर्वाण को खोजने के लिए इधर उधर दौडता है। किन्तु निर्वाण दिखाई न पडने के कारण वीच वीच मे पुन उन्ही सस्कार-धर्मो का आलम्वन करता है। निर्वाण दिखाई देने पर 'परिकर्म, उपचार, अनुलोम' इस क्रम से अनुलोम-ज्ञान उत्पन्न होने के वाद योगी गोत्रभू द्वारा निर्वाण का आलम्वन करके मार्ग की प्राप्ति तक पहुच सकता है।

इसप्रकार, उदय-व्यय ज्ञान से लेकर अनुलोम-ज्ञान तक क्रमश उत्पन्न होनेवाले नौ विपश्यना ज्ञानो को 'प्रतिपदा-ज्ञानदर्शन-विशुद्धि' कहते है।

"सङखारा लीनचित्तस्स वीतसङखारमेसतो।

अनुलोमनाम ञाण जात दसमयोगिनो॥"

अर्थात्, सस्कार-धर्मो मे लीन (उदासीन) चित्तवाले, अतएव वीतसस्कार (निर्वाण) का अन्वेषण करने वाले दशम योगी की सन्तान मे ‘अनुलोम’ नामक ज्ञान उत्पन्न होता है।

वुट्ठानगामिनी विपस्सना — मार्गधर्म को ‘व्युत्थान’ कहते है। इस व्युत्थान नामक मार्ग को प्राप्त करने की कारणभूत विपश्यना ‘व्युत्थानगामिनी विपश्यना’ कहलाती है।

सभी मार्ग, सस्कार-धर्मो का आलम्बन न कर केवल निर्वाण का ही आलम्बन करते है। इसलिए मार्ग-धर्म, सस्कार नामक आलम्बन निमित्तो से उत्तीर्ण (व्युत्थित) होते है। मार्ग प्राप्त हो जाने पर स्कन्ध-सन्तति दीर्घकाल तक ससार-वट्ट (ससार-वर्त) मे प्रवृत्त नही होती, यहाँ तक कि, वह स्रोतापत्ति-मार्ग की प्राप्ति मात्र से ही कामभूमि मे अधिक से अधिक सात भव तक प्रवृत्त हो सकती है, इससे अधिक नही। इसलिए मार्ग-धर्म, निरन्तर प्रवर्तमान वट्ट-स्कन्धो (सासारिक स्कन्धो) से व्युत्थित (विमुक्त) धर्म कहे जाते है। इसप्रकार, सस्कार एव वर्तप्रवृत्त (वट्ट-पवत्त = ससारप्रवृत्त) धर्मो से व्युत्थित (निर्गत) होने के कारण मार्ग को ‘व्युत्थान’ कहा जाता है। उस व्युत्थान नामक मार्ग की प्राप्ति मे कारणभूत विपश्यना को, जो सस्कारोपेक्षा-ज्ञान का अन्तिम भाग एव अनुलोम-ज्ञान ही है, ‘व्युत्थानगामिनी विपश्यना’ कहते है।

‘सस्कारोपेक्षा’ नामक ज्ञान के पूर्वभाग, मध्यभाग, एव मार्गवीथि से सम्बन्ध रखने वाला अन्तिम भाग, इसप्रकार तीन भाग किए जा सकते है। इनमे से पूर्वभाग, एव मध्यभाग का व्युत्थानगामिनी विपश्यना से कोई सम्बन्ध नही होता। अन्तिमभाग (इसे ही शिखर-प्राप्त कहा गया है) तथा अनुलोम-ज्ञान ‘व्युत्थानगामिनी विपश्यना’ कहलाता है।

गोत्रभू ज्ञान

गोत्तभूचित्त — सत्कायदृष्टि एव विचिकित्सा से अविरहित (सप्रयुक्त) स्कन्ध-सन्तति ‘पृथग्जन-गोत्र’ कही गयी है।

सत्कायदृष्टि एव विचिकित्सा से विरहित स्कन्ध-सन्तति ‘आर्य-गोत्र’ कही गयी है।

गोत्रभू-चित्त के उत्पादमात्र से यद्यपि आर्य-गोत्र मे पहुचना नही होता, तथापि मार्ग के निकट होने से समीपोपचार से उसे ‘आर्य-गोत्र पहुंच गया है’ ऐसा कहा जाता है।

यह गोत्रभू-चित्त अपने उत्पाद से पूर्व किसी आवर्जन चित्त के उपस्थित न होने पर भी निर्वाण का आलम्बन कर सकता है।

उपमा —जैसे, किसी वडे नहर को लॉघ कर दूसरे किनारे पहुचने की इच्छा वाला पुरुप वेग से दौड कर नहर के इस किनारे वृक्ष की शाखा मे वधी हुई एवं लटकती हुई रस्सी या लाठी को पकड कूद कर दूसरे किनारे जाने के लिए झुके, ढले, लटके हुए शरीर वाला होकर, दूसरे किनारे के ऊपरी भाग को पाकर, उसे छोड, कापते हुए दूसरे किनारे गिर कर धीरे से खडा हो जाता है, ऐसे ही, योगी भी भय, योनि, गति, स्थिति और निवास के दूसरे किनारे विद्यमान निर्वाण मे प्रतिष्ठित होना चाहते हुए, उदय-व्यय की अनुपश्यना आदि द्वारा वेग से दौड कर, आत्मभावरूपी वृक्ष की शाखा मे वाध कर लटकी हुई रूप-स्कन्ध की रस्सी या वेदना आदि मे से किसी एक डण्डे को ' अनित्य है, दु ख है, अनात्म है ' इसप्रकार के अनुलोम के आवर्जन द्वारा पकड कर उसे नही छोडते हुए प्रथम अनलोम-चित्त से कूद कर, द्वितीय से दूसरे किनारे जाने के लिए झुके, ढले, लटके हुए शरीर वाले के समान निर्वाण की ओर झुके, ढले, लटके हुए मन वाला होकर, तृतीय से दूसरे किनारे के ऊपरी भाग को पाने के समान, इस समय पाने योग्य निर्वाण के समीप होकर, उस चित्त के निरोध से सस्कारो के उस आलम्वन को छोड कर, गोत्रभू-चित्त से सस्कार-रहित दूसरे किनारे रूपी निर्वाण मे गिरता है, किन्तु एक आलम्वन मे आसेवन को प्राप्त न होने से प्रकम्पित होता हुआ, उस पुरुष के समान उसी समय सुप्रतिष्ठित नही हो जाता, प्रत्युत उसके वाद मार्ग-ज्ञान से प्रतिष्ठित हो जाता है।

अनुलोम-ज्ञान एवं गोत्रभू में विशेष—परिकर्म आदि अनुलोम-ज्ञान मोहरूपी अन्ध कार का प्रहाण कर सकता है, किन्तु निर्वाण का साक्षात्कार नही कर सकता।

गोत्रभू निर्वाण का साक्षात्कार कर सकता है, किन्तु मोह का प्रहाण नही कर सकता।

उपमा —जैसे एक चक्षुष्मान पुरुप ' नक्षत्रयोग को जानूगा ' सोच कर रात्रि मे निकल कर चन्द्रमा को देखता है, किन्तु घने वादलो से ढके होने के कारण वह देख नही पाता। तव हवा आकर घने वादलो को, दूसरी हवा आकर मध्यम वादलो को और तीसरी हवा आकर सूक्ष्म वादलो को उडा देती है। अव वह पुरुप चन्द्रमा को स्पष्टतया देखने मे समर्थ हो जाता है।

यहा, विविध वादलो के समान स्थूल, मध्यम एव सूक्ष्म मोहरूपी अन्ध कार है। तीन हवाओ के सदृश तीन (परिकर्म, उपचार, अनुलोम) अनुलोम-चित्त हैं। चक्षुष्मान पुरुप के समान गोत्रभू-ज्ञान है। चन्द्रमा के समान निर्वाण है। वादलो से रहित आकाश मे उस पुरुप द्वारा विशुद्ध चन्द्र देखे जाने के समान सत्य (निर्वाण) को ढकने वाले मोहरूपी अन्ध कार के दूर हो जाने पर गोत्रभू-ज्ञान द्वारा विशुद्ध निर्वाण देखना है।

जैसे, तीन हवाएं चन्द्र को ढंकने वाले बादलो को ही उडा सकती हैं, किन्तु चन्द्रमा को नही देख सकती; ऐसे ही, अनुलोम-ज्ञान मोह को ही नष्ट कर सकता है, निर्वाण को नही देख सकता। जैसे, वह पुरुष चन्द्रमा को ही देख सकता है, बादलो को नही उडा सकता; ऐसे ही, गोत्रभूज्ञान निर्वाण को ही देख पाने मे समर्थ है, क्लेश-रूपी अन्धकार का नाश करने मे समर्थ नही है।

इस प्रकार, गोत्रभू निर्वाण का सर्वप्रथम द्रष्टा होने के कारण मार्ग मे पूर्व आवर्जन के स्थान पर रहता है।

मार्ग-चित्त की उत्पत्ति—गोत्रभू-चित्त का निरोध होने के अनन्तर चार कृत्यो को एकसाथ सम्पन्न करने वाला मार्ग-चित्त उत्पन्न होता है। जिस प्रकार, दीपक बत्ती को जलाना, अंधकार को नष्ट करना, प्रकाश को उत्पन्न करना एव तेल को समाप्त करना, इन चार कृत्यो को एकसाथ सिद्ध करता है, उसी प्रकार, मार्ग-धर्म भी दुःख-सत्य का 'यह दुःख-सत्य इतना ही है, यह इन लौकिक चित्त-चैतसिक एवं रूप-धर्मों मे न तो न्यून है और न अधिक'—इस प्रकार परिच्छेद करके जानना नामक 'परिज्ञा-कृत्य', तृष्णा एवं लोभ नामक समुदय-सत्य का प्रहाण करना नामक 'प्रहाणकृत्य', निरोध (निर्वाण) सत्य का साक्षात् करना नामक 'साक्षात्-क्रिया-कृत्य' एव मार्गसत्य को स्वसन्तान मे उत्पन्न करना नामक 'भावना-कृत्य' इसप्रकार इन चार सत्यो को योगी एकसाथ, सम्पन्न कर सकता है।

मार्गक्षण में निर्वाण का ज्ञान निर्वाण को आलम्बन बना कर ही होता है, अतः इसप्रकार का ज्ञान 'आलम्बन प्रतिवेध' कहलाता है।

दुःख-सत्य का ज्ञान मोह-रहित होकर ही किया जा सकता है, अत. इसप्रकार का ज्ञान 'असम्मोह प्रतिवेध' कहलाता है।

भावार्थ—योगी मार्गक्षण मे दुःख-सत्य का आलम्बन नही करता, अपितु निर्वाण का ही आलम्बन करता है, तथापि वह दुःख-सत्य का ज्ञान असम्मोह प्रतिवेध द्वारा परिच्छेद करके कर लेता है। अर्थात्, चारो आर्य-सत्यो का प्रतिवेध एक ही ज्ञान द्वारा हो जाता है।

मार्ग-चित्त एक बार प्रवृत्त होने के अनन्तर फल-चित्त तीक्ष्ण पुद्गल मे तीन बार तथा मन्द पुद्गल मे दो बार ही प्रवृत्त होता है। तदनन्तर भवङ्गपात हो जाता है।

प्रत्यवेक्षण वीथि—फल-जवन दो तीन बार होने के अनन्तर भवङ्गपात होकर जब भवङ्ग-सन्तति विच्छिन्न होती है, तब 'मैंने इस मार्ग द्वारा निर्वाण का लाभ किया' इसप्रकार मार्ग का प्रत्यवेक्षण करनेवाली वीथि, 'मुझे मार्ग के फल का भी अनुभव हुआ है' इस प्रकार फल का प्रत्यवेक्षण करने वाली वीथि, 'मैंने

निर्वाण का साक्षात्कार किया है' इस प्रकार निर्वाण का प्रत्यवेक्षण करने वाली वीथि, 'मैंने इतने क्लेशो का प्रहाण किया है' इस प्रकार प्रहीण–क्लेशो का प्रत्यवेक्षण करने वाली वीथि, और 'इतने क्लेश अभी अवशिष्ट है' इसप्रकार शेप क्लेशो का प्रत्यवेक्षण करने वाली वीथि, इसतरह पाच प्रकार की प्रत्यवेक्षण-वीथियाँ होती है।

ज्ञानदर्शन-विशुद्धि — शील-विशुद्धि आदि पूर्वोक्त छ. विशुद्धियो के अनुसार क्रमश प्राप्य मार्ग 'ज्ञानदर्शन–विशुद्धि' कहलाता है।

'चतुसच्चं जानातीति ञाण, पच्चक्खतो पस्सतीति दस्सनं, किलेसमलतो विसुज्झनं विसुद्धि' अर्थात्, जो चार आर्य-सत्यो को जानता है, वह 'ज्ञान' पद से अभिहित होता है।

जो प्रत्यक्षत दीखता है, वह 'दर्शन' कहलाता है। क्लेश-मलो से विशुद्ध होना 'विशुद्धि' है। इसतरह, क्लेश-मलो से विशुद्ध चार आर्य-सत्यो को प्रत्यक्षत: देखने वाला ज्ञान 'ज्ञानदर्शन-विशुद्धि' है।

सात विशुद्धियो मे शील-विशुद्धि एव चित्त-विशुद्धि सब विशुद्धियो की मूल है। यदि ये दो विशुद्धियाँ मूल मे न हो, तो ऊपर की अन्य विशुद्धियो का उत्पाद असम्भव है।

शील-विशुद्धि, चित्त-विशुद्धि, दृष्टि-विशुद्धि एव काङ्क्षावितरण-विशुद्धि मे नाम-रूप धर्मो का अनित्य, दु ख, एव अनात्म लक्षणो द्वारा सम्मर्शन नही किया जाने के कारण उस समय इनमे सम्मर्शन-ज्ञान नही होता।

मार्गामार्ग-ज्ञानदर्शन-विशुद्धि मे सम्मर्शन-ज्ञान एव उदय-व्यय-ज्ञान का पूर्व-भाग होता है।

प्रतिपदा-ज्ञानदर्शन-विशुद्धि मे उदय-व्यय-ज्ञान का अन्तिम भाग, भङ्ग-ज्ञान, भय-ज्ञान, आदीनव-ज्ञान, निर्वेद (निब्बिदा) ज्ञान, मोक्तुकाम्यता (मुञ्चितुकम्यता) ज्ञान, प्रतिसख्या-ज्ञान, सस्कारोपेक्षा-ज्ञान एव अनुलोम-ज्ञान होते है।

ज्ञानदर्शन-विशुद्धि मे कोई विपश्यना-ज्ञान नही होता, क्योकि निर्वाण का आलम्बन करने से सस्कार-धर्मो मे अनित्य-दु ख-अनात्म की विपश्यना नही की जा सकती।

सक्षेप मे विपश्यना मे ज्ञान इस प्रकार है —

(१) 'सम्मस्सन' ञाण—अनिच्चा, दुक्ख, अनत्ता को वुद्धि के स्तर पर समझना इनका अर्थ है To understand on theoretical basis.

(२) 'उदयव्वय' ञाण—नाम-रूप धर्मो के उत्पाद एव निरोध को अनुभूति द्वारा देखना।

(३) 'भङ्ग' ञाण—नाम-रूप धर्मो को अत्यंत तीव्र गति से वदलने वाले प्रवाह के स्रोत की अनुभूति। स्पष्ट रूप से निरोध के प्रवाह के स्रोत को (शक्ति को) देखना।

(४) 'भय' ञाण—नाम-रूप धर्मो मे भयावह स्थिति को देखना।

(५) 'आदीनव' ञाण—नाम-रूप धर्मो मे दोषो की अनुभूति होना।

(६) 'निब्बिदा' ञाण—नाम-रूप धर्मो मे विराग उत्पन्न होना।

(७) 'मुञ्चितुकम्यता' ञाण—नाम-रूप धर्मो से छुटकारा पाने की तीव्र इच्छा होना।

(८) 'पटिसङखा' ञाण—सस्कार-धर्मो मे अनित्य-दुक्ख-अनात्म लक्षणो की पुन पुन विपश्यना करना। अनित्य-वोध को सतत अनुभूत करते हुए मुक्त होने के लिए चित्त का झुकना।

(९) 'सङखारुपेक्खा' ञाण—सस्कार-धर्मो से अलिप्त होने का समय आ चुका है, यह जान कर 'मै-मेरा' अहभाव का प्रहाण हो जाता हे। सस्कार-धर्मो की उपेक्षा होती है।

(१०) 'अनुलोम' ञाण—मार्ग-फल की ओर वढते रहना। गति को वढाते रहना। मोह-रूपी अन्ध कार का प्रहाण करते रहने का क्रम वढाना।

(११) ज्ञान-दर्शन 'गोत्तभू' चित्त—निर्वाण के साक्षात्कार के लिए छलॉग लगाना।

(१२) 'मग्गफल'—मार्ग-चित्त उत्पन्न होता है और फल-चित्त की प्राप्ति होती है। यही निर्वाण का साक्षात्कार है।

उपरोक्त ज्ञान कुछ उपमाओ से हम समझे—

(१) चमगीदड की उपमा—एक चमगीदड (पक्षी) 'यहा फूल या फल को पाऊगा' ऐसा सोचते हुए पॉच शाखा वाले महुआ के वृक्ष पर वैठ कर, एक शाखा का स्पर्श कर के उसमे फूल या फल कुछ भी ग्रहण करने योग्य नही देखा। ऐसे एक को, ऐसे ही दूसरी, तीसरी, चौथी तथा पाचवी शाखा को भी स्पर्श करके कुछ भी ग्रहण करने योग्य नही देखा। यह वृक्ष फल-रहित है, इसमे कुछ भी ग्रहण करने योग्य नही है' ऐसा सोच वह उस वृक्ष मे आलय को छोड कर, सीधी शाखा पर चढ कर, विटप (सिरे की शाखा) के वीच शिर को निकाल कर ऊपर देख आकाश मे उड कर अन्य फलवान वृक्ष पर वैठा।

यहाँ, चमगीदड पक्षी के समान योगी को जानना चाहिए। पाच शाखा वाले महुआ के पेड के समान पाँच उपादान-स्कन्धों को जाने। चमगीदड के वृक्ष के पाच शाखाओ पर वैठने के समान योगी का पाँचो स्कन्धो मे अभिनिवेश है। उसके एक एक शाखा का स्पर्श करके कुछ भी ग्रहण करने योग्य न देख कर तथा अवशेष शाखाओं को स्पर्श कर के कुछ भी ग्रहण करने योग्य न देखने के समान ही योगी का रूप-स्कन्ध का विचार करके, उसमे कुछ भी ग्रहण करने के योग्य नही देख कर अवशेष स्कन्धों का विचार करना ऐसा जाने। 'यह वृक्ष फल-रहित है', सोच कर वह पक्षी वृक्ष मे आलय को छोडने के समान योगी का पाँचो स्कन्धो मे अनित्य-लक्षण आदि को देखने के अनुसार निर्वेद प्राप्त होते हुए मुञ्चितुकम्यता आदि तीनो ज्ञान है ऐसा जानें। उसके सीधी शाखा पर ऊपर चढने के समान योगी का अनुलोम है, गिर को ऊपर निकाल कर उसके देखने के समान गोत्रभू-ज्ञान है, आकाश मे उसके उडने के समान मार्गज्ञान है ओर अन्य फलवान वृक्ष पर पक्षी के वेठने के समान फल-ज्ञान है।

(२) घर की उपमा——घर के मालिक के सन्ध्या-समय भोजन कर के विछौने पर लेटने के वाद घर जलने लगा। तब वह शीघ्र उठ कर आग देख भयभीत हो 'बहुत अच्छा हो कि मै विना जले ही वाहर निकल जाऊ,' ऐसा सोचते हुए मार्ग को देखता हुआ वह वाहर निकल कर वेग से निर्भय स्थान पर जा खडा हो गया।

यहा, घर के मालिक के भोजन करके विछौने पर सोने के समान योगी का वाल (अज्ञ) पृथक्जन का पञ्चस्कन्ध मे 'मै' 'मेरा' ग्रहण करना है ऐसा जाने, घर-मालिक के उठ कर आग देख भयभीत होने के समान योगी को सम्यक् प्रतिपदा पर चलते हुए त्रिलक्षण को देख कर भयतोपस्थान-ज्ञान है ऐसा जाने। घर-मालिक के निकलने के मार्ग को देखने के समान योगी का मुञ्चितुकम्यता-ज्ञान है। घर-मालिक के मार्ग को देखने के समान योगी का अनुलोम है। घर-मालिक के वाहर निकलने के समान योगी का गोत्रभू-ज्ञान है। घर-मालिक के वेग से जाने के समान योगी का मार्ग-ज्ञान है। घर-मालिक के निर्भय स्थान पर खडा होने के समान योगी का फल-ज्ञान है, ऐसा जानना चाहिए।

(३) वैल की उपमा——एक किसान के रात्रि मे सोते समय उसके गोठे के वैल रस्सियो को तोड कर भाग गये। किसान भोर के समय गोठे मे जाकर देखते हुए वैलो के भाग जाने की घटना जान, उनके पैरो के चिन्हो को देख कर चिन्हो के पीछे-पीछे जा, आगे उसने राजा के वैलो को देखा। उन्हे 'मेरे वैल है' समझ कर लाते हुए प्रात काल मे 'ये मेरे वैल नही है, राजा के वैल है' जान कर किसान 'जब तक मुझे —यह चोर है—कह कर राजपुरुष पीडित नही करते है, तब तक भाग जाऊंगा,' ऐसा सोच कर भयभीत होकर, वैलो को छोड, वेग से भाग कर निर्भय स्थान मे जा खडा हुआ।

यहाँ, 'मेरे वैल है' ऐसा सोच कर राजा के वैलों को किसान द्वारा पकडने के समान वाल (अज्ञ), पृथक्जन का 'मैं' 'मेरा' कह कर योगी द्वारा स्कन्धो को ग्रहण करना है, ऐसा जाने। प्रात.काल मे 'राजा के वैल है' ऐसा किसान द्वारा जानने के समान योगी का त्रिलक्षण के अनुसार स्कन्धो को 'अनित्य, दु ख, अनात्म है' ऐसा जानना है। किसान के भयभीत होने के समय के समान योगी का 'भयतोपस्थान-ज्ञान' है। किसान द्वारा वैलो को छोड कर जाने की इच्छा के समान योगी की 'मुञ्चितुकम्यता' है। वैलो को छोडने के समान योगी का गोत्रभू है। किसान के भाग जाने के समान योगी का मार्ग है। किसान के भाग कर निर्भय स्थान में खडा होने के समान योगी का फल है, ऐसा साधक जाने।

(४) यक्षिणी की उपमा—एक आदमी ने यक्षिणी के साथ सहवास किया। वह यक्षिणी रात्रि मे 'यह सो गया है' ऐसा जान कर श्मशान मे जाकर मनुष्य-मास खाती थी। वह मनुष्य 'यह कहा जाती है' (सोच कर) उसके पीछे पीछे जा, मनुष्य-मास को खाते हुए देख, उसके अ-मनुष्य होने की वात को जान कर, 'जव तक यह मुझे नही खाती है, तव तक भाग जाऊगा' सोचते हुए भयभीत हो, वेग से भाग कर वह आदमी निर्भय स्थान मे जा खडा हुआ।

यहाँ, यक्षिणी के साथ आदमी के सहवास के समान योगी का स्कन्धो को 'मैं, मेरा' ग्रहण करना है। श्मशान मे मनुष्य-मास खाते हुए देख कर 'यह यक्षिणी है' ऐसा आदमी द्वारा जानने के समान योगी द्वारा स्कन्धो के त्रिलक्षण को देख कर अनित्य आदि होने को जानना है। आदमी के भयभीत होने के समय के समान योगी का 'भयतोपस्थान' है। आदमी के भागने की इच्छा के समान योगी की 'मुञ्चितुकम्यता' है। आदमी के स्मशान को छोडने के समान योगी का गोत्रभू है। आदमी के वेग से भागने के समान योगी का मार्ग है। आदमी के निर्भय स्थान मे जाकर खडा होने के समान योगी का फल है, ऐसा जानना चाहिए।

(५) पुत्र की उपमा—एक पुत्र-वत्सला स्त्री थी। वह महल के ऊपर वैठी हुई ही गली मे वच्चे के शव्द को सुन कर 'मेरे पुत्र को कोई पीडित कर रहा है' (सोच) वेग से जा, उसने अपना पुत्र जान कर दूसरे के पुत्र को ले लिया। तदनन्तर, 'यह दूसरे का पुत्र है' ऐसा जान कर सकोच करती हुई इधर-उधर देख कर, 'यह पुत्र-चोरिनी है, ऐसा कोई मुझे न कहे' (सोच) पुत्र को वही रख कर, पुन वेग से वह स्त्री महल पर चढ कर वैठ गई।

यहाँ स्त्री के अपना पुत्र जान कर उसे लेने के समान 'मै' 'मेरा' कह कर योगी द्वारा पञ्चस्कन्ध को ग्रहण करना है। 'यह दूसरे का पुत्र है' ऐसा स्त्री द्वारा जानने के समान त्रिलक्षण के अनुसार 'न मै हू' 'न मेरा है' ऐसा योगी का जानना है। स्त्री के सकोच करने के समान योगी का 'भयतोपस्थान' है। स्त्री के इधर-उधर

देखने के समान योगी की मुञ्चितुकम्यता है। स्त्री के वहीं पुत्र रखने के समान योगी का अनुलोम है। स्त्री के गली मे खडी होने के समान योगी का गोत्रभू है। स्त्री के महल पर चढने के समान योगी का मार्ग है। स्त्री के चढ कर बैठने के समान योगी का फल है, ऐसा साधक जाने।

भूख, प्यास, शीत, उष्ण, अन्धकार और विप ये निम्नलिखित छ उपमाएँ व्युत्थानगामिनी विपश्यना मे स्थित (व्यक्ति) के लोकोत्तर धर्म की ओर झुकने, नमने और लगे रहने के भाव को दिखलाने के लिए कही गई है।

(१) भूख—जैसे, भूख से बहुत ही पीडित पुरुप स्वादिष्ट रस वाले भोजन को चाहता है, ऐसे ही, इस ससार-चक्र की भूख से सदा भूखा योगी 'कायगतानुस्मृति' के भोजन को चाहता है।

(२) प्यास—जैसे, प्यासा पुरुप, जिसका प्यास के मारे गला और मुख सूख रहा है, अनेक से बनाये हुए पेय को चाहता है; ऐसे ही, इस ससार-चक्र की प्यास से सदा प्यासा योगी 'आर्य-अष्टाङ्गिक' मार्ग के पेय को चाहता है।

(३) शीत—जैसे, शीत से पीडित पुरुप उष्णता चाहता है; ऐसे ही, इस ससारचक्र मे तृष्णा और आसक्ति के शीत से पीडित योगी क्लेशो को सतप्त कर देने वाले 'मार्गाग्नि' को चाहता है।

(४) उष्ण—जैसे, उष्णता से पीडित हुआ पुरुप शीतलता चाहता है, ऐसे ही, इस ससार-चक्र मे ग्यारह अग्नि (राग, द्वेष, मोह, जन्म, जरा, मरण, शोक, परिदेव, दु ख, दौर्मनस्य और उपायास) के सन्ताप से सतप्त हुआ योगी इन ग्यारह अग्नियो को शान्त करने वाले 'निर्वाण' को चाहता है।

(५) अन्धकार—जैसे, अन्धकार मे पडा हुआ पुरुप आलोक चाहता है; ऐसे ही, इस अविद्या के अन्धकार से भली प्रकार घिरा हुआ योगी ज्ञान के आलोक 'मार्ग-भावना' को चाहता है।

(६) विप—जैसे, विप से पीडित हुआ पुरुप उस विप को नाश करने वाली दवा चाहता है, ऐसे ही, इस क्लेश-विप से पीडित हुआ योगी क्लेश-विप को शान्त कर देने वाली अमृत-औपधि 'निर्वाण' को चाहता है।

विमोक्ष–भेद

प्रतिपक्षभूत क्लेश-धर्मो से विमुच्यमान (मुक्त हो रहे) धर्म एवं विमुक्त-धर्म 'विमोक्ष' कहे जाते है।

इस मार्ग-फल नामक विमोक्ष मे प्रवेशद्वार की भ्रान्ति होने से व्युत्थानगामिनी विपश्यना 'विमोक्ष-मुख' कहलाती है।

'आत्मा है' इस प्रकार के अभिनिवेश को 'आत्माभिनिवेश' कहते है। तीन प्रकार की अनुपश्यनाओं मे से जो अनुपश्यना आत्माभिनिवेश का त्याग करने मे समर्थ होती है, वह अनुपश्यना (अनात्मानुपश्यना) 'शून्यतानुपश्यना' नामक 'विमोक्ष-मुख' कहलाती है।

अनित्य-धर्मो को 'ये नित्य है' इस प्रकार विपर्यस्त (उलटे) रूप मे समझने वाले सज्ञा, चित्त एव दृष्टि नामक तीन धर्मो को 'विपर्यास' (विपल्लास) कहते है। ये विपर्यास-धर्म, क्लेश-धर्मो की उत्पत्ति के कारण या निमित्त होने के कारण 'विपर्यास-निमित्त' भी कहे जाते है। तीन अनुपश्यनाओं मे से अनित्यानुपश्यना 'अनिमित्तानुपश्यना' नामक 'विमोक्ष-मुख' कहलाती है।

सस्कार-आलम्बनो मे चित्त को दृढतापूर्वक रखने वाली या उनकी अभिलाषा करने वाली तृष्णा 'तृष्णा-प्रणिधि' कहलाती है।

दु खानुपश्यना 'अप्रणिहितानुपश्यना' नामक 'विमोक्ष-मुख' कहलाती है।

व्युत्थानगामिनी विपश्यना तक पहुचने से पहले सस्कार-धर्मो मे अनित्य, दु ख, अनात्म, इस प्रकार नाना प्रकार की विपश्यना करनी पडती है।

फलसमापत्ति के आसन्न काल मे नाम-रूप धर्मो की अनित्य, दु ख, अनात्म रूप से विपश्यना की जाती है।

केवल एक लक्षण की विपश्यना मात्र से कदापि मार्ग प्राप्त नही हो सकता, अपितु तीनो लक्षणो की विपश्यना अपेक्षित होती है। व्युत्थानगामिनी विपश्यना वीथि मे केवल एक वीथि द्वारा अनित्य, दु ख,अनात्म, इन तीनो लक्षणो की विपश्यना नही की जा सकती, अपितु इनमे से किसी एक की ही विपश्यना की जा सकती है।

पुद्गल–भेद

(१) स्रोतापन्न (सोतापन्न) (२) सकृदागामी (सकदागामी) (३) अनागामी (४) अर्हत् (अरहन्त)–ये चार भेद ही चार मार्ग हैं एव चार फल हैं।

(१) **सोतापन्न**—स्कन्ध-पञ्चक मे आत्मा का उपादान करना 'सत्काय-दृष्टि' है। शाश्वत-दृष्टि, उच्छेद-दृष्टि, नास्ति-दृष्टि, अहेतुक-दृष्टि एवं अक्रिया-दृष्टि, ये दृष्टिया सत्काय-दृष्टि की मूलभूत दृष्टिया होती है। इसलिए दश-क्लेशो मे 'दृष्टि-क्लेश' सब से दुर्घर्ष होता है। विचिकित्सा भी दृष्टि की अनुचर होती है। स्रोतापन्न होने वाला योगी दृष्टि-विशुद्धि एव काङ्क्षावितरण-विशुद्धि के काल मे ही इन दृष्टि एव विचिकित्सा-क्लेशो को दुर्वल एवं कुछ कुछ प्रहाण के योग्य कर देता है। अत. स्रोतापत्तिमार्ग के क्षण मे इन दृष्टि एवं विचिकित्सा नामक क्लेशो का वह अशेष प्रहाण कर देता है।

स्रोतापन्न की सन्तान मे विद्यमान अविद्या, तृष्णा आदि ससार-मूल-धर्मो मे अपाय प्राप्त कराने की शक्ति नही होती, अत स्रोतापन्न होने से पहले किए हुए अपायगमनीय अकुशल कर्म भी अविद्या, तृष्णा आदि ससार-मूल-क्लेश धर्मो का सहयोग न मिलने से अपाय प्राप्त कराने मे समर्थ नही होते।

स्रोतापन्न होने के अनन्तर अधिक से अधिक सात भव तक ही प्रतिसन्धि (जन्म) होने की अवधि है। सात बार प्रतिसन्धि (जन्म) होने के अनन्तर वह एकान्त-रूप से (निश्चय से) अर्हत् होता है, तब उसका अष्टम भव कदापि नही हो सकता।

(२) **सकदागामी** — जब पुद्गल सकृदागामी होता है, तो वह राग, द्वेष एव मोह धर्मो को दुर्बल कर देता है। अर्थात् पृथग्जनो की भाति सकृदागामी पुद्गल की सन्तान मे राग, द्वेष, मोह पुन पुन उत्पन्न नही होते। यदि वे कदाचित् उत्पन्न होते भी है, तो तीक्ष्ण नही होते। सकदागामी को केवल एक बार प्रतिसन्धि (जन्म) होता है।

(३) **अनागामी** —इस कामभूमि मे प्रतिसन्धि लेकर स्वभावत पुन इस काम-भूमि मे न आनेवाला पुद्गल 'अनागामी' कहलाता है।

अनागामी काम, राग एव व्यापाद नामक क्लेशो का अशेष प्रहाण कर देता है, अत उसकी सन्तान मे काम-तृष्णा का लेश भी न होने के कारण उसके लिये पुन इस काम-भूमि मे आने का प्रश्न ही नही उठता। रूप-राग एव अरूप-राग का प्रहाण न कर सकने के कारण वह रूप या अरूप भूमि मे प्रतिसन्धि ले सकता है।

(४) **अर्हत्** — योगी नीचे के मार्गो (सोतापन्न, सकदागामी, अनागामी) द्वारा जिन क्लेशो का प्रहाण करने मे असमर्थ रहता है, अर्हत् पुदगल उन सभी अवशिष्ट क्लेशो का सर्वथा प्रहाण कर देता है। दस क्लेश-धर्मो मे से रूप-राग एव अरूप-राग नामक लोभ का एकदेश, दृष्टिगत-विप्रयुक्त और औद्धत्य-सहगत चित्तो मे सम्प्रयुक्त मोह का एकदेश, मान, स्त्यान, औद्धत्य, आह्रीक्य एव अनपत्राप्य नामक क्लेश तथा नौ सयोजनो मे से रूप-राग, अरूप-राग, मान, औद्धत्य एव अविद्या नामक पाच उर्ध्वभागीय सयोजन, इनका नीचे के मार्गो द्वारा प्रहाण नही किया जा सकता। इन क्लेश एव सयोजन धर्मो का केवल अर्हत्-मार्ग द्वारा ही अनवशेष (सर्वथा) प्रहाण किया जा सकता है।

समापत्ति भेद

फल-समापत्ति — ध्यान, फल एव निरोध धर्मोकी सम्यक् प्राप्ति ही क्रमश. ध्यान-समापत्ति, फल-समापत्ति एवं निरोध-समापत्ति कहलाती है। (समापत्ति याने प्राप्ति)

फल-समापत्ति का समावर्जन करते समय सभी आर्य-पुद्गल स्वसम्बद्ध फल

का ही समावर्जन कर सकते हैं। जैसे, स्रोतापन्न पुद्गल स्रोतपत्ति-फल का ही समावर्जन कर सकता है, अन्य का नही।

फल-समापत्ति मे समाहित योगी जब तक उस समापत्ति से उठता नही, तब तक फलचित्त ही पुन पुन. निरन्तर प्रवृत्त होते रहते है। जब सङ्कल्पित काल पूर्ण हो जाता है, तब फलचित्त-सन्तति का निरोध होकर भवङ्गचित्त का उत्पाद होता है। इस प्रकार फलचित्त-सन्तति का रुक जाना ही 'समापत्ति से उठना' कहलाता है।

निरोध-समापत्ति ——निरोध-समापत्ति का समावर्जन करना, सभी आर्य-पुद्गलो का विषय नही है। आठ समापत्तियो के लाभी अनागामी एव अर्हत् पुद्गल ही उसका समावर्जन कर सकते है। क्योकि अनागामी एवं अर्हत् पुद्गलो की समाधि परिपूर्ण हो चुकी रहती है। अत निरोध-समापत्ति का समावर्जन ये ही कर सकते है।

बुद्धशासन मे प्रतिपत्ति (पटिपत्ति)—रस के आस्वादन-रूप ध्यान, मार्ग एवं फल को चाहने वाले पुद्गलो को उपर्युक्त क्रम से शमथ एव विपश्यना नामक उत्तम भावनाद्वय का उत्पाद करना चाहिए।

शमथ और विपश्यना, ये दो उत्तम भावनाए है। परियत्ति और प्रतिपत्ति के भेद से बुद्धशासन द्विधा विभक्त है। उनमे बुद्धवचनो का अध्ययन 'परियत्ति' है। शील आदि का विशोधन करके उपर्युक्त सात विशुद्धियो के क्रम से अर्हत्त्व-प्राप्ति के लिए विपश्यना करना 'प्रतिपत्ति' है। बुद्धशासन मे इस प्रतिपत्ति के अमृतमय रस का आस्वादन करने के इच्छुक पुद्गलो को उपर्युक्त दोनो भावनाओ का उत्पाद करना चाहिये।

अध्याय २९

निब्बान

"निब्बान पन लोकुत्तरसङ्खात चतुमग्गञाणेन सच्छिकातव्व मग्गफलान-मारमणभूत वानसङ्खाताय तण्हाय निक्खन्तत्ता 'निब्बान' ति पवुच्चत्ति।"

अर्थात, 'लोकोत्तर' नामक, चार मार्ग-ज्ञान द्वारा साक्षात् करने योग्य तथा मार्ग एव फल का आलम्वनभृत निर्वाण 'वान' नामक तृष्णा से निर्गत होने के कारण 'निर्वाण' कहा जाता है।"

इस पाठ से मार्ग-ज्ञान-प्राप्त आर्य-पुद्गल ही निर्वाण-धर्म का साक्षात् कर सकते हैं, यह दिखलाया है।

'मार्ग एव फल' को अप्राप्त पुद्गल निर्वाण का साक्षात्कार नही कर सकते।

निब्बान शव्द मे 'वान' शव्द का अर्थ 'तृष्णा' है। 'वान' यह जोडने वाला धर्म है। इसके द्वारा एक भव का दूसरे भव से योग होता है। जव तक इस 'वान' नामक तृष्णा का अन्त नही होता, तव तक निर्वाण असम्भव है। 'नि' शव्द का अर्थ निस्सरण है, अर्थात् वान से निर्गत धर्म ही निर्वाण है।

निर्वाण का स्वरूप——भव से भव को जोडने अर्थात् ससार-रूपी ताना-वाना वुनने के कारण तृष्णा को 'वान' कहते है। उस 'वान' (तृष्णा) से निष्क्रान्त (निर्गत) होने के कारण 'निर्वाण' यह नाम सार्थक होता है। निर्वाण को ही अमृत, असस्कृत एव परमसुख भी कहते हैं।

"यदिद सव्वसङ्खारसमथो सव्वृपधिपटिनिस्सग्गो
तण्हक्खयो विरागो निरोधो निब्बान।"

यह निर्वाण शान्ति-लक्षण है। अच्युति इसका रस है अथवा आश्वास (उपशम) करना इसका रस है। अनिमित्तता या निष्प्रपञ्चता इसका प्रत्युपस्थान है। अर्थात्, इसका कोई निमित्त (संस्थान) नही है अथवा यह सर्व प्रपञ्चो से शून्य है, ऐसा योगी के ज्ञान मे प्रतिभासित होता है।

निर्वाण परमार्थत· स्वभावभूत एक धर्म है। मार्ग द्वारा निर्वाण प्राप्तव्य होने से 'असाधारण' है। मार्ग द्वारा वह प्राप्तव्यमात्र है, उत्पादनीय नहीं, अत. पूर्वा कोटि न होने से 'अप्रभव' है। उत्पाद न होने से 'अजरामरण' (अजर-अमर)

है। उत्पाद, स्थिति, भङ्ग न होने से 'नित्य' है। रूप-स्वभाव का अभाव होने से 'अरूप' है तथा सर्व प्रपञ्चो से अतीत होने से 'निष्प्रपञ्च' है।

निर्वाण स्वभाव से एक प्रकार का होने पर भी कारणपर्याय से सोपधिशेष निर्वाणधातु एव अनुपधिशेष निर्वाणधातु, इस प्रकार द्विविध होता है। तथा शून्यता-निर्वाण, अनिमित्त-निर्वाण, अप्रणिहित निर्वाण, इसप्रकार आकार-भेद से निर्वाण त्रिविध होता है।

मार्ग द्वारा क्लेशो का सर्वथा प्रहाण हो जाने पर आर्य-पुद्गलो की सन्तान मे केवल विपाकविज्ञान एव कर्मज-रूप ही अवशिष्ट रह जाते है। अत इन्हे 'उपादिसेस' कहते है, अथवा अर्हतो के पञ्चस्कन्ध ही 'उपादिसेस' है। जो निर्वाणधातु 'उपादि-सेस' है, अर्थात्, क्लेश से रहित विपाकविज्ञान एव कर्मज-रूपो के साथ प्रवृत्त होती है, वह 'सोपधिशेष' निर्वाण-धातु है।

जव परिनिर्वाण होता है, तव विपाक-विज्ञान एव कर्मज-रूप भी अवशिष्ट नही रहते। जिस निर्वाण-धातु के साथ विपाक-विज्ञान एव कर्मज-रूप भी नही है, उसे 'अनुपधिशेष' निर्वाण-धातु कहते है।

सुञ्ञतं——निर्वाण राग, द्वेष एवं मोह के साथ रूपस्कन्ध एवं नामस्कन्ध से शून्य होता है। इस तरह, राग, द्वेष एवं मोह के साथ सभी नाम-रूप धर्मो के शून्यताकार का लक्ष्य कर के 'शून्यता निर्वाण' कहा जाता है।

अनिमित्तं——'निमित्त' शब्द लम्बाई चौडाई आदि सस्थान के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। रूपस्कन्ध रूपकलापो के पिण्ड के रूप मे विभिन्न प्रकार के सस्थान (आकार) वाला होता है। नामस्कन्ध सस्थान के रूप मे न होने पर भी सस्थान की तरह प्रति-भासित होता है। निर्वाण इसतरह के संस्थान वाला नही है। इसलिए इसे 'अनिमित्त निर्वाण' कहा जाता है।

अप्पणिहितं——'प्रणिहित' शब्द 'प्रार्थित' अर्थ मे होता है। यह 'प्रणिहित' शब्द 'प्रणिधि' का पर्यायवाची है। निर्वाण तृष्णा-स्वभाव से प्रार्थना करने योग्य नही है तथा निर्वाण मे प्रार्थना करने वाली तृष्णा भी नही है। इस प्रकार, तृष्णा द्वारा अप्रणिहित तथा प्रार्थना करने वाली तृष्णा के अभावाकार का लक्ष्य करके 'अ-प्रणिहित निर्वाण' कहा जाना है।

तीसरा आर्यसत्य 'दु खनिरोध' का साक्षात्कार निर्वाण है। चूकि उसे पाकर तृष्णा अलग होकर निरुद्ध हो जाती है, इसलिए विराग और निरोध कहा जाता है।

निर्वाण के शान्त-सुख-स्वभाव का पुन पुन· स्मरण करना 'उपशमानुस्मृति' है।

निर्वाण चित्त, चैतसिक एव रूप नामक परमार्थ-धर्मो से पृथक् परमार्थ-धर्म है। अत नाम-रूप सस्कारो से सर्वथा असम्बद्ध होने के कारण, वह नामविशेष एव रूपविशेष नही हो सकता।

"अज्झत्ता धम्मा, वहिद्धा धम्मा"। निर्वाण 'वहिद्धा' धर्म मे परिगणित है, अत यह स्कन्ध के अन्तर्गत रहने वाला अमृत की तरह कोई अविनाशी नित्य धर्म नही हो सकता। निर्वाण पुद्गल एव सत्त्व की तरह कोई वेदक (ज्ञाता) धर्म भी नही है और न रूप, शब्द आदि आलम्बनो की तरह 'वेदयितव्य' धर्म ही है। अत निर्वाण मे वेदयितव्य सुख नही है, किन्तु वेदयितव्य सुख से कोटिगुणा अधिक शान्ति-सुख एकान्तरूप (निश्चयरूप) से होता है।

हमारे नित्य के अनुभव मे आने वाला वेदयित सुख (जिसे हम सुख कहते है, वह) अनुभव (भोग) के अनन्तर व्ययशील एव भङ्गुर-स्वभाव होता है। उसके विनाश के अनन्तर हमे फिर नये सुखो की प्राप्ति के लिए इतना अधिक आयास (प्रयास) करना पडता है कि वह आयास-रूप दु ख, उस आयास से लब्ध सुख से कही अधिक होता है। इतने आयास से लब्ध सुख से भी जव सन्तुष्टि नही होती, तो पुद्गल उसे पुन पुन या अधिक परिमाण मे प्राप्त करने के लिए पापाचरण तक करने मे प्रवृत्त हो जाते है। उस मिथ्याचरण के फलस्वरूप वे अपायभूमि मे उत्पन्न होते है और निरन्तर इस भवचक्र मे भ्रमण करते रहते है। इस मिथ्या सुख की मृगमरीचिका मे पड कर मनुष्य की दशा कहा तक पहुच जाती है, इसका स्वय ही विचार किया जा सकता है।

इस वेदयित सुख से सर्वथा अमिश्रित यह निर्वाण 'नाम-रूप' सस्कार-धर्मो का निरोधस्थान होने से उपशम-स्वभाव वाला धर्म है।

अनागामी एव अर्हत् आर्य-पुद्गल नाम-रूप-स्कन्धो को अत्यधिक भारस्वरूप समझ कर उनसे विरत होने के लिए निरोध-समापत्ति मे पर्यापन्न होते है। उस समापत्ति-काल मे वेदयित (किसी भी प्रकार के अनुभव) कर्म बिलकुल नही होते। और चित्त-चैतसिक नामक नाम-धर्मो का एवं कुछ रूप-धर्मो का नया उत्पाद सर्वथा नही होता। इस प्रकार नाम-धर्मो एव कुछ रूप-धर्मो के निरोध से उपशम-रूप शान्तिसुख को महान् सुख समझ कर उसे प्राप्त करने के लिए पुद्गल इस समापत्ति का आश्रयण करते है।

सब से ऊपर की भूमि मे रहने वाले अरूपी ब्रह्मा की सन्तान मे भी केवल थोडे से नाम-धर्म ही होते है, किन्तु जव वह अर्हत् हो जाता है, तब उसकी सन्तान मे केवल कुल बारह चित्त रहते है। उनमे भी एक वार एक चित्त ही होता है। केवल एक ही चित्त होने से तथा अन्य नाम-रूप-धर्मो का निरोध हो जाने से उसे अत्यन्त शान्ति का अनुभव होता है। इस एक चित्त का भी निरोध हो जाने पर उसे सर्वदा के लिए नाम-रूप धर्मो से सर्वथा विमुक्त उपशमरूप निर्वाण-धातु का लाभ होता है।

यह शान्ति-सुखस्वरूप निर्वाण-धातु सर्वसाधारण कोई एक धर्म नही है, अपितु पुद्गल-भेद से उसका स्वरूप पृथक् पृथक् है। अर्थात्, निर्वाण एक नही, अपितु पुद्गल भेद से अनेक है। जब फल-समापत्ति का आवर्जन करते हैं, तब उस निर्वाण-धातु का आलम्बन कर के विहार करना भी अत्यन्त शान्तिकर होता है। 'थेरगाथा, थेरीगाथा' के स्थविर एव स्थविराए सब अर्हत् पुद्गल है। उन्होने निर्वाण का आलम्बन करके होने वाले उपशमरूप सुख का इसी जन्म मे साक्षात्कार किया है। इसीलिए, परि-निर्वाण से पहले नाम एव रूप-धर्मों का परित्याग करके सर्वदा के लिए निर्वाण प्राप्त करते समय उन्हे अत्यधिक उल्लास होता है और उस समय वे उदान-गाथाओं का गान करते है। हमे भी उन वचनो पर विश्वास करके उपशम-स्वभाव उस निर्वाण के गुणो का आलम्बन कर के उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

निर्वाण के स्वरूप के विषय मे नाना प्रकार की विप्रतिपत्तियाँ है। कुछ लोग निर्वाण को रूपविशेष एव नामविशेष कहते हैं। कुछ लोग कहते है कि नाम-रूपात्मक स्कन्ध के भीतर अमृत की तरह एक नित्य-धर्म विराजमान है, जो नाम-रूप के निरुद्ध होने पर भी अवशिष्ट रहता है। उस नित्य, अजर, अमर, अविनाशी के रूप मे विद्यमान रहना ही 'निर्वाण' है। कुछेक का मत है कि निर्वाण की अवस्था मे यदि नाम-रूप-धर्म न रहेगे, तो उस अवस्था मे सुख का अनुभव भी कैसे होगा इत्यादि। लोग इस प्रकार निर्वाण के स्वरूप का जैसे मन मे आता है, वैसा प्रतिपादन करते है, क्योकि उन्हे अनुभूति नही है, केवल अनुमान ही है।

जैसे किसी आलम्बन को प्राप्त करने वाले किसी पुद्गल को उस आलम्बन के विषय मे यथाभूत ज्ञान होता है, उसी तरह, निर्वाण को प्राप्त आर्य ही निर्वाण के स्वरूप का यथाभूत ज्ञान कर सकते है तथा प्रामाणिक रूप से प्रतिपादन कर सकते है। सामान्य पुद्गल उस गम्भीर निर्वाण को यथार्थ रूप से नही जान सकते। वे अनुमान से उसके स्वरूप का कुछ भी प्रतिपादन करते है।

निर्वाण अतीत, अनागत, प्रत्युत्पन्न तीनो कालो से विमुक्त है। उसके अज्झत्त-बहिद्धा (अध्यात्म-बाह्य) ये दो भेद नही किये जा सकते, वह केवल बाह्य है। निर्वाण के ओळारिक एवं सुखुम भेद भी नही हो सकते। वह केवल सुखुम (सूक्ष्म) है। दूरे एव सन्तिके ये दो भेद भी नही हो सकते, वह केवल 'दूरे' होता है। इस प्रकार, सम्बद्ध स्थानो मे दो-दो न होकर वह केवल एक ही होता है।

बुद्ध की शिक्षा का एकमात्र रस 'निर्वाण' है।

◈ ◈ ◈

अध्याय ३०

बोधिपक्षीय धर्म

चार आर्यसत्यो को जानने वाले मार्गज्ञान को 'बोधि' कहते है। चार आर्य-सत्यो को जानने वाले मार्गज्ञान के पक्ष को 'बोधिपक्ष' कहते है। अर्थात्, मार्गज्ञान के पक्ष मे सम्प्रयुक्त धर्म 'बोधिपक्ष धर्म' है। मार्गज्ञान के पक्ष मे उत्पन्न धर्मो को 'बोधिपक्षीय धर्म' कहते है। अर्थात्, मार्गज्ञान के पक्ष मे उत्पन्न होकर मार्गज्ञान के फल को धारण करने वाले धर्म बोधिपक्षीय है। अत, मार्गज्ञान के उपकारक महाकुशल, महाक्रिया एव अर्पणाजवन से सम्प्रयुक्त धर्मो को ही 'बोधिपक्षीय धर्म' कहते है।

इसमे ३७ धर्म है। चार स्मृतिप्रस्थान, चार सम्यक्-प्रधान, चार ऋद्धिपाद, पाच इन्द्रिय, पाच बल, सात बोध्यङग, आर्य-अष्टाङिगक मार्ग, इसतरह बोधिपक्षीय कुल सैतीस धर्म है।

चार स्मृति-प्रस्थान (सतिपट्ठान)– उन उन आलम्बनो मे घुस कर, प्रवेश करके जानने से उपस्थान है। स्मृति ही उपस्थान है। इसलिए स्मृति-प्रस्थान कहा जाता है। काय, वेदना, चित्त और धर्मो मे अशुभ, दु.ख, अनित्य और अनात्म के आकार से ग्रहण करने और शुभ, सुख, नित्य, आत्मसज्ञा के प्रहाण-कृत्य को सिद्ध करने के अनुसार इसकी प्रवर्ति से चार प्रकार का भेद होता है। इसलिए चार स्मृति-प्रस्थान कहे है कायानुपश्यना–स्मृतिप्रस्थान, वेदनानुपश्यना-स्मृतिप्रस्थान, चित्ता-नुपश्यना-स्मृतिप्रस्थान तथा धर्मानुपश्यना-स्मृतिप्रस्थान।

सम्यक्प्रधान (सम्मप्पधान) –– सम्यक् प्रधान चार है · (१) उत्पन्न पाप-धर्मो के प्रहाण के लिए व्यायाम (२) अनुत्पन्न पाप-धर्मो के अनुत्पाद के लिए व्यायाम (३) अनुत्पन्न कुशल-धर्मो के उत्पाद के लिए व्यायाम (४) उत्पन्न कुशल-धर्मो के पुन पुन उत्पाद के लिए व्यायाम।

इसमे प्रयत्न करते है, इसलिए 'प्रधान' है। सम्यक् रूप से इसमे प्रयत्न करते है, इसलिए सम्यक् प्रधान है।

चार ऋद्धिपाद (इद्धिपाद) –– ऋद्धिपाद चार है छन्द-ऋद्धिपाद, वीर्य-ऋद्धिपाद, चित्त-ऋद्धिपाद तथा मीमासा-ऋद्धिपाद।

सिद्ध होने के अर्थ से ‘ ऋद्धि ’ है। ध्यान, मार्ग एव फल की प्राप्ति का प्रयत्न किया जाने पर उन ध्यान, मार्ग एव फल की सिद्धि (प्राप्ति) को ‘ ऋद्धि ’ कहते है। उन ध्यान, मार्ग एव फल की प्राप्ति के पादक छन्द, वीर्य, चित्त एव प्रज्ञा को ‘ ऋद्धि-पाद ’ कहते है।

यदि भिक्षु छन्द के सहारे समाधि को प्राप्त करता है, चित्त की एकाग्रता को पाता है, तो यह छन्द-समाधि कही जाती है।

इन्द्रिय और बल— अश्रद्धा, आलस्य, प्रमाद, विक्षेप, समोह के पछाडने से, पछाडना कहलाने वाले अधिपति के अर्थ से ‘ इन्द्रिय ’ है। और अश्रद्धा, आदि से नही पछाडे जाने से अविचलित होने के अर्थ से ‘ वल ’ है। जो धर्म अधिपत्य को सम्पन्न करते है, वे ‘ इन्द्रिय ’ है। इन्द्रियाँ पाच है – श्रद्धेन्द्रिय, वीर्येन्द्रिय, स्मृतिन्द्रिय, समाधिन्द्रिय तथा प्रज्ञेन्द्रिय। वल भी पाँच है – श्रद्धावल, वीर्यवल, स्मृति-वल, समाधिवल तथा प्रज्ञावल

बोध्यङग (बोज्झङग)—जिस धर्मसमूह द्वारा आर्यसत्य जाने जाते है, उन्हे ‘ वोधि ’ कहते है। वोधि के अङग को ‘ वोध्यङग ’ कहते है। योगी के चार आर्य-सत्यो से सम्वद्ध ज्ञान के कारणभूत स्मृति, प्रज्ञा आदि वोध्यङग-धर्मसमूह को ‘ वोधि ’ कहते है और उस समूह के प्रत्येक अवयव को ‘ वोध्यङग ’ कहते है। वोध्यङग सात है–स्मृति-वोध्यङग, धर्मविचय-वोध्यङग, वीर्य-वोध्यङग, प्रीति-वोध्यङग, प्रश्रब्धि-वोध्यङग, समाधि-वोध्यङग तथा उपेक्षा-वोध्यङग।

धर्मविचय-प्रज्ञा चैतसिक है। काय-प्रश्रब्धि एव चित्त-प्रश्रब्धि चैतसिक प्रश्रब्धि है। समाधि एकाग्रता-चैतसिक है। उपेक्षा तत्र-मध्यस्थता-चैतसिक है। शेष अपने नाम से स्पष्ट है।

मार्गाङ्ग— निर्वाण तक पहुचाने के अर्थ से आर्य-अष्टाङिगक मार्ग के आठ अङग है।

इसतरह, वोधिपक्षीय धर्म कुल सैनीस है। उनका स्मृतिप्रस्थान, सम्यक्-प्रधान, ऋद्धिपाद, इन्द्रिय, वल, बोध्यङग एव मार्गाङग नामो से, सात प्रकार से विभाजन करके यहा वर्णन किया गया है।

◈ ◈ ◈

अध्याय ३१

पारमिताओं की साधना

किसी पूर्वजन्म मे वोधिसत्त्व सुमेध नामक तापस थे। उस काल मे दीपकर वुद्ध थे। दीपकर के समीप सुमेध ने वुद्धत्व की प्रार्थना की और ऐसा दृढ विचार प्रकट किया कि इसके प्रयास मे मै अपना जीवन भी परित्याग करने को उद्यत हू। भगवान दीपकर ने सुमेध के भूत-भविष्य को जान कर 'तुम एक दिन अवश्य वुद्ध होगे' ऐसा कहा। आगे, तापस सुमेध ही गौतम वुद्ध हुए।

वुद्धत्व की आकाक्षा की सफलता के लिए सुमेध वुद्धकारक धर्मो का अन्वेपण करने लगे और उन्होने महान उत्साह प्रदर्शित किया। अन्वेषण करने से दस पारिमिताएँ प्रकट हुई, जिनका आसेवन पूर्वकाल मे वोधिसत्वो ने किया था। इन्ही के ग्रहण से उन्हे वुद्धत्व की प्राप्ति हुई। 'पारमिता का' अर्थ हे 'पूर्णता'। इसे पालि मे 'पारमी' कहते है। पारमी याने पार लगाने वाली, अर्थात् गुणो की पराकाष्ठा।

दस पारमिताएँ

(१) **निष्क्रमण**—पालि मे 'नेक्खम्म' कहते है। अर्थ है—घर छोडना। ससार का त्याग करना।

(२) **अधिष्ठान**—पालि मे 'अधिट्ठान' कहते है। अर्थ है—दृढनिश्चय,

(३) **दान**—पालि मे भी 'दान' कहते है। वह दान जिससे किसी भी वदले की प्राप्ति की भावना न हो और दान—फल का भी परित्याग हो।

(४) **शील**—पालि मे 'सील' कहते है। अर्थ है—सदाचार।

(५) **क्षान्ति**—पालि मे 'खन्ति' कहते है। अर्थ है—कितना भी अपकार किया गया हो, तो भी चित्त की अकोपनता रहे, अर्थात् सहिष्णुता भाव।

(६) **वीर्य**—पालि मे 'विरिय' कहते है। अर्थ है—परिश्रम, पुरुषार्थ कुशलोत्साह।

(७) **ध्यान**—पालि मे 'झान' कहते है। इसको 'सत्य' भी कहा है। पालि मे 'सच्च' कहते है। अर्थ है—सम्यक् समाधि, स्थूल सच्चाई से लेकर सूक्ष्मतम सच्चाई को अपनी अनुभूति से जानना और उसके परे इन्द्रियातीत, लोकातीत 'सत्य' का, 'निर्वाण' का साक्षात्कार करना।

(८) प्रज्ञा—पालि मे 'पञ्ञा' कहते है। अर्थ है—यथाभूत ज्ञानदर्शन याने अपने अनुभूति से अनित्य, दु ख एवं अनात्म इन लक्षणों के साथ जानना।

(९) मैत्री—पालि मे 'मेत्ता' कहते है। अर्थ है—ब्रह्मविहार। सत्वो के प्रति अहित और हित मे समभाव रख कर मैत्री, करुणा, मुदिता का भाव पुष्ट करना।

(१०) उपेक्षा—पालि मे 'उपेक्खा' कहते है। अर्थ है—जैसी भी स्थिति, सुख की या दु.ख की उत्पन्न होती हो, प्रत्येक स्थिति मे समता—भाव रखना।

इन दस पारमिताओ मे छः पारमिताएँ प्रमुख है—(१) दान (२) शील (३) क्षान्ति (४) वीर्य (५) ध्यान (६) प्रज्ञा। इन षट्-पारमिताओं मे भी 'प्रज्ञा' पारमिता का विशेष प्राधान्य है। प्रज्ञा पारमिता यथार्थ प्रज्ञान को कहते है। प्रज्ञा के विना पुनर्भव का अन्त नही होता। प्रज्ञा की प्राप्ति के लिये ही अन्य पारमिताओ की शिक्षा कही गयी है। प्रज्ञा द्वारा परिशोधित होने पर ही दान, शील आदि पूर्णताओ की प्राप्ति होती है। प्रज्ञा-रहित शेष पारमिताएं लौकिक कहलाती हैं।

जव पंच-पारमिताएं प्रज्ञा-पारमिता से समन्वागत होती है, तभी उसको लोकोत्तर संज्ञा प्राप्त होती है। प्रज्ञा की प्रधानता होते हुए भी अन्य पारमिताओ का ग्रहण नितान्त आवश्यक है। सम्बोधि की प्राप्ति मे दान प्रथम आलम्वन है, शील द्वितीय आलम्वन है। दान, शील की अनुपालना क्षान्ति द्वारा होती है। दानादि त्रितय पुण्य-सम्भार, वीर्य (कुशलोत्साह) के विना नही हो सकता। और विना ध्यान (चित्त की एकाग्रता) के प्रज्ञा का प्रादुर्भाव नही होता, क्योंकि समाहित चित्त होने से ही यथाभूत परिज्ञान होता है, जिससे सव आवरणो की अत्यन्त हानि होती है।

दान पारमिता – सभी वस्तुओ का, सव जीवों के लिए दान और दान-फल का भी परित्याग दान-पारमिता है। किसी भी दान के वदले मे प्राप्ति की भावना न रखते हुए दिया गया दान ही शुद्ध दान है। इस माध्यम से वोधिसत्त्व आत्मभाव का उत्सर्ग करता है। वह सर्वभोग्य वस्तुओ का परित्याग करता है तथा अतीत, वर्तमान और अनागत काल के कुशल मूल का भी परित्याग करता है। सव प्राणियों की अर्थसिद्धि के लिए अपना सर्वस्व दान करके वोधिसत्व इस पारमिता को पुष्ट करता है। सांसारिक दु.ख का मूल - परिग्रह है, अत अपरिग्रह द्वारा ही भव-दु.ख से विमुक्ति मिलती है।

इस प्रकार आत्मभाव आदि का उत्सर्ग कर, अनाथ सत्त्वो पर दया कर, स्वय दु ख उठाते हुए दूसरो के दु ख का विनाश करने के अभिप्राय से वह वुद्धत्व ही को उपाय ठहरा-कर, वुद्धत्व के लिए वद्ध-परिकर हो जाता है और अन्य पारमिताओं का ग्रहण एवं संग्रह करता है।

शील पारमिता — कल्याणमित्र के अपरित्याग से मनुष्य दुर्गति मे नही पडता, कल्याणमित्र प्रमाद-स्थान से निवारण करता है। क्या करणीय है और क्या अकरणीय है, इसका ज्ञान शिक्षा की रक्षा से होता है और विहित कर्म करने से तथा प्रतिषिद्ध के न करने से नरकादि विनिपात-गमन से रक्षा होती है।

आत्म-भावादि की रक्षा शिक्षा की रक्षा से होती है। शिक्षा की रक्षा चित्त की रक्षा मे होती है। चित्त चलायमान है, इसलिये यदि इसको स्वायत्त न किया जायगा तो शिक्षा की स्थिरता नष्ट हो जायगी। भय और दुःख का कारण चित्त ही है। चित्त द्वारा ही, अर्थात् मानसकर्म द्वारा ही वाक्-कर्म और काय-कर्म की उत्पत्ति होती है। अतः वाक्-काय-कर्म का चित्त समुत्थापक है। चित्त ही अति-विचित्र सत्त्व-लोक की रचना करता है, इसलिए चित्त को वश मे करना अत्यन्त आवश्यक है। जिसका चित्त पाप से निवृत्त है, उसके लिए भय का कोई कारण नही है। जिसका चित्त स्वायत्त है, उसके सुख की हानि नही होती। पापचित्त मे कोई अधिक भयानक वस्तु नही है।

शील याने प्राणातिपात आदि सब गर्हित कार्यों से चित्त की विरति होती है। विरति-चित्तता ही शील है।

इसी प्रकार, क्षान्ति पारमिता का अर्थ है — दूसरे के द्वारा अपकार होते हुए भी चित्त की अकोपनता रहे। शत्रु गगन के समान अपर्यन्त है। उनको मारना अशक्य है, परन्तु उपाय द्वारा यह शक्य है। उनके अपकार को न गिनना ही उपाय है। क्रोधादि से चित्त की निवृत्ति होने से उनकी मृत्यु हो जाती है। वीर्य-पारमिता का लक्षण कुशलोत्साह है। यह स्पष्टरूपेण चित्त ही है। ध्यान-पारमिता का लक्षण चित्त-एकाग्रता है। इसलिए इसको चित्त से पृथक् नहीं बताया जा सकता। प्रज्ञा तो निर्विवादरूप से चित्त ही है।

शत्रु-प्रभृति जो बाह्य-भाव है, उनका निवारण करना शक्य नही है। चित्त के निवारण से ही कार्य-सिद्धि होती है। अतः बोधिसत्त्व अपकार-क्रिया से अपने चित्त का निवारण करते है। कण्टकादि से रक्षा करने के लिए पृथ्वी को चर्म से अच्छादित करना यद्यपि उचित है, परतु यह सम्भव नही है, क्योंकि इतना चर्म कहा से मिलेगा? यदि मिले तो भी आच्छादन असम्भव है। अपितु अपने पैर को ढकने से कण्टकादि से रक्षा सभव है; इसी प्रकार, अनन्त बाह्य-भावों का निवारण एक चित्त के निवारण से ही हो जाता है।

चित्त की रक्षा के लिए 'स्मृति' और 'सम्प्रजन्य' की रक्षा आवश्यक है। स्मृति का अर्थ है — हरक्षण की सावधानी। स्मृति से क्लेशो का प्रादुर्भाव नही होता। स्मृति से ही सुरक्षित होकर मनुष्य कुमार्ग मे पैर नही रखता। स्मृति उस द्वारपाल की तरह है जो अकुशल को अवकाश नही देती।

सम्प्रजन्य का अर्थ है समताभाव से, प्रतिक्रिया किए विना हुआ प्रत्यवेक्षण। काय और चित्त की अवस्था का प्रत्यवेक्षण करना, यथाभूत दर्शन करना है। खाते-पीते, सोते-जागते, उठते-वैठते हर समय काय और चित्त का निरीक्षण अभीष्ट है।

स्मृति तीव्र आदर से ही उत्पन्न होती है। तीव्र आदर शमथ-भावना से ही होता है। 'शमथ' चित्त की समाहितता, शान्ति है। समाहित चित्त होने से ही यथाभूत दर्शन होता है। यथाभूत दर्शन से ही सत्त्वो के प्रति महाकरुणा उत्पन्न होती है। वोधिसत्त्व की इच्छा होती है कि मैं सव सत्त्वो को भी यथाभूत परिज्ञान कराऊ। इस प्रकार, वह शील, चित्त और प्रज्ञा की परिपूर्ण शिक्षा प्राप्त कर सम्यक्-सम्बोधि प्राप्त करता है। वह शील मे सुप्रतिष्ठित होता है और विना विचलित हुए, विना शिथिलता के पारमिताओ की पूर्णता के लिए यत्नवान होता है। यह जान कर कि शम से अपना और परायो का कल्याण होगा, अनन्त दु खो का समतिक्रमण और अनन्त लौकिक तथा लोकोत्तर सुख-सम्पत्ति की प्राप्ति होगी; वोधिसत्त्व को शम की आकाक्षा होनी चाहिए। इससे शिक्षा के लिए तीव्र आदर उत्पन्न होता है, जिससे स्मृति उत्पन्न होती है और स्मृति से अनर्थ का परिहार होता है। इसलिए, जो आत्म-भाव की रक्षा करना चाहता है, उसको स्मृति के मूल का अन्वेषण कर नित्य सजग रहना चाहिए। शील से समाधि होती है। जो समाधि चाहता है, उसका शील विशुद्ध होना ही चाहिए और उसको स्मृति तथा सम्प्रजन्य ग्रहण करना ही चाहिए। शीलार्थी को समाधि के एव विपश्यना के लिए यत्नवान रहना चाहिए।

शील, समाधि और विपश्यना द्वारा ही चित्त मे प्रज्ञा का प्रादुर्भाव होता है, जो चित्तशुद्धि की ओर ले जाता है। यही वोधिसत्त्व की शिक्षा है और पुरुषार्थ का यही मूल है। सभी धर्म चित्त-पुर सर है। चित्त का ज्ञान होने पर ही सभी धर्म परि-ज्ञात होते है। चित्त के ही अधीन धर्म है और धर्म के अधीन वोधि है। सभी सत्त्वो को सम्वोधि प्राप्त कराने की शिक्षा अपने चित्त मे अधिष्ठित है। इसलिए, चित्त-नगर के परिपालन मे सत्व को कुशल होना चाहिए। ईर्ष्या, मात्सर्य और शठता के अपनयन से चित्त-नगर का परिशोधन करना चाहिए। सर्वक्लेश और मार (कामदेव) की सेना का विमर्दन कर चित्त-नगर को दुरासाध्य वनाना चाहिए। चित्त-नगर के विस्तार के लिए सव सत्त्वो के प्रति महामैत्री प्रदर्शित करनी चाहिए। चित्त-नगर की शुद्धि से सभी आवरण नष्ट होते है।

जो निरन्तर विपश्यना द्वारा प्रत्यवेक्षा नही करता और जिसमे स्मृति का अभाव है, उसका चित्त चलायमान ही होता है। परतु, स्मृति और सम्प्रजन्य से जिसकी वाह्य चेष्टाओ का निवर्त्तन हो गया है, उसका चित्त इच्छानुसार एक ही आलम्वन मे निवद्ध रहता है। इसलिए, स्मृति को मनोद्वार से कभी न हटने दे। यदि प्रमादवश स्मृति अपने उचित स्थान से हट जाय, तो उसको फिर से अपने स्थान

पर लौटा कर आरोपण करे। जव चित्त की रक्षा के लिए स्मृति मनोद्वार पर द्वारपाल की तरह अवस्थित होती है, तव सम्प्रजन्य विना प्रयास से उत्पन्न होता है। अत स्मृति ही सम्प्रजन्य की उत्पत्ति और स्थैर्य मे सहायक है। सम्प्रजन्य के अभाव सचित कुशल धन भी विलुप्त हो जाता है और मनुष्य दुर्गति को प्राप्त होता है। क्लेश-तस्कर छिद्रान्वेपण मे सदैव तत्पर होते हैं, प्रवेश-मार्ग पाकर हमारे कुशल धन का अपहरण करते है और सद्गति का नाश करते हैं। इसलिए, विपश्यना द्वारा चित्त की सदा प्रत्यवेक्षा करे और इसकी भी प्रत्यवेक्षा करे कि मन कहा है ? वह आलम्बन मे निवद्ध है, अथवा कही अन्यत्र चला गया है?

वोधिसत्त्व ऐसा प्रयत्न करे, जिससे मन अविरत समाहित हो। अनर्थ-विवर्जन के लिए सदा काष्ठवत रहना चाहिए। जव चित्त मान, मद या कुटिलता से दूषित हो, तव उसको तुरत स्थिर करे। जव चित्त मे अनेक गुणो के अतिशय प्रकाशन की इच्छा प्रकट हो, या दूसरो के छिद्रान्वेषण की आकाक्षा का उदय हो, या दूसरो से कलह करने के लिए चित्त चलायमान हो, तो उस समय मन को वह स्थिर करे। जव मन परार्थ-विमुख और स्वार्थाभिनिविष्ट होकर लाभ, सत्कार और कीर्ति का अभिलाषी हो, तव विपश्यना द्वारा वह मन को काष्ठवत् स्थिर करे। इस प्रकार चित्त की सर्व प्रवृत्तियो का वह निरोध करे और मन को निश्चल रखे। शरीर मे वह अभिनिवेप न रखे। शरीर को वेतनमात्र देना चाहिए; जैसे, जो भृत्य-कर्म नही करता, उसको वस्त्रादि नही दिया जाता। मन द्वारा वह शरीर को स्वायत्त करे। जो शरीर के स्वभाव और उपयोग का विचार कर उसको अपने वश मे करता है, वह सदा प्रसन्न रहता है और दूसरो का स्वागत करता है।

जो दूसरो को उपदेश देने मे दक्ष है और विना प्रार्थना के ही दूसरो के हित को कामना करता है, उनका वोधिसत्व अपमान न करे और उनका वचन आदर-पूर्वक ग्रहण करे। उसे अपने को सव का शिष्य समझना चाहिए। ईर्ष्या-मल का प्रक्षालन करना चाहिए। कुशल कर्म करने वाले को देख कर उसके पुण्यकर्म सराहे पराये गुणो को श्रवण कर विना परिश्रम किये तुष्टि-सुख का उसे अनुभव होता है। इसमे कुछ व्यय नही है और दूसरे को सुख भी मिलता है। पर, दूसरे के गुणो का अभिनन्दन न करने से दुःख और द्वेष ही उत्पन्न होता है।

वोधिसत्त्व को मितभाषी और स्निग्धभाषी होना चाहिए। किसीसे कर्कश वचन वह न वोले। सदा सव को सरलदृष्टि से देखे। उसेसदा कार्यकुशल होना चाहिए। किसी कार्य मे दूसरे की अपेक्षा वह न करे। सव काम वह स्वय करे।

इसप्रकार, उपाय-कौशल से विहार करता हुआ वोधिसत्व वोधिमार्ग से भ्रष्ट नही होता।

क्षान्ति पारमिता ––दूसरे के द्वारा अपकार के होते हुए भी चित्त की अकोपनता रहे, इसको 'क्षान्ति' कहते है। सहिष्णुता-भाव क्षान्ति है।

जिसप्रकार अग्निकण तृणराशि को दग्ध करता है, उसीप्रकार द्वेष सहस्रो कल्प के उपार्जित शुभकर्म को तथा बुद्ध-पूजा को नष्ट करता है।

द्वेष के समान अन्य पाप नही है और क्षान्ति के समान कोई तप नही है। इसलिए क्षान्ति का नाना प्रकार से अभ्यास करना चाहिए। जिसके हृदय मे द्वेपानल प्रज्वलित है, उसको शान्ति और सुख कहा ? उसको न नीद आती है और न उसका चित्त सुखी होता है। अत बोधिसत्त्व को द्वेप के परित्याग के लिए यत्नवान होना चाहिए।

क्षान्ति तीन प्रकार की है— (१) दु:खाधिवासना-क्षान्ति (२) परापकारमर्पण-क्षान्ति (३) धर्मनिध्यान-क्षान्ति।

(१) दु खाधिवासना क्षान्ति वह है, जिसमे अत्यन्त अनिष्ट का आगम होने पर भी दौर्मनस्य न हो। दौर्मनस्य से कोई लाभ नही है, वह केवल पुण्य का नाश करता है। अत दौर्मनस्य के प्रतिपक्षरूप 'मुदिता' की यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए। दु ख पडने पर प्रमुदिता-चित्त ही रहना चाहिए। चित्त मे क्षोभ या किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नही होने देना चाहिए। दौर्मनस्य से कोई लाभ नही है, वरं च प्रत्यक्ष हानि है। ऐसा विचार कर बोधिसत्त्व को दौर्मनस्य का परित्याग ही करना चाहिए।

अभ्यास से दुष्कर भी सुकर हो जाता है। सुख अत्यन्त दुर्लभ है, दु ख सदा सुलभ है। दु ख का सर्वदा परिचय मिलता ही रहता है, इसलिए दु ख का अभ्यास कठिन नही है। यदि कोई यह कहे कि अल्प दु ख तो किसी प्रकार सहा जा सकता है, परन्तु कर-चरण-शिरच्छेदनादि दु ख अथवा नरकादि का दु ख किस प्रकार सहा जा सकेगा ? ऐसी शङ्का ही अनुचित है, क्योकि ऐसी कोई वस्तु नही है जो अभ्यास द्वारा साध्य न हो सके। अल्पतर व्यथा के अभ्यास से महती व्यथा भी सही जा सकती है। अभ्यासवश ही जीवो को दु ख-सुख का ज्ञान होता है। इसलिए, दु ख के उत्पाद के समय सुख-सज्ञा के प्रत्युपस्थान का अभ्यास करने से सुख-संज्ञा का ही प्रवर्त्तन होता है। इससे सर्वधर्मसुखाक्रान्त नाम की समाधि का प्रतिलाभ होता है।

क्षुत्पिपासा आदि वेदना को और मशक-दश आदि व्यथा को निरर्थक नही समझना चाहिए। इन मृदु व्यथाओ के अभ्यास के कारण ही हम महती व्यथा को सहन करने मे समर्थ होते है। शीतोष्ण, वृष्टि, वात, मार्गक्लेश, व्याधि आदि का दु ख सुकुमार-चित्तता के कारण बढता है, इसलिए चित्त को दृढ रखना चाहिए।

कुछ लोग सग्रामभूमि मे अपना रक्त बहता देख कर और भी वीरता दिखलाते है और कुछ ऐसे है कि दूसरे का रुधिर-दर्शन होने से ही मूर्च्छा को प्राप्त होते है। तो, यह चित्त की दृढ़ता और कायरता के कारण है। इसलिए जो दु ख से पराजित नही

होता, वही व्यथा को अभिभूत करता है। दुःखो मे भी चित्तक्षोभ नही करना चाहिए, क्योंकि बोधिसत्व ने क्लेश-शत्रुओ से सग्राम छेड रखा है और सग्राम मे व्यथा का होना अनिवार्य है। जो शत्रु के सन्मुख जाकर उसके प्रहारो को अपने वक्ष स्थल पर धारण करते हुए समर-भूमि मे विजयी होते है, वे ही सच्चे विजयी और शूर है, शेष तो मृतमारक है।

दुःख का यह भी गुण है कि उससे यौवन-धनादि विषयक मद का भग होता है और ससार के सत्त्वो के प्रति करुणा, पाप से भय तथा बुद्ध मे श्रद्धा उत्पन्न होती है।

पित्तादि दोषत्रय के प्रति हम कोप नही करते, यद्यपि वे व्याधि उत्पन्न कर सब दुःखो के हेतु होते है। इसका कारण यह समझा जाता है कि वे अचेतन है और बुद्धिपूर्वक दुःखदायक नही है। इसीप्रकार सचेतन भी कारण वश ही कुपित होते है। पूर्वकर्म के अपराध से कुपित होकर वे भी दुःखदायी होते है। उनका प्रकोप भी कारणाधीन है, इसलिए, उन पर भी कोप नही करना चाहिए। जिस प्रकार पित्तादि की इच्छा के बिना शूल उत्पन्न होता ही है, उसी प्रकार बिना इच्छा के कारण-विशेष मे भी क्रोध उत्पन्न होता है। कोई मनुष्य क्रोध करने के लिए ही इच्छापूर्वक क्रोध नही करता और न क्रोध विचारपूर्वक उत्पन्न होता है। मनुष्य जो पाप या विविध अपराध करता है, वह प्रत्यय-बल से ही करता है। उनकी स्वतन्त्र प्रवृत्ति नही होती प्रत्यय-सामग्री को यह चेतना नही रहती कि मै कार्य की उत्पत्ति कर रही हू और कार्य को भी यह चेतना नही रहती कि अमुक प्रत्यय-सामग्री द्वारा मै उत्पन्न हुआ हू। यह जगत प्रत्यय-मात्र है। सर्वधर्म हेतु-प्रत्यय के अधीन है। अतः किसी वस्तु की स्वतन्त्रता सम्भव नही है। यदि शत्रु या मित्र कुछ अपकार करे, तो यह विचार करना चाहिए कि ऐसे ही प्रत्यय-बल से उनकी ऐसी प्रवृत्ति हुई है। अतः दुःख से सन्तप्त नही होना चाहिए। अपनी इच्छा मात्र से इष्ट-प्राप्ति और अभिष्ट-हानि नही होती, किसी हेतुवश ही होती है। यदि इच्छामात्र से अभिष्ट की सिद्धि होती, तो किसी को दुःख ही नही होता, क्योंकि दुःख कोई नही चाहता, सभी अपना सुख ही चाहते है।

(२) दूसरे के किये हुए अपकार को सहन करना और उनका प्रत्युपकार न करना परापकारमर्षण-क्षान्ति है। प्रमादवश, क्रोधवश अथवा अगम्य-परदारा-धनादि-लिप्सावश सत्त्व अनेकानेक कष्ट उठाते है, पर्वतादि से गिर कर अथवा विष खाकर आत्महत्या तक कर लेते है अथवा पापाचरण द्वारा अपना विनाश भी करते है। जब क्लेशवश सत्त्व अपने-आपको पीडा पहुँचाते है, तब पराये के लिए अपकार से विरत कैसे हो सकते है! अतः ये जीव कृपा के पात्र है, न कि द्वेष के। क्लेश से उन्मत्त हो परापकार द्वारा वे आत्मघात मे प्रवृत्त होने से दया के पात्र है। इनके प्रति क्रोध कैसे उत्पन्न हो सकता है? यदि दूसरो के साथ उपद्रव करना बालको का स्वभाव

है, तो उन पर कोप करना उपयुक्त नही है। अग्नि का स्वभाव जलाना है, यदि वह दहन-क्रिया छोड़ दे, तो तत्स्वभावता की हानि का प्रसंग उपस्थित होगा, यह विचार कर कोई अग्नि पर कोप नही करता। यदि यह कहा जाय कि सत्त्व दुष्ट स्वभाव के नही है वरं च सरल स्वभाव के है और दोष आगन्तुक है, तब भी उन पर कोप करना अयुक्त होगा। जिस प्रकार धूम से आच्छन्न आकाश के प्रति क्रोध करना मूर्खता है, क्योकि आकाश का स्वभाव निर्मल है, वह प्रकृति से परिशुद्ध है, कटुता उसका स्वभाव नही है। इसी प्रकार, प्रकृतिशुद्ध सत्वो पर आगन्तुक दोष के लिए क्रोध करना भी मूर्खता है।

कटुता आकाश का स्वभाव नही है, धूम का है। इसलिए करना ही हो तो धूम से द्वेष किया जाय, न कि आकाश से। अत सत्त्वो पर क्रोध न कर उनके दोषो पर किया जा सकता है। दु ख का जो प्रधान कारण है, उसी पर क्रोध हो सकता है, न कि अप्रधान कारण पर। शरीर पर दण्ड-प्रहार होने से जो दु ख-वेदना होती है, उसका मुख्य कारण दण्ड ही प्रतीत होता है। यदि समझा जाय कि दण्ड दूसरे की प्रेरणा से दु ख-वेदना उत्पन्न करता है, इसमे दण्ड का क्या दोष है, इसलिए दण्ड के प्रेरक से द्वेष करना युक्त होगा, तो यह अधिक समुचित होगा कि दण्ड-प्रेरक के प्रेरक-द्वेष से द्वेष किया जा सकता है।

बोधिसत्व को विचार करना चाहिए कि मैने भी पूर्वजन्म मे सत्त्वो को ऐसी पीडा पहुंचाई थी, इसलिए यह युक्त है कि ऋण-परिशोधन-न्याय के अनुसार मेरे साथ भी दूसरा अपकार करता है। यहां, अपकारी का शस्त्र और मेरा शरीर, दोनो भी दु ख के कारण है। उसने शस्त्र ग्रहण किया है और मैंने शरीर ग्रहण किया है। यदि कारणोपनायक पर क्रोध करना ही है, तो अपने ऊपर भी क्रोध करना उचित होगा।

मैं दु ख नही चाहता, परतु दु ख के कारण शरीर मे मेरी आसक्ति है; तब इसमे अपराध मेरा है, दूसरे पर कोप करना व्यर्थ है, दूसरा तो सहकारी मात्र है, ऐसा समझना चाहिए। आत्मवध के लिए यदि स्वय मैने ही शस्त्र ग्रहण किया है, तो दूसरे पर मै क्यो कोप करू? दूसरा यदि मेरे साथ दुष्ट व्यवहार करता है, और उससे मुझको दु ख उत्पन्न होता है, तो उसमे भी मेरा कर्म ही हेतु है, ऐसा विचार कर क्रोध नही करना चाहिए।

मैंने पहले दूसरो के साथ अपकार किया, इसलिए मेरे कर्म से प्रेरित होकर वे भी अपकार करते है और नरक मे निवास का मार्ग प्रशस्त करते है। उन्होने मेरा विघात नही किया, अपितु स्वयं की ही हानि की, इसप्रकार चित्त का बोध करना चाहिए।

(३) धर्मनिध्यान-क्षान्ति—दु ख दो प्रकार के है: कायिक और मानसिक। इनमे मानसिक दु ख परमार्थत नही है, क्योकि मन अमूर्त है और इसलिए मन पर दण्डादि द्वारा प्रहार सभव नही है। परतु, इस कल्पना द्वारा कि यह शरीर मेरा है, शरीर को दु ख पहुचने से चित्त भी दुखी होता है। पर, अयश और परुष-वाक्य तो चित्त को दु ख पहुचाते है और शरीर भी दुखी होता है। यदि यह कहा जाय कि लोग मेरे अयश इत्यादि की बात सुनते है तब मुझसे अप्रसन्न होते है, तो उनकी अप्रसन्नता मुझको अभीष्ट नही है। पर मैं यह विचार करू कि लोगो का अप्रसाद न इस लोक मे मेरा अनर्थ सम्पादन कर सकता है, न जन्मान्तर मे भी। इसलिए लोगो की प्रसन्नता मे मुझे अभिनिवेश नही करना चाहिए, ऐसा बोधिसत्व समझे।

यदि यह सन्देह हो कि लाभ का विघात होगा, लोग मुझसे विमुख हो जाएगे और पिण्डपातादि लाभ-सत्कार मे मुझको वचित रखेंगे, तो बोधिसत्व को यह विचार करना चाहिए कि लाभ विनश्वर होने के कारण नष्ट हो जायगा, परतु पाप सदा स्थिर रहेगा।

लाभ के अभाव मे आज ही मर जाना अच्छा है, परतु परापकार द्वारा लाभ-सत्कार पाकर चिरकाल तक मिथ्या जीवन व्यतीत करना बुरा है, इसलिये कि चिर-काल तक जीवित रहने से भी मृत्यु का दु ख वैसा ही बना रहता है। एक व्यक्ति स्वप्न मे सौ वर्ष का सुख अनुभव कर जागता है, और दूसरा व्यक्ति एक मुहूर्त के लिए सुखी होकर जागता है। स्वप्नोपलब्ध सुख जाग्रत अवस्था मे लौट नही आता, उसका स्मरणमात्र अवशिष्ट रह जाता है। जाग्रत अवस्था मे उपभुक्त सुख भी विनष्ट होकर नही लौटता। इसीप्रकार, मनुष्य चाहे दीर्घजीवी हो या अल्पजीवी, उसका उपभुक्त सुख मरणसमय मे विनष्ट हो ही जाता है। प्रचुरतर लाभ-सत्कार पाकर और दीर्घ कालपर्यन्त अनेक सुखो का उपभोग करके भी अन्त मे खाली हाथ और नग्न शरीर जाना होता है, मानो किसी ने सर्वस्व हर लिया हो।

यदि कोई मेरे गुणो को छिपा कर केवल दोषो का आविष्करण करता है, तो उससे मेरा द्वेष करना युक्त है क्योकि वह सत्त्वो का नाश करता है ऐसा मै, कहू तो फिर, दूसरे किसी का कोई अयश जब प्रकाशित करता है, तो उसके प्रति मुझे क्यो कोप उत्पन्न नही होता है? जो दूसरे की निन्दा करता है, उसको तो तुम क्षमा कर देते हो और उसके प्रति क्रोध नही करते, तो अपनी निन्दा करने वाले को भी तुम क्षमा क्यो नही करते?

जो प्रतिमा, स्तूप और सद्धर्म के निन्दक या नाशक हो, उनके प्रति भी श्रद्धावश द्वेष करना युक्त नही है। इससे बुद्धादि को कोई पीडा नही पहुचती। यदि गुरुजन, सहोदर-भाई तथा अन्य बन्धुवर्ग का भी कोई अहित आकार करे, तो उस पर भी

क्रोध नही करना चाहिए । एक व्यक्ति अज्ञान के वश हो, दूसरे के साथ अपकार करता है अथवा दूसरे की निन्दा करता है, तो वह अपकारी व्यक्ति पर मोहवश क्रोध करता है । इनमे से किसको अपराधी और किसको निर्दोष कहे ? दोनो का दोष समान है । पहले ऐसे कर्म क्यो किये, जिनके कारण दूसरो द्वारा उसे पीडित होना पडे ? सब अपने अपने कर्म के अधीन है । कर्मफल के निवर्तन मे कोई समर्थ नही है, ऐसा विचार कर कुशल कर्म के सम्पादन मे ही वोधिसत्वो को यत्नवान होना चाहिए, जिससे सन्मार्ग मे प्रवेश कर, सब सत्त्व-द्रोह छोड कर, एक दूसरे के हित-सुख-विधान मे तत्पर हो ।

जिस प्रकार, जव किसी घर मे आग लगती हे और वह आग फैल कर दूसरे घर मे जाती है और वहाँ के तृणादि मे लगती हे, तव शीघ्र उस तृण आदि को हटा कर घर की रक्षा का विधान किया जाता है, उसी प्रकार, चित्त जिस वस्तु के सग से द्वेषाग्नि से दह्यमान होता हे, उस वस्तु का उसी क्षण वोधिसत्व को परित्याग करना चाहिए ।

यदि मनुष्य को दु ख का अनुभव कर नरक-दु'ख से छुटकारा मिले, तो इसमे वह सुखी होना चाहिए, क्योकि नरक-दु ख की अपेक्षा मनुष्य-दु ख कुछ भी नही है । यदि इतना भी दु ख नही सहा जा सकता, तो उस क्रोध का निवारण क्यो नही करते, जिसके कारण नरक की व्यथा भोगनी पडती है ? इसी क्रोध के निमित्त अनेक सहस्रवार मुझ को नरकयातना सहनी पडी हे, इसमे न मैने अपना उपकार किया और न दूसरो का, ऐसा ही वोधिसत्व समझे । मनुष्य-दु ख, नरक-दु ख के समान कठोर नही है और इसके अतिरिक्त वुद्धत्व का साधन भी है । अत मनुष्य-दु ख मे अभिरुचि होनी चाहिए ।

यदि किसी गुणी के गुणो का वर्णन कर दूसरे सुखी होते है, तो तुम भी उसका गुणानुवाद कर अपने मन को क्यो नही प्रसन्न करते ? ईर्ष्यानिल की ज्वाला से क्यो जलते हो ? यह तो सुख का कारण है। यदि यह कहो कि पराये की गुण-प्रशसा मुझको प्रिय नही है क्योकि इसमे दूसरे को सुख प्राप्त होता है, तो इससे वडा अनर्थ सम्पादित होगा । इससे ऐहिक और पारलौकिक दोनो फल नष्ट हो जाएगे । दूसरे की सुख-सम्पत्ति को देख कर कूढना अनुचित है । जव अपने गुण का सकीर्तन सुन तुम यह इच्छा रखते हो कि दूसरे प्रसन्न हो, तो क्यो दूसरो की प्रशसा सुनकर तुम स्वय प्रसन्न नही होते ? ऐसा वोधिसत्व समझे ।

तुम अपने किये पापो के लिए शोक नही करते, परतु दूसरे के पुण्य की ईर्ष्या करते हो । यदि तुम्हारी अभिलाषा-मात्र से तुम्हारे शत्रुत्व का अनिष्ट सम्पादित हो, तो उससे क्या फल मिलेगा ? विना हेतु के, केवल तुम्हारी अभिलापा से ही

किसी का अनिष्ट नही हो सकता। यदि हो भी, तो दूसरे के दु ख मे तुमको क्या सुख मिलता है? यदि दूसरे को दुखी देखना ही तुम्हारा अभिप्राय हो और इसी मे अपना सुख मानते हो, तो इससे बढकर तुम्हारे लिए क्या अनर्थ हो सकता है ? यम के दूत तुमको ले जाकर कुम्भीपाक नरक मे पकाएगे, यह भी बोधिसत्व समझे।

स्तुति के विघात से दु ख उत्पन्न होने का कोई कारण नही है। स्तुति, यश अथवा सत्कार से न पुण्य की वृद्धि होती है, न आयु की, न वल की, न आरोग्य-लाभ होता है और न शरीर-सुख प्राप्त होता है। यश के लिए लोग अपने धन और प्राण को भी तुच्छ समझते है। यश के लिए मरने पर उसका सुख किसको प्राप्त होता है ? केवल अक्षर-मात्र है। तो क्या अक्षर खाये जाएगे ? यह तो वाल-क्रीडा के समान है। जिस प्रकार, एक बालक धूलिमय गृह बना कर परम परिताप से क्रीडा करता है, परंतु उसके भग्न हो जाने पर अत्यन्त दुखी हो करुण स्वर से आर्तनाद करता है, उसी प्रकार, उस व्यक्ति की दशा होती है, जो स्तुति और यशरूपी खिलौनो से खेलता है और उनके विघात से दुखी होता है। ऐसा ही बोधिसत्व ध्यान मे ले।

यदि कोई मुझसे या किसी दूसरे से प्रीति करता है, तो मुझे क्या ? वह प्रीति-सुख उसी व्यक्ति का है। इसमे मेरा किंचिन्मात्र भी भाग नही है। यदि दूसरे के सुख से सुख की प्राप्ति हो, तो सर्वत्र ही मुझको सुख की प्राप्ति होगी और जब कोई किसीका लाभ-सत्कार करे तो मुझको भी सुख होगा, परतु ऐसा नही होता। मै तभी प्रसन्न होता हू, जब दूसरे मेरी प्रशसा करते है। यह तो वाल-चेष्टा है। स्तुति आदि बाते कल्याण की घातक होती है। स्तुति आदि द्वारा गुणी के प्रति ईर्ष्या और परलाभ-सत्कारामर्पण का उदय होता है। स्तुति आदि मे यह दोप है। इसलिए, जो मेरी निन्दा के लिए उद्यत है, वह नरकपात से मेरी रक्षा करने मे प्रवृत्त हुआ है। लाभ-सत्कार तो विमुक्ति के लिए वन्धन है। इसलिए, जो इन वन्धनो से मुझको मुक्त करता है, वह शत्रु किस प्रकार है ? वह तो एक प्रकार का कल्याणमित्र है। इसलिए उससे द्वेप करना अयुक्त है, ऐसा ही बोधिसत्व समझे।

लोक मे याचक सुलभ है परतु अपकारी दुर्लभ है, क्योकि जो दूसरो के साथ बुराई नही करता, उसका कोई अनिष्ट नही करता। इसलिए, यह समझना चाहिए कि मेरे घर मे विना श्रम के, शत्रु के रूप मे एक निधि उपार्जित हुई है, उसका कृतज्ञ होना चाहिए, क्योकि वह बोधिचर्या मे सहायक है। इस प्रकार, क्षमा का फल मुझको और उसको, दोनो को मिलता है। वह मेरे धर्म मे सहायक है, इसलिए यह क्षमा-फल पहले उसीको देना चाहिए, ऐसा ही बोधिसत्व समझे।

दुष्टाशय के कारण ही क्षमा की उत्पत्ति होती है, शुभाशय को लक्ष्य कर वह नही होती। इसलिए, वह क्षमा का हेतु है और सद्धर्म की तरह उसका सत्कार करना चाहिए, मुझे उसके आशय का विचार करने का कोई प्रयोजन नही है। जो क्षमा

करता है, वह संसार मे आरोग्य, चित्त-प्रसाद, दीर्घायु और अत्यन्त सुख पाता है, ऐसा ही वोधिसत्व समझे ।

वीर्य पारमिता— जो क्षमी है, वही वीर्य-लाभ कर सकता है। वीर्य के विना पुण्य नही है, जैसे वायु के विना गति नही है। कुशल कर्म मे उत्साह का होना ही वीर्य का होना है। इसके विपक्ष मे आलस्य, कुत्सित मे आसक्ति, विपाद और आत्म-अवज्ञा है। ससार-दु:ख का तीव्र अनुभव न होने से कुशल कर्म मे प्रवृत्ति नही होती।

यह क्यो नही जानते हो कि मृत्यु के मुख मे प्रविष्ट हो तुमको भोजन कैसे रुचता है ? नीद क्योकर आती है और संसार मे रति कैसे होती है ? आलस्य छोड कर कुशलोत्साह की वृद्धि करो। मृत्यु अपनी सामग्री एकत्र कर शीघ्र ही तुम्हारे वध के लिए आ उपस्थित होगा। उस समय तुम कुछ न कर सकोगे। उस समय तुम इस चिन्ता से विव्हल हो जाओगे कि हां, उस कार्य को समाप्त न कर सका और वीच ही मे अकस्मात् मृत्यु का आक्रमण हुआ। तुम्हारे वन्धु-वाधव तुम्हारे जीवन से निराश हो जाएगे और शोक के आवेग से उनके नेत्रो से अश्रुधारा प्रवाहित होगी। तुम्हारे गात्र मल मूत्र मे उपलिप्त हो जाएंगे। शरीर, वाणी और चित्त तुम्हारे अधीन न रहेगे। उस समय तुम क्या करोगे ? ऐसा समझ कर वोधिसत्व को स्वस्थ अवस्था मे ही कुशल कर्म मे प्रवृत्त होना चाहिए। विना पुरुपार्थ किये ही फल की आकांक्षा करते हो। दु ख सहने का सामर्थ्य नही है और मृत्यु के वशीभत हो तुम्हारी दशा कष्टपूर्ण है। मनुप्य-भावरूपी जीवन तुम्हे मिला है। दु खमयी महानदी को पार करो। वीर्य का अवलम्वन कर सभी दु:खो को पार करो। यह निद्रा का समय नही है। मानवजीवन-समागम वार वार नही होता। इसलिये तुम कुत्सित कर्मो मे कतई आसक्त न हो। शुभकर्म मे रति होने से ही आपर्यन्त सुख-प्रवाह प्रवाहित होता है। यह वोधिसत्व ठीक से जान ले।

यदि मेरा चित्त दुर्वल है, तो थोडी भी आपत्ति मुझे वाधक होगी। मृत सर्प को पाकर काक भी गरुड हो जाता है। जो विषादयुक्त है, उसके लिए आपत्ति सुलभ है। परंतु जो उत्साहसम्पन्न है और स्मृति-सम्प्रजन्य द्वारा उपक्लेशो को अवकाश नही देता, उसको वडे से वडा भी नही जीत सकता। इसलिए, वोधिसत्व दृढचित्त होकर ही आपत्ति का अन्त करता है।

क्लेशो के प्रहार से अपनी रक्षा करनी चाहिए। अणुमात्र भी दोप को अवकाश नही देना चाहिए। जैसे, विष रुधिर मे प्रवेश कर शरीर भर मे व्याप्त हो जाता है, वैसे ही दोप अवकाश पा कर चित्त मे व्याप्त हो जाते है।

अत क्लेश-प्रहारण के निवारण मे वोधिसत्व को यत्नवान होना चाहिए। जव निद्रा और आलस्य का प्रादुर्भाव हो, तव वह उनका शीघ्र प्रतिकार करे, जैसे,

किसी पुरुष की गोद मे यदि सर्प चढ आता है तो वह झट से खडा हो जाता है; जैसे, रुई वायु की गति से सचलित हो जाती है; वैसे ही, वोधिसत्व उत्साह के वश होता है और इस प्रकार अभ्यास-परायण होने से ऋद्धि की प्राप्ति कर लेता है।

ध्यान पारमिता — वीर्य की वृद्धि कर वोधिसत्व समाधि मे मन का आरोप करे, अर्थात् चित्तैकाग्रता के लिए यत्नवान होए, क्योकि विक्षिप्त-चित्त पुरुष वीर्यवान् होता हुआ भी क्लेशो से आक्रमित होता है। नि सग होने से आलम्बन मे ही उसके चित्त की प्रतिष्ठा होती है। इसलिए, राग-द्वेष-मोहादि विक्षेप–हेतुओ का उसे परित्याग करना चाहिए। स्नेह के वशीभूत होने से और लाभ, सत्कार, यश आदि के प्रलोभन से परित्याग नही होता। विद्वान् को सोचना चाहिए कि जिसने चित्तैकाग्रता द्वारा यथाभूत विपश्यना ज्ञान की प्राप्ति की है, वही क्लेशादि दु खो का प्रहाण कर सकता है। ऐसा विचार कर, चित्तैकाग्रता के उत्पादन की वह चेष्टा करे। जो समाहित चित्त है और जिसे यथाभूत प्रज्ञा की प्राप्ति हुई है, उसकी वाह्य चेष्टा का निवर्त्तन होता है और शम के होने से चित्त चञ्चल नही होता, ऐसा वोधिसत्व समझे।

क्षण मे वह मित्र है और क्षण मे वह शत्रु है, इस समागम से किस को क्या लाभ है? जहा प्रसन्न होना चाहिए, वहा वह कोप करता है। ऐसे, किसी की भी आराधन दुष्कर है। यदि उससे उसके हित की वात कहो, तो वह कोप करता है, और दूसरे को भी हित-पथ से निवारण करता है, यह वोधिसत्व ध्यान रखे। और यदि उनकी बात न मानी जाय, तो क्रुद्ध होते है। संसार के मूढ पुरुषो से भला कही हित हो सकता है? वह दूसरे का उत्कर्ष ही नही सह सकते। उनके वरावर के जो है, उनसे वे विवाद करते है और उनसे जो अधम है, उनसे वे अभिमान करते है। इन मढ पुरुषो का दोष-कीर्तन जो करते है, उनसे वे द्वेष करते है और उनके ससर्ग से वे आत्मोत्कर्ष, परनिन्दा, ससार-रति-कथा आदि अकुशल अवश्यमेव होते है। दूसरे के सग से वोधिसत्व अनर्थ का समागम निश्चय जाने और यह विचार कर अकेला सुखपूर्वक रहने का निश्चय करे। वह मूढ की सगति कभी न करे। दैव-योग से यदि उनका कभी सग हो भी जाय, तो उसके प्रति वह उदासीन वृत्ति रखे। जिस प्रकार भृग कुसुम से मधु-सग्रह करता है, पर परिचय नही पैदा करता, उसी प्रकार मूढ से केवल उस वात को ले ले, जो धर्मार्थ प्रयोजनीय है।

मनुष्य का चित्त जहा जहा भी रमता है, वहा वहा वस्तु सहस्र-गुना दु खरूप होकर ही उपस्थित होती है। इच्छा से भय की उत्पत्ति होती है, इसीलिए वुद्धिमान पुरुष किसी वस्तु की इच्छा ही न रखे। वहुतो को विविध लाभ और यश प्राप्त हुए, परतु वे लाभ-यश के साथ कहा गायव हो गये, यह पता ही नही है। कुछ लोग मेरी निन्दा करते है और कुछ मेरी प्रशसा करते है। अपनी प्रशसा सुन कर मै क्यो प्रसन्न होऊ और आत्मनिन्दा सुन कर क्यो विषाद को प्राप्त होऊ! जव वुद्ध भी अनेक

सत्वो का परितोष नही कर सके, तो मुझ जैसे अज्ञ की क्या कथा ? मुझ को लोकचिन्ता नही करनी चाहिए, ऐसा ही बोधिसत्व समझे। जो सत्व लाभ-रहित है, उसकी यह कह कर लोग निन्दा करते है कि यह सत्व पुण्य-रहित है, इसीलिए क्लेश उठा कर भी वह लाभ नही पाता। और, जो लाभ-सत्कार प्राप्त करता है, उसका यह कह कर लोग उपहास करते है कि इसने दानपति को किसी प्रकार प्रसन्न कर इसने लाभ प्राप्त किया है। उभयत. उसके चित्त को शान्ति नही मिलती। ऐसे लोग स्वभाव से दु ख के हेतु होते है। मूढ पुरुष किसी का मित्र नही होते। उनकी प्रीति नि स्वार्थ नही होती। जो प्रीति स्वार्थ पर आश्रित है, वह स्वय के लिए ही होती है।

कोई किसी का दु ख बाट नही लेता। जीव अकेला ही उत्पन्न होता है, अकेला ही मरता है। सब लोग अपने-अपने कर्म का फल भोगते है। इसलिए यह केवल अभिमान है कि पुत्र-कलत्रादि सुख-दु ख मे सहायक होते है। वे केवल विघ्न ही करते है। अत· उन प्रियजनो से कोई लाभ नही है।

परमार्थ-दृष्टि मे देखा जाय, तो कौन किस की सगति करता है ! जिस प्रकार, राह चलते पथिको का एक स्थान मे मिलन होता है और फिर वियोग होता है; उसी प्रकार, ससार-रूपी मार्ग पर चलते हुए ज्ञाति, सगोत्र आदि सम्बन्धो द्वारा आवास परिग्रह होता है। मरने पर वे उसके साथ नही जाते। अत. बोधिसत्व को चित्त के समाधान के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। चित्त-समाधान का विपक्षी काम-वितर्क है, जिसका निवारण करना चाहिए। जो काम-सुख के अभिलाषी है, उनकी विशेष रति अपवित्र स्त्री-कलेवर मे ही होती है। यदि तुम्हारी आसक्ति अशुचि मे नही है, तो क्यो इस स्नायु-बद्ध अस्थि-पजर और मास के लोथड़े का आलिगन करते हो ? जब शरीर का चर्म उत्पाटित होता है, तब त्रास उत्पन्न होता है, यह शरीर का स्वभाव ही है। परन्तु ऐसा जान कर भी इस मे रति क्यो उत्पन्न होती है ?

बिना धन के सुख का उपभोग नही होता। बाल्यावस्था मे धनोपार्जन की शक्ति नही होती। युवावस्था धनोपार्जन मे ही व्यतीत होती है और जब उम्र ढल जाती है, तब विषयो का कोई उपयोग ही नही रह जाता। कुछ लोग दिनभर भृति-कर्म कर सायंकाल को परिश्रान्त होकर लौटते है और मृत-कल्प सो जाते है। इस प्रकार वे आयु का केवल क्षय ही करते है, कामसुख का आस्वाद नही करते। इस जन्म मे भी कामासक्त पुरुष विविध दु खो का ही अनुभव करते है। वे सुख-लिप्सा से कार्य मे प्रवृत्त होते है, परंतु उनके द्वारा अनर्थ-परम्परा की ही प्रसूति होती है। धन का अर्जन और अर्जित धन की प्रत्यवायो से रक्षा अत्यत कष्टमय है और रक्षित धन का नाश भी चित्त-विषाद और चित्त की मलिनता का ही कारण होता है, इसलिए अर्थ अनर्थ का कारण होता है। धनासक्त पुरुष का चित्त कभी एकाग्र नही हो सकता। भव-दु ख से विमुक्त होने के लिए उसको अवकाश ही नही मिलता। इस प्रकार,

कामासक्ति मे अनर्थ ही वहुत है, सुखोत्पाद की वार्ता भी नही है। धनासक्त पुरुप की वही दशा है, जो उस वैल की होती है, जिसको शकट-भार वहन करना पडता है और खाने को घास ही मिलती है। इस थोडे से सुखस्वाद के लिए मनुष्य अपनी दुर्लभ सम्पत्ति ही नष्ट कर देता है। निश्चय ही, मनुष्य की यह उलटी मति है, क्योंकि वह निकृष्ट, अनित्य और नरकगामी शरीर के सुख के लिए निरन्तर परिश्रम करता रहता है। इस परिश्रम का कोटि-शत भाग भी वुद्धत्व-प्राप्ति के लिए पर्याप्त है, यह वोधिसत्व को जानना चाहिए।

काम का निदान दु ख है। शस्त्र, विप, अग्नि इत्यादि मरणमात्र दु ख देते है, परतु काम दीर्घकालिक तीव्र नरक-दु ख का हेतु है। अत , काम का परित्याग कर चित्त-विवेक मे रति उत्पन्न करनी चाहिए।

प्रज्ञा पारमिता—चित्त की एकाग्रता से प्रज्ञा के प्रादुर्भाव मे सहायता मिलती है। जिसका चित्त समाहित है, उसीको यथाभूत परिज्ञान होता है। प्रज्ञा से सव आवरणो की अत्यन्त हानि होती है। प्रज्ञा के अनुकूलवर्ती होने पर ही दान आदि पारमिताएँ सम्यक् सम्वोधि की प्राप्ति कराने मे समर्थ और हेतु होती है। दानादि गुण प्रज्ञा द्वारा परिशोधित हो कर अभ्यासवश प्रकर्प की पराकाष्ठा को पहुचते है और अविद्या-प्रवर्तित सकल विकल्पो का ध्वस कर तथा क्लेश और आवरणो को निर्मल कर परमार्थ-तत्व की प्राप्ति मे हेतु होते है। इस प्रकार, सभी पारमिताओ मे प्रज्ञा-पारमिता की प्रधानता पायी जाती है।

जो समाहित-चित्त है, वही यथाभूत का ज्ञान रखता है। जो यथाभूतदर्शी है, उसी के हृदय मे सत्वो के प्रति महाकरुणा उत्पन्न होती है। इस महाकरुणा से प्रेरित हो, शील, समाधि और प्रज्ञा इन तीनो शिक्षाओ को पूरा कर वोधिसत्व सम्यक् सम्वोधि प्राप्त करता है। शून्यता मे जो प्रतिष्ठित है, उसीने प्रज्ञा-पारमिता प्राप्त की है। जव यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि भावो की उत्पत्ति न स्वत होती है, न परत. होती है, न उभयत होती है, न अहेतुत होती है, तभी प्रज्ञा-पारमिता की प्राप्ति होती है। उस समय किसी प्रकार का व्यवहार नही रह जाता। उसी समय परमार्थ-सत्य की प्रतीति होती है कि दृप्यमान वस्तुजात माया के सदृश है, स्वप्न और प्रतिविम्व की तरह अलीक और मिथ्या है। केवल व्यवहार-दशा मे उनका सत्यत्व है और व्यवहार-दशा मे ही प्रतीत्यसमुत्पाद की सत्ता है। परतु, परमार्थ-दृप्टि से प्रतीत्यसमुत्पाद धर्म-शून्य है, क्योकि परमार्थ मे भावो का स्वकृतत्व, परकृतत्व और उभयकृतत्व निषिद्ध है। वास्तव मे सव शून्य ही शून्य है। सव धर्म स्वभाव से अनुत्पन्न है और यही ज्ञान आर्यज्ञान कहलाता है। जव इस आर्यज्ञान का उदय होता है, तभी अविद्या की निवृत्ति होती है और अविद्या के निरोध से ही संस्कारो का निरोध होता है। इस प्रकार, पूर्व-पूर्व कारणभूत के निरोध से उत्तरोत्तर

सर्वोपाधि से शून्य है। जो सर्वोपाधि-शून्य है, वह कल्पना द्वारा कैसे जाना जा सकता है ? उसका स्वरूप कल्पना के अतीत है और वह शब्दों का विषय भी नहीं है। वहा शब्दो की प्रवृत्ति नही होती। वास्तव मे, परमार्थ-सत्य अवाच्य है, परन्तु दृष्टान्त द्वारा कथचित् शास्त्र मे वर्णित है। विना व्यवहार का आश्रय लिये, परमार्थ का उपदेश नही हो सकता और विना परमार्थ के अधिगत किये निर्वाण की प्राप्ति नही होती।

सत्य-द्वय की व्यवस्था होने से तदधिकृत लोग भी दो श्रेणी के है–(१) योगी और (२) प्राकृतिक। योग समाधि को कहते है। सर्वधर्मशून्यता ही उस समाधि का लक्षण है। योगी तत्त्व को यथाभूत देखता है। प्राकृतिक वह है, जो प्रकृति, अर्थात् अविद्या मे आवृत्त है। वह वस्तुतत्त्व को विपरीत भाव मे देखता है। प्राकृत ज्ञान भ्रान्त है। जिन रूपादिकों का स्वरूप सर्वजन-प्रतिपन्न है, वह भी योगियों की दृष्टि मे स्वभाव-रहित है। यद्यपि वस्तुतत्त्व यही है कि सभी भाव नि स्वभाव है, तथापि दानादि पारमिता का आदरपूर्वक अभ्यास करना चाहिए। यद्यपि दानादि वस्तुत स्वभाव-रहित है, तथापि परमार्थ-तत्त्व के अधिगम के लिए सब सत्त्वों पर करुणा कर वोधिसत्व को इनका उपादान नितान्त प्रयोजनीय है। मार्गाभ्यास करने से समलावस्था से निर्मलावस्था और सविकल्पावस्था से निर्विकल्पावस्था उत्पन्न होती है।

वोधिसत्व की उत्कृष्टतम साधना प्रज्ञा-पारमिता की है। 'प्रज्ञा-पारमिता' और 'धर्मधातु' पर्याय है। वोधिसत्व का चित्त इस प्रकार प्रज्ञा की भावना करने से, धर्मता के परिशुद्ध होने से, शान्त हो जाता है और उसकी प्रज्ञा-पारमिता पूरी होती है।

इसप्रकार, दस पारमिताओ के अधिगत होने से वोधिसत्व की साधना फलवती होती है।

परमार्थ अद्वयार्थ है। परमार्थ न सत् है, न असत्; न तथा है, न अन्यथा; न इसका उदय होता है, न इसका व्यय, और न इसकी हानि होती है, न इसकी वृद्धि। ये ही परमार्थ के लक्षण है।

वोधिचर्या मे प्रथम चरण विज्ञप्तिमात्रता है, अर्थात्, यह ज्ञान कि ग्राह्य और ग्राहक चित्त-मात्र है। दूसरे चरण मे यह विज्ञानवाद अद्वयवाद मे परिवर्तित हो जाता है, धर्मधातु का प्रत्यक्ष होने से वह द्वयलक्षण से विमुक्त हो जाता है। तृतीय चरण मे जव अनुभूति से यह अवगत हो गया कि चित्त के अतिरिक्त कोई दूसरा आलम्बन नही है, तव यह भी जाना जाता है कि चित्त का भी अस्तित्व नही है। क्योकि जहाँ

ग्राह्य ही नही है, वहां ग्राहक भी नही है। वह किसी नास्तित्व मे पतित नही होता, क्योंकि जब बोधिसत्व चित्त के नास्तित्व को जान जाता है, तब ग्राह्य-ग्राहक-लक्षण से रहित हो, वह धर्मधातु मे अवस्थान करता है। यह मूल चित्त है। चतुर्थ चरण में इस परमार्थज्ञान का प्रयोग बोधिचर्या के लिए होता है। यह पारमिताओ की साधना से ही साध्य है।

अध्याय ३२

बोधिचित्त एवं बोधिचर्या तथा सम्यक् सम्बुद्ध

मनुष्य-जन्म की प्राप्ति दुर्लभ है। इसी जन्म मे परमपुरुपार्थ, अभ्युदय और निःश्रेयस् (परमकल्याण) की प्राप्ति के साधन उपलब्ध होते है। इसलिए, इस सुअवसर को हमे खोना नही चाहिए। यदि हमने मनुष्य-जन्म मे अपने और पराये हित की चिन्ता नही की, तो ऐसा समागम हमको फिर से प्राप्त नही होगा। मनुष्य स्वभाव से अकुशल पक्ष मे अभ्यस्त होने के कारण साधारणतया मनुष्य की वुद्धि शुभ कर्म मे रत नही होती। पुण्य सर्वकाल मे दुर्वल है और पाप अत्यन्त प्रवल है। ऐसी अवस्था मे प्रवल पाप पर विजय केवल किसी वलवान् पुण्य द्वारा ही प्राप्त हो सकती है।

भगवान वुद्ध लोगो की अस्थिर मति को एक मुहूर्त के लिए शुभ कर्मो की ओर प्रेरित करते है। जिस प्रकार वादलो से घिरे हुए आकाश-मण्डल मे रात्रि के समय क्षणमात्र के विद्युत्प्रकाश से वस्तुज्ञान होता है, उसी प्रकार इस अन्धकारमय जगत् मे भगवत्कृपा से ही क्षणमात्र के लिए मानव-वुद्धि शुभ कर्मो में प्रवृत्त होती है। वह वलवान् शुभ कौन-सा है, जो घोरतम पाप को अपने तेज से अभिभूत करता है? तो वह शुभ वोधिचित्त ही है। इससे वढकर पाप का प्रतिघातक और विरोधी दूसरा नही है।

वोधिचित्त क्या है? सव जीवो मे समुद्धरण के अभिप्राय से वुद्धत्व की प्राप्ति के लिए सम्यक सम्वोधि मे चित्त का प्रतिप्ठान होना ही वोधिचित्त का ग्रहण करना है। एक वोधिचित्त ही सर्वार्थ-साधना की योग्यता रखता है। इसी के द्वारा अनेक जीव भवसागर के पार लगते है। वोधिचित्त का ग्रहण सदा और सव के लिए आवश्यक है। इसका परित्याग किसी भी अवस्था मे नही होना चाहिए।

जो श्रावक की तरह दु.ख का अत्यन्त निरोध चाहते है, जो वोधिसत्वों की तरह केवल अपने ही नही, किन्तु सत्वसमूह के दु खो का अपनयन चाहते है और जिनको दु खापनयनमात्र नही, वरं च संसारसुख की भी अभिलापा है, उन सव को सदा वोधिचित्त को ग्रहण करना चाहिए।

वोधिचित्त के उदय के समय ही वह वुद्धपुत्र हो जाता है और इसप्रकार देवता और मनुष्य सव उसकी वन्दना और स्तुति करने है। जिस प्रकार एक पल रस सहस्र

पल लोहे को सोना वना देता है, उसी प्रकार वोधिचित्त एक प्रकार का रसधातु है; जो मनुष्य के कलेवर और स्वभाव को वुद्ध-विग्रह और स्वभाव मे परिवर्तित कर देता है। वोधिचित्त के ग्रहण से पापशुद्धि होती है। जिसप्रकार, एक गुहा का सहस्रो वर्षों से सचित अन्धःकार प्रदीप के प्रवेशमात्र से ही नष्ट हो जाता है और वहा प्रकाश हो जाता है, उसीप्रकार वोधिचित्त अनेक कल्पो के सचित पाप का ध्वस और ज्ञान का प्रकाश करता है। जिस प्रकार, कोई व्यक्ति वडा अपराध कर के भी किसी वलवान् की शरण मे जाने से अपनी रक्षा कर लेता है, उसीप्रकार वोधिचित्त का आश्रय ग्रहण करने से एक ही क्षण मे पुण्यराशि का अनुपम लाभ होता है और समस्त पाप का ध्वस हो जाता है।

वोधिचित्त ही सव पापो से निर्मूल करने का महान उपाय है। यह सतत फल देने वाला कल्पवृक्ष है।

वोधिचित्तोत्पाद के विना कोई भी व्यक्ति वोधिसत्व की चर्या अर्थात् शिक्षा ग्रहण करने का अधिकारी नही होता। वोधिचित्त-ग्रहणपूर्वक ही वोधिसत्व-शिक्षा का समादान होता है, अन्यथा नही।

वोधिसत्वो की चर्या महाकरुणा-पुरस्सर होती है, अत महाकरुणा ही उसका प्रारम्भ है। जीव ही इस करुणा के पात्र है। दु खित जीवो का आलम्वन करके ही करुणा प्रवृत्त होती है।

वोधिसत्व के लिए वहुधर्म की शिक्षा का ग्रहण अनावश्यक है। वोधिसत्व को एक ही धर्म स्वायत्त करना चाहिए। जिस ओर महाकरुणा की प्रवृत्ति होती है, उसी ओर सव वुद्ध-धर्मो की प्रवृत्ति होती है। जिस प्रकार जीवितेन्द्रिय के रहते अन्य इन्द्रियो की प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार महाकरुणा के रहने से वोधिकारक अथवा वोधिपाक्षिक धर्मो की प्रवृत्ति होती है।

महाकरुणा सम्यक्-सम्वोधि का साधन है। भगवान वुद्ध के चरित से भी महाकरुणा की उपयोगिता प्रकट होती है। जव भगवान को वोधिवृक्ष के तले सम्यक्-सम्वोधि प्राप्त हुई, तव धर्मदेशना मे उनकी प्रवृत्ति नही थी। उन्होने सोचा कि लोग अन्ध कार से आच्छन्न है और राग-द्वेष से संयुक्त है, अत वे प्रकाश नही देख सकते। 'यदि मै इन्हे धर्मोपदेश करू,तव भी इनको सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति नही होगी', वुद्ध का यह भाव जान कर ब्रह्मा सहम्पति को चिन्ता हुई कि यदि वुद्ध धर्मोपदेश न करेगे, तो ससार नष्ट हो जायगा। आर्तजन को दु खार्णव के उस पार कौन ले जायगा और धर्म-नदी का प्रवर्तन कर कौन जीवलोक की तृष्णा का उपशम करेगा? यह विचार कर ब्रह्मा वुद्ध के सन्मुख प्रादुर्भूत हुए और उन्होने भगवान से प्रार्थना की कि भगवान धर्म का उपदेश करे; अन्यथा जो लोग दोषपूर्ण है, वे धर्म का परित्याग

कर देगे । भगवान ने कहा कि मैने गम्भीर और दुरनुबोध धर्म पाया है, परतु धर्मदेशना मे मेरा चित्त नहीं लगता। ब्रह्मा के विशेप प्रार्थना करने पर जीवो पर करुणा कर भगवान ने बुद्ध-चक्षु से लोक को देखा और जाना कि जीव दु खार्दित हैं। अत , ब्रह्मा सहम्पति की प्रार्थना भगवान ने स्वीकार की और सर्वभूत-दया से प्रेरित होकर सत्वो के कल्याण के लिए उन्होंने धर्मोपदेश किया ।

साधक को बुद्ध के समान अपने ही नही, किन्तु सत्व-समूह के जन्म-मरणादि दु खो के अपनयन का भी प्रयास करना चाहिए । बोधिचर्या, जो बुद्धत्व-प्राप्ति की विपश्यना एव पारमिता की साधना है, उसका ग्रहण करना चाहिए जिससे साधक सब चीजो का समुद्धरण करने मे समर्थ होता है । बोधिचित्त का साधक अपने को परमार्थ-सत्य में स्थापित करना चाहता है, पर साथ ही साथ, सब सत्वो को परमार्थ-सत्य मे प्रतिष्ठित करने मे यत्नशील रहे, यह भी वह चाहेगा ।

सम्यक् सम्बुद्ध

भगवान बुद्ध की जीवनी इस ग्रन्थ के दूसरे खण्ड मे विस्तार से देखेगे । उनके जीवन की कुछ महत्वपूर्ण बाते ही यहा हम समझेगे ।

भगवान बुद्ध के जीवन की पांच घटनाएँ विशेप हैं : —

(१) भगवान का जन्म वैशाख शुक्ल पौणिमा को रात्रि समय हुआ, और वह लुम्बिनी वन मे ही हुआ ।

(२) भगवान को सम्यक् सम्बोधि वैशाख शुक्ल पौणिमा को रात्रि समय हुई और वह भी वन में ही ।

(३) भगवान ने प्रथम उपदेश पांच भिक्षुओ को, जो उनके प्रारम्भ में साथ थे उनको, सारनाथ ऋषिपत्तन मे वन मे ही आपाढ शुक्ल पौणिमा को दिया ।

(४) भगवान का परिनिर्वाण वैशाख शुक्ल पौणिमा को रात्रि समय कुसिनारा के पास वन मे ही हुआ ।

(५) भगवान का गर्भाधान आपाढ शुक्ल पौणिमा को, रात्रि समय ही हुआ । जब कपिलवस्तु मे उत्सव मनाया जा रहा था, तब राणी महामाया को स्वप्न हुआ ' एक सफेद रंग का छ दातो वाला हाथी उनकी दाहिनी कुक्षि मे प्रवेश कर रहा है और आकाश से एक सफेद रग का तारा टूटा है ।'

भगवान बुद्ध का जन्म

आज से ढाई हजार वर्प पूर्व हिमालय की तराई मे कपिलवस्तु नामक राज्य था । वहा शाक्यवंशीय राजा शुद्धोदन राज्य करते थे जो वैदिक धर्म के थे । राजा

शुद्धोदन के परिवार का गोत्र गौतम था। शुद्धोदन को दो रानियां थी। वडी रानी महामायादेवी और छोटी रानी महाप्रजापति। दोनो वहनें थी। दोनो को पुत्र नही था। रानी महामाया को "सिद्धार्थ" पुत्र-रत्न हुआ और उसके सातवें दिन ही महा-माया ने इहलोक छोड दिया। तव सिद्धार्थ का लालन-पालन उसकी मौसी महा-प्रजापति ने किया।

भविष्यवाणी

उस समय, शुद्धोदन महाराज के कुलमान्य महान् तपस्वी 'असित कालदेवल' ऋषि ने दिव्य दृष्टि से देखा कि शुद्धोदन के घर मे एक दिव्य वालक ने जन्म ग्रहण किया है। ऋषि राजगृह मे पधारे और वालक को उन्होने हाथ मे लिया। तापस ने वोधिसत्व के लक्षण-सपत् को देख कर 'यह अवश्य बुद्ध होगा' ऐसा भविष्य प्रति-पादन किया।

सिद्धार्थ के जन्म के पाचवे दिन राजा ने ब्राह्मणो को वुलवाकर भविष्य पुछवाया। इनमे से सात ब्राह्मणो ने भविष्य कहा 'यह चक्रवर्ती राजा होगा और यदि गृह त्याग दिया तो वुद्ध होगा'। आठवे ब्राह्मण कौण्डिन्य ने कहा, 'इसके घर मे रहने का कोई कारण नही है, अवश्य ही यह महाज्ञानी वुद्ध होगा'। आगे सातो ब्राह्मण परलोक सिधारे, अकेले कौण्डिन्य ही जीवित रहे थे। उन सात ब्राह्मणो के पुत्रो मे से चार ने कौण्डिन्य के साथ प्रव्रज्या ग्रहण की। ये पाचो आगे चल कर पचवर्गीय स्थविरो के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन पाच भिक्षुओ ने ही सिद्धार्थ के राजगृह छोडने पर प्रारम्भ मे पाच वर्षो तक साथ मे रहकर तप किया था। आगे सिद्धार्थ सम्यक् सम्वुद्ध होने पर उन्होने सर्वप्रथम इन पाच भिक्षुओ को उपदेश दिया था।

भविष्यवाणी से राजा शुद्धोदन अत्यत चिन्तित रहे। सिद्धार्थ शिक्षासम्पन्न हुए। सिद्धार्थ का विवाह एक कुलीन शाक्यवशीय व्यक्ति दण्डपाणि की कन्या यशोधरा से हुआ था। राजा प्रसन्न हुआ कि पुत्र सिद्धार्थ का विवाह हो गया और सोचने लगा कि सिद्धार्थ अव चक्रवर्ती राजा वनेगा। वह संन्यासी नही वने, इसलिए राजा ने काम-भोगो के साधन सिद्धार्थ के लिये सदैव उपलब्ध रखे और वह राजमहल के वाहर न जाय ऐसी सारी वव्यस्था भी करवा दी।

राहुल का जन्म

यथासमय यशोधरा ने एक पुत्र को जन्म दिया। सिद्धार्थ ने कहा "राहु पैदा हुआ, वन्धन पैदा हुआ।" राजा ने पौत्र का नाम 'राहुल' रखा।

महल के वाहर चार दृश्य

एक दिन सिद्धार्थ ने कहा "पिताजी, मैं महल से निकल कर दुनिया देखना

चाहता हूं"। राजा ने बडी प्रसन्नता से रथ तैयार करवा दिया। सिद्धार्थ नगर मे निकले। छन्न उनके रथ का सारथी था।

सिद्धार्थ ने एक बहुत दुर्बल, सफेद बाल वाला शरीर मे झुरिया पडी है, ऐसा एक ,बूढा देखा। उसने आगे एक बीमार, दुखी रोगी को भी देखा। फिर उसने एक शव को देखा और तदनन्तर एक सन्यासी को भी देखा, जिसने सत्य की खोज के लिए जीवन के सारे सुखो को त्याग कर कष्टो को अंगीकार किया था। इन दृश्यो का सिद्धार्थ के मन पर बडा गहरा असर हुआ।

महल मे सिद्धार्थ उदास रहने लगा। माता के पूछे जाने पर सिद्धार्थ ने कहा, "माँ! मैंने जाना है कि सभी जीवित और सुन्दर वस्तुएँ एकजैसी नही रहती। लोग बूढे होते है, बीमार पडते है और मरते है, यह सोच कर मुझे बडा शोक होता है।"

राजगृह का परित्याग

एक रात सिद्धार्थ ने निर्णय कर लिया कि मै दु ख-दर्द को मिटाने का उपाय खोजूगा, सत्य की खोज करूगा। शयनागार मे यशोधरा और पुत्र राहुल गहरी नीद मे सोये हुए थे, तब चुपके से वह चल दिये और कषाय वस्त्र धारण कर उन्होने भिक्षुभाव ग्रहण कर लिया। उस समय उनकी आयु २९ वर्ष की थी।

सिद्धार्थ 'आलार कालाम' नामक तापस के तपोवन मे गये। वहा पर उन्होने सात ध्यान सीखे, किन्तु इससे सिद्धार्थ को सन्तोष नही हुआ। फिर तापस 'उद्रक रामपुत्र' के पास वे गये। वहा पर उन्होने आठवा ध्यान सीखा, सांख्ययोग की शिक्षा भी ग्रहण की, किन्तु इनसे उन्हे परितोष नही हुआ। सिद्धार्थ ने तापस से कहा "इस आठवे ध्यान मे अन्तर्मुखी होने पर अभी भी अनुशय-क्लेश शेष है"। तापस ने कहा, "आठवा ध्यान सब से ऊचा है। इसके आगे अब कोई ध्यान नही है। ये अनुशय-क्लेश तो रहेगे ही। अत आप अब सिखाने का काम करे।" सिद्धार्थ ने कहा "मैने सिखाने के लिए राजगृह नही छोडा है। मै सत्य की खोज मे निकला हू, दु.ख-दर्द मिटाने के उपाय के खोज मे निकला हू।"

फिर, सिद्धार्थ अनुत्तर (सर्वश्रेष्ठ) शान्तिवरपद की गवेषणा में 'उरुवेला' आये और नेरजना नदी के तट पर उन्होने आवास किया। सिद्धार्थ ने विचार किया कि मुझ मे श्रद्धा है, वीर्य है, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा है, तो मै स्वय ही धर्म का साक्षात्कार करूंगा।

बुद्धत्व की प्राप्ति

सिद्धार्थ के समवेत पाच अन्य भिक्षु भी थे। ये वे ही भिक्षु थे जो कौण्डिन्य ब्राह्मण और उसके साथ चार युवक जो सिद्धार्थ के बचपन मे ही प्रव्रजित हुए थे। उन्होने

अनशन-व्रत प्रारंभ किया यह समझ कर कि इससे वे जन्म-मरण पर विजय प्राप्त कर लेगे। वे एक तिल–तण्डुल पर रहने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि वे अत्यत कृश हो गये और त्वक्-अस्थिपजर रह गये। तव सिद्धार्थ को मालूम हुआ कि यह धर्म (व्रत) विराग, वोध, मुक्ति के लिए नही है, क्योकि दुर्वल इस पद को नही पा सकता।

एक चरवाहे की पुत्री सुजाता ने आकर उन्हे भोजन दिया। सिद्धार्थ भोजन करने लग गये। साथ के पाचो भिक्षु असन्तुष्ट हो गये और 'अव यह वुद्ध नही वनेगा' ऐसा समझ कर उन्होने सिद्धार्थ का साथ छोड दिया।

सिद्धार्थ वोधिवृक्ष के नीचे समाधि लगाते रहे। गर्मी और सर्दी, भूख और प्यास, वरसात और धूप सभी को उन्होने झेला। सांसारिक सुखो के दृश्य उनकी आँखो के आगे घुमने लगे, परन्तु वे विचलित नही हुए। उस समय उनकी आयु ३५ वर्ष की थी।

फिर सिद्धार्थ वोध के लिए, दु खो के अन्त के उपाय के लिए कृत-सकल्प हो अश्वत्थमूल मे पर्यङ्कवद्ध हुए और उन्होने प्रतिज्ञा की "जव तक मैं कृतकृत्य नही होता, तव तक इसी आसन मे वैठा रहुगा।" वैशाख शुक्ल पौर्णिमा थी। रात्रि के प्रथम याम मे सिद्धार्थ को पूर्व-जन्मो का ज्ञान हुआ। दूसरे याम मे दिव्य-चक्षु विशुद्ध हुआ। अन्तिम याम मे प्रतीत्य-समुत्पाद का साक्षात्कार हुआ, और अरुणोदय मे उनको सर्वज्ञता का प्रत्यक्ष हुआ, सम्यक् सम्वोधि प्राप्त हुई। वे सम्यक् सम्वुद्ध हुए। सर्व-ज्ञान का साक्षात्कार कर भगवान कृतकृत्य हुए। सात सप्ताहो तक वोधिवृक्ष के तले वैठ कर वे विमुक्ति-सुख का आनन्द-रस लेते रहे।

धर्मचक्र प्रवर्तन

भगवान के मन मे महा करुणा-भाव एव कृतज्ञता-भाव जाग उठा, "यह अनमोल विद्या मैने जो पायी है, वह सर्वप्रथम मै किसको दू ?" उन्हे तापस आलार कालाम का स्मरण हुआ। अन्तर्ध्यान लगा कर उन्होने देखा कि इस समय वे कहा होगे, तो पाया कि सात दिन पहले ही इहलोक छोड कर उन्होने ब्रह्मलोक मे जन्म लिया है। फिर तापस उद्रक रामपुत्र का ध्यान किया तो उन्होने जाना कि उनकी तो कल ही रात को देह छुट गयी और ब्रह्मलोक मे ही उनका जन्म हुआ है। फिर, उन पाच भिक्षुओ का ध्यान उन्होने किया जो उनके साथ मे रहे थे। उन्होने जाना कि वे ऋषिपत्तन मृग-दाव मे, जो वाराणसी के पास सारनाथ है वहा, विहार कर रहे है।

तव भगवान वोधिगया से रवाना होकर सारनाथ पहुचे। आषाढ शुक्ल पौर्णिमा के दिन उनका प्रथम उपदेश उन पञ्चवर्गीय भिक्षुओ को हुआ। यही उपदेश धर्मचक्र-प्रवर्तन-सूत्र है। चार आर्यसत्य एव प्रतीत्यसमुत्पाद का यह उपदेश हे। यही पर

धर्मचक्र का प्रथम बार प्रवर्तन हुआ। पांचो भिक्षु अर्हत् हो गये। सारनाथ भिक्षुओ का एक तीर्थ हो गया, जैसे बुद्धगया तीर्थ है।

फिर धर्मप्रसार का प्रारम्भ होकर संघ का निर्माण हुआ। हर तबके के लोग धर्मोपदेश के लिए आने लगे। सारे जनमानस में विद्या फैलने लगी। इस ओर देश के बुद्धिशाली ब्राह्मण वर्ग खीचा आया। ब्राह्मणो का नेता सारिपुत्र भगवान का दाहिना हाथ हो गया और उसको धर्मसेनापति की उपाधि दी गयी। इसी तरह, ब्राह्मणो का नेता महामोग्गलायन भी भगवान का बाया हाथ बन गया। इसीप्रकार, अनेक ब्राह्मण नेता काश्यप, कात्यायन आदि खीचे चले आये और इसीप्रकार, राजन्यवर्ग – मगध का राजा, कोशल का राजा, शाक्यो का, कालियों का, आदि राजा भी खीचे हुए चले आये। वैसे ही, राजकर्मचारी भी, श्रेष्ठीवर्ग, व्यापार-व्यावसायिक वर्ग एव नीचे के सभी तबको के लोग भी बहुत बडी संख्या में धर्म मे डुबकी लगाने लगे। शान्ति किसे नही चाहिए ?

भगवान बुद्ध की शिक्षा

भगवान बुद्ध की शिक्षा व्यावहारिक थी। वे दु ख के अत्यन्त निरोध का उपाय बताते रहे। लोक शाश्वत है या अशाश्वत, लोक अन्तवान् है या अनन्त, जीव और शरीर एक है या भिन्न, तथागत मरण के पश्चात् होता है या नही, इत्यादि दृष्टियो का व्याकरण (व्याख्या) भगवान बुद्ध ने नही किया, क्योकि उन्हीके शब्दो मे यह अर्थसहित नहीं है। ये विराग, निरोध, उपशम, सम्बोध, निर्वाण सवर्त्तनीय नहीं है। इन दृष्टियो के होते हुए भी जन्म, जरा, मरण, शोक, दु.ख होते ही है, जिनका विघात इसी जन्म मे हो सकता है। भगवान बुद्ध ने श्रावको से पूछा जाने पर इन प्रश्नों का उत्तर देनेसे इन्कार कर दिया। भगवान कहते है कि " ये दृष्टियां कान्तार (घना जंगल), गहन, सयोजन (बन्धन) आदि है। ये दु ख-परिदाह में हेतु (व्यत्यय) है। निर्वाण सवर्त्तनीय नही है। इसलिए मैं इन दृष्टियों में दोष देखता हू और इनका उपगम नही करता। तथागत इन दृष्टियो से अपनीत (जानकार) है। " इसलिए भगवान बुद्ध इन प्रश्नो की गुत्थियों को सुलझाने मे नही लगे। यह तो दर्शनशास्त्र का विषय है। भगवान कहते है कि " मैं तो इतना ही बताता हू कि यह दु ख का कारण है और यह दु:ख से निकलने का मार्ग है। इसी जीवन मे निर्वाण-पद की प्राप्ति हो सकती है। ऐसी गुत्थियों मे उलझ कर जीवन निरर्थक खो नही दो। "

भगवान बुद्ध का बताया मार्ग ' मध्यम मार्ग ' कहलाता है। क्योकि यह दोनों अन्तो का परिहार करता है। " जो कहता है कि आत्मा है, वह शाश्वत दृष्टि के पूर्वान्त मे अनुपतित होता है; जो कहता है कि आत्मा नही है, वह उच्छेद-दृष्टि के दूसरे अन्त मे अनुपतित होता है। " उच्छेद और शाश्वत दोनो अन्तो का परिहार कर भगवान

'मध्यम प्रतिपत्ति' (मार्ग) का उपदेश करते है, आर्य-अष्टागिक मध्यम मार्ग का अर्थात् शील, समाधि, प्रज्ञा की देशना देते है।

भगवान कहते है कि "आओ और देखो, इस धर्म की परीक्षा करो। प्रत्येक को इसका अपने चित्त मे अनुभव करना होगा। यह ऐसा धर्म नही है कि एक साधक मार्ग की भावना करे और दूसरा उसके फल को प्राप्त करे" इसलिए भगवान कहते है "भिक्षुओ! तुम अपने लिए स्वय दीपक बनो, दूसरो की शरण न जाओ।"

भगवान की शिक्षा थी "जो दण्डनीय है उसे दण्ड मिलना ही चाहिए। जो उपहार देने योग्य है, उसे उपहार दिया जाना ही चहिए। साथ ही किसी भी प्राणी को कष्ट नही दिया जाना चाहिए, परतु उनके साथ प्रेम और दया का ही कर्तव्य होना चाहिए।"

भगवान कहते है "धर्मदान सब दानो मे श्रेष्ठ है। धर्म का माधुर्य सब माधुर्यो से उत्तम है। धर्म का आनन्द सब आनन्दो से महान् है"

"मनुष्य को राग-द्वेष से तृष्णा उत्पन्न होकर दु ख का उत्पाद होता है। विकारवश चित्त को धर्मदान से शुद्ध करने से दु ख-निरोध होता है।"

"एक आदमी दूसरे की यथेच्छ हानि कर सकता है, किन्तु जिसकी हानि होती है वह भी फिर दूसरे को हानि पहुचाता ही है।"

"जब तक पापकर्म फल देना आरम्भ नही करता, तब तक मूर्ख आदमी आनन्द मना सकता है। किन्तु जब पापकर्म फल देना प्रारम्भ करता है, तो दु ख ही दु ख होता है।"

"हत्यारे को हत्यारा मिलता है, जो दूसरो को लडाई मे हराता है और उसे भी हराने वाले मिल ही जाते है। जो दूसरो को गाली देता है, उसे भी गाली देने वाले मिल ही जाते है।"

"इसप्रकार, कर्म के विपाक के फलस्वरूप जो आदमी दूसरो को कष्ट देता है, वह भी कष्ट पाता ही है।"

यही भगवान की निरन्तर शिक्षा रही।

भगवान बुद्ध ८० वर्ष तक जीवित रहे। २९ वर्ष की अवस्था मे उन्होने गृहत्याग किया और ३५ वर्ष की अवस्था मे वे सम्यक सम्बुद्ध हुए। उनके जीवनकाल मे करोडों की सख्या मे लोगो ने शुद्ध धर्म का लाभ प्राप्त किया।

भगवान बुद्ध जात-पांत को नही मानते थे। जन्म से कोई ब्राह्मण नही होता, कर्म से ही होता है। जन्म से कोई नीच नही होता है, वह कर्म से ही होता है।

भगवान वुद्ध स्वर्ग-नरकादि मानते थे। अर्हत् को वे सब से ऊंचा और उत्तरपद समझते थे।

एक भिक्षु की तरह ही भगवान वुद्ध के पास तीन चीवरों से अधिक कभी नहीं रहे। वे दिन मे एक वार भोजन ग्रहण करते थे, हर रोज घर-घर से भिक्षाटन करते थे।

भगवान वुद्ध ने अनेक जन्म वोधिसत्व होकर घोर तपश्चर्या की थी।

किसी भी मानव ने इससे कड़े 'कर्तव्य' को नहीं निभाया होगा और वह भी इतनी प्रसन्नता के साथ।

(अगले खण्ड मे विस्तार से भगवान की समग्र जीवनी को हम ग्रहण करेंगे।)

पंचम विभाग

परिचय-दर्शन

परिचय · १

विपश्यना साधना के शिक्षाकेंद्र

'विपश्यना साधना' के इस ग्रन्थ को पढने पर पाठक के मन मे सहज भाव जाग उठता है कि इस अनमोल विद्या की शिक्षा कहा प्राप्त हो सकेगी। दु खो से मुक्ति और जन्म-मरण के चक्र के वाहर निकलने वाली ऐसी अनोखी साधना सचमुच मे दुर्लभ है। ऐसी साधना का अभ्यास तो मैं स्वयं भी करु, मेरे परिवार के सदस्य भी करे, मेरे मित्र-परिचित भी करे और सभी लोग उसको प्राप्त करे, यह तीव्र प्रेरणा पाठक के मन मे जाग उठेगी ही।

इगतपुरी केन्द्र :

वम्वई-नासिक के वीच 'इगतपुरी' रेल-स्टेशन है। स्टेशन के समीप ही इगतपुरी गाव वसा हुआ है। वम्वई से आग्रा जाने वाला मोटर मार्ग भी इसी गाव से होकर जाता है। पहाडी पर 'विपश्यना विश्व विद्यापीठ' की सस्थापना सन १९७५ मे हुई है। वम्वई से इगतपुरी आते समय पहाडी-घाटी से गुजरते हुए इगत-पुरी गांव कुछ ऊचाई पर है, जो अव औद्योगिक केन्द्र भी वन रहा है। यह गांव नासिक जिले मे आता है। गाव की वस्ती के पीछे ही छोटी-सी पहाडी की लगभग वीस एकड भूमि पर यह विद्यापीठ स्थित है। स्थान सुदर, नयनमनोहर, वनश्री से ओतप्रोत है। यह एक तपोभूमि वन गयी है।

विद्यापीठ मे साधको के लिये निवास का उत्तम प्रवध है। तदर्थ, अनेक पक्की इमारते हैं और साथ ही घास की कुटियाँ भी है। यह निर्माण-कार्य अविरत चलता ही रहा है। अभी लगभग ३०० साधक एक समय रह सके, इतनी व्यवस्था हो गयी है। हर साधक के लिए कॉट, गद्दी, तकिया, मच्छरदानी आदि आवश्यक वस्तुओ का समुचित प्रवध है। भोजनगृह और स्वच्छतागृहो की भी जरुरी व्यवस्था है।

साधना के लिए एक विशाल ध्यान-मदिर का यहा नव-निर्माण हुवा है, जिसमे लगभग ४०० साधक ध्यान-साधना करने वेठ सकते है। हर साधक को साधना के लिए स्वतत्र, मोटासा आसन भी दिया जाता है। ध्यान-मदिर के सलग्न ही दुमजिली चैत्य का नवनिर्माण किया गया है, जिसकी परिक्रमा मे साधको को स्वतंत्र ध्यान करने के लिए ३' × ६' साइज की छोटी छोटी १५० कोठडियाँ याने शून्यागार (cells) वनाए गये है।

इस तपोभूमि पर हजारो की संख्या में साधको ने तप किया है। यह एक सुंदर तपोवन बना हुआ है, शान्ति का स्थान बन गया है। यहां चारो ओर पेड-पौधे हवा से झूम रहे हैं और बगल में ही ऊंची पहाडियों का रमणीय दृश्य है। प्रतिदिन अनेक साधक इस एकान्त, मनोहर वातावरण से लाभान्वित होते हैं और पूर्णतः मौन रह कर अत्यंत उत्साह एवं एकाग्रता के साथ ध्यान-साधना करते हैं। ऐसा यह पुनीत और शान्त तपोवन पूर्वकाल के ऋषिमुनियों के आश्रमों की ही जो याद दिलाता है।

यहां पर प्रतिमाह साधना-शिविरों का आयोजन है और शिविरों का यह पावन उपक्रम अविरत चलता ही रहता है। हर शिविर १० दिनों का होता है। जो साधक पहली बार साधना की शिक्षा ग्रहण करने आता है, उसे पूरे १० दिन यहां पूरा समय उपस्थित रहना अनिवार्य है। शिविर के प्रथम दिन साधना का प्रारंभ सायं ७ बजे होता है। फिर समय-सारणी के अनुसार पूरे दस दिन कार्यक्रम चलते हुए ११ वे दिन प्रात. ७ बजे शिविर का समापन होता है। जैसे : दिनांक १ को सायं ७ बजे यदि शिविर शुरु होता है, तो दिनांक १२ को सुबह ७ बजे शिविर की समाप्ति होती है। इसमें पहले ९ दिन साधक को पूर्ण मौन रहना अनिवार्य है। इस आर्य-मौन का कडाई से पालन करना होता है। आर्य-मौन का अर्थ है, शरीर से और मन से पूर्ण मौन। इस मौन में न परस्पर में बातचीत करना है और न इशारे से भी सुझाव देना है। अपितु, अपने आचार्य से वार्तालाप किया जा सकता है।

समय-सारणी—दैनिक साधना के लिये निरंतर अभ्यास के हेतु अधिक से अधिक समय मिल सके, इसीलिये यहां निम्नलिखित समय-सारणी निर्धारित की गयी है, जिसका निष्ठापूर्वक पालन करना साधको के लिये अनिवार्य है:—

प्रातः	४ बजे	:	जागरण
	४–३० से ६–०० बजे तक	:	ध्यान साधना
	६–०० से ६–३० बजे तक	:	वन्दना एवं मंगल कामना।
	६–३० से ८–०० बजे तक	:	नित्यकर्म एवं नाश्ता।
	८–०० से ९–०० बजे तक	:	सामूहिक ध्यान साधना।
	९–०० से ११–०० बजे तक	:	ध्यान साधना।
मध्यान्ह	११–०० से १२–०० बजे तक	:	भोजन।
	१२–०० से १–०० बजे तक	:	विश्राम।
	१–०० से २–३० बजे तक	:	ध्यान साधना।
अपरान्ह	२–३० से ३–३० बजे तक	:	सामूहिक ध्यान साधना।
	३–३० से ५–०० बजे तक	:	ध्यान साधना।

सायं	५—०० से ६—०० वजे तक	:	चायपान एवं विश्राम ।
	६—०० से ७—०० वजे तक	:	सामूहिक ध्यान साधना ।
रात्रि	७—०० से ८—३० वजे तक	:	मार्गदर्शन हेतु प्रवचन ।
	८—३० से ९—०० वजे तक	:	ध्यान साधना ।
	९—०० से ९—३० वजे तक	:	प्रश्नोत्तर एवं शंका-समाधान ।
	९—३० से प्रात· ४—०० तक	.	विश्राम ।

नाश्ता एवं भोजन—नाश्ता प्रात ६—३० वजे दिया जाता है, जिसके साथ चाय, दूध एव फल भी होते हैं । भोजन मे दाल, चावल, फुलके, दो सब्जिया एवं दही होता है । साय ५ वजे नये साधको को चाय, दूध एवं फल तथा पहले कम से कम एक शिविर किये हुए पुराने साधको के लिये केवल नीबू-पानी दिया जाता है । रात्रि मे भोजन नही दिया जाता ।

शील का पालन—शिविर के प्रथम दिन साधना का प्रशिक्षण प्रारंभ होता है, तव सव से पहले शील-सदाचार के अनिवार्य पालन का दस दिनो के लिये साधको को सकल्प दिया जाता है । नये साधको को पचशील (असत्य नही वोलूगा, चोरी नही करूगा, जीव-हत्या नही करूगा, मैथुन या व्यभिचार नही करूगा और नशे का सेवन नही करूगा—ये पचशील है) का संकल्प करना होता है । पुराने साधको को ऊपरलिखित पचशील के अलावा और तीन शील (यथा - मध्यान्ह १२ वजे के वाद भोजन न पाना याने कुछ भी न खाना, शृगार, प्रसाधन एव मनोरजन मे विरत रहना, और ऊची, आरामदेह, विलासी शय्या पर न सोना ।) दिये जाते है । साथ ही सभी साधको को नौ दिनो का आर्यमौन ग्रहण करना होता है ।

आनपाना साधना— शिविर के प्रथम साढे तीन दिन समाधि का अर्थात् चित्त की एकाग्रता का अभ्यास करवाया जाता है, जिसमे साधक अपने स्वाभाविक सास पर मन लगाता है । आते हुए सास पर और जाते हुए सास पर ध्यान लगाने का यह अभ्यास है, जिसको 'आनापान' साधना कहते है । इस अभ्यास से चित्त की एकाग्रता होती है और साथ ही चित्त वश मे किया जाता है ।

विपश्यना साधना—शिविर के चौथे दिन साधको को 'विपश्यना' दी जाती है, जो प्रज्ञा का अभ्यास है । शिविर के शेप साढे छ दिन यह अभ्यास साधको को करना होता है । अन्तर्मुखी होकर अपने ही शरीर मे होनेवाली सवेदनाओ को साक्षी भाव से देखने का (चित्त द्वारा जानने का) और स्थूल सच्चाई से सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम सच्चाई तक जानने का यह अभ्यास है । शरीर की ये सवेदनाएं केवल तरङ्गे ही तरङ्गे है, धाराप्रवाह ही धाराप्रवाह है और भङ्ग ही भङ्ग है, ऐसा इस साधना मे साधको को जान पडता है । जैसे जैसे यह अभ्यास पुष्ट होता जाता है

वैसे वैसे आगे चलकर यथासमय इन्द्रियातीत, भवातीत अवस्था साधको को अनुभूत हो सकती है और अन्तिम सत्य का, परमार्थ सत्य का भी साक्षात्कार हो सकता है।

शिविर में प्रवेश—साधक चाहे किसी जाति का, धर्म का, वर्ण का या देश का हो, सभी को यहा प्रवेश है। साधना की यह विधि सार्वजनीन, सार्वदेशिक और सार्वकालिक है। साधना की इस विधि मे किसी जप, मंत्र, रूप, आकृति, मूर्ति आदि का ध्यान नही है; अपितु केवल अपनी सास को तथा अपने ही शरीर में अनुभूत होने वाली सवेदनाओ को, तरङ्गो को, साक्षीभाव से देखना (जानना) भर यह साधना है। हमारे अनेक जन्मो के सचित कर्म-सस्कार क्षीण हो जाय और नये कर्मसंस्कार वने नही, यही यह साधना-अभ्यास है। दु खमय जन्म-मरण के चक्र से वाहर निकलने का यह विशुद्धि-मार्ग है। इस विधि की शिक्षा है शील, समाधि और प्रज्ञा, जो किसी भी धर्म-संप्रदाय के लिए समर्थनीय है। इस साधना शिविर मे प्रवेश-प्राप्ति के लिए एवं शिविर की जानकारी के लिए निम्नलिखित स्थानपर संपर्क किया जा सकता है ·—

श्री व्यवस्थापक, विपश्यना विश्व विद्यापीठ,
धम्मगिरी, मु पो इगतपुरी, जि. नासिक
(महाराष्ट्र) पिन् ४२२४०३ (टेलिफोन क ७६)

वम्वई से दिल्ली, कलकत्ता, वाराणसी की ओर जानेवाली और उधर से वम्वई आनेवाली सभी ट्रेने इगतपुरी रुकती है। स्टेशन पर कूली मिल जाते है,जो सामान सीधे साधना-केन्द्र पर पहुचा देते है। रेलवे स्टेशन से पैदल वीस मिनट का रास्ता है।

अन्य वातें—साधना शिविर के दस दिनो मे वाह्य जगत् से कोई सवध नही रहता। कोई समाचार-पत्र, डाक, फोन आदि से सपर्क भी मना है। किसी वाहरी व्यक्ति से मिलना भी नही होता और न अहाते के वाहर साधक जा सकते है।

शिविर मे पढना, लिखना, व्यायाम, पाठ-पूजा आदि की भी मनाही है, ताकि साधक का सारा मन केवल वतायी गई साधना के ही अभ्यास मे लगा रहे और वह दस दिनो के अल्प समय में इस पावन विद्या की जानकारी प्राप्त कर सके। परिणामत , साधक दस दिनो का शिविर जव समाप्त करता है, तो वह अत्यंत भावविभोर हो जाता है और मन मे वडी शान्ति का वह अनुभव पाता है तथा ऐसी तीव्र प्रेरणा जागती है कि वह चाहता है कि इस अनमोल,अनूठी विद्या का लाभ सभी को प्राप्त हो।

शुल्क—यहा किसी भी प्रकार का शुल्क नही है। धन के अभाव मे कोई भी साधना-इच्छुक व्यक्ति धर्म से वचित न रह जाय, यह शुद्ध हेतु यहा क्रियान्वित होता

है। शुद्ध धर्म पैसो से नही विकना चाहिए, यह यहां की तत्व–प्रणाली है। साधना शिविर के दस दिन पूर्ण होते है, उसके वाद ही अपनी इच्छानुसार एवं स्वयं-प्रेरणानुसार कोई साधक दान देना चाहे, वही यहा स्वीकार किया जाता है।

मासिक पत्रिका—हर मास की पौर्णिमा को 'विपश्यना' नामक पत्रिका का इस केन्द्र से नियमित प्रकाशन होता है। यह हिन्दी प्रकाशन है, जिसका वार्षिक शुल्क १० रुपये है और आजीवन शुल्क १०० रुपये है। साधना-शिविर मे आने वाले साधको को ही इस पत्रिका के ग्राहक वनाये जा सकते हैं। इस पत्रिका मे मार्गदर्शनपर लेख, साधको के अपने अनुभव, शिविरो के सभी स्थानो पर होने वाले कार्यक्रम आदि प्रकाशित होते है।

तप पूत गुरुजी श्री गोएन्काजी—इस अनमोल विद्यादान का पावन कार्य परम श्रद्धेय गुरुजी डॉ. सत्यनारायणजी गोएन्का अपने अथक् परिश्रमो से और अविरत तपश्चर्या से विश्वशान्ति के लिए एवं प्राणिजगत् के दु ख–दर्द मिटाने के लिए सन १९६९ से कर रहे है। इस ' विपश्यना ' विद्या का साक्षात्कार भगवान वुद्ध ने २५०० वर्ष पूर्व किया था, और उसका प्रसार एव प्रचार उन्होने अपने महाकारुणिक चित्त से जन-जन मे जीवन भर किया था। तभी सारे भारत मे यह विद्या उस समय फैली, इतना ही नही, वाद के पांचसौ वर्ष इस विद्या का प्रसार एव प्रचार वर्मा, श्रीलका, सयाम, कम्वोडिया, चीन, जपान आदि पूर्व-देशो मे भी हुआ। आज भी इस वुद्ध-देशना का अभ्यास इन सभी देशो मे अविरत चल रहा है। आगे गत २००० वर्षो मे भारत मे यह विद्या विकृत होकर लुप्त हो गयी। अपितु, इस साधना का शुद्ध रूप वर्मा मे गुरु-शिष्य परपरा से विशुद्ध अभ्यास द्वारा आज तक कायम रखा गया है। वहा पर यह शिक्षा केवल गुरु और उनका शिष्य, गुरु और शिष्य, इस प्रकार सीमित रही, जो आज तक इसी प्रकार से शुद्ध रूप मे चल रही है। आज यह मान्यता है कि इस साधना का आम जनसाधारण मे पुनश्च फैलाव भगवान वुद्ध के २५०० वर्ष वाद सारे जगत् मे होगा। वर्मा मे शुद्ध रूप से संरक्षित इसी विद्या का दान प. पू. गुरुजी गोएन्काजी ने सन १९६९ से भारत मे देना प्रारभ किया और तव से यह विद्या लोगो को यहा मिलने लगी है। इन महान् तापस के तपोवल का ही सुपरिणाम है कि इगतपुरी मे इस तपोभूमि का निर्माण सभव हो सका। अव तो भारत के विभिन्न स्थानो मे भी शिक्षा-केन्द्रो की सस्थापना होने लगी है। इस समय हैदरावाद एव जयपूर इन प्रमुख स्थानो मे शिक्षा-केन्द्रो का नव-निर्माण होकर इस विद्यादान का पावन कार्य प्रारभ हो गया है। भारत के अन्य कई स्थानो मे भी केन्द्र-निर्माण की योजनाए प्रगति-पथ पर अग्रसर है। इन सारे जनकल्याणकारी केन्द्रो के निर्माण एव सचालनकार्यों का समूचा श्रेय प पू गुरुजी गोएन्काजी की कठोर तपश्चर्या को ही है।

हैदराबाद केन्द्र :

'विपश्यना' साधना से प्रेरित होकर एक निष्ठावान् साधक श्री रतिलाल-भाई मेहता द्वारा जमीन दिये जाने के परिणाम स्वरूप हैदरावाद का साधना-केन्द्र सन १९७६ मे प्रारंभ हुआ। यहा पर भी सारी व्यवस्था है और अनेक शिविर यहा लग चुके है। यह भी एक पावन तपोभूमि वन गयी है।

यह साधना-केन्द्र हैदरावाद से नागार्जुनसागर के मार्ग पर १२ किलोमीटर कुसुमनगर के शान्तिवन मे है। यहा पर शिविर मे सम्मिलित होने के लिए निम्नलिखित विदुषी महिला से सम्पर्क किया जा सकता है:—

श्रीमती उषावेन मेहता,
८४ शान्तिनगर कॉलनी,
हैदरावाद ५०० ०२८ (आन्ध्र)

जयपूर केन्द्र :

यह साधना-केन्द्र जयपूर (राजस्थान) से दस किलोमीटर दूरी पर गलताजी के समीप पहाडियो मे 'विपश्यना समिति जयपुर' इस सस्था द्वारा सन १९७७ मे नव-निर्माण हुवा है। यहा पर भी निवास, भोजनादि का समुचित प्रवध है और चैत्य, शून्यागार, धम्ममदिर आदि भी वन चुके है। इस केन्द्र मे भी अनेक शिविर लग चुके है। प्रकृति-सौन्दर्य अनूठा है और अत्यत रम्य स्थान है, जहा मोर नित्य नृत्य करते है। वडी शान्ति की यह जगह है। यहा के शिविर मे सम्मिलित होने के लिए निम्नलिखित सेवाभावी सज्जन से सपर्क किया जा सकता है:—

श्री श्यामसुदरजी मुदडा
ठि. मेसर्स श्याम कॉर्पोरेशन
मुनोत-निवास, रामजीलालजी का रास्ता,
जोहरी वझार, जयपूर ३०२ ००३ (राजस्थान)

भारत मे अन्य केन्द्रो का नव-निर्माण प्रारंभ :

(१) **धर्मशाला**— यह स्थान हिमाचल प्रदेश मे पहाडियो मे स्थित है। निर्माण कार्य प्रारभ हुआ है।

(२) **वाराचकिया**—यह स्थान विहार के पूर्वचपारन जिले मे है और यहा भी केन्द्र-स्थापना का प्रयास हो रहा है।

विदेशों मे शिक्षा-केन्द्रो का तथा शिविरो का आयोजन :

काठमांडू—यह स्थान नेपाल मे भगवान बुद्ध के जन्मक्षेत्र मे है। यहा भी निर्माण-कार्य प्रारंभ हुवा है।

जपान में कियोटो— ओसाका क्षेत्र मे केन्द्र-निर्माण का प्रयास हो रहा है। जपान के अनेक साधकों ने पू. गुरुजी के समीप शिक्षा सम्पादन की है और पू. गुरुजी के अनेक शिविर जपान मे सम्पन्न हो चुके है।

आस्ट्रेलिया के सिडने मे भी एक साधना-केन्द्र का निर्माण हुवा है। आस्ट्रेलिया मे पू गुरुजी के अनेक शिविर लग चुके है। मेलवोर्न मे भी साधना-केन्द्र की स्थापना हुई है। न्यूझिलैंड मे भी शिविर लगे है।

अमरीका के केलिफोर्निया एव मैसेच्युएटस् मे भी साधना–केन्द्र खुले है। अमरीका के अनेक स्थानो मे भी पू. गुरुजी के शिविर लग चुके है।

कॅनडा मे तथा यूरप के स्विटझरलैन्ड, फ्रान्स, इग्लैन्ड आदि प्रदेशो मे भी पू. गुरुजी के अनेक शिविर लग चुके है।

श्रीलंका और थायलैन्ड मे भी अनेक शिविर लग चुके है।

विदेशो मे प्राय· प्रतिवर्ष जून से अक्तूबर के दरमियान पू गुरुजी के शिविर आयोजित होते है।

इस शुद्ध धर्म का – विपश्यना साधना का – लाभ देश–विदेश के असंख्य लोग ले रहे है और शिविरो का अखड ताता चल रहा है। यह सारा कार्य पू. गुरुजी गोएन्काजी ने अपने अकेले के परिश्रम एव तपश्चर्या के वल पर चलाया है और अविरत चल रहा है। अभी सन १९८२ मे उन्होंने पाच भारतीय और पाच विदेशी सहायक-आचार्यो की नियुक्ति की है और अव भिन्न भिन्न स्थानो पर उनके भी शिविर लग रहे है। इस प्रकार, विपश्यना साधना पुष्पित एव फलित हो रही है और जनमानस को दु ख-मुक्ति का अनोखा मार्ग प्रा त हो रहा है।

अव हम परमश्रद्धेय पू. गुरुजी गोएन्काजी की जीवनी पर कुछ प्रकाश डालेगे, वे हमारे आध्यात्मिक प्रेरण। के स्रोत जो है।

परिचय २

पूज्य गुरुजी श्री. सत्यनारायणजी गोएन्का

बर्मा के प्रधान मत्री ने रंगून मे श्री गोएन्काजी को फोन किया और उनके कार्यालय मे शीघ्र आने के लिए कहा। तुरन्त निकलना था। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती इलायची देवी ने तुरंत ही दूध का गिलास ले आकर उन्हे दिया। दूध बहुत गर्म था। जाने की गडबडी थी। श्री गोएन्काजी को इतना क्रोध आया कि उन्होने गिलास उठाकर फेक दिया और वे चल पडे। तब उन्हे कितना क्रोध था और अब वे कितने शान्त है! उन्होने क्या किया? बस केवल विपश्यना साधना!

उन्हे भयकर सिरदर्द रहता था। अफीम के इंजेक्शन लगते थे। मायग्रेन-सिरदर्द और उस पर इलाज के लिए उन्होने सारी दुनिया का भ्रमण किया। किन्तु कही भी इलाज सफल नही हुआ। रोग बढता गया और असह्य होता गया। उनके एक मित्र ने सलाह दी कि रंगून शहर के पास एक 'विपश्यना साधना' केन्द्र है और हो सकता है कि यह मानसिक विकार इस साधना से ठीक हो जाय। अति दुःख और व्याधि से ग्रस्त व्यक्ति क्या नही करता! वे गये उस आश्रम मे। वहां पर उन्हे कितनी शान्ति अनुभव हुई! अभी तक सारा जीवन अत्यत व्यस्तता मे, भागदौड मे बीता जो था। आश्रम के आचार्य सयाजी ऊ बा खिन से वे मिले और पूछा कि वे दस दिनो का शिविर लेना चाहते है। आचार्यजी ने स्वीकृति दे दी। किन्तु श्री गोएन्काजी उन्हे पूछ ही बैठे कि उनको अतिशय सिरदर्द है, तो क्या इस साधना से यह चला जायगा? इस पर आचार्यजी ने कहा "नही आना शिविर मे! क्या यह अस्पताल है?" फिर प्यार से समझाया कि चीनी की फैक्टरी बिठाते हो, तो मोलासेस निकलता ही है। फैक्टरी चीनी के लिए बिठाते है, मोलासेस के लिए नही। इसी तरह, चित्त-शुद्धि होने लग जाय तो उसमे से गन्दगी को जाना ही पडेगा। रोग यदि मन के विकारो के कारण हो, तो वह अपने आप विदा हो जायगा। तब श्री गोएन्काजी ने शिविर मे जाने का निश्चय कर लिया।

घर लौटने पर उनके मन मे बडी झिझक उठी। कर्मठ सनातनवादी घर मे वे जन्मे थे। उन पर बचपन से पूजा-पाठ के गहरे सस्कार चढे हुए थे। रामायण, महाभारत, भागवत, उपनिषद, गीता आदि धर्मग्रन्थो का वे पठन करते थे, कथा भी सुनाते थे। उनकी कथा सुनने के लिए घर पर अनेक लोग आते थे। कथा मे इतने भाव-

विभोर हो जाते थे कि उनकी आँखो से अश्रुधारा बहने लगती थी। वडे बुद्धिमान् और अभ्यासु। यद्यपि शिक्षण मैट्रिक तक का ही हुआ था, किन्तु स्कूल मे वे सदा श्रेष्ठ गुणवत्ता-प्राप्त छात्र थे। वे साहित्यिक बने, नाटक भी लिखते और उनका दिग्दर्शन भी करते थे। वे अनेक धार्मिक संस्थाओ के विश्वस्त एव अध्यक्ष भी रहे। मन मे वडा अहभाव था। उम्र के १६ वे वर्ष से ही वे व्यवसाय मे लग गये थे। व्यवसाय मे भी उन्होने खूब प्रगति की। आयात-निर्यात के व्यवसाय के कारण विदेशो मे भ्रमण का कार्य भी सदा चलता ही रहता था।

तब वर्मा मे औद्योगिक विकास नही जैसा था। वर्मा शासन ने उन्हे वर्मा के उद्योग बढाने का कार्य सौपा। इस कार्य मे भी वे अग्रसर रहे। उस देश मे विभिन्न उद्योगो की स्थापना होने लगी। उन्होने भी ब्लँकेट की फैक्टरी बिठाई। वर्मा मे इस वस्तु की यह प्रथम फैक्टरी थी। इसी तरह, सॉल्वन्ट ऑईल एक्स्ट्रॅक्शन का पहला प्लँट वर्मा मे श्री गोएकाजी ने ही बिठाया। पहली प्लास्टिक फैक्टरी का भी निर्माण किया। टेक्स्टाईल मिल, माईनिंग आदि उद्योग भी प्रारम्भ किये। वर्मा मे पहली पेपर मिल का भी निर्माण हुआ।

जीवन के सभी क्षेत्रो मे श्री गोएन्काजी सक्रिय भाग लेते रहे। साहित्यिक, सास्कृतिक, शैक्षणिक, धार्मिक, व्यावसायिक, जनकल्याण के सेवाकार्य, अस्पताल आदि सभी क्षेत्रो मे अग्रसर होकर उन्होने कार्य किया। जनमानस मे वडा सम्मान, पद-प्रतिष्ठा सपादन की। हर प्रवृत्ति मे वे कही अध्यक्ष तो कही विश्वस्त बनते गये। शासकीय क्षेत्र मे भी उनका विशेष प्रभाव रहा। वर्मा के प्रधान मत्री तथा अन्य कॅबिनेट मत्रियो से भी सदा उनका स्नेह-सम्बन्ध बना रहा। कई शासकीय समितियो पर वे काम करते रहे। प्रभावी सेवाकार्य के लिए वर्मा शासन ने उन्हे सुवर्ण पदक से सम्मानित कर पदवी भी बहाल की।

इस अत्यधिक व्यस्तता के कारण मायग्रेन सिरदर्द की व्याधि वढती ही गई, जिस पर कही कोई इलाज नही हो सका था। और अब, साधना शिविर मे जाने की बात आई तो उनके मन मे वडा द्वंद्व खडा हो गया। 'अरे! यह तो बौद्धो का धर्म है और ये तो आत्मा को ही नही मानते! ये तो ईश्वर को ही नही मानते! कहा फंस जाएंगे! नही, हमे तो अपने ही धर्म मे मरना अच्छा है!' 'स्वधर्मे निधन श्रेय.' गीता मे श्रीकृष्ण का वचन जो है! अनेक सदेह श्री गोएन्काजी के मन मे उठे। शिविर मे जाए या नही! यो ही कई दिन निकल गये। व्याधि-दुःख वढता ही गया, असह्य होने लगा। तब आखिर उन्होने निर्णय किया कि देखें तो सही दस दिन जाकर। फिर घर लौटने पर अपने ही धर्म का पालन करेंगे।

वे गये शिविर मे। पहले शिविर मे ही वे पक गये। सिरदर्द चला गया। शुद्ध धर्म समझ मे आया। समझ मे आया, स्वधर्म क्या है! कहा कर्म-काण्डो मे अवतक

हम फस गये थे ! शुद्ध धर्म छोडकर कहा साम्प्रदायिकता में सारा जीवन हमने उलझन मे डाल दिया ! अहकार ही अहंकार जगाते रहे । क्रोध ही क्रोध बढाते रहे। व्याधि-दु ख ही बढाते रहे । कैसा यह क्रोध है ! किसी को क्रोध जब आता है, तब उस क्रोध को हिदु-क्रोध, मुस्लिम-क्रोध, बौद्ध-क्रोध या ईसाई-क्रोध के नाम से तो नही पहचाना जाता ! किसी भी संप्रदाय का या धर्म का व्यक्ति क्यों न हो, क्रोध अलग अलग नही होता । क्रोध तो बस केवल क्रोध ही है । द्वेष तो बस केवल द्वेष ही है । सभी विकार तो सार्वजनीन है और इनका भला-बुरा परिणाम भी सार्वजनीय ही होता है, ये बाते साधना के बाद ही अब समझ मे आयी । और फिर, ये सारे धर्म, जिसको हम हिदु धर्म, बौद्ध धर्म, इस्लाम धर्म, ईसाई धर्म कहते है, ये तो सार्वजनीन धर्म है नही । ये तो केवल सम्प्रदाय ही हैं । ये ही तो आपसी मे द्वेषभाव जगाने वाले है, इर्ष्या-मत्सर जगाने वाले है । ये शुद्ध धर्म है ही नही । प्रथम साधना शिविर मे ही उनकी समझ मे आ गया कि शुद्ध धर्म तो सार्वजनीन, सार्वदेशिक और सार्वकालिक होता है । वह प्रकृति के नियमो से बन्धा हुआ होता है । मनुष्यो के नियमो से शुद्ध धर्म नही बान्धा जा सकता ।

अब लगे श्री गोएन्काजी शिविर पर शिविर लेने । विपश्यना साधना के अभ्यास मे वे तल्लीन होने लगे । पूर्वजन्मो की साधना साथ रही होगी, उसका मिलने लगा बल । वे साधना मे पकने लगे । सिरदर्द समाप्त हो गया । शान्ति का परम आनन्द उन्हे मिलने लगा, ऐसा आनंद अनेक संस्थाओ के अध्यक्ष और विश्वस्त रहते हुए भी उन्हे कभी नही मिला था ।

सन १९६४ मे बर्मा मे साम्यवादी शासन की स्थापना हुई । श्री गोएन्काजी के सारे व्यवसाय राष्ट्रीकृत हो गये । उनके पास कुछ नही बचा । करोडों की सारी सम्पत्ति समाप्त हो गयी । किन्तु तब भी चित्त की शान्ति नही ढली, शुद्ध धर्म का अभ्यास जो साथ मे था । उनके मन मे एक विशेष आनन्द जाग उठा । चिंतन हुआ, ' यह अच्छा ही हुआ । अब मुझे विपश्यना के अभ्यास मे अधिक समय उपलब्ध होगा ।'

वे विपश्यना शिविर मे सन १९५५ मे प्रथमत: सम्मिलित हुए थे । तब से सन १९६९ तक गहराई के साथ अभ्यास के कारण उन्हे अत्यंत लाभ हुआ ।

श्री गोएन्काजी के माता-पिता बम्बई मे थे । माताजी को नसों की बीमारी थी । श्री गोएन्काजी जानते थे कि इस साधना से वे ठीक हो जाएंगे । किन्तु बर्मा से भारत जाने के लिए पासपोर्ट मिलना कठिन था । उन दिनो शासन किसीको बर्मा के बाहर जाने नही देती थी । किन्तु गोएन्काजी का उस शासन मे बडा प्रभाव होने से उन्हे पासपोर्ट मिल गया । भारत सरकार ने व्हिसा दे दिया ।

श्री गोएन्काजी स्वयं को भाग्यशाली मानते है और वर्मीज सरकार का एव भारत सरकार का आभार मानते है कि वे पासपोर्ट और व्हिसा के कारण भारत आ सके ।

एक और विशेष महत्वपूर्ण वात थी । आचार्य ऊ वा खिन के मन मे सतत एक ही विचार उठता था कि 'विपश्यना साधना भारत की अनमोल विद्या है । वर्मा ने गुरु-शिष्य, गुरु-शिष्य परम्परा से आजतक भले ही थोडे लोगो तक ही यह विद्या सीमित रही हो, इसका जतन किया है । भारत से आयी हुई यह शुद्ध विद्या भारत को लौटानी है । यह वर्मा पर भारत का वडा ऋण है, वह उसे चुकाना है ।' श्री गोएन्काजी को पासपोर्ट मिलते ही आचार्य के मन मे वडी प्रसन्नता जाग उठी । आचार्य जी ने उन्हे कहा "भारत जा रहे हो । भारत का यह ऋण चुकाना है । मैंने पूर्वजन्म मे हिमालय की पहाडियो मे कठोर तपश्चर्या की थी । अव समय आया है यह शुद्ध विद्या भारत को लौटाने का, तुम नही, मैं ही जा रहा हू । भारत मे यह शुद्ध विद्या ले जाओ और इस शुद्ध धर्म का दान खुलेआम सव को वाटो ।" आचार्यजी ने श्री गोएन्काजी को आचार्यपद प्रदान किया और उन्हे वर्मा से विदाई दी । उस समय किसी वर्मावासी को विदेश जाने के लिए वहां का शासन पासपोर्ट नही देता था । इसी कारण, आचार्य ऊ वा खिन भारत नही आ सकते थे । श्री गोएन्काजी भारत रवाना हुए । सयाजी ऊ वा खिन को अत्यत खुशी हुई ।

जुलाई १९६९ मे पूज्य गुरुजी गोएन्काजी वम्वई पधारे । अपने माता-पिता को विपश्यना साधना सिखाने के लिए उन्होने शिविर लगाया । इस शिविर मे अन्य १०–१२ मित्र भी वैठे थे । उन सभी को आश्चर्यकारी लाभ हुआ और वे वहुत ही भावविभोर हुए । उन्होने पू. गुरुजी से और भी शिविर लगाने का आग्रह किया । शिविर पर शिविर लगते रहे । भारत का भाग्य जाग उठा ।

माता व्याधि से मुक्त हुई । माता–पिता को शुद्ध धर्म मिला । वे मुक्ति के, निर्वाण के स्रोत मे पडे । पू गुरुजी माता-पिता के ऋण से मुक्त हुए ।

जनवरी १९७१ मे वोधगया मे शिविर लगा था । उस शिविर मे वर्मा से तार मिला । पूज्य गुरुदेव ऊ वा खिन ने १९ जनवरी को शरीर छोड दिया । इस तार से पहले वीमारी के कोई समाचार नही थे । यकायक तार मिलने से उन को वडा धक्का तो लगा, किन्तु धर्म उनके साथ था । पू. गोएन्काजी ने मन ही मन निश्चय किया कि गुरुदेव ऊ वा खिन की उत्कट इच्छा 'भारत की यह अनमोल विपश्यना विद्या भारत को लौटानी है, इस की पूर्ति मे अव मै शेष जीवन विताऊ । और तव से उन्होने अपना सारा जीवन इस विद्या को जनजन मे वाटने के पवित्र कार्य मे ही समर्पित कर दिया है । इसी के मधुर फल हम सभी साधक चख रहे है ।

उनके हर शिविर मे विदेशी साधको की भी संख्या वढती ही गयी। करीव ७५ देशो के साधक इस साधना में सम्मिलित हुए, साथ ही आकृष्ट भी हुये। भारतीय साधको से विदेशी साधक वहुत जल्दी प्रगति पथ पर वढते जाते हैं, इसका कारण वे वैज्ञानिक ढंग से ठीक समझ कर साधना करते है, जव कि भारतीय साधको पर अपने पुराने कर्मकाण्डो के, दर्शन-शास्त्रो के लेप पर लेप लगे हुए हैं, जो दीवारें वन कर गतिरोध ही उत्पन्न करते है।

अव तो १०-१० दिनों के २५० के करीव शिविर लग चुके है। और गत ३।४ वर्षो से विदेशो मे भी शिविर लग रहे हैं और दिन पर दिन मांग वढ रही है। अमरीका, कैनडा, इंग्लैड, फ्रान्स, स्पेन, जर्मनी, वेल्जियम, स्वित्झरलेन्ड, इटली, ऑस्ट्रेलिया, न्यूझिलैन्ड, जापान, थायलैड, श्रीलंका आदि अनेक देशो में शिविरो का अविरत सिलसिला जारी है। मानव की शुद्ध धर्म की भूख वढती जा रही है।

शिविरो मे हिन्दु साधु-सन्यासी, जैन मुनि और सध्वियां, वौद्ध भिक्षु-भिक्षुणिया, ईसाई पाद्री और नन्स, मुस्लिम प्रवुद्ध वर्ग आदि अनेक सम्प्रदायो के प्रमुख धर्मनेता तथा मान्यता-प्राप्त लोग एवं सर्वसाधारण जन-समुदाय के स्त्री-पुरुष सम्मिलित हो रहे है। जातपात का एव धर्म-सम्प्रदाय का कोई वन्धन ही रहा नही है। सभी इस शुद्ध धर्म मे तपने लगे है, यह एक विशेप आश्चर्य की वात है। इतना ही नही, जयपूर मे तो जेल मे भी शिविर लगे, जिनमे हत्यारे, खुनी, अपराधी कैदी सम्मिलित हुए और उन्होंने भी इस का लाभ लिया है। वैसे ही, पुलिस समुदाय में भी शिविर लगे है। साधना के कारण ही सदाचार मे मनुष्य की प्रवृत्ति वढने लगी है।

वनारस हिन्दु विद्यापीठ, वम्वई विद्यापीठ, तथा राजस्थान विद्यापीठ के कई वैज्ञानिक संशोधकों ने विद्यार्थियो की जांच कर के देखा है कि विपश्यना साधना से चित्तवृत्तियो मे अत्यंत आश्चर्यकारी सुधार हुआ है।

पू. गोएन्काजी का महान् तप जनमानस के दुखडे दूर करने में निरन्तर लगा हुआ है।

सन १९७२ मे 'अखिल भारतीय भिक्षु संघ, वोधगया' इस संस्था ने पू. गोएन्काजी को 'धर्ममूर्ति' पदवी वहाल कर गौरवान्वित किया है।

सन १९७७ फरवरी मे विहार के राज्यपाल ने भी नव-नालन्दा विद्यापीठ के कुलगुरु के नाते पू. गोएन्काजी को 'विद्या वरदी' का पद प्रदान कर 'डॉक्टरेट' की पदवी से सम्मानित किया है।

ऐसे है हमारे परम-श्रद्धेय पूज्य गुरुजी डॉक्टर सत्यनारायणजी गोएन्का।

आपका जन्म हुआ ३० जनवरी १९२४ को वर्मा के माडले शहर मे। आपके

दादाजी स्व. वसेसरलालजी लगभग १५० वर्ष पूर्व भारत से वर्मा मे जाकर वसे थे। आप स्वय को भाग्यशाली मानते है, क्योकि आपका जन्म वर्मा मे हुआ, जिस से विपश्यना की शुद्ध विद्या का अनमोल रत्न प्राप्त हो सका और वह भारत मे लाकर जनसाधारण मे वितरण की सुवर्णसधि उन्हे मिल सकी।

आपका शिक्षण मैट्रिक तक ही हुआ, किन्तु स्कूल मे आप अत्यत कुशाग्र और वुद्धिमान् विद्यार्थी रहे थे।

सन १९४० मे याने आयु के १६ वे वर्ष मे ही आप अपना व्यवसाय-कारोवार देखने लग गये थे। सन १९४२ में जपानीज युद्ध के कारण आप भारत आये थे और सन १९४७ मे वापिस वर्मा लौट गये। उद्योग-व्यवसाय मे आप द्रुतगति से आगे वढे और देश की औद्योगिक प्रगति मे भी अग्रसर रहे।

युवावस्था से ही मायग्रेन नामक सिरदर्द से आप पीडित रहे, जिस का इलाज सारे विश्व मे भ्रमण करने पर भी नही हो सका था। इसी कारण सितंवर १९५५ मे आपने विपश्यना साधना का पहला शिविर महाविपश्यनाचार्य ऊ वा खिन की सन्निधि मे रंगून मे लिया। सन १९६९ के २० जून को आपको सयाजी ऊ वा खिन ने विधिवत् विपश्यनाचार्य के पद पर आसीन किया और वाद मे आप भारत पधारे।

जुलाई १९६९ मे भारत मे – वम्वई मे – आपका पहला शिविर लगा। आज तक भारतीय एवं विदेशी साधक हजारो की सख्या मे शिविरो मे सम्मिलित हो चुके है और यह सख्या दिनोदिन वढ रही है। वुद्ध-विहारो मे, हिन्दु मदिरो मे, जैन मदिरों मे, ईसाई गिरजाघरो मे और मुस्लिम मसजिदो मे, इस प्रकार विभिन्न स्थानो मे आपके शिविर लग चुके है।

आपकी धर्मपत्नी श्रीमती इलायचीदेवी भी विपश्यना साधना मे पारगत है। शिविर–सचालन मे प्राय: आप दोनो एक साथ वैठते है।

आपको छ: पुत्र है। सभी साधना मे रुचि रखते है। वे वम्वई मे एवं वर्मा मे व्यवसायरत है।

आपके जन्म-पिताजी का नाम श्री गोपीरामजी। श्री गोपीरामजी को आपके समवेत चार पुत्र है, जिनमे से आप श्री गोपीरामजी के सव से वडे भाई श्री द्वारका-दासजी के गोद गये। गोद जाने के वाद श्री द्वारकादासजी को पुत्र प्राप्त हुआ, जिनका नाम श्री राधेश्यामजी है, ये भी वम्वई मे ही रहते है।

आपकी जन्म-माताजी का नाम श्रीमती कमलादेवीजी, जिनका निधन भारत मे अभी कुछ दिन पूर्व ही हुआ। गोद-माताजी का नाम श्रीमती रामीदेवीजी, जिनका निधन वर्मा मे आपके उधर रहते हुए ही हो गया था।

अब तो आप आजीवन इस शुद्ध धर्मदान में लगे हुए हैं, जो हम सभी साधकों के परम कल्याणमित्र हैं, दु.खमुक्ति के पथ पर अग्रसर करने वाले हैं, संसारचक्र से मुक्ति का मार्ग बताने वाले हैं, निर्वाण के साक्षात्कार तक पहुंचाने वाले महान् तपस्वी, ऋषि हैं। आप हम सभी के प्रेरणास्रोत हैं, श्रद्धा-स्थान हैं। आप महान् विपश्यना-चार्य हैं। आपके द्वारा समस्त विश्व का मंगल सधता रहे, यही हम सब की मनोकामना है।

परिचय ३

गुरुदेव ऊ बा खिन

एक अत्यन्त अभावग्रस्त गरीव माँ-वाप के यहां जन्म (६ मार्च १८९९) लेकर भी आपनी अपनी कर्मनिष्ठा के वल पर ही ऐसी स्थिति प्राप्त की, जिससे आपका सारा जीवन सुख-सतोष से भरा रहा और सव को आप सुख-संतोष वांटते भी रहे।

शिक्षा के लिए माँ-वाप के पास पैसा नही था। दूर की वूआ ने कुछ सहायता की, तव मॅट्रिक तक अपकी पढाई हुई। छात्र-जीवन मे भी अत्यंत कुशाग्र तथा परिश्रम-शील होने के कारण आप हर कक्षा मे प्रथम स्थान प्राप्त करते रहे। मॅट्रिक की परीक्षा आपने वहुत ऊचे गुणो से उत्तीर्ण की और शासकीय छात्रवृत्ति भी हासिल की। कॉलेज की पढाई के लिए पैसा नही और इधर वूआ भी चल वसी। इच्छा रहने हुए भी आप कॉलेज की पढाई नही कर सके।

मजवूर होकर रगून मे अकाउन्टन्ट-जनरल के दफ्तर मे एक लेखनिक की नौकरी से आपने १८ की उम्र में (सन १९१७) ही जीवनचर्या प्रारम्भ की। आगे अकाउन्टस् सर्व्हिस की परीक्षा उत्तीर्ण करके सन १९२६ मे आप ऑफिस-सुपरिन्टेन्डेन्ट वने।

इस वीच, आपने वुद्ध-साहित्य का अभ्यास किया। त्रिपिटक के 'अभिधम्म पिटक' का आप अभ्यास करते रहे। वर्मा मे इसका वहुत प्रचार है और वुद्ध-सिद्धान्त का यह मूलभूत आधार-ग्रन्थ है।

सन १९३७ की वात है। एक दिन आपको जानकारी मिली कि रंगून की नदी के उस पार 'विपश्यना साधना' सिखाई जाती है। आपने मन मे निश्चय किया कि इस साधना-शिविर मे अवश्य जाना ही है। आपने अपने अधिकारी को छुट्टी के लिए अर्जी पेश की। अधिकारी ने कहा, 'अभी काम वहुत है, छुट्टी नही मिलेगी। यदि विना अनुमति के तुम चले गये तो नोकरी से निकाल दिये जाओगे।' अपितु ऊ वा खिन शिविर के लिए चले ही गये। शिविर सम्पन्न करके जव आप दफ्तर लौटे, तो टेवल पर उन्हे एक लिफाफा मिला। आपने समझा कि मैं नौकरी से निकाल दिया गया हूँ। किन्तु पत्र पढने पर आपको आश्चर्य हुआ कि आपकी वढती (प्रमोशन) की गयी है। विपश्यना साधना का अभ्यास लगातार दृढतापूर्वक आपने बनाये रखा।

दि. ४ जनवरी १९४८ में वर्मा स्वतत्र हुआ और आप स्वतंत्र वर्मा के पहले अकाउन्टन्ट-जनरल वने। वहुत वडी ऑफिस मिली। ऑफिस के साथ पांच-सात कमरे और ज्यादा मिले। प्रधान मंत्री के पास जा कर आपने कहा कि एक कमरे मे अपने ही ऑफिस के लोगों को मै साधना सिखाऊंगा। प्रधान मंत्री साधना जानते थे, कहा, 'जरूर सिखाओ, यह वडी काम की चीज है, कल्याण ही होगा।' हर महिने में वहा शिविर लगने लगे। वडे अफसर से लेकर छोटे कर्मचारी तक दस-दस दिनो के शिविरो मे स्टाफ वैठने लगा। शिविर चलने लगे। चार वर्षों में तो सारे ऑफिस के लोगो ने धर्म-गंगा मे डुवकी लगा ली।

इसके पहले, सारे देश में यह चर्चा का विषय वन गया था कि अकाउन्टन्ट जनरल की ऑफिस भ्रष्टाचार का अड्डा है। किसी भी व्यक्ति को सरकार से कोई पैसा लेना हो, तो उसका विल ए. जी. ऑफिस से ही मजूर होगा और यह ऑफिस तव तक विल पास नही करता, जव तक कि उनका कर (रिश्वत) नही चुक जाय। रिश्वतकी ये रकमे वडे अफसर से लेकर सिपाही तक नियोजित हिसाव से वट जाती थी। अव यह कैसे होगा! अकाउन्टन्ट जनरल आप (ऊ वा खिन) जो थे। आपका वहुत कडा अनुशासन था। 'किसी का भी कोई आवेदन पत्र आ जाय तो ४८ घंटो मे फैसला देना ही होगा। कोई उलझन हो तो फाईल मेरे पास आनी चाहिए, मै फैसला दूगा। और, फाईल नही आयी. और फैसला नही दिया गया, तो निष्कासित कर दिये जाओगे।' वहुत कडा अनुशासन, परिणामतः कइयो को नौकरी से निकाल दिया गया। किन्तु केवल कठोरता के वल पर आदमी नही सुधरता। विशेष वात तो यह होने लगी कि धर्म की गंगा मे स्टाफ की डुवकी लगने लगी और तीन-चार वर्षों में ही सारा विभाग स्वच्छ हो गया।

प्रधान मत्री ने आपको (ऊ वा खिन को) वुला कर पूछा कि अकाउन्टन्ट-जनरल का आफिस तो भ्रष्टाचार का अड्डा था, क्या हो गया अव जो भ्रष्टाचार समूल समाप्त हो गया! आपने वताया कि सभी कर्मचारियो को विपश्यना साधना की शिक्षा जो दी गयी है। प्रधान मंत्री ने कहा 'यह तो वहुत वडी वात हो गयी। ऐसा है तो अन्य विभागो मे भी यही होना चाहिए, उनको भी ठीक करो!' ऊ वा खिन ने कहा कि आप वदली कर दे, वही हम चले जाएँगे। प्रधानमंत्री ने कहा कि आपकी वदली कर देंगे, तो इस ऑफिस की फिर से वही दशा हो जायगी। इसको भी सम्हालो और अन्य विभाग भी सम्हालो। और फिर, एक साथ चार-चार विभागो के अध्यक्ष (हेड ऑफ द डिपार्टमेंट) की जिम्मेवारी आप सम्हालने लगे। एक विभाग का भी जो कोई अध्यक्ष होता है, तो सचमुच इमानदारी से काम करना कितना कठिन हो जाता है। चार-चार विभागो की जिम्मेवारी सम्हालना कितना मुश्किल काम था! किन्तु,साधना का वल था आप के साथ। सायंकाल को किसी भी विभाग

मे कोई भी केस अनिर्णित नही रहती थी। आपका मन इतना निर्मल हो गया था, स्वच्छ हो गया था, कि आप किसी केस की तह मे जव चले जाते थे तो तुरंत और सही निर्णय दे देते थे, साधना से काम करने की ताकत जो वढ गयी थी।

इन जिम्मेवारियो को आपने इतनी सफलता के साथ निभाया कि आपके कार्यकाल मे प्रत्येक विभाग मे उपलब्धियो की जो कीर्तिमान सीमा स्थापित हुई थी, वह अव तक भी अजोड है।

५५ वर्ष की आयु होने पर सरकारी कर्मचारी का सेवानिवृत्त होने का शासकीय नियम है। आप ५५ वर्ष के हुए, किन्तु आपका ऐसा असाधारण काम और चार चार विभागो को सम्हालने की क्षमता देखते हुए उन्हे वर्मा शासन कार्यमुक्त करने को तैयार नही हुई। शासन आपका एक एक वर्ष का कार्यकाल वढाती रही। तीन वर्ष ज्यादा हो गये। तीन वर्षो से अधिक कार्यकाल के वाद तो कार्यमुक्ति का शासकीय अटल नियम था। आखिर, यह मामला वर्मा की लोकसभा मे गया। कार्यमुक्ति की उम्र की सीमा का नियम आपको (ऊ वा खिन को) लागू नही होगा, ऐसा प्रस्ताव लोकसभा मे अनिवार्यत मजूर कर लेना पडा।

अव तो, चार वर्ष, पाच वर्ष, सात वर्ष होते होते वारह वर्ष वीत गये। शासन उन्हे कार्यमुक्त करने को तैयार नही थी। जव आपकी आयु ६८ वर्ष की हो गयी, तव आपने ही जवरन् काम छोड दिया। अव शेष जीवन हमे धर्मसेवा मे ही लगाना है, यह आपका निश्चय रहा। अपने दायित्व मे सतत लगे रहना और आलस्य को कभी पास आने न देना, यह आपका सव से वडा गुण था।

आपके शासकीय कार्यकाल मे ही सन १९५२ मे विपश्यना सघ की स्थापना उनके ऑफिस के साधको ने की और शीघ्र ही एक आश्रम 'इटरनैशनल मेडिटेशन सेन्टर' नामक निर्माण हुआ। यहा पर नियमित शिविर लगने लगे। शासकीय काम सम्हाल कर यह भी पावन कार्य आप सम्हालने लगे। हर सायकाल को पाच वजे ऑफिस-काम से छुट्टी होनेपर आप सीधे आश्रम चले जाते और रात्रि मे वही पर विश्राम करते। प्रातः ९ वजे वही से आप ऑफिस चले जाते। शेष सारा जीवन रात-दिन इसी कार्य मे आपने लगा दिया। काम करने की आपकी ताकत वहुत वढती गयी। अधिक से अधिक लोगो का कल्याण कैसे हो, यही तीव्र उत्कठा आप मे अन्त तक वनी रही थी।

आप मे एक विशेप गुण था 'सत्यनिष्ठा'। ईमानदारी आपके स्वभाव का अग वन गई थी। आप जिन शासकीय ओहदो पर थे, उन पर अव तक आसीन कोई भी अधिकारी भ्रष्टाचार से मुक्त न रह सका था। आप ही ऐसे सत्यनिष्ठ थे, जो वेदाग रहे। न केवल आप स्वय भ्रष्टाचार से मुक्त रहे, वल्कि अपने अन्य अनेक

साथी, सहयोगी और सहकारियों को भी मुक्त रह सकने के योग्य आपने बनाया। शासकीय दायित्व निभाहने मे आप एक ओर तो धन-वैभव के, पद-प्रतिष्ठा के प्रलोभन से अडोल रहे, तो दूसरी ओर, राजनैतिक नेताओ और मंत्रियों के भय तथा आतंक के दवाव मे आकर कोई गलत फैसला करने से भी आप बचे रहे। आपकी निर्भयता न केवल उस समय के प्रधान मंत्री ऊ नू और ऊ वा श्वे के नागरी शासन के समय रही, वल्कि जनरल ने विन की सैनिकी शासन के समय भी वैसी ही दृढ रही। निर्भय रह कर सदैव सत्य और न्याय का ही आप पक्ष लेते रहे।

शासकीय सेवा से निवृत्त होने के वाद आपकी वहुत वडी धर्म-कामना थी कि विदेशों मे जाकर आप इस मगलमय विपश्यना मार्ग का प्रचार-प्रसार करे, जिससे संतप्त मानवता सच्ची सुख-शांति प्राप्त कर सके। परन्तु शासन आप को विदेश जाने के लिए पासपोर्ट उस देश के नियमो के अनुसार नही दे सकती थी। आवेदन पत्र मे यदि यह लिखा जाता कि जीवनयापन के लिए विदेशो मे नौकरी करने जा रहा हूँ, तो आपको पासपोर्ट तुरंत मिल सकता था। परन्तु ऐसा करना तो सर्वथैव असत्य था, जो आपको नितात अस्वीकार्य था। धर्मसेवा के लिए अन्तिम घडी तक आप तरसते रहे।

करुणा और मैत्री के तो आप साक्षात मूर्ति थे। शासकीय जिम्मेवारियो के व्यस्त जीवन मे भी आप हर महिने मे साधना शिविर लगाने के लिए समय निकाल ही लेते थे। प्रत्येक साधक-साधिका के प्रति आपके मन में असीम वात्सल्य उमडता रहता था। सभी को आप अपने पुत्र-पुत्री जैसे मानते थे। निधन के तीन दिनो पूर्व तक भी आपने एक शिविर के सचालन का कार्य पूरा किया और देह छोडने के पहले दिन तक आप धर्म सिखाते ही रहे। प्रत्येक साधक के प्रति आपकी असीम करुणा एव मैत्री उमडती ही रहती थी। समस्त प्राणियो के प्रति आप के मन मे उतना ही असीम प्यार भरा था। जो लोग आश्रम मे रहे है, वे जानते हैं कि आपकी असीम मैत्री-भावना के कारण वहाँ के साप-विच्छुओ तक ने भी अपना हिंसाभाव त्याग दिया था। सभी प्राणी आपकी असीम मैत्री से प्रभावित थे। आश्रम के पेड-पौधो की भी आप अत्यंत प्यार से सेवा करते थे। आपकी मैत्री-तरंगों से सारी तपोभूमि ही प्रभावित थी।

वर्मा जैसे धान्यवहुल देश मे एक समय अकाल की सी स्थिति पैदा हो गयी थी। उपज कम हुई, इसलिए शासन को चावलो की रेशनिंग करनी पडी थी। जनता इस स्थिति मे अत्यंत व्याकुल थी। उस समय दुखी देश-वासियो के प्रति आप की करुणा असीम हो उठी। न केवल होटो पर, वल्कि आपके रोम रोम में यही ध्वनि समायी रहती थी–"फीतो भवतु लोको व राजा भवतु धम्मिको।" कुछ समय वाद अकाल की स्थिति समाप्त हुई। इसके वाद भारत मे भी अकाल पडा।

यहा लगातार दो वर्षो तक यह स्थिति रही थी। आपकी करुणा फिर सजीव हो उठी। आपने आश्रम के एक छोर पर शुभ्र हिमालय के उत्तुग शिखरो की एक प्रतिकृति बनवा रखी थी और हर रोज उसके समीप खडे होकर आप ध्यान करते और समग्र भारत के प्रति अपनी मगल कामना भेजते। तब आप कहते, "मै न जाने कितनी बार भारत मे जन्मा हू और इस पावन हिमप्रदेश मे ध्यान-भावना के लिए वर्षो रहा हू। आज उस देश के लोग सत्रस्त है, उन्हे सुख-शान्ति मिले। सभी लोग धर्म-विहारी बने।" कभी आप कहते, "मुझे भारत तो अवश्य ही जाना है। बर्मा पर भारत का आध्यात्मिक ऋण है, उसे वापिस भारत को लौटाना है। मुझे प्राप्त हुई यह अनमोल 'विपश्यना' विद्या भारत की ही धरोहर है। अपनी यह खोई हुई निधि वापिस पाकर भारत धन्य हो उठेगा। न जाने इस समय उस देश मे पुण्य-पारमिता वाले कितने लोग पके-पकाए तैयार बैठे है। उन्हे सद्धर्म की थोडी सी भी चेतना जाग्रत हो जायगी, तो वे तुरन्त धर्म के मार्ग पर आरूढ होकर अपना कल्याण साध लेगे।"

आप स्वय तो भारत नही आ सके, परन्तु आपके आदेशानुसार आपके धर्मपुत्र गुरुजी श्री गोएन्काजी द्वारा भारत मे लोगो को 'विपश्यना' दी जाने लगी, तब आपकी प्रसन्नता की कोई सीमा नही रही। आपके सदेशो मे अपरिमित मंगल-मैत्री छलक पडती थी।

ऐसे महापुरुष के गुणो का स्मरण कर हम भी प्रेरणा पाए और अपने जीवन मे उनकी जैसी कर्तव्यनिष्ठा, सत्यनिष्ठा, निष्काम सेवाभावना तथा मैत्री और करुणा भरने का अथक् प्रयास हो, यही हम सभी के लिए कल्याणकर है, मगलकर है, श्रेयस्कर है।

आचार्य परम्परा

२५०० वर्ष पूर्व भगवान गौतम बुद्ध ने अपने अनेक जन्मों की तपश्चर्या के बल पर 'विपश्यना साधना' की विधि स्वयं के साक्षात्कार से फिर से खोज निकाली और आम जनता के लिए दु ख-मुक्ति का मार्ग खुला किया। आगे करीब ५०० वर्ष यह विद्या भारत मे चली और बाद मे विकृत होकर लुप्त हो गयी। अपितु, बर्मा मे यह विद्या गत २५०० वर्षो से शुद्ध रूप मे अविरत गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा सुरक्षित बनायी रखी गयी है।

एक मान्यता चली आ रही है कि बुद्ध-काल के २५०० वर्षो के अनन्तर यह अनमोल विद्या फिर से आम जनता को मिलने लग जायगी, जो लगभग ५०० वर्ष भारत मे चलकर विकृत होकर लुप्त हो गयी थी। अब सन १९५४ मे भगवान गौतम बुद्ध के महानिर्वाण को २५०० वर्ष पूर्ण हो गये हैं, अत. यह शुद्ध धर्म अब सारे विश्व मे फैलने लग गया है। सन १९५५ मे पू. गुरुजी गोएन्काजी ने प्रथम शिविर रंगून मे किया था और सन १९६९ में उन्होने भारत में इस विद्या को शुद्ध रूप मे बर्मा से लाकर आम जनता को खुले रूप मे बांटना प्रारंभ कर दिया। पू. श्री गोएन्काजी के गुरुजी सयाजी ऊ बा खिन थे और इन दोनो का जीवन-चरित्र पहले दिया गया है ही।

गुरुदेव सिद्ध सयाजी ऊ बा खिन ने सन १९३७ मे विपश्यना साधना का पहला शिविर रगून के पास गुरुवर्य सयाजी सयातँजी के पास ग्रहण किया था। सयाजी सयातँजी बर्मा मे रंगून के पास के एक गाव के किसान थे। सात वर्षो तक उन्होने 'आनापान' समाधि का अभ्यास किया और बाद मे उनका सम्पर्क 'महाथेर लेडी सयाडो, नामक अग्गमहापंडित महाविपश्यनाचार्य से आया। इन्हीसे उन्होने विपश्यना साधना का प्रथम शिविर ग्रहण किया था। वे सात वर्ष विपश्यना' साधना करते रहे। बाद मे सयातँजी आचार्यपद पर प्रतिष्ठित हुए। लेडी सयाडो के एक अन्य शिष्य भी आचार्यपद पर प्रतिष्ठित हुए थे। वे मांडले मे निवास करते थे। उनका नाम 'महाथेर मगोक सयाडो' था। वे भिक्षु थे। माना जाता है कि वे भी अर्हन्त की अवस्था प्राप्त कर चुके थे। लेडी सयाडो तो अर्हन्त की स्थिति प्राप्त कर ही चुके थे और बहुत बड़े पण्डित तथा विद्वान भी थे। सयातँजी गृहस्थ थे। सयाजी ऊ बा खिन भी गृहस्थ थे। पू. गुरुजी गोएन्काजी भी गृहस्थ है। ऐसी एक ओर यह गृहस्थ-आचार्य की परम्परा बनी रही हैं।

बरमीज भाषा में 'सयाजी' का अर्थ 'महाआचार्य' है और 'सयाडो' सन्माननीय भिक्षु को कहते है।

◈ ◈ ◈

परिचय ५

बुद्धवाणी एवं संगायन

(एक ऐतिहासिक दृष्टिक्षेप)

प्रथम संगीति

भगवान गौतम बुद्ध का महापरिनिर्वाण इसवी पूर्व ४८३ मे हुआ था। उन्होने अपने सारे उपदेश मौखिक दिये थे, तो भी उनके जीवन–काल मे ही उनके शिष्य कंठस्थ कर लिया करते थे। भगवान के परिनिर्वाण के बाद सुभद्र नामक एक वृद्ध भिक्षु खुशियो से नाच उठा और कहने लगा "अरे, अब कौन है बोलनेवाला। हम मनमानी करेगे, चाहे जो नियम मानेगे!" भिक्षुओ के लिए बहुत कडे नियम होते थे। गृहस्थो के लिए तो केवल पाच शील ही थे। समझदार भिक्षुओ ने देखा कि इस तरह नासमझ भिक्षुओ की सख्या बढ जायगी, तो भगवान की वाणी को लोग भूल जाएंगे। भगवान ने जो नियम, जो विनय दिये, वे सारे टूटते चले जाएगे। तो, भगवान की वाणी का एक जगह सग्रह करने के लिए उस समय के पाचसौ अर्हन्त भिक्षुओ की एक सभा हुई, उसमे भगवान के वाणी का सगायन हुआ। यह पहली धर्म-सगीति हुई। इसके महाकाश्यप, भिक्षुसंघ के सघ-स्थविर, अध्यक्ष थे। ४९९ अर्हन्त भिक्षु चुन लिए गये। फिर किसीने कहा, 'आनन्द नही आये, तो यह कार्य कैसे सफल हो? वे तो पिछले २५ वर्षो तक भगवान के साथ छाया की तरह रहे थे। आनन्द की एक बहुत बडी विशेषता थी। भगवान ने अपने परिनिर्वाण के पच्चीस वर्ष पहले एक दिन भिक्षुओ के सामने अपनी बात रखी, "अब मै बूढा होने लगा हू। बार बार हमारी सेवा मे जो लोग आते है, वे बहुत पके हुए लोग नही है। अत मै चाहता हू कि मेरे साथ जो मेरी सेवा करे, वह पका हुआ हो।"

भगवान का मन आनन्द पर था। आनन्द एक ऐसा व्यक्ति था जो उनका चचेरा भाई था, मौसेरा भाई भी था और उसी दिन जन्मा जिस दिन भगवान का जन्म हुआ। वह बडा समझदार और सेवाभावी था। भगवान ने कहा, "आनन्द! तुम क्यो नही स्वीकारते इस काम को?" तो आनन्द ने कहा, "महाराज! हमारी अपनी शर्ते है।" भगवान से भी शर्त रखनेवाला यह व्यक्ति! भगवान ने पूछा, "क्या शर्ते है आनन्द?" तो आनन्द कहता है, "छाया की तरह मुझे अपने साथ

रखना होगा। ऐसा न हो कि आप मुझे छोडकर कही चले जाये और मान लो कि ऐसी कोई स्थिति आयी और आप चले भी गये और वहा आपने यदि कोई उपदेश दिया, तो उस उपदेश को फिर से मेरे सामने आपको दोहराना होगा। आप जो भी धर्म की वात वोलते हो, वह हम भी सुनना चाहेंगे।" भगवान ने शर्ते स्वीकार कर ली।

आनन्द की एक वहुत वडी शक्ति थी। उन दिनो का वह एक टेप-रेकॉर्डर था। एक वक्त उस मे जो कुछ चला गया, वह उसमे से निकल ही नही सकता। जो कुछ भगवान कहेगे, आनन्द को एकदम याद हो जायगा। आनन्द पच्चीस वर्ष छाया की तरह भगवान के साथ रहा। उस काल मे भगवान ने जो भी उपदेश दिये, वे सारे के सारे उसे याद हो गये, मुखोद्गत हो गये। अव संगायन मे भगवान की वाणी संग्रहित जो करनी है, तो आनन्द चाहिए ही और तव वह अर्हन्त तो नही था। अर्हन्त नही है, तो उसे सभा मे ले नही सकते। स्रोतापन्न तो आनन्द था ही। आनन्द आगे साधना करता है और अर्हन्त हो जाता है, फिर उस सभा का महत्त्वपूर्ण सदस्य हो जाता है। अव लोग प्रश्न करते, तो आनन्द पूरी टेप-रेकॉर्डर की तरह वोलना शुरू कर देता। "एवं मे सुतं" 'ऐसा मैंने सुना।' भगवान की जितनी वाणी है, वह ऐसे ही प्रारम्भ होती है, "एवं मे सुतं, एकं समयं भगवा...।',

भगवान के उपदेश दो प्रकार के थे, एक साधारण जनता के लिए शिक्षा और दूसरा भिक्षु-भिक्षुणियो को नियम के साथ शिक्षा। प्रथम सगीति राजगृह (जिला पटना) की सप्तपर्णी गुहा में एकत्रित हुई। वहां 'धर्म,' 'विनय' और 'अभिधर्म' का सगायन हुवा। धर्म के एव अभिधर्म के विपय में 'आनन्द' से और विनय के विपय में वुद्ध-प्रशंसित 'उपालि' से प्रश्न पूछे जाते थे। 'धर्म' के लिए पालि में अन्य शब्द 'सुत्त' (सूक्त, सूत्र) या 'सुत्तन्त' भी आया है। प्रथम संगीति के स्थविर भिक्षुओ ने 'धर्म,' 'अभिधर्म' और 'विनय' का इस प्रकार सगायन किया। आगे भिन्न-भिन्न भिक्षुओ ने उनको पृथक् पृथक् कंठस्थ कर अध्ययन-अध्यापन का भार अपने ऊपर लिया। उनमें से जिन्होने 'धम्म' या 'सुत्त' की रक्षा का भार लिया, वे 'धम्मधर' 'सुत्तधर' 'या 'सुत्तांतिक' (सौत्रातिक) कहलाये गये। जिन्होंने 'विनय' की रक्षा का भार लिया, वे 'विनय-धर' कहलाये गये। 'अभिधम्म' के रक्षक 'अभिधम्मिक' कहलाये गये। भगवान वुद्ध के उपदेशो में शील, समाधि और प्रज्ञा इन तीनो पर पूरा जोर दिया गया है।

द्वितीय संगीति

प्रथम संगीति के सौ वर्ष वाद विनय के कठोर नियमों को लेकर एक प्रवल विरोधी मतवाद खडा हो गया। इस विवाद को शांत करने के लिए भिक्षुसंघ ने

वैशाली मे फिर एकत्र हो विवादग्रस्त विषयो पर अपनी राय दी और ' धर्म ' ' अभिधर्म ' एव ' विनय ' का सगायन किया। यह द्वितीय सगीति हुई। अनेक भिक्षु इस संगीति की राय से सहमत नही हुए। वे वैशाली से अलग होकर कौशाम्बी (प्रयाग के पास का ' कोसम ग्राम ') मे उन्होने दस हजार भिक्षुओ के साथ महासंघ वनाकर अपनी सगीति अलग कर ली और अपने मतानुसार ' धर्म ' ' अभिधर्म ' और ' विनय ' का सगायन किया। इस स्थिति मे भिक्षु-सघ के दो समदाय (निकाय) खडे हो गये। एक स्थविरवादी और दूसरा महासाधिक। सघ के स्थविरो (वृद्ध भिक्षुओ) का अनुगमन करनेवाला पहला समुदाय (निकाय) 'आर्य स्थविर या स्थविरवाद' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। पालि मे वे थेरवादी कहलाए गये। दूसरा, ' विनय ' मे समय के परिवर्तन के साथ साथ परिवर्तनवादी भिक्षुओ की सख्या अधिक होने से महासघ के कारण उन्हे 'महासाधिक' कहलाया गया। इस अलगाव की प्रेरणा से आगे इन्ही दो समुदायो से आगामी सवा सौ वर्षो मे स्थविरवाद से वज्जिपुत्रक, महीशासक, धर्मगुप्तिक, सौत्रातिक, सर्वास्तिवाद, काश्यपीय, सक्रातिक, सम्मितीय, पाण्णागरिक, भद्रयानिक और धर्मोत्तरीय तथा महासाधिक से गोकुलिक, एकव्यवहारिक, प्रज्ञप्तिवाद (लोकोत्तरवाद), वाहुलिक, चैत्यवाद, इस प्रकार १८ निकाय (समुदाय-सम्प्रदाय) निर्माण हो गये। इनका मतभेद ' विनय ' एव 'अभिधर्म' की वातो को लेकर था।

तृतीय संगीति

भगवान वुद्ध के निर्वाण के प्राय सवा दो सौ वर्ष वाद सम्राट अशोक ने वुद्ध-शिक्षा ग्रहण की। उनके गुरु मोग्गलिपुत्त तिस्स (मौग्गलि-पुत्र तिष्य) उस समय आर्य-स्थविरो के सघ-स्थविर थे। उन्होने धम्म के सभी मतभेद दूर करने के लिए पटना मे सम्राट अशोक द्वारा वनाये गये ' अशोकराम ' विहार मे भिक्षु-सघ के द्वारा चुने गये हजार भिक्षुओ का सम्मेलन किया, जिन्होने मिलकर सभी विवादग्रस्त विषयो का निर्णय तथा धर्म, अभिधर्म और विनय का सगायन किया। यही 'तृतीय सगीति' के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसी समय आर्य-स्थविरो से निकले सर्वास्तिवाद निकायो ने नालन्दा मे अपनी पथक् सगीति की। नालन्दा समय समय पर भगवान का निवासस्थान होने से उन दिनो के समय पुनीत स्थानो मे से एक गिना जाता था। इसी समय से नालन्दा सर्वास्तिवादियो का मुख्य स्थान वन गया था।

यह तृतीय संगीति नितान्त महत्वशालिनी मानी जाती है, क्योकि इसी सगीति के नियमानुसार सम्राट अशोक ने वुद्धशिक्षा-प्रचार के लिए भारत के वाहर भी भिक्षुओ को भेजा था। इसी समय वुद्ध-शिक्षा विश्वधर्म की पदवी पाने के लिए अग्रसर हुई। मोग्गलिपुत्त तिस्स ने सम्राट अशोक की सहायता से (इ पूर्व २४८) भिन्न-भिन्न देशो मे वुद्धशिक्षा के प्रचारक भेजे। ये प्रचारक पश्चिम मे यवन राजाओ के

राज्य ग्रीस, मिस्र, सीरिया आदि देशो में गये; उत्तर में मध्य एशिया और चीन; दक्षिण मे ताम्रपर्णी (श्रीलंका) और पूर्व मे सुवर्ण-भूमि (वर्मा), स्याम, कम्वोडिया, लाओस आदि देशो मे भी वे पहुँचे। श्रीलंका मे सम्राट अशोक के पुत्र तथा मोग्गलिपुत्त तिस्स के शिष्य 'भिक्षु महेन्द्र' और उनकी सहोदरा 'संघमित्रा' गयी। श्रीलका के राजा 'देवान पिय तिस्स' ने वुद्ध-शिक्षा ग्रहण की। कुछ ही दिनो मे वहाँ की सारी जनता ने ही वुद्धशिक्षा ग्रहण की। आर्य-स्थविरवाद का यहां तभी से प्रचार रहा। श्रीलंका मे ही ईसा की प्रथम शताब्दी मे सूत्र, विनय और अभिधर्म ये तीनों पिटक (त्रिपिटक), जो अव तक कठस्थ चले आते थे, लेखवद्ध किये गये। मोग्गलि-पुत्त तिस्स ने सुवर्णभूमि (वर्मा) मे 'सोण' और 'उत्तर' इन स्थविरो को यह कह कर भेजा "तुम सुवर्णभूमि (वर्मा) मे जा रहे हो, यही भूमि भगवान के इस अनमोल विद्यारत्न को शुद्ध रूप मे सम्भाल रखने मे समर्थ है। यह रत्न भगवान के महापरि-निर्वाण से ५०० वर्ष तक भारत मे चलेगा और वाद मे लुप्त हो जाएगा और फिर २००० वर्षों के वाद शुद्ध रूप मे इसी सुवर्णभूमि से फिर से भारत लौटेगा तथा वहां से फिर से सारे विश्व मे फैलेगा। तुम वडे ही महत्वपूर्ण कार्य पर जा रहे हो।" आज इसकी प्रतीति साक्षात हो रही है।

सम्राट अशोक से लेकर सभी मौर्य वुद्ध-शिक्षा पर अधिक अनुरक्त थे, इसलिए उनके कार्यकाल मे, अनेक पवित्र स्थानो मे राजाओ और धनिको ने वडे-वडे स्तूप और सघाराम (मठ) वनवाये। ईसा पूर्व दूसरी शताव्दी मे मौर्यो के सेनापति पुष्यमित्र ने अन्तिम मौर्य-सम्राट को मार कर अपने शुग वश का राज्य स्थापित किया। यह व्राह्मण धर्म का निष्ठावान् अनुयायी था। परिस्थिति के अनुकूल न हो नेसे धीरे धीरे वुद्ध-केन्द्रों को मगध और कोसल से दूसरे प्रदेशो मे हटाने मे मजवूर कर दिया गया।

स्थविरवाद सव से पुराना निकाय है और इसने पुरानी वातों को वडी कडाई से सुरक्षित रखा। दूसरे निकायो ने देश, काल और व्यक्ति आदि के अनुसार अनेक परिवर्तन किये।

मौर्य–साम्राज्य के विनष्ट हो जाने पर पश्चिमी भारत पर यवन राजा 'मिनान्दर' ने कव्जा कर लिया। मिनान्दर ने अपनी राजधानी साकला (स्यालकोट) वनायी। उसके तथा उसके वशजो के क्षत्रप मथुरा और उज्जैन मे रह कर शासन करने लगे। यवन राजा अधिकाश वुध्द-शिक्षाग्राही थे और उन्होने वुध्द-शिक्षा के प्रचार मे वडी सहायता की। स्थविरवादियो पर तथा सर्वास्तिवादियों पर वे वहुत स्नेह और श्रद्धा रखते थे।

चतुर्थ सगीति

यवनो को पराजित कर शको ने पश्चिम भारत पर कव्जा किया। इन्हीकी शाखा कुषाण थी, जिसमे शूर सम्राट कनिष्क हुए। कनिष्क की राजधानी पुरुषपुर (पेशा-

वर) थी। उस समय सर्वास्तिवाद गान्धार मे पहुंच चुका था । कनिष्क स्वयं सर्वास्तिवादियो का अनुयायी था । इसी समय मे महाकवि अश्वघोष, आचार्य वसुमित्र आदि पैदा हुए और इसी समय मे गान्धार के सर्वास्तिवाद मे कश्मीर और गान्धार के आचार्यो का मतभेद हो गया था । देवपुत्र कनिष्क की सहायता से वसुमित्र, अश्वघोष आदि आचार्यो ने सर्वास्तिवादी भिक्षुओ की एक वृहद् सभा वुलायी । इस सभा मे आपसी मतभेदो को दूर करने के लिए उन्होने अपने त्रिपिटक पर 'विभापा' नामक टीका लिखी । विभापा के अनुयायी होने से मूल सर्वास्तिवादियो का दूसरा नाम 'वैभापिक' पडा। वुद्धशिक्षा मे दु खो से मुक्ति के अर्थात् निर्वाण के तीन मार्ग माने गये है– (१) जो केवल स्वय दु खमुक्त होना चाहता है, वह आर्य–अष्टागिक मार्ग पर आरुढ हो, जीवनमुक्त हो, अर्हत् कहा जाता है। (२) जो उस से कुछ अधिक परिश्रम कर अनेक जन्मो तक पारमिताओ के संपादन मे लगता है, वह जीवनमुक्त हो 'प्रत्येक-वुद्ध' कहा जाता है। और (३) जो असंख्य जीवो के दु खमुक्ति के लिए अपनी चिंता न कर अनेक जन्मो तक कठोर तपश्चर्या करता है, पारमिताओ के पूर्णता मे लगा रहता है तथा वहुत समय तक स्वयं वोधिसत्व वना रहता है और फिर निर्वाण को प्राप्त होता है, वह 'वुद्ध' कहा जाता है । ये तीनो ही मार्ग क्रमश अर्हत्‌यान, प्रत्येक-वुद्धयान, और वुद्धयान कहे जाते है । कुछ आचार्यो ने पहले दो यानो की अपेक्षा वुद्धयान पर वहुत जोर दिया और इसे महायान कहा । आगे महायान मार्गी वाकी मार्गवालो को ' हीनयान ' कहने लगे । वैसे, अठारहो निकाय तीनो यानो को मानते थे । उनका कहना था, किसी यान का चुनना मुमुक्षु की या अपनी स्वाभाविक रुचि पर निर्भर है ।

ईसा की प्रथम शताब्दी मे जिस समय वैभापिक-सम्प्रदाय उत्तर मे वढता जा रहा था, उसी समय दक्षिण के विदर्भ देश मे आचार्य नागार्जुन पैदा हुए । उन्होने माध्यमिक या शून्यवाद पर ग्रन्थ लिखे । कालान्तर मे महायान और माध्यमिक दर्शन के योग से शून्यवादी महायान सम्प्रदाय चला, जिससे त्रिपिटक की आवश्यकता समय-समय पर वने हुए 'अष्टसाहस्रिका', 'प्रज्ञापारमिता' आदि ग्रन्थो ने पूर्ण की । चौथी शताब्दी मे पेशावर के आचार्य वसुवन्धु ने वैभापिको से कुछ मतभेद कर के 'अभिधर्मकोश' नामक ग्रन्थ लिखा और उनके ज्येष्ठ वधु असग विज्ञानवाद या योगाचार सम्प्रदाय के प्रवर्तक हुए ।

महायान के सूत्रो मे हर एक को वोधिसत्व के मार्ग पर ही चलने के लिए जोर दिया गया है। हर एक को मुक्ति की परवाह छोड कर संसार के सभी प्राणियो की मुक्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। वोधिसत्व की महत्ता दर्शाने के लिए अवलोकितेश्वर, मजुश्री, आकाशगर्भ आदि सैकडो वोधिसत्वो की कल्पना की गयी और सारिपुत्र, मोग्गलायन आदि अर्हत् (मुक्त) शिष्यो को अमुक्त और वोधिसत्व वना दिया गया ।

कनिष्क के समय अर्थात् भगवान वुद्ध के चार सदियों के वाद वुद्ध की प्रतिमा (मूर्ति) वनायी गयी। महायान के प्रचार के साथ जहा वुद्ध–प्रतिमाओ की पूजा–अर्चा वडे ठाटवाट से होने लगी, वहा सैकडो वोधिसत्वो की भी प्रतिमाएं (मूर्तिया) वनायी गयी । उन्होने तारा, प्रज्ञापारमिता आदि अनेक देवियो की भी कल्पना की। जगह जगह इन देवियो और वोधिसत्वो के लिए वडे वडे विशाल मंदिर वन गये । उनके वहुत से स्तोत्र आदि भी वनने लगे ।

पांचवी संगीति

सन् १८५५ के लगभग वर्मा मे माडले के वर्मी नरेश मिडोमिन के द्वारा संगीति आयोजित की गई थी । नरेश मिडोमिन ने सारी वुद्धवाणी को सैकडो सगमरमरो पर शिलालेख वना कर माडले मे मंदिर वनवाये ।

छठी संगीति

भगवान के परिनिर्वाण को २५०० वर्ष पूरे हुए थे, तव वर्मा मे सन १९५४ मे छठा संगायन हुआ था । उस समय वर्मा के प्रधान मंत्री ऊ नू थे । उन्होने ही यह सारा आयोजन करवाया था ।

सारे विश्व में वुद्ध की वाणी कहां कहां है, उसको एकत्र करके छपवाएगे ऐसा वर्मा-शासन ने निर्णय किया । भिन्न भिन्न देशो से २५०० भिक्षु एकत्र किये गये और भिन्न भिन्न देशो से त्रिपिटक एकत्र किये गये। ये अलग अलग लिपि मे है । भाषा पालि है, किन्तु सव के उच्चारण भिन्न भिन्न है। वर्मा मे पालि का उच्चारण अपना भिन्न है, जो भारत के लोगो के कुछ भी समझ मे नही आएगा' इतना अतर है। जैसे, पालि का शव्द ‘ सच्च ’ है, वे लिखेंगे ‘ सच्च ’ ही, किन्तु पढेगे, तो उसे ‘ तिस्स ’ पढेंगे । इस प्रकार, शव्दो के उच्चारण में इतना भेद यद्यपि हो गया, किन्तु लिखित रूप मे कही भी अन्तर नही है । भिन्न भिन्न देशो से इस सगीति मे त्रिपिटक जो आये, तो देखा गया कि थायलैंड का उनका अपना ही उच्चारण है, तो सिलोन, लाओस, कम्वोडिया का अपना अलग ही उच्चारण है । ये सभी त्रिपिटक मिलान कर के सव को आश्चर्य हुआ कि इन सव मे वहुत समानता है। इनमे कही अन्तर होगा तो केवल उच्चारण का ही है। वाक्य मे कही अन्तर नही मिला । इससे यह सिद्ध होता है कि किस तरह भिन्न भिन्न देशो मे भगवान की वाणी को शुद्ध रूप मे रखा गया । एक ओर तो वुद्ध-वाणी को शुद्ध रूप में रखने की परम्परा चली और दुसरी ओर विपश्यना विद्या को शुद्ध रूप मे रखने की प्रथा गुरु-शिप्य परम्परा द्वारा चली। अन्य देशो मे तो यह विद्या विकृत हो गयी थी। वर्मा मे भी विकृत हुई थी, किन्तु वर्मा मे कुछ आचार्यो ने इसे केवल अपने शिष्यों तक ही सीमित रखी और इस तरह, परम्परा शुद्ध रूप मे रखी गयी। यह विद्या जव

भारत से आयी थी, तव (वुद्ध के समय) इस विद्या के जो परिणाम मिलते थे, वे ही परिणाम अभी भी इस शुद्ध विद्या से मिलते है। इसीलिए यह शुद्ध रूप मे है, ऐसा माना जाता है।

जहां जहा भी विभिन्न देशो मे वुद्ध की वाणी गयी, वहां वहा लोगों ने यह समझा है कि भारत से यह अनमोल रत्न हमे मिला है और वुद्ध जैसे महान् तपस्वी द्वारा मिला है, तो हम उनसे अधिक ज्ञानी नही है। इसलिए उनके ज्ञान पर हम अपने ज्ञान का आरोपण नही करेंगे। इसमे थोडा भी रदोवदल करना वे दोप मानते है, भले ही लिपि अलग हो। इस वाणी को शुद्ध रूप में रखा गया, इसका प्रमाण तो यह है कि एक परम्परा ऐसी चली, जो तीन पिटक है – सुत्त पिटक, विनय पिटक, अभिधम्म पिटक – उनको अलग अलग भिक्षु-सघ ने परम्परा से अलग अलग पिटक को मुखोद्गत रखा, गुरुशिष्य परम्परा से शुद्ध रखा, कण्ठस्थ रखा। ऐसी भी एक परम्परा थी कि तीनो पिटको को मुखोद्गत रखा गया। वर्मा मे भी एक परम्परा चलती है जिसमे सारा त्रिपिटक कण्ठस्थ रखा जाता है। उनको 'धम्म–भण्डागारिक' कहते है, मतलव है, धर्म को सभाल कर रखने वाला। आज तो छपाई आदि की सुविधा होने पर भी कण्ठस्थ रखने की यह परम्परा लुप्त नही हुई। वर्मा मे आज भी तीन भिक्षु है, जिनको सारा त्रिपिटक कण्ठस्थ है।

वाद मे तो सारे त्रिपिटक भारत मे भी विहार शासन ने देवनागरी लिपि मे छपवाकर सव को उपलब्ध कर दिये थे, किन्तु आज ये प्रतिया भी समग्र रूप मे अप्राप्य है। इनमे कुछ के तो हिन्दी अनुवाद भी होकर प्रकाशित हो गये है। विपश्यना साधना मे लोगो की रुचि अव वढती जा रही है और इन ग्रन्थो का लाभ भी लोगो को मिल रहा है।

सिंहल, वर्मा और स्याम याने थायलैंड इन तीनो देशो मे तो उन देशो की लिपि मे भी त्रिपिटक छप चुके है।

व्रिटिश राजसत्ता के काल मे श्रीलंका मे व्रिटिश अधिकारी श्री टर्नर न्हिस डेव्हिडस् जैसे विद्वान् थे। उन्होने पालि भाषा मे और सिहली लिपि मे हस्तलिखित कुछ ग्रथो का रोमन लिपि मे रूपान्तर किया था और इसको लन्दन के पालि टेक्स्ट सोसायटी ने छपाया था। त्रिपिटक की छपवाई का यह काम पहली वार हुआ है। इसके वाद भारत मे कलकत्ता विद्यापीठ मे 'पालि' अभ्यास का प्रारंभ हुआ। यह लगभग १८९१ के वाद की वात है। प्रो. मुकर्जी जैसे विद्वान् पडितो ने 'पालि भापा' विपय के शिक्षा को प्रारभ करवाया। इसका कुछ अंश वगला लिपि मे भी छपवाया गया। सन १९०९ के लगभग धर्मानन्द कोसम्वि, जो गोवा के निवासी थे, कलकत्ता मे 'पालि' सिखाते थे।

इसके बाद वम्बई आकर उन्होने वम्बई विद्यापीठ मे पालि विपय का प्रारम्भ करवाया और वाद मे वडोदा मे भी प्रारम्भ करवाया।

सन १९५४ के लगभग, जव भगवान वुद्ध के परिनिर्वाण को २५०० वर्ष पूरे हो गये थे, नवनालन्दा महाविहार सस्था ने विहार सरकार के सहयोग से पूरा त्रिपिटक देवनागरी लिपि मे प्रथम वार छपवाया है।

त्रिपिटक

भगवान वुद्ध की सारी वाणी त्रिपिटक मे सग्रहित है। इसके तीन पिटक है (१) सुत्त पिटक (२) विनय पिटक (३) अभिधम्म पिटक

सुत्त पिटक – यह पाच निकायो मे विभक्त हे – (१) दीघ निकाय (२) मज्झिम निकाय (३) संयुत्त निकाय (४) अंगुत्तर निकाय (५) खुद्दक निकाय

खुद्दक निकाय मे पन्द्रह ग्रन्थ है—

(१) खुद्दकपाठ (२) धम्मपद (३) उदान (४) इतिवुत्तक (५) सुत्तनिपात (६) विमानवत्थु (७) पेतवत्थु (८) थेरगाथा (९) थेरीगाथा (१०) जातक (११) निद्देस (१२) पटिसम्भिदामग्ग (१३) अपदान (१४) वुद्धवस (१५) चरियापिटक।

विनय पिटक – पाच भागो मे विभक्त है–

(१) महावग्ग (२) चुल्लवग्ग (३) पाराजिक (४) पाचित्तिय (५) परिवार।

अभिधम्म पिटक – इसके सात ग्रन्थ है–

(१) धम्मसङ्गणि (२) विभङ्ग (३) धातुकथा (४) पुग्गलपञ्ञत्ति (५) कथावत्थु (६) यमक (७) पट्ठान।

सुत्त पिटक मे भगवान के उपदेशों का संग्रह है। विनय पिटक मे भिक्षुओ के लिये नियम सग्रहित है। अभिधम्म पिटक मे चित्त, चैतसिक, रूप और निर्वाण इन चारो परमार्थ धर्मो का निरूपण अति-सूक्ष्म रूप में किया गया है। अत, सुत्त पिटक से अधिक गम्भीर और विशिष्ट धर्म की देशना है।

अव इनके अधिक विस्तार मे न जाते हुए यह विपय यहाँ ही हम समाप्त करते है।

◈ ◈ ◈

उपसंहार

द्रुतगति से बढने वाली टेक्नॉलॉजी का प्रभाव

दिन–प्रति–दिन सायन्स और टेक्नॉलॉजी मे द्रुतगति से आश्चर्यकारी सशोधन हो रहे है। नानाविध सुख–सुविधाओ के कल्पनातीत साधन हर रोज निर्माण हो रहे है। उद्योग, व्यवसाय, यातायात, विद्युत्शक्ति, बान्ध, नहरे, कृषि–उत्पादन आदि विभिन्न क्षेत्रो मे तेजी के साथ विकास हो रहा है। भूमि पर, जल पर और अवकाश मे सभी जगह विकास–कार्यो की निर्मिति अति–शीघ्रता से हो रही है। गहो पर भी मनुष्य पहुचा है और वह आगे बढ ही रहा है, जिस का कही अन्त नही है। युद्ध–सामग्रि मे नये नये विध्वंसक आयुध निर्माण हो रहे है, जो सारे जगत् का विनाश अल्प समय मे ही करने मे समर्थ है। सारे जगत् की राजनीति मे और सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्रो मे बहुत ही उथल-पुथल चल रही है।

और, इसी गति के साथ ही मनुष्य नानाविध व्यसनो का शिकार बन गया है। दुष्प्रवत्तियो का लगातार सृजन हो रहा है। भ्रष्टाचार, चोरी, हत्याएँ, अत्याचार, दुराचार, व्यभिचार, लूट खसोट, नशापान आदि बुराइयाँ बढती ही जा रही है, इनका भी अन्त नही है। अनगिनत रुग्णो से अस्पताल भरे जा रहे है। सुरक्षा का कही ठिकाना नही है।

ऐसी चिंतनीय परिस्थिति मे जगत् के सारे जीव दुखी है, तडफ रहे है। ऐसा लगता है कि मनुष्य जैसा क्रूर प्राणी इस धरातल पर अन्य कोई है ही नही। सदाचार लुप्त हो रहा हे, उसका आभास-मात्र बचा है, वह वास्तविकता से कही बहुत दूर है। कही शान्ति नही है। बेचैनी, व्याकुलता एव तनाव मे जीवन दूभर हो गया है। हर मनुष्य जन्म लेते ही दु ख की खाई में उतरा है, जीवन की समर-भूमि मे असहाय पडा हे, उसे कही छुटकारा नही है, सभी स्थिति मे संघर्ष ही सघर्ष है।

मनुष्य कर्माधीन है

जैसे हमारे कर्म होगे, वैसे ही हमे भुगतना पडेगा। 'जैसा बीज वैसा फल' प्रकृति के इस अटूट नियम से सारे प्राणी बन्धे हुए है। बीज तो कडुआ बोये, किन्तु फल मीठा और मधुर मिले, यही हम सब की आशा अपेक्षा रहती है। बीज डालते समय (कर्म करते समय) होश नही रहता, तब कर्म–संस्कारो का हर क्षण ढेर बढता ही रहता है। मनुष्य जानता ही नही, वह क्या कर रहा है।

मनुष्य सदा भूतकाल की याददाश्त मे या भविष्य की कल्पनाओं मे ही व्यस्त

रहता है। उसी मे वह जीता है। वर्तमान के क्षण में जीने का अभ्यास वह करता ही नही। यदि वर्तमान क्षण मे उत्पन्न घटनाओं के प्रति मनुष्य अपने चित्त को शान्त रखता है, कोई प्रतिक्रिया नही करता है, तो नये कर्म-सस्कार नही जुडते। तो फिर, उसकी चित्तधारा के प्रवाह को आगे ढकेलने के लिए पुराने सञ्चित सस्कारो को उभर कर आना ही पडता है। और तब फिर से वह वर्तमान क्षण मे कोई प्रतिक्रिया नही करता है, समताभाव बनाये रखता है, तो उन कर्म-सस्कारो की निर्जरा होती है। और फिर, उनकी जगह अन्य पुराने कर्म-संस्कार उभर कर आते रहते हैं और उनकी भी निर्जरा होती है। इसतरह, नये संस्कार बनते नही, और पुराने सस्कार समाप्त होते जाते हैं। अर्थात्, हमारे जो जन्म-जन्म के सञ्चित कर्म-संस्कार हमारे साथ चलते रहते हैं, इसीसे हमारा जीवन-प्रवाह बना रहता है। सञ्चित कर्म-सस्कार अनेक जन्मो मे जब जब भी पकते हुए फल देते रहते हैं, तब तब उनका त्वरतिकरण याने उदीर्ण होकर निर्जरा का क्रम 'विपश्यना' साधना द्वारा मनुष्य प्राप्त कर सकता है। और यही, इस साधना की विशेपता है।

विभिन्न सम्प्रदाय

आज सारा मनुष्य-समूह अपने अपने समुदायों का अलग अलग सम्प्रदाय बनाते रहा है, जिनको अलग अलग 'धर्म' संज्ञा लगा दी गयी है। जैसे-हिन्दु धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म, मुस्लिम धर्म, क्रिश्चन धर्म आदि आदि। और, इन अलग अलग सम्प्रदायों ने अलग अलग ईश्वर का रूप, मंत्र, पूजा-पाठ, भजन-कीर्तन, मंदिर, कर्मकाण्ड, दर्शनशास्त्र, वेशभूषा, रहन-सहन, समाज-व्यवस्था आदि आदि बना ली है और इनमे वे इतनी गहराई से चिपक गये है कि अपना ही तथाकथित धर्म हर सम्प्रदाय सब से श्रेष्ठ मानता है और अन्य सम्प्रदाय वह हीन मानता है। इस प्रकार, सभी सम्प्रदाय अन्ध-श्रद्धा से ग्रस्त हैं। एक एक सम्प्रदाय मे भी और और अनेक उप-शाखाएँ निर्माण हो गयी हैं और इन सभी ने अपने अलग अलग दर्शनशास्त्र (Philosophy) निर्माण किये हैं। परिणाम यह हुआ है कि ये सभी एक दूसरे के प्रति द्वेप उगलते रहते हैं और धर्म के नाम पर झगडे-टंटे तथा हिंसा करने मे भी नहीं हिचकिचाते। इसतरह, सभी जगह वर्गयुद्ध निर्माण हो रहे हैं और यह अविरत चल रहा है, बढे ही जा रहा है। इन सम्प्रदायो से धर्म के नाम पर दुष्प्रवृत्तियों का सतत सृजन हो रहा है, एक-दूसरे को नीचा दिखाने का काम हो रहा है। धर्मान्ध लोग यही करते चले जा रहे हैं, वे जानते ही नही कि वे क्या कर रहे हैं, वे सब की हानि और स्वयं की भी हानि भी अविरत करते चले जा रहे हैं।

काम, क्रोध, द्वेप आदि विकार तो किसी भी सम्प्रदाय-धर्म के लिए अलग अलग नही होते। यह हिन्दु-क्रोध है, यह मुस्लिम-क्रोध है, यह ईसाई-क्रोध है ऐसा विभाजन कैसे हो सकता है? क्रोध क्रोध है, द्वेष द्वेष है। इसीप्रकार, सभी

विकार सार्वजनीन ही होते है । निसर्ग के सभी अटूट नियम सार्वजनीन, सार्वकालिक और सार्वदेशिक ही होते है, जो सभी प्राणियो के लिए एक से ही वन्धनकारक होते है । निसर्ग के ये अटूट नियम ही वास्तव मे शुद्ध धर्म है, जो किसी सम्प्रदाय से लेकर वदल नही सकते । शुद्ध धर्म शील, समाधि और प्रज्ञा है । सदाचार, मन को वश मे करना, चित्त शुद्ध करना और अपनी आन्तरिक ज्ञान–वोधि जगाना यही धर्म है और ये सभी वाते सभी सम्प्रदायो मे है ही । पाप–पुण्य की व्याख्या भी अलग अलग सम्प्रदायो मे अपनी अपनी मान्यताओ को, दर्शन-शास्त्रो को लेकर ही बनी है । ऐसी वेशभूषा, ऐसे कर्मकाण्ड करना, ऐसे दर्शनशास्त्र मानना तो पुण्य कर्म है, इससे स्वर्ग मिलेगा, ईश्वर–साक्षात्कार होगा, अन्यथा पाप ही पाप है और घोर नरक भुगतना पडेगा। यही पुण्य का लुभावना चित्र, यही पाप का भयावना चित्र खडा करके इन सम्प्रदायो ने धर्म को एक महान् जंजाल मे फसा दिया है, एक दलदल मे फसा दिया है । वाहर निकलने के वजाय तथाकथित धर्म अन्दर ही अन्दर धंसता जा रहा है । वास्तव मे पाप और पुण्य की व्याख्या सार्वजनीन ही होनी चाहिए, न कि साम्प्रदायिक । पाप तो वह है, जो कर्म दूसरे को दुखी वनाता है, जिससे दूसरा भी दुखी और स्वयं भी दुखी, व्याकुल, वेचैन होता है । पाप ही तो काम, क्रोध जगाते रहता है और कर्म-सस्कारो का ढेर लगाते रहता है, जो दु ख का ही उत्पाद करता है । पुण्य तो वह है, जो कर्म दूसरे को सुख पहुचाता है और फलत. स्वय को भी सुख ही पहुचता है । सरल सरल व्याख्या को छोड कर भयावनी और लुभावनी व्याख्याओ से तो सारे सम्प्रदाय दु.ख ही दु ख का सृजन करते रहते है ।

सारी सृष्टि तरङ्ग मात्र है

इस २० वी सदी मे परमाणु से भी छोटे लघुकण–क्षेत्र मे अपूर्व सशोधनो से यह सिद्ध हुआ है कि कोई भी ठोस पदार्थ, फिर भले ही वह लोहा हो या पत्थर हो, लकडी हो या अन्य पदार्थ हो, या प्राणीमात्र का शरीर हो, वास्तव मे ठोस है ही नही, सभी केवल तरङ्ग मात्र है, तरङ्गो का समूह मात्र है। ये तरङ्गे निरन्तर टूटती है, विखरती है, नयी वनती है, समाप्त हो कर फिर उनकी जगह नयी वनती है, अविरत वदलती रहती है और एक दूसरे से आकर्षित–विकर्षित होती रहती है । उनका आपस मे टकराव वना रहता है, आपस मे वडी पोल भी है, किन्तु सव अभेद्य जाल सा वना रहता है, कही कुछ भी अलग कहने को है ही नही ।

सारा सौर मण्डल, चन्द्र, तारे, सूर्य, ग्रह, ये सभी प्रकम्पो से, तरङ्गो से गूंज रहे है, प्रकम्पो के जवरदस्त टकरावो से व्याप्त है और उनके वीच भी विना रुके संघात चल ही रहा है । सारा भौतिक जगत्, सारा आकाश प्रकम्पो से ओतप्रोत है और खाली जगह ऐसी कुछ है ही नही । यही कॉस्मिक नर्तन है, नटराज नृत्य है और यह नृत्य अविरत चलता ही रहता है । साधक अन्तर्मुखी होकर स्वय इसकी

अनुभूति कर सकता है, वैज्ञानिक भी अपनी प्रयोगशाला में इसीका अनुभव करता है।

परमार्थ सत्य

प्राणियों के शरीर की भी अन्तिम सच्चाई तरङ्ग ही तरङ्ग मात्र है। चित्त की अन्तिम सच्चाई भी तरङ्ग ही तरङ्ग मात्र है और चित्त पर उठनेवाली वृत्तियाँ तथा विकार भी तरङ्ग ही तरङ्ग मात्र है, जो चैतसिक है। अर्थात्, हमारे सारे सञ्चित कर्म-सस्कार, जिनसे यह शरीरधारा, चित्तधारा, चैतसिक धारा प्रवाहित होती रहती है, वे भी केवल तरङ्ग ही तरङ्ग मात्र हैं, तरङ्गो के पुञ्ज मात्र हैं, जो प्राय: दु ख ही दु ख भुगताते हैं और फिर, वेहोपी में नये पुञ्ज वनते रहते हैं। इस प्रकार यह ससारचक्र चलता ही रहता हे। जन्म के वाद फिर से जन्म वनते रहते हैं, दु ख का समुदाय वनता ही रहता है। यही, यदि धर्मचक्र मे वदल जाय, तो इस भवचक्र से, जन्ममरण के चक्र से, दु खचक्र से मुक्ति मिल सकती है; और यही विपश्यना साधना से साध्य हो सकता है।

जव जव हमारी आख पर रूप, कान पर शब्द, नाक पर गन्ध, जीभ पर रस, काया पर स्पर्शव्य पदार्थ और मन पर सकल्प-विकल्प (विचार), इस प्रकार छ इन्द्रियो पर वाहर के अपने अपने विपय टकराते हैं, वास्तव मे ये टकराते ही रहते हे, तव तव हमारी चित्तधारा पर और फिर शरीरधारा पर उसी प्रकार की सूक्ष्म सवेदनाएं जाग उठती हैं। और ये संवेदनाए उठते ही प्रिय, अप्रिय, सुखद, दु खद मूल्याकन हो कर 'चाहिये, नहीं चाहिये' की तृष्णा जाग उठती है। इसी तृष्णा के प्रति फिर तुरंत ही उपादान याने तीव्र लालसा उत्पन्न होकर कर्म-सस्कार वन जाते हैं, जो हमें भवचक्र मे घुमाते ही रहते हैं। किन्तु ये सवेदनाए जव भी जाग उठे, उसी समय यदि हमारा चित्त सजग और समता में रह जाय, तो तृष्णा के वजाय प्रज्ञा उत्पन्न होकर यह सव धर्मचक्र में वदल जाता है और कोई सस्कार नही वनते। फिर, इस चित्तधारा को प्रवाहित रखने के लिए पुराने सस्कारो को उभर कर आना ही होता है और इस क्षण भी यदि चित्त सजग और समता मे रह जाय, तो इन उभरे हुए पुराने संस्कारो की निर्जरा (क्षय) होकर उनकी जगह अन्य पुराने सस्कार उभर कर आते है और यही क्रम वना रहा तो फिर नये सस्कार वनते नही, पुराने उखड कर समाप्त होने का ही क्रम चलता है। इस प्रकार, विकारो की गन्दगी की सफाई का काम चलता है, चित्त शुद्ध होने लगता है और चित्त में मैत्री, करुणा, मुदिता तथा उपेक्षा (समता) का प्रवाह वहने लगता है। इस प्रकार के अभ्यास से जैसे जैसे गहराई मे हम जाएंगे, वैसे वैसे चित्तशुद्धि होती जायगी। तव आगे, एक क्षण ऐसा आएगा जव कि इन्द्रियो के परे इन्द्रियातीत निर्वाण का, जो ध्रुव है, नित्य है, उसका साक्षात्कार हो ही जायगा।

हमारे जीवन मे विपश्यना साधना से लाभ

जैसे जैसे इस साधना का अभ्यास बढेगा, वैसे वैसे हमारे सञ्चित कर्म-सस्कार समाप्त होते रहेंगे, नये कर्म-सस्कार बनने बन्द होते जाएंगे, और तब हमारे क्रोध, द्वेष, काम, लोभ, अह, भय आदि विकार भी कम हो रहे है ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव जीवन मे आएगा ही। यदि ऐसा अनुभव न आता हो, तो समझना चाहिए कि साधना ठीक शुद्ध रूप से नही हो रही है। अपने मार्गदर्शक से ठीक समझ कर ही हमे अभ्यास चलाना चाहिए। जैसे जैसे हमारे विकार कम होते जाएंगे, वैसे वैसे चित्त मे मैत्री-भाव उमडता रहेगा, करुणा फूट पडेगी, मुदिता से चित्त भरेगा और वह समता मे स्थापित होता रहेगा। तब तो सत्कर्म ही सत्कर्म बनते रहेंगे और इस भवचक्र से धर्मचक्र के पथ पर चलना अपने आप महसूस होगा।

मृत्यु के क्षण

हमारे पाव तले की धरती मे विभिन्न प्रकार की दुष्ट मानसिक शक्तियो का समुच्चय बढता ही जा रहा है, जो नीचे की ओर खिचाव उत्पन्न करता है। जब तक मनुष्य मे अशुद्धता का सञ्चय है, और साधारणतया ऐसा है ही तब तक उसे यह अधो-मुखी खिचाव सहना ही होगा। और यदि मृत्यु के क्षण उसकी मन.स्थिति अधोलोक की इन मानसिक शक्तियो से सम्बद्ध हुई, तो उसका पुनर्जन्म स्वत उसी अधोलोक मे होगा अपने अकुशल कर्मो के सञ्चय का भुगतान करने के लिए। दूसरी ओर, मृत्यु के क्षण यदि उसकी मन स्थिति मानवलोक की शक्तियो से सम्बद्ध रही, तो उसका भावी जन्म पुन मानवलोक मे ही हो सकता है। और, यदि मृत्यु के क्षण उसकी मन स्थिति अपने कुशल कर्मो की स्मृति मे लीन रही, तो उसका पुनर्जन्म साधारणतया देवलोक मे होगा, जहा वह अपनी कुशल मानसिक शक्तियो का, सञ्चित कर्मपूजी का उपभोग करता है। इसी प्रकार, मृत्यु के क्षण यदि मनुष्य का चित्त नितान्त विशुद्ध और प्रशान्त है, काम-राग-छन्द से मुक्त है, तो वह ब्रह्मलोक को प्राप्त होगा। इस प्रकार, मनुष्य के अपने कर्मो के हिसाब-किताब के सिद्धान्त कितना यथार्थ है, यह स्पष्ट है!

किसी व्यक्ति को लाभ उतना ही होगा, जितना वह शील, समाधि और प्रज्ञा के शुद्ध धर्म का पालन करेगा। यही नियम जैसे व्यक्ति पर है, वैसे ही परिवार पर, समाज पर और राष्ट्र पर भी लागू है।

विश्वशान्ति के लिए, अपने भले के लिए

मनुष्य-प्राणी यदि केवल शील का ही पालन करे, तो देश-देश मे जो भयावह अन्तर्कलह बढते जा रहे है, क्रूरता, निर्दयता, अत्याचार आदि बढ रहे है, वे अवश्य कम होंगे। किन्तु, लोगो की दृष्टि मे भौतिक सुख के प्रति भागदौड करने का

ही तीव्र आकर्षण वन गया है, अतः वे किसी भी प्रकार का धार्मिक, सामाजिक, पारिवारिक या राष्ट्रीय अनुशासन का भङ्ग करने मे हिचकिचाते नही है। लोग यह नही समझते कि जीवन मे उत्पन्न होने वाले दु ख अपने ही पूर्वसञ्चित कर्म-संस्कारो का फल है और यह चक्र भविष्य में वना ही रहेगा, इसका सञ्चय वनता ही रहेगा और इसको भुगतते रहना ही होगा। इसलिए, हर क्षण सजग रहकर अपने कुशल कर्म-सञ्चय मे लगा रहना ही दु ख–मुक्ति का मार्ग है। अकुशल शक्तियो पर अर्थात् प्रवल पाप पर विजय पाने के लिए कुशल शक्तियो का उत्पाद करना अनिवार्य है और यह आन्तरिक शक्ति के उत्पाद से ही सम्भव है, जिससे हमे अपने परिवार को, समाज को, राष्ट्र को एवं सारे प्राणिमात्र को विश्वशान्ति प्राप्त हो सके। मनुष्य को भौतिक पदार्थो पर ही प्रभुत्व प्राप्त कर लेना पर्याप्त नही है, परन्तु अपने मन पर भी प्रभुत्व स्थापित करना अत्यावश्यक है।

मनुष्य-जन्म वडा ही दुर्लभ है। मनुष्य-जन्म मे ही परम श्रेयस् के, कल्याण के साधन उपलब्ध है, इसको हमे खोना नही चाहिए। परिवार का भरण-पोषण, उद्योग-व्यवसाय आदि सभी कर्तव्य मात्र है, यह सही लक्ष्य नही है। सही लक्ष्य तो इस भवचक्र से, जन्ममरण के चक्र से, दु खचक्र से मुक्ति पाने का है और यह मनुष्य जन्म मे ही सम्भव है। इसकी सावधानता हमे हर क्षण वनी रहनी चाहिए और निरन्तर अभ्यास द्वारा कदम कदम आगे वढते रहना चाहिए।

हम अन्ध–श्रद्धा से वाहर निकले

अन्ध-श्रद्धा से वाहर निकले विना परम सत्य के साक्षात्कार के अभ्यास में प्रगति नही हो सकती, अन्धश्रद्धा इस प्रगति मे एक वडी दीवार है। अपने ही कर्म-काण्डो से, जपजाप, मन्त्र, पूजा-पाठ, तीर्थयात्रा करने से, दर्शनशास्त्र पढते रहने से मुक्ति मिल जाएगी, ऐसा मानकर इनमे लिप्त रहना, आसक्त रहना, यह मुक्ति के मार्ग मे वहुत वडी रुकावट है।

जपजाप, मन्त्र, रूप, चित्र, मूर्ति आदि वाते मनुष्य के मन की ही उपज है और मन तो अनित्य है। इन्द्रियजन्य मन इन्द्रियातीत सत्य का साक्षात्कार करने मे असमर्थ है। इसलिए, विकारो से व्याप्त मन, सञ्चित सस्कारो से भरा मन, परम सत्य का, जो नित्य है, ध्रुव है, शाश्वत है, साक्षात्कार कर ही नही सकता। अपने उपास्य देवी-देवताओ का कभी कभी किसी को चित्त की एकाग्रता के कारण दर्शन हो सकता है, किन्तु यह तो मन का ही प्रक्षेपण मात्र है। मन या चित्त अनित्य है और परम सत्य, उसे चाहे ईश्वर कहे, वह तो नितान्त नित्य है, इसलिये जो अनित्य है, वह नित्य का दर्शन कैसे कर सकता है? यह असम्भव है। इसे हमे ठीक से समझ लेना चाहिए।

हमारे धर्मग्रन्थ, साहित्य, दर्शनशास्त्र लाखो की संख्या मे है, इन को जीवन भर

हम पढ़ते ही रहेगे, तो कुछ भी प्राप्त होने वाला नही है। केवल पाडित्य का अहं ही जाग उठता रहेगा, जो अकुशल संस्कारो का सञ्चय ही करता रहेगा। अन्तर्मुखी होकर विकारो को, सञ्चित कर्म-संस्कारो को जड से उखाड फेंके बिना मुक्ति की, साक्षात्कार की आशा करना निरा भ्रम है। अन्तर्मन की गहराई मे स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम तक पहुंचते हुए हर क्षण सजग और समता मे चित्त रखने का अभ्यास बना रख कर चित्तशुद्धि करते रहने से ही इन्द्रियो के परे का, नित्य, ध्रुव, शाश्वत निर्वाण का, परम सत्य का साक्षात्कार करना सम्भव हो सकता है, जो इन्द्रियातीत अवस्था है।

इस वास्तविक प्रयास के अभ्यास मे ही हमारा शेष जीवन लग जाना, हम सभी के लिए लाभप्रद है।

प्रचलित बौद्धधर्म एवं बौद्ध–दर्शन

जगत् मे आज प्रचलित बौद्ध धर्म एवं उनके दर्शनशास्त्र जो हैं, वह अन्य सम्प्रदाय-धर्मो के अनुसार ही एक सम्प्रदाय है। इस बारे मे इस ग्रन्थ के प्रारम्भ मे प्रस्तुत भूमिका मे सारी स्थिति स्पष्ट की गई है। भगवान बुद्ध ने किसी भी धर्म की स्थापना नही की थी। उनकी अनेक जन्मो की कठोर तपश्चर्या का एकमात्र लक्ष्य प्राणीमात्र को दु ख क्यों होता है, उसके बाहर निकलने का मार्ग क्या है, इसकी खोज मे ही लगा रहा और इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए २५०० वर्ष पूर्व सिद्धार्थ गौतम राजगृह छोडकर, अपने प्रिय पिता, पत्नी, नवजात पुत्र को छोडकर, कठोर तपश्चर्या मे लग गये थे और स्वयं की ही सम्यक् समाधि द्वारा सम्यक् सम्बोधि ज्ञान प्राप्त कर 'विपश्यना' की अनमोल, अनूठी विद्या उन्होने फिर से खोज निकाली, जो भारत की प्राचीन, पुरातन विद्या रही है, जो अनेक बार लुप्त होती रही है और फिर, कोई सम्यक् सम्बोधि-प्राप्त महापुरुष बार बार उसे फिर से ढूढ निकालते रहे है और शुद्ध रूप से, फिर से, फिर से, जनमानस को बाटते रहे हैं।

भगवान गौतम बुद्ध ने अपनी आयु के ३५ वे वर्ष मे 'विपश्यना' विद्या का अनुसधान कर के अपने शेष ४५ वर्षो तक यह शिक्षा जीवो की दु खमुक्ति के लिए विश्वशान्ति के लिए बाटने का ही काम किया। भगवान गौतम बुद्ध ने 'यह दु ख है और यह दु ख से बाहर निकलने का मार्ग है,' इतनी ही शिक्षा दी थी। उन्होने किसी धर्म या सप्रदाय की सस्थापना नही की और न किसी दर्शनशास्त्र का निर्माण ही किया। उनकी यह शिक्षा बुद्ध-शिक्षा कहलाने लगी। कालान्तर मे अनेक आचार्य निर्माण हुए और उन्होने बुद्ध-शिक्षा को लेकर अपने अपने अनेक दर्शनशास्त्रो का निर्माण किया और बौद्ध धर्म एवं दर्शन के नाम से वे जनमानस मे रूढ होते गये। वैसे ही, इस बौद्ध-सम्प्रदाय मे भी अन्य सम्प्रदायो की भाति अनेक उपशाखाएं निर्माण हुई और आगे उन मे भी मतमतान्तर होते गये। इस प्रकार, भगवान बुद्ध की शुद्ध शिक्षा विकृत

होकर लगभग२०००वर्ष पूर्व से ही भारत से लुप्त हो गयी । पडोसी वर्मा देश में इस शुद्ध विद्या का जतन केवल आचार्य-शिष्य परम्परा द्वारा शुद्ध रूप में वनाये रखा गया, जो अव, जव कि भगवान गौतम वुद्ध के महापरिनिर्वाण को २५०० वर्ष हो गये, सव को खुला वाटना वर्मा मे प्रारम्भ हुआ । इस विद्या को पूज्य गुरुजी श्री सत्य-नारायणजी गोएन्का, जिनके पुरखे करीव १५० वर्ष पूर्व वर्मा मे जा वसे थे, उन्होने प्राप्त कर सन १९६९ मे अपने मातापिता को इस विद्या की शिक्षा देने के निमित्त भारत मे आकर लागो के वार वार आग्रह के कारण इस देश मे भिन्न भिन्न स्थानो पर विपश्यना शिविरो का आयोजन किया । अव तो विदेशो मे भी शिविर लग रहे है। भारत की खोई हुई यह विद्या भारत मे पुनश्च शुद्ध रूप मे आयी है और लोगो को मिलने लगी है, यह भारतीय लोगो का परम सौभाग्य है । अव तो सारे जगत मे इसके प्रति वहुत जिज्ञासा उत्पन्न हुई है । इसका एकमेव कारण इस साधना से जीवन मे शान्ति मिलने लगी है । कई साधको के नशापान छूट गये, व्यभिचार छूट गये, रोग-मुक्ति हुई, काम- क्रोध कम हो गये, परिवार में सुख-शान्ति मिलने लगी. यह वहुत वडा दृश्य परिणाम इस साधना द्वारा प्रत्यक्ष मे अनुभूत होने लगा है ।

कई लोगो मे एक ऐसा भ्रम है कि वौद्ध धर्म की यह विद्या है, अतः अन्ध-श्रद्धावश इस विद्या के लाभ से वे वञ्चित रह जाते है और अपनी ही हानि कर लेते हैं। जगत् मे करोडो की संख्या मे लोग वौद्ध सम्प्रदाय मे हैं, भारत मे भी करोडो की सख्या मे इस सम्प्रदाय के लोग है, किन्तु इस शुद्ध विद्या की जानकारी से वे अपरिचित ही रहे है । इस विद्या को सीखने के लिए जो कोई इच्छुक व्यक्ति विपश्यना साधना के शिविर मे सम्मिलित होना चाहता है, उसको इस विद्या की विधि के प्रति एव अपने मार्गदर्शक आचार्य के प्रति १० दिनो के लिए सम्पूर्ण समर्पणभाव रखना आवश्यक है । नही तो इस विद्या का अपेक्षित परिणाम १० दिनो मे प्राप्त होना कठिन है । कई साधक 'यह अपने धर्म की विद्या नही है, पराये धर्म की है', ऐसी भ्रांति मे पड जाते है तथा मन मे अपने ही सम्प्रदाय के शास्त्रो में पढे कथन के साथ तुलना करने मे उलझ जाते है और इस प्रकार सारे १० दिन इसी भ्रम मे खो देते है । जीवन मे अपने व्यव-साय आदि व्यस्तता के कारण १० दिनो का निकालना किसी को मुश्किल होता है, तो इस विद्या को शुद्ध रूप से सीखने के वजाय वह यदि भ्रान्ति मे पड जाय तो वह अपनी ही हानि कर लेता हे । इससे साधक को वचना चाहिए । १० दिनो के लिए ही यह समर्पण है, यह स्पष्ट समझ कर इसके प्रति श्रद्धा के साथ अभ्यास करने से ही अपेक्षित लाभ प्राप्त होगा । फिर जीवन मे वह उसकी परीक्षा करे और लाभकारी हो तो ही स्वीकार करे, अन्यथा वह स्वतंत्र है । शुद्ध रूप मे श्रद्धा से प्राप्त विद्या अपनी सच्चाई का फल जीवन मे दिये विना रह ही नही सकती, किन्तु इसके प्रति १० दिन तो इस विद्या को न्याय देकर ही अभ्यास करना साधक को उपयुक्त होगा ।

उपरोक्त स्पष्टिकरण को ठीक से समझ कर पाठक को अपने मन में यदि कोई भ्रम हो, तो उसको निकाल देना चाहिए और इस अनमोल विद्या को प्राप्त कर अपने जीवन का सार्थक करने मे उत्साह से लगना चाहिए ।

भगवान वुद्ध की शिक्षा की विशेषता

भगवान वुद्ध ने सम्यक् सम्वोधि का साक्षात्कार प्राप्त करने पर शेष जीवन मे दो ही वातो का उपदेश दिया· 'यह दु ख है और दु.ख से वाहर निकलने का यह मार्ग है' और यह मार्ग शील, समाधि और प्रज्ञा ही है। यही शुद्ध धर्म है, प्रकृति के अटूट नियमो से वन्धा हुआ धर्म है और इसीकी शिक्षा वे जीवनभर देते रहे।

शील याने सदाचार तो सभी सम्प्रदायो मे है। समाधि याने चित्त को वश मे करना यह भी सभी सम्प्रदायो मे है। प्रज्ञा याने चित्त–शुद्धि करना, यह भी सभी सम्प्रदायो मे है। तो फिर, वुद्ध–शिक्षा की क्या विशेषता थी ?

अपनी इन्द्रियो पर वाहर के विपय टकराते ही रहते है और काम-क्रोध आदि विकार जागते ही रहते है, संस्कार वनते ही जाते है। यदि संस्कारो से छुटकारा पाना है, तो ये विकार कहा जागते है, वह देखना आना चाहिए। परन्तु काम–क्रोध आदि विकार तो अमूर्त है, उन्हे कैसे देखा जाय ! जव जव विपय अपनी इन्द्रियो पर टकराते है, याने आख पर कोई रूप, कान पर कोई शद्व, नाक पर गन्ध, जीभ पर रस, काया पर स्पर्श और मन पर विचार टकराते है, तव तव चित्तधारा पर एक सवेदना जाग उठती है और वह शरीरधारा पर उतरती है। तव उसका टकराव होते ही 'यह प्रिय है, यह अप्रिय है,' 'ऐसा हम मूल्याकन कर लेते है और ऐसा अविरत होता ही रहता है, तो सवेदना सुखद या दुखद रूप धारण कर लेती है और तत्काल वैसी तृष्णा जाग उठती है। वस, हो गया शुरु दु खचक्र, भवचक्र। इतनी द्रुत गति से यह सारा खेल वनते रहता है कि चेतन चित्त इसे जानता ही नही क्योकि यह सारा खेल अर्धचेतन (Sub–Conscious) मन पर ही चलता रहता है। भगवान वुद्ध ने सवेदना की यह कडी, जो खोयी हुई थी, ढूढ निकाली। यदि हम मूल्याकन नही करते, तो सवेदना भी सुखद या दुखद नही वनती। सजग और समता भरे चित्त से इन संवेदनाओ को देखना आ जाय, तो 'तृष्णा' नही जाग उठती और उसके वदले मे 'प्रज्ञा' जाग उठती है। फिर दु ख धर्मचक्र मे वदल जाता है। तव नये सस्कार वनते नही और तभी चित्तधारा को ढकेलने के लिए पुराने सस्कार उखड कर वे सवेदना पर जान पडते है। और तव, सजग और समता का भाव वना रहा, तो पुराने सस्कार क्षीण होने का क्रम चलता रहता है। ऐसा यह चित्तशुद्धि का कार्य 'विपश्यना' साधना द्वारा वनता जाता है, जो अन्त में

इन्द्रियातीत, निर्वाण, सत्य, चाहे तो इसे ईश्वर कहे, के साक्षात्कार तक पहुंचा ही देता है। सवेदना की यह कडी ढूढ निकाल कर उस पर सजग एवं समता भाव रखना, यही भगवान बुद्ध की शिक्षा की विशेषता है। यह शुद्ध धर्म की शिक्षा है, जो सार्वजनीन है, सार्वदेशिक है, सार्वकालिक है, इसका किसी भी सम्प्रदाय से या प्रचलित बौद्ध धर्म से या बौद्ध सम्प्रदाय से कोई सम्वन्ध नही है। केवल शुद्ध धर्म है, इसको विना साम्प्रदायिक पुट के, अपने इसी जीवन मे इस विद्या के अनमोल रत्न को प्राप्त करने के लिए हमे ठीक से समझ लेना चाहिए।

शुद्ध धर्म मे ही सब का मङगल है, सब की स्वस्ति, मुवित है। अतः हम भी इस शुद्ध विद्यारत्न को प्राप्त कर दु.खचक्र से, जन्ममरण के भवचक्र से मुक्त होनेका अभ्यास अपने जीवन मे निरन्तर वनाये रखे। इसी मे सभी का सुख समाया हुआ है, विश्व की शान्ति का प्रवाह है, इसको निरन्तर बनाये रखकर चित्त मे अनन्त मैत्री, अनन्त करुणा, अनन्त मुदिता, अनन्त उपेक्षा (समता) भाव का सवर्धन करते रहे, इसी मे सब का मङगल है।

। भवतु सब्ब मङ्गलं ।

परिशिष्ट १

ग्रन्थ संदर्भ

पुस्तक का नाम	लेखक
(१) दीघ–निकाय (हिन्दी अनुवाद)	भिक्षु राहुल साकृतायन एव भिक्षु जगदीश काश्यप
(२) मज्झिम–निकाय (हिन्दी अनुवाद)	भिक्षु राहुल साकृतायन एव भिक्षु धर्मरक्षित
(३) संयुत्त–निकाय (हिन्दी अनुवाद)	भिक्षु जगदीश काश्यप एवं भिक्षु धर्मरक्षित
(४) अगुत्तर-निकाय (हिन्दी अनुवाद) भाग १,२,३,४	भदन्त आनन्द कौसल्यायन
(५) विशुद्धि-मार्ग (हिन्दी अनुवाद) भाग १ व २	भिक्षु धर्मरक्षित
(६) मिलिन्द प्रश्न	भिक्षु जगदीश काश्यप
(७) वुद्धचर्य्या	भिक्षु राहुल साकृत्यायन
(८) अभिधम्मत्थसगहो (पालि व हिंदी) भाग १ व २	भदन्त रेवत धम्म एव रामशकर त्रिपाठी
(९) जातक (हिन्दी)	भदन्त आनन्द कौसल्यायन
(१०) धम्मपद (पालि–हिन्दी)	भिक्षु धर्मरक्षित
(११) वौद्ध धर्म दर्शन	आचार्य नरेन्द्रदेव
(१२) वौद्ध दर्शन मीमासा	आचार्य वलदेव उपाध्याय
(१३) भगवान वुद्ध और उनका धर्म	डॉ भी. रा. आवेडकर अनुवादक–भदन्त आनन्द कौसल्यायन
(१४) एस धम्मो सनन्तनो	आचार्य श्री रजनीश
(१५) पालि–हिन्दी कोप	भदन्त आनन्द कौसल्यायन
(१६) वुद्ध दर्शन (मराठी)	रामचद्र गोविंद कोलगडे
(१७) The Tao of Physics	Fritjof Capra
(१८) The Doctrine of patticcasamuppada	U Than Daing
(१९) Physical chemistry	Walter J. Moore

शब्दानुक्रम

परिशिष्ट ३

शब्दानुक्रम (पालि)

शब्द व पृष्ठ क्रमांक

परिशिष्ट ४

शब्दानुक्रम (अंग्रेजी)

Words and Page No

Words and Page No.

परिशिष्ट ५

साधना विषय संदर्भ

(एक दृष्टिक्षेप)

शुद्धधर्म

सार्वजनीन, सार्वदेशिक, सार्वकालिक ।

शील, समाधि, प्रज्ञा ।

प्रकृति के अटूट नियम—

(१) सभी अनित्य है, परिवर्तनशील है, अविरत वदलते रहते है। स्थिर और नित्य कुछ भी नही है।

(२) सभी पदार्थ, वस्तु, प्राणी, स्थिति, अवस्था, घटना, रूप, चित्त तथा चैतसिक वृत्तियाँ प्रतिक्षण अत्यत तीव्र गति से उत्पाद, स्थिति (भासमान) और लय होती रहती है।

(३) कारण के विना कोई कार्य घटित नही होता। कार्य-कारण—कार्य—कारण शृखला निरन्तर वनी रहती है।

(४) घटना क्रमवत् घटती है, सृष्टि का क्रम अव्याहत जारी है।

(५) चारो महाभूत (पृथ्वी, अग्नि, वायु और जल) अपने अपने स्वभाव से सतत प्रभावित रहते है और वे सव के लिए समान है, जिसका परिणाम सव को भुगतना ही पडता है। एक पर कृपा और दूसरे पर रोप ऐसा हो ही नही सकता, भले ही पूजा, पाठ, मत्र, जाप कितने ही किये जाय ।

(६) जैसा वीज, वैसा फल ।

(७) एक वीज से एक वृक्ष, किन्तु एक वृक्ष को हर ऋतु मे अनेक फल आते है और हर फल फिर से एक या अनेक वीज लेकर आता है।

(८) सारा विश्व प्रकम्प ही प्रकम्प है, नित्य-प्रज्वलित है, एक जाल मे वन्धा हुआ है।

जीवन का सही लक्ष्य

(१) नये संस्कार वने नही।

(२) पुराने (संचित) संस्कार समाप्त हो जाय।

(३) राग—द्वेष आदि विकारो से छुटकारा हो जाय ।

(४) चित्त नितान्त निर्मल हो जाय।

(५) निर्वाण का साक्षात्कार हो जाय ।

(६) चित्त अनन्त मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा (समता) से भर जाय।

(७) जन्म—मरण चक्र से मुक्ति हो, जिससे सभी दु:खो से विमुक्त हो जाय।

मन की स्वाभाविक अवस्था

(१) अत्यत चञ्चल। एक क्षण भी नही रुकता। वर्तमान क्षण में टिकता ही नही। सदा भूतकाल की याददाश्त मे या भविष्य की कल्पनाओ मे ही वह रमण करते रहता है।

(२) मोह मूढित। किसी वात का तारतम्य नहीं रहता। एक विचार आया तो छलांग मार कर दूसरे ही विचार मे वह उलझ जाता है, जिसका पहले विचार से कोई सम्वन्ध नही होता । वह पागल जैसा भटकता है।

(३) राग—रंजित या द्वेष—दूषित। किसी वात का सिलसिला चले भी, तो प्रिय या अप्रिय वात का ही। प्रिय के प्रति 'चाहिए' और अप्रिय के प्रति 'नही चाहिए' का भाव चलता है।

(४) मन काल के ही जाल में फसा रहता है।

(५) विकारो से भरा मन हजार झूठ खडा करते रहता है, वहां शान्ति कैसे ?

(६) झूठ से भरा मन सत्य की खोज कर ही नही सकता ।

अष्टकलाप (अटठकलाप)

(१) यह अन्तिम इकाई है। यह नन्हें से नन्हा लघुकण है, जिसका आगे विभाजन नही हो सकता।

(२) निम्नलिखित चार महाभूत और उनके गुणधर्मों का यह समुच्चय है। ये एक—दूसरे से अलग नही हो सकते और उनमे भी आपसी वडी पोल है।

(१) पृथ्वी धातु और उसके गुणधर्म – हल्के से हल्का और भारी से भारी। फैलना, जगह व्यापना।

(२) अग्निधातु और उसके गुणधर्म – ठढे से ठंढा और गर्म से गर्म। उष्णता।

(३) वायुधातु और उसके गुणधर्म – हलनचलन, सचलन।

(४) जलधातु और उसके गुणधर्म – वांधे रखना। संयोजन।

(३) सभी वस्तु, पदार्थ, प्राणी इन अष्टकलापो के पुञ्ज है, जिन्हे 'रूप' कहा गया है।

पंचस्कन्ध (पञ्चक्खन्ध – नामरूप)

रूप – काया, शरीर। अष्टकलापो का पुञ्ज।

नाम – चित्त। चित्त के चार खण्ड है–

(१) विज्ञान (विञ्ञाण), जो जानने का काम करता है।

(२) संज्ञा (सञ्ञा), जो पहचानने का काम करती है।

(३) वेदना, जो संवेदनशीलता है।

(४) संस्कार (सङखार), जो प्रतिक्रिया करता है।

(१) रूपस्कन्ध – काया।

(२) विज्ञान स्कन्ध – स्वभाव केवल जानना मात्र है। शुद्ध चित्त है।

(३) सज्ञा स्कन्ध – स्वभाव पहचानना और मूल्याकन करना है, जैसे 'प्रिय है', 'अप्रिय है'।

(४) वेदना स्कन्ध – सुखद या दुखद, या असुखद–अदुखद सवेदना उत्पन्न होना है।

(५) सस्कार स्कन्ध – प्रतिक्रिया होकर कर्म-संस्कार वनते हैं। इनके प्रकार :–

(१) जल पर की रेखा के समान वनते ही समाप्त होते हैं।

(२) वालू पर की रेखा के समान थोडी देर रहकर समाप्त होते है।

(३) पत्थर पर खुदी हुई रेखा के समान लंवे अर्से तक रहते है। वे इस जन्म मे समाप्त होगे या अनेक जन्म चल कर समय समय पर फल देंगे।

सभी पञ्चस्कन्ध अनित्य है।

आयतन (सळायतन)

आंतरिक द्वार	आलम्बन	बाहर के विषय
(१) आंख (चक्खु)	"	रूप
(२) कान (सोत)	"	शब्द (सद्द)
(३) नाक (घाण)	"	गन्ध
(४) जिव्हा (जिव्हा)	"	रस
(५) काया	"	स्पर्शव्य पदार्थ (फोट्ठव्ब)
(६) मन	"	विचार (मनसिकार)

चार आर्य-सत्य (चत्तारि अरियसच्चानि)

(१) यह दुःख है – विभिन्न प्रकार की शारीरिक व्याधि एवं मानसिक पीडा।

(२) यह दुःखसमुदय है – दुःख का कारण तृष्णा है।

(३) यह दुःख का निरोध है — निर्वाण।

(४) यह दुःख–निरोध का मार्ग (मग्ग) है – आर्य–अष्टांगिक मार्ग। (अरियो अट्ठङ्गिको मग्गो) – शील, समाधि, प्रज्ञा।

दुःख

(१) दुःख–दुःख (दुक्ख–दुक्ख) – भूख, प्यास, निराश्रयता, वस्त्राभाव, चोट लगना, प्रिय की मृत्यु, आदि स्थूल दुःख।

(२) विपरिणाम–दुःख (परिस्थिति बदलने के कारण उत्पन्न दुःख) — प्रिय स्थिति बदल कर दुःखद स्थिति बन जाना, मित्र का धोखा देना, धन-वैभव नष्ट होना, पद-अधिकार नष्ट होना, प्रतिष्ठा समाप्त होना, भाई-भाई मे झगडा, पति-पत्नी मे संघर्ष, धनवान् से भिखारी होना आदि।

(३) संस्कार–दुःख (सङ्खारदुक्ख) — चित्त की चेतना से उत्पन्न होने वाले समस्त कर्मों के फलस्वरूप सन्मुख आने वाली वस्तुएँ, व्यक्ति और स्थितियाँ। संस्कारजन्य कर्मों के फलो से किसी का छुटकारा नही है। संस्कार-दुःख के अंतर्गत सभी प्रकार के दुःख आ जाते है। ये दुःख अन्य सभी दुःखो से सूक्ष्म है।

तृष्णा (तण्हा)

(१) काम–तृष्णा :–

भौतिक सुखो की कामना, भोग कामना, वर्तमान जो है उसके प्रति असतोष, जो नही है उसके प्रति जगने वाली कामना, ऐन्द्रिय सुखो के प्रति आसक्ति ।

(२) भव–तृष्णा :–

जीवित रहने की तीव्र लालसा, मरने के वाद भी जीवित रहने की चाह, स्वर्गलोक या ब्रह्मलोक की तृष्णा, 'मै' 'मेरे' की नित्य रहने की तृष्णा, मुक्ति को भोगने वाला 'मै' तो वना रहूँ, यह शाश्वत रहने की तृष्णा । (शाश्वत–दृष्टि)

(३) विभव–तृष्णा –

'पुनर्भव है ही नही, पुनर्जन्म है ही नही,' यह मान कर भोगो के प्रति तृष्णा, सुख-वैभवो की कामना–पूर्ति के लिए अच्छे-वुरे, नैतिक-अनैतिक सभी प्रकार के साधनो का प्रयोग करना, 'जव तक जियू सुख से जियू' यह तृष्णा । (उच्छेद दृष्टि)

उपादान

(१) तृष्णा के प्रति गहरी आसक्ति – तृष्णा तो वनी रहनी ही चाहिए, जिस वस्तु के प्रति तृष्णा जगी है और वह जव तक पूर्ण नही होती, तव तक व्याकुल रहना और मिलने के वाद फिर दूसरा कुछ चाहिए, वह मिला तो तीसरा कुछ चाहिए, ऐसी अन्तहीन तृष्णा । तृष्णा विना पेंदे की वालटी है । उसके प्रति गहरा चिप–काव, जिसकी कभी पूर्ति नही होती । जो है उसके प्रति असतुष्ट; जो नही है उसकी चाह ।

(२) 'मै' 'मेरे' के प्रति गहरी आसक्ति – मेरी चीज टूट गयी, लुट गयी तो व्याकुल हो उठना । अहंभाव के प्रति तीव्र आसक्ति । शरीर और मन इन पञ्चस्कधों के प्रति गहरी आसक्ति ।

(३) अपनी परम्परा, दर्शनशास्त्र के प्रति गहरी आसक्ति ।

(४) अपने शीलव्रत–परामर्श के प्रति गहरी आसक्ति । व्रत, उपवास, पाठ, पूजा, तीर्थ आदि के प्रति चिपकाव । यही मुक्ति का मार्ग मान कर इनमे गहरी आसक्ति ।

आर्य–अष्टांगिक मार्ग (अरियो अट्ठङ्गिको मग्गो)

शील स्कन्ध – (१) सम्मा वाचा (२) सम्मा कम्मन्तो (३) सम्मा आजीवो
समाधि स्कन्ध –(४) सम्मा वायामो (५) सम्मा सति (६) सम्मा समाधि
प्रज्ञा स्कन्ध – (७) सम्मा दिट्ठि (८) सम्मा सङ्कप्पो

आर्य–अष्टांगिक मार्ग का विवरण

शील – काया और वाणी के दुष्कर्मो से विरत रह कर सदाचारी जीवन बिताना :–

(१) सम्मा वाचा – सम्यक् याने शुद्ध, पवित्र वाणी। असत्य भाषण; चुगली, निंदा, छल-कपट; कठोर-कडवी बात, गाली तथा निरर्थक, निकम्मी, फिजूल बातें; ये वाणी के मैल है, इनसे बचना। इनको छोड कर शेष सब वाणी पवित्र है।

(२) सम्मा कम्मन्तो - सम्यक् कर्म। हिंसा, चोरी, व्यभिचार, नशापान आदि काया से होने वाले मैल है। इनसे बचना।

(३) सम्मा आजीवो - सम्यक् आजीविका। मांस, मदिरा, मादक पदार्थ, जहर आदि का व्यवसाय; ठगना, जुआ, गुलामी आदि का व्यवसाय; शस्त्रो का व्यापार, हत्या के लिए पशुपालन, दूसरो को हानि पहुँचाने वाला व्यवसाय, मिलावट की तथा जरूरत की चीजे संग्रहित करके मुनाफाखोरी आदि का व्यवसाय; इनसे बचना।

समाधि – मन को वश मे करना :–

(४) सम्मा वायामो - सम्यक् व्यायाम। पुरुषार्थ, परिश्रम, तप। अपने मन मे जो दुर्गुण है उनको दूर करना, जो दुर्गुण नही है उनको आने नही देना, जो सद्गुण है उनका सवर्धन करना और जो सद्गुण नही है उनको संपादन करना। इन चारों को सम्यक् प्रधान कहा है और यही सम्यक् पुरुषार्थ है।

(५) सम्मा सति – हर क्षण की जागरूकता, सावधानता, हर क्षण की उत्पन्न सच्चाई को जानना।

(६) सम्मा समाधि – राग, द्वेष, मोह के आलम्बन छोड कर चित्त की एकाग्रता।

प्रज्ञा –

(७) सम्मा दिट्ठि – सम्यक् दृष्टि – सम्यक् दर्शन। यथाभूत ज्ञान दर्शन। स्थूल से सूक्ष्मतम तक अपने ही शरीर मे जैसा है वैसा जानना और समताभाव बनाये रखना।

(८) सम्मा सङ्कप्पो – सम्यक् सकल्प। रागविहीन और द्वेष-विहीन विचार, चिन्तन, मनन।

पंचशील (पञ्चसील)

गृहस्थो के लिए पांच शील है :–

(१) सत्य बोलना, (२) चोरी नही करना, (४) हत्या नही करना, (४) व्यभिचार नही करना, (५) नशीले मादक पदार्थों का सेवन नही करना।

साधको के लिए और तीन शील दिये है :–

(६) बे–समय याने दोपहर १२ बजे के बाद भोजन नही करना।

(७) नाच, गीत, वादन, नाटक, शारीरिक शृङ्गार आदि से अलिप्त रहना।

(८) उच्च आरामदेह शय्या से विरत रहना।

समाधि

(१) लौकिक (लोकिय) – काम, रूप और अरूप भूमियो की कुशल चित्त की एकाग्रता।

(२) लोकोत्तर (लोकुत्तर) –प्रज्ञा भावना से निर्वाण का साक्षात्कार।

(३) उपचार – क्षीण ध्यान की अवस्था।

(४) अर्पणा (अप्पणा) – दृढ ध्यान की अवस्था।

समाधि में नीवरण (विघ्न)

(१) कामछन्द – विषयो मे अनुराग, लोभ, मोह, कामवासना से व्याकुल।

(२) व्यापाद – द्वेष, हिंसा, घृणा करना।

(३) स्त्यान-मिद्ध (थीनमिद्ध) –बेहोशी, आलस्य, तन्द्रा, निद्रा।

(४) औद्धत्य-कौकृत्य (उद्धच्च कुक्कुच्च)– बेचैनी, व्याकुलता, प्रक्षुब्ध होना, पश्चात्ताप।

(५) विचिकित्सा (विचिकिच्छा) – सदेह, शंका करना।

समाधि में ध्यानाङ्ग

(१) वितर्क (वितक्क), (२) विचार, (३) प्रीति, (पीति), (४) सुख (५) एकाग्रता (एकग्गता)।

समाधि के कर्मस्थान (साधन) (कम्मट्ठान)

कुल ४० कर्मस्थान है :-

(१) दस कसिण.

(२) दस अशुभ (असुभ).

(३) दस अनुस्मृति (अनुस्सति).

(४) चार ब्रह्मविहार.

(५) चार अरूप्य (अरूप्प)

(६) एक संज्ञा (सञ्ञा).

(७) एक व्यवस्थान (ववट्ठान).

प्रज्ञा (पञ्ञा)

प्रकार –

(१) श्रुतमयी – श्रवण, पठन।

(२) चिंतनमयी – चिंतन-मनन, बुद्धि के स्तर पर समझना।

(३) भावनामयी -- अपनी अनुभूति मे फैलाना, प्रकट करना, विकसित करना।

लक्षण (लक्खण) – अनित्य बोध, अनात्म बोध, दुःख बोध, अशुभ बोध।

आनापानस्मृति (आनापानसति) – अपने ही स्वाभाविक आने वाले, जाने वाले सांस पर चित्त की एकाग्रता।

विपश्यना भावना

(१) शील मे प्रतिष्ठित होकर;

(२) समाधि मे चित्त दृढ कर;

(३) प्रज्ञा के साथ, अनित्य, अनात्म, दुःख बोध के साथ, सजगता एवं समता के साथ अपनी ही काया के भीतर सवेदना के बल पर स्थूल सच्चाई से सूक्ष्मतम सच्चाई तक अनुभूति पूर्वक अनुपश्यना करना।

अनुपश्यनाएँ (अनुपस्सना)

(१) कायानुपश्यना – अपनी ही काया मे काया की अनुपश्यना करना।

(२) वेदनानुपश्यना – अपनी ही काया मे अनुभूत सवेदना मे वेदनानुपश्यना करना।

(३) चित्तानुपश्यना – सवेदना के वल पर चित्त मे चित्तानुपश्यना करना

(४) धर्मानुपश्यना – सवेदना के वल पर चित्त पर उत्पन्न गुणधर्मों मे धर्मानुपश्यना करना।

प्रतीत्यसमुत्पाद (पटिच्चसमुप्पाद)

कारण-कार्य–कारण-कार्य शृखला -- अनुलोम

(१) अविद्या के कारण सस्कार वनते है।

(२) सस्कार के कारण विज्ञान की उत्पत्ति।

(३) विज्ञान के कारण नाम–रूप (शरीर व मन)।

(४) नाम–रूप के कारण पडायतन (छ इद्रिया)।

(५) पडायतन के कारण स्पर्श।

(६) स्पर्श के कारण वेदना (सवेदना)।

(७) वेदना के कारण तृष्णा।

(८) तृष्णा के कारण उपादान (आसक्ति)।

(९) उपादान के कारण भव (होना)।

(१०) भव के कारण जाति (जन्म)।

(११) जाति के कारण जरा, मरण।

(१२) जाति–जरा-मरण के कारण शोक, परिदेव, दु.ख, दौर्मनस्य, उपायास उत्पन्न होते है, दु खस्कन्ध उत्पन्न होता है।

कारण-निरोध से कार्य-निरोध शृखला – प्रतिलोम

(१) अविद्या के पूर्ण निरोध से सस्कार का निरोध।

(२) सस्कार के निरोध से विज्ञान का निरोध।

(३) विज्ञान के निरोध से नाम–रूप का निरोध।

(४) नाम–रूप के निरोध से पडायतन का निरोध।

(५) षडायतन के निरोध से स्पर्श का निरोध।
(६) स्पर्श के निरोध से वेदना का निरोध।
(७) वेदना के निरोध से तृष्णा का निरोध।
(८) तृष्णा के निरोध से उपादान का निरोध।
(९) उपादान के निरोध से भव का निरोध।
(१०) भव के निरोध से जाति का निरोध।
(११) जाति के निरोध से जरा-मरण का निरोध।
(१२) जरा–मरण के निरोध से शोक, परिदेव, दुःख, दौर्मनस्य, उपायास का निरोध होता है, दुःखस्कन्ध का निरोध होता है।

दुःखचक्र (दुक्खचक्क)

दुःखसमुदयगामिनी प्रतिपदा – संवेदना के कारण तृष्णा उत्पन्न होकर, उपादान (तीव्र आसक्ति) उत्पन्न होकर, भवकर्म बन कर जन्म-मरण का दुःख-चक्र चलता है।

धर्मचक्र-प्रवर्तन–सूत्र (धम्मचक्कप्पवत्तनसुत्त)

दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा – संवेदना का निरोध होने पर तृष्णा का निरोध होता है और फिर प्रज्ञा के कारण सञ्चित संस्कारो की उदीर्णा होने लगती है। फिर, हर क्षण की सजगता एव समता भावना से उनकी निर्जरा होती है। तब नये संस्कार बनते नही और पुराने संस्कार क्षीण होने लगते है। इस प्रकार धर्म-चक्र प्रारम्भ हो जाता है।

प्राणी-लोक

(१) ब्रह्म लोक – (१) अरूपी : इसमे भौतिक रूप नही होता। केवल प्रकाशमान है। मनोमय ब्रह्मलोक।

(२) रूपी : भौतिक पदार्थ अत्यन्त सूक्ष्म है। केवल प्रकाशमात्र है। सूक्ष्म पार्थिव ब्रह्मलोक। ब्रह्मलोक मे परम मैत्री, परम करुणा, परम मुदिता, परम उपेक्षा (समता) ये चित्त के चार महान् गुणधर्म है। इन चित्त–धर्मों से नितांत विशुद्ध, तेजस्वी, आनन्दमयी और शान्त मानसिक शक्तियो का प्रजनन होता है।

(२) **कामवासना लोक** – देवलोक, मनुष्यलोक, अधोलोक।

(१) देवलोक – यहां जीव सञ्चित पुण्य–कर्मो का आनन्द भोगते हैं और पुण्यकर्म क्षीण होने पर अधिकतर जीव निम्नतर लोको मे ही पुनर्जन्म ग्रहण करते हैं।

(२) मानवलोक – यहा सुख और दु ख दोनो का अनुभव होता है। सब कर्माधीन हैं। जन्म–मरण-चक्र से छुटकारे का कार्य इसी भूमि मे हो सकता है।

(३) अधोलोक – यहा दु.ख की ही प्रधानता है। पशु, पक्षी, जीव-जन्तुओ को छोड कर अन्य प्राणी दृश्यमान् नही है जो दिव्य दृष्टि से ही दृश्य हैं। अधोलोक अपाय-भूमि है। इसमे नरक, पशु, पक्षी, जीवजन्तु, प्रेत, पिशाच्च, असुर हैं।

ब्रह्मविहार

(१) अनन्त मैत्री (मेत्ता)
(२) अनन्त करुणा
(३) अनन्त मुदिता
(४) अनन्त उपेक्षा (उपेक्खा) (समता)

विशुद्धिदर्शन (विसुद्धिदस्सन)

(१) शील-विशुद्धि (सील-विसुद्धि)
(२) चित्त-विशुद्धि
(३) दृष्टि-विशुद्धि (दिट्ठि विसुद्धि)
(४) काङ्क्षा वितरण-विशुद्धि (कङ्खावितरण विसुद्धि)
(५) मार्गामार्ग-ज्ञानदर्शन-विशुद्धि (मग्गामग्गञ्ञाणदस्सन विसुद्धि)
(६) प्रतिपदा-ज्ञानदर्शन-विशुद्धि (पटिपदाञ्ञाणदस्सन विसुद्धि)
(७) ज्ञानदर्शन–विशुद्धि (ञाणदस्सन विसुद्धि)

आसव-धर्म (आसव-धम्म)

(१) **कामासव** – अविद्या के कारण उत्पन्न लोभ, तीव्र लालसा।

(२) **भवासव** – अपर भूमि की तीव्र लालसा।

(३) **दिट्ठासव** – मिथ्या दृष्टि।

(४) **अविज्जासव** – आर्य-सत्यों का अज्ञान।

उत्पत्ति (उप्पत्ति) – आसव-धर्म तृष्णा, उपादान एवं कर्मभव के कारण उत्पन्न होते हैं। आसव-धर्मों के कारण अविद्या उत्पन्न होती है।

विपल्लास

अनित्य मे नित्य देखना, अनात्म में आत्मा देखना, दुःख मे सुख देखना, अशुभ में शुभ देखना, इस प्रकार विपरीत देखना 'विपल्लास' कहलाता है।

▣ ▣ ▣

परिशिष्ट ६

शब्दार्थ

(मूल शब्द पालि भाषा के है। उसका यथा सभव पर्यायी हिन्दी शब्द देकर अर्थ दिया है।)

अकिरिय- दिट्ठि—अक्रिय-दृष्टि। कोई पाप और पुण्य नही है, कोई कर्मो का फल नही होता, ऐसा मानना।

अकुसल—अकुशल, पाप।

अग्गिधातु—अग्निधातु। अग्नि और उसके गुणधर्म, जो तापमान क्षेत्र है याने ठढे से ठंढा और गर्म से गर्म।

अज्झत्त—अध्यात्म, अपनी काया के भीतर।

अट्ठकलाप—अष्टकलाप। पृथ्वीधातु, अग्निधातु, वायुधातु व जलधातु—ये चार महाभूत और इन चारो के गुणधर्म मिल कर एक साथ जुड कर हुई अन्तिम इकाई।

अधिट्ठान—अधिष्ठान, दृढ-निश्चय।

अनत्ता—अनात्म। 'मै' नही, 'मेरा' नही, 'मेरे वशीभूत नही' यह भाव, अहभाव न होना।

अनत्तानुपस्सना—अनात्मानुपश्यना। अनात्म वोध के साथ की जाने वाली विपश्यना।

अनिच्च—अनित्य, परिवर्तनशील, वदलने वाला, स्थिर नही रहने वाला, भडगुर क्षणिक।

अनिच्चानुपस्सना—अनित्यानुपश्यना। अनित्य वोध के साथ की जाने वाली विपश्यना।

अनुलोम ञाण—अनुलोम-ज्ञान। 'ससारोपेक्षा' ज्ञान के शिखर पर पहुँचा हुआ ज्ञान। (यह 'व्युत्थानुगामिनी विपश्यना' कहलाता है, 'व्युत्थान' याने सस्कारोपेक्षा ज्ञान से उत्तीर्ण।)

अनुसय—अनुशय, चिपके हुए, सोये हुए, सूक्ष्म।

अपलाप—अपलाप, लोप।

अपुञ्ञाभिसङखार—अपुण्याभिसंस्कार, दुश्चरित कर्मो का संपादन।

अप्पणा समाधि — अर्पणा समाधि, सुदृढ एकाग्र-चित्त।
अब्याकत — अव्याकृत, अकथनीय।
अभिज्झा — अभिध्या, लोभ।
अभिञ्ञा — अभिज्ञान, परमज्ञान।

अभिधम्म — अभिधर्म, परमार्थ-सत्य का अधिक गंभीर व सूक्ष्मता से विभाजन करके वर्णन करने वाला विषय-विभाग।

अरहन्त — अर्हत्। (यह चौथा व अन्तिम मार्गफल है। यह अवस्था प्राप्त होने पर फिर से जन्म नही होता। इस जन्म में उसके सारे कर्म क्रिया-मात्र होते हैं, जिनके न कोई संस्कार बनते और न फल होता है।) (पालि में 'अरहत्त' का अर्थ अर्हत्त्व फल है।)

अरिय — आर्य, उत्तम, शुद्ध, पवित्र, सन्त।
अरियमोन — आर्य-मौन। वाणी से, शरीर से, मन से पूर्ण मौन।
अरियसच्च — आर्य-सत्य। (दु:ख-सत्य, दु:ख-समुदय-सत्य, दु:ख-निरोध-सत्य और मार्ग-सत्य ये चार आर्य-सत्य हैं।)

अरियो अट्ठङ्गिको मग्गो — आर्य-अष्टांगिक मार्ग। शील, समाधि और प्रज्ञा इन मे विभाजित आठ अङ्ग।

अरूपलोक — अरूपी ब्रम्हलोक जो मनोमय होता है, अरूप होता है।
अविच्छिन्न — अविच्छिन्न, निरन्तर।

अविज्जा — अविद्या। यह 'विद्या का अभाव' नही अपितु यह 'विद्या का विपक्ष है। (जैसे, मित्र-वैरी) राग-द्वेष-मोह अपने पंचस्कन्धो में कह जागते है इसका अज्ञान, वेहोपी। अविद्या के आवरण से चार आर्य-सत्यो का ज्ञान नही होना ही अविद्या है।

अहेतुक — अहेतुक यह चित्त की अवस्थाएँ हैं। ऐसे चित्त कुशल या अकुशल हेतुओ से सम्प्रयुक्त नही होते। केवल विपाक एव क्रिय मात्र होते है। (अहेतुक चित्त १८ प्रकार के हैं। अकुशल विपाक ७, कुशल विपाक ८ और क्रिया-चित्त ३।)

अहेतुक-दिट्ठि — अहेतुक दृष्टि। कोई भी कर्म के हेतु याने कारण नही है और उसका विपाक याने फल भी नही है, ऐसी दृष्टि।

आचरिय — आचार्य, कल्याण–मित्र, मार्गदर्शक, शिक्षक।
आतप्प — आन्तरिक तप, प्रयत्नशील, पुरुषार्थ।
आदीनव-ञाण — आदीनव-ज्ञान, दूषित संस्कारो को दोषपूर्ण समझना।

आनापान — 'आन' याने सांस अन्दर लेना और 'अपान' याने सास बाहर छोडना, आश्वास-प्रश्वास।

आनापान सति — आनापान-स्मृति, हर आने वाले और जाने वाले श्वास के प्रति हर क्षण की सजगतापूर्वक जानकारी।

आनेञ्जाभिसङ्खार — आनेञ्जाभिसस्कार । देवभूमि, ब्रम्हभूमि आदि के लिए की जाने वाली साधना, व्रत, उपवास आदि।

आपोधातु — जलधातु। जल और उसके गुणधर्म जो नमी है, बान्धे रखता है।

आयतन — हमारे नाम-रूप शरीर के द्वार (इन्द्रिया) और उनके विषय। आंख, कान, नाक, जिव्हा, काया, तथा मन और उनके विषय रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्शव्य पदार्थ तथा धर्म (विचार, विकार)।

आलम्बन — आश्रय, आधार, सहारा।

आसन — ध्यान-साधना मे शारीरिक बैठक।

आसव — आश्रव, चित्त-मल, क्लेश, राग-द्वेष-मोह। (कामासव, भवासव दिट्ठासव, अविज्जासव ऐसे चार आसव है।)

इन्द्रिय — जो धर्म आधिपत्य को सम्पन्न करते है, वे इन्द्रियाँ है। (इन्द्रियां छ: है — आँख, कान, नाक, जिव्हा, काय और मन। वैसे इन्द्रिय २२ है।)

उच्छेद-दिट्ठि — उच्छेद-दृष्टि। नित्य कुछ है ही नही, अन्य भव भी नही है ऐसा मानना। सत्त्व मरने पर उच्छिन्न हो जाता है, ऐसा मानना।

उदयब्बय-ञाण — उदय-व्यय ज्ञान। नाम-रूप धर्मो मे विपश्यना द्वारा उत्पाद स्थिति और भङग का ज्ञान।

उदान — प्रीतिवचन।

उद्धच्चकुक्कुच्च — औद्धत्य-कौकृत्य, बेचैनी। (यह एक नीवरण है।)

उपक्किलेस — उपक्लेश। साधना पुष्ट होने पर 'मुझे मार्ग मिल गया' ऐसी भ्रान्ति उत्पन्न होना।

उपचार-समाधि — समाधि के प्रारम्भिक अभ्यास मे चित्त की अवस्था। कमजोर ध्यान की अवस्था।

उपादान — पंचस्कन्धो के प्रति गहरी आसक्ति।

उपायास — चिन्ता, व्याकुलता, बेचैनी, पश्चात्ताप, मन के भीतर ही भीतर दुख: की घुटन।

उपेक्खा — उपेक्षा। सुखद एवं दुःखद स्थिति मे 'समता' भाव।

एकग्गता — एकाग्रता।

एकायन — एक ही लक्ष्य, एकमात्र।

ओभास — अवभास। साधना मे पुष्ट होते रहने पर चित्त का अधिकांश मल समाप्त होने पर चित्तज कान्ति उत्पन्न होना। मुझे मार्ग या फल मिल गया ऐसी भ्रान्ति उत्पन्न होना। (नौ प्रकार के अवभास है।)

कङ्खावितरण-विसुद्धि — काङ्क्षावितरण–विशुद्धि। कङ्खा याने शंका। शंका-निरसन होकर चित्त-शुद्धि होना।

कम्मट्ठान — कर्मस्थान, समाधि के साधन, साधना की विधि।

करुणा ब्रह्मविहार — पराये दुःख को देख कर सत्पुरुषो के हृदय का जो कम्पन होता है, जीवो के दुःख दूर करने की उनमे जो प्रवृत्ति जागती है, वह करुणा।

कलाप — (देखें – 'अट्ठ कलाप' शब्द)

कल्याणमित्त — कल्याणमित्र, आचार्य, मार्गदर्शक।

कामगुण — भोग।

कामच्छन्द — कामछन्द, राग, आसक्ति, वासना। (यह एक नीवरण है।)

कामतण्हा — कामतृष्णा, ऐन्द्रिय सुखो के प्रति आसक्त होना, विषय-सुखो की कामना करना।

कामलोक — कामवासना लोक : देवलोक, मनुष्यलोक और अधो-लोक।

कायानुपस्सना — कायानुपश्यना। अपनी ही काया मे स्थूल से सूक्ष्मतम विपश्यना द्वारा सजग और समता-भाव से निरीक्षण करना।

कालचक्क — कालचक्र : भूत, वर्तमान और भविष्य।

किरिया — क्रिया। (अर्हत् के कर्म क्रिया मात्र होते है; जिसके संस्कार नही बनते' विपाक नही होता।)

किलेस — क्लेश, राग-द्वेष-मोह आदि विकार, आसव, ऐसे कर्म जो सुख-दुःख उत्पन्न करते है।

कुम्भक — सूक्ष्म श्वास प्रश्वास जो अपने आप रुक जाता है। सायास प्राणायाम जिसमे श्वास रुक जाता है।

कुसल — कुशल, पुण्य।

खन्ति — क्षान्ति, सहिष्णुता, असीम सहनशीलता।

गोत्तभू- ञाण — गोत्रभू-ज्ञान । गोत्रभू-चित्त जो अनुलोम-ज्ञान से मार्ग-चित्त की उत्पत्ति के लिए छलाग लगाता है। (गोत्रभू याने बदला हुआ गोत्र)

चक्खु — चक्षु, आख ।

चरिया — चर्या, स्वभाव की विशेष प्रवृत्ति।

चारिका — पर्यटन ।

चित्त— मन, नाम ।

चित्त-विसुद्धि — चित्त के मलो का क्षालन होकर वह निर्मल होना ।

चित्तानुपस्सना — चित्तानुपश्यना। चित्त का संज्ञा-स्कन्ध जो प्रिय-अप्रिय का मूल्याकन करता है उसका निरोध करते हुए सजग और समता से चित्त की अवस्था का विपश्यना द्वारा केवल निरीक्षण करना।(इसमे आधार सवेदना का ही होना है।)

चूळ-सोतापन्न — चूल-स्रोतापन्न । पाच नीवरणो को अपने चित्त से हटा कर विपश्यना साधना द्वारा भङ्ग-ज्ञान के आगे जो साधक वढता हुआ स्रोत की पूर्वावस्था मे पड जाता है और जो अब 'स्रोतापन्न' अवश्यमेव वनने की योग्यता रखना है।

घाण — घ्राण, नाक ।

झान-चित्त — ध्यान-चित्त। वितर्क, विचार, प्रीति, सुख एव एकाग्रता इन पाचो चैतसिक ध्यानाङ्गो से युक्त ध्यान से सम्प्रयुक्त चित्त।

ञाण-दस्सन-विसुद्धि — ज्ञान-दर्शन-विशुद्धि । शील-विशुद्धि, दृष्टि-विशुद्धि, चित्त-विशुद्धि, काङ्क्षावितरण-विशुद्धि, मार्गामार्ग-ज्ञानदर्शन-विशुद्धि, प्रतिपदा-ज्ञान-दर्शन-विशुद्धि, इन छ विशुद्धियो के अनुसार क्रमश प्राप्य मार्ग।

ठापित पञ्ह — स्थापित प्रश्न। जिस प्रश्न का उत्तर रोक दिया गया है।

तण्हा — तृष्णा, कामना, वासना, इच्छा। प्रिय की चाह, अप्रिय की अन्चाह।

तथता — सत्य ।

तथागत — जिसने तथता याने सत्य के सहारे निर्वाण (परमसत्य) का साक्षात्कार किया है।

तिभुवन — त्रिभुवन याने अरूप-लोक, रूप-लोक और काम-लोक (काम-लोक मे देव-लोक, मनुष्य-लोक और अधो-लोक आते है।)

थीनमिद्ध — स्त्यानमिद्ध याने आलस्य, तद्रा। (यह एक नीवरण है ।)

दान — वह दान, जिस मे बदले की कोई भावना नहीं है और दान-फल का भी परित्याग है।

दिट्ठिजाल — दृष्टियाँ। दर्शनशास्त्र, कल्पनाओ के आधार पर दार्शनिक मान्यताएँ।

दिट्ठिविसुद्धि— दृष्टि-विशुद्धि, मिथ्यादृष्टि समाप्त होना।

दिब्बचक्खु — दिव्यचक्षु, विशेष चक्षुसामर्थ्य जिससे देखने की क्रिया अमर्याद है।

दुक्ख — दु:ख । (यह प्रथम आर्यसत्य है।)

दुक्खानुपस्सना — दु:खानुपश्यना, दु:ख-बोध के साथ की जाने वाली विपश्यना।

दोमनस्स — दौर्मनस्य, शरीर के दुःख के कारण चित्त का उत्पीडन, द्वेष-चित्त, असंतोष ।

धम्म — धर्म। शुद्ध धर्म जो शील, समाधि और प्रज्ञा है। (शुद्ध धर्म सार्वजनीन, सार्वदेशिक, सार्वकालिक होता है।) धर्म का दूसरा अर्थ: चित्त पर जागने वाले धर्म, जो विकार हैं। अभिधर्म मे चार परमार्थ सत्य धर्म है।

धम्मचक्कपवत्तनसुत्त — धर्मचक्र-प्रवर्त्तन-सूत्र। अविद्या और तृष्णा ये भवचक्र के कारण हैं, दु:खचक्र के कारण है, इनका निरोध 'धर्मचक्र-प्रवर्त्तन' है । (इन शब्दों में इस सुत्त का विषय संक्षेप में दिग्दर्शित किया जा सकता है।)

धम्मधातु — धर्मधातु, (धातु याने धारण करना।) धर्म धारण करना धर्मस्वभाव ।

धम्मविचय — धर्मविचय। सम्यक् संकल्प द्वारा, विकार-विहीन विचार द्वारा प्रकट सत्य का किया हुआ विश्लेषण ।

धम्मानुपस्सना — धर्मानुपश्यना। चित्त पर जागने वाले धर्मो का, स्वभावो का सजग और समता भाव से 'विपश्यना' द्वारा निरीक्षण करना। (आधार सवेदना का ही होगा।)

धातु — अपने स्वभाव को धारण करने वाले धर्म ।

नत्थिकदिट्ठि — नास्तिक दृष्टि। कर्मो का कोई फल नही होता ऐसा मानना प्राणी मरने पर समाप्त (अशेष) हो जाता है ऐसा मानना।, (इसको उच्छेद-दृष्टि भी कहते हैं ।)

नन्दि-राग — अनुराग, तृष्णा।

नाम — चित्त, मन।

नामक्खन्ध — नामस्कन्ध। चित्त के चार खण्ड : विज्ञान, संज्ञा, वेदना और

संस्कार, इनका समूह, चित्त-चैतसिक धारा, चित्त-प्रवाह, चित्त-प्रपञ्च ।

निब्बाण — निर्वाण। इन्द्रिय-क्षेत्रो के परे, लौकिक क्षेत्र के परे, लोकोत्तर क्षेत्र । मुक्ति, मोक्ष, परमसत्य ।

निब्बाणधातु — निर्वाणधातु। निर्वाण-क्षेत्र, निर्वाणस्वभाव ।

निब्बिदा-ञाण — निर्वेद-ज्ञान। संस्कार-धर्मो मे दोष देख कर, नाम एवं रूप धर्मो मे 'ये भयानक है' यह भयज्ञान होने पर संस्कार धर्मो के प्रति विराग, उदासीनता उत्पन्न होने की अनुभूति ।

नीवरण — ध्यान करने मे उत्पन्न होने वाली बाधा, आवरण (नीवरण पाच है — कामछन्द, व्यापाद, औद्धत्यकौकृत्य, स्त्यानमिद्ध विचिकित्सा ।)

नेक्खम्म — निष्क्रमण, गृहत्याग ।

पच्चय-परिग्गह-ञाण — प्रत्यय-परिग्ग-ज्ञान, कारण-कार्य-परम्परा का ज्ञान ।

पञ्चक्खन्ध — पचस्कन्ध। नामस्कन्ध के विज्ञान, सज्ञा, वेदना, संस्कार ये चार स्कन्ध और रूपस्कन्ध कुल मिला कर पांच स्कन्ध। याने जीवनधारा ।

पञ्चसील — पंचशील — (१) हत्या से विरत रहना, (२) चोरी से विरत रहना, (३) व्यभिचार से विरत रहना, (४) असत्य बोलने से विरत रहना और (५) मदिरा पान (नशा) से विरत रहना ।

पञ्ञा — प्रज्ञा, यथाभूत-ज्ञान-दर्शन। सजग और समता भरे चित्त से निरीक्षण (प्रज्ञा के तीन भाग—श्रुतमयी, चिंतनमयी, भावनामयी। प्रज्ञा के लक्षण – अनित्य अनात्म, दु ख, अशुभ ।)

पटिक्खित्त — प्रतिक्षिप्त। जिन प्रश्नों का उत्तर देना अस्वीकृत हो गया।

पटिच्चसमुप्पाद — प्रतीत्यसमुत्पाद। कार्य-कारण-भाव, कारण-फल-परम्परा, हेतु-फल-परम्परा ।

पटिपत्ति — प्रतिपत्ति। शील आदि का विशोधन करके शमय-भावना से चित्त एकाग्र करना। मार्ग पर चलना । (यह विपश्यना साधना का द्वितीय सोपान है। प्रथम सोपान 'पर्यत्ति' देखें।)

पटिवेधन — प्रतिवेधन। विपश्यना भावना द्वारा भेदन करके, बीध बीध कर सस्कारो को काटना, सस्कारो की गाठे खोलना । चित्त नितान्त निर्मल करते करते अर्हत्त्व की अवस्था तक पहुँचने

का मार्ग। (यह तीसरा सोपान है।)

पटिसङखा - ञाण — प्रतिसंख्या-ज्ञान। संस्कार-धर्मों में अनित्य, अनात्म एवं दुःख इन लक्षणों की विपश्यना द्वारा अनुभूति पर प्राप्त होने वाला ज्ञान।

पट्ठान — प्रस्थान। जिस ग्रंथसूत्र मे नाना प्रकार की कारणभूत प्रत्यय-शक्ति एवं शक्तिमान् धर्म प्रतिपादित है उसको 'पट्ठान' कहते हैं। (इसमे अमुक धर्म अमुक धर्म का अमुक शक्ति से सम्बद्ध होकर उपकार करता है, ऐसा सूक्ष्म ज्ञान ग्रथित किया है। इसमें २४ प्रत्यय जो वर्णित हैं।)

पठवीधातु — पृथ्वीधातु। पृथ्वी और उसके गुणधर्म, जो हलके से हलकापन और भारी से भारीपन, जो जगह घेरता है।

परमत्थ सच्च — परमार्थ सत्य। रूप, चित्त, चैतसिक के अन्तिम सत्य और निर्वाण, जो परमसत्य है। (ऐसे चार परमार्थ-सत्य हैं।)

परमसच्च — परमसत्य, इन्द्रियातीत सत्य, निर्वाण।

परमाणु — एटम।

परिकम्म — परिकर्म, समाधि के साधन, कर्मस्थान।

परिदेव — शोक, सन्ताप, आक्रोश, शोक की असह्यता का रुदन, रोना-पीटना।

परियत्ति — पर्यत्ति। धर्म का श्रुतज्ञान, शास्त्रीय ज्ञान अच्छी तरह समझना। (यह साधना का या धर्म का प्रथम सोपान है।)

परियोसान — पर्यवसान, अन्तिम परिणाम।

पसाद — प्रसाद। इन्द्रियो के द्वार पर जहां विषयों का टकराव होता है वह केन्द्र (चक्षु मे जिस स्थान पर रूप का स्पर्श होता है वह केन्द्र 'चक्षुप्रसाद' है। वैसे ही श्रोत्रप्रसाद, घ्राणप्रसाद, जिव्हाप्रसाद, कायप्रसाद है।)

पस्सद्धि — प्रश्रब्धि। चित्त मे उत्पन्न शान्ति, जो कायसुख एव चित्तसुख उत्पन्न करती है।

पहाण — प्रहाण, नाश।

पारमी — पारमिता, पार लगाने वाले सद्गुण, पूर्णता। पारमिताएँ दस है— निष्क्रमण, अधिष्ठान, दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, सत्य (ध्यान) प्रज्ञा, मैत्री, उपेक्षा।)

पीति — प्रीति, सुख, आनन्द, चित्त मे उत्पन्न पुलक-रोमाञ्च।

पुग्गल — पुद्गल, प्राणी।

पुञ्ञसम्भार — पुण्यसम्भार, पुण्यसचय।

पुञ्ञाभिसङखार — पुण्याभिसंस्कार। कुशल कर्म : जैसे – दान, धर्म, सेवा आदि कर्मो का उत्पाद। सच्चरित कर्मो का संपादन।

फस्स — स्पर्श।

फोट्ठब्ब — स्पर्शव्य, स्पर्शव्य पदार्थ।

वुद्ध — जिसने अनेक जन्मो की अपनी कठोर तपश्चर्या द्वारा पारमिताओ को पूर्ण कर अपनी वोधि जगा कर वोधि प्राप्त की है, वह वुद्ध कहलाता है।

वोज्झङग — वोध्यग। वोधि के सात अङग हैं — स्मृति, धर्मविचय, वीर्य, प्रीति, प्रश्रब्धि, समाधि और उपेक्षा।

वोधि — प्रज्ञा। अपनी अनुभूति के साथ सत्य का ज्ञान, आन्तरिक सच्चाई का ज्ञान, चार आर्य-सत्यो को जानने वाला ज्ञान।

वोधिचरिया — वोधिचर्या, वोधि का आचरण, वोधि का जीवन जीना।

वोधिचित्त — सव जीवो के समुद्धरण के अभिप्राय से वुद्धत्व की प्राप्ति के लिए सम्यक् सम्वोधि मे चित्त का प्रतिष्ठान होना।

वोधिपक्ख — वोधिपक्ष। चार आर्य-सत्यो को जानने वाला मार्गज्ञान का पक्ष।

वोधिपक्खिक धम्म — वोधिपक्षिय धर्म, मार्गज्ञान के उपकारक सम्प्रयुक्त धर्म (इसमे ३७ धर्म हैं — चार स्मृतिप्रस्थान, चार सम्यक् प्रधान चार ऋद्धिपाद, पाच इन्द्रियाँ, पाच वल, सात वोध्यङ्ग और आर्य-अष्टागिक मार्ग।)

वोधिसत्त — वोधिसत्त्व। जिसने पारमिताएँ पूर्ण करने का सकल्प किया है, वोधि-चित्त ग्रहण किया है और जो महाकरुणा का पुरस्सर होता है ऐसा साधक।

ब्रह्मचरियवास — ब्रह्मचर्यवास, शिष्यता।

ब्रह्मविहार — चित्त की उत्तम और दिव्य अवस्थाएं – मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा। इनको ही 'चार ब्रह्मविहार' कहा है। (इन चार भावनाओ द्वारा चित्त के मलो का क्षालन होता है। समाधि के अन्य कर्मस्थान स्वहित के साधन हैं, किन्तु ये चार ब्रह्मविहार परहित के भी साधन हैं।)

भङग-ञाण — भङगज्ञान। विपश्यना द्वारा अपनी अनुभूति पर स्थूल सच्चाई का भेदन होते होते सम्पूर्ण सूक्ष्म सूक्ष्म तरन्गों की ही अनुभूति

होना सम्पूर्ण काया में कहीं कोई ठोसपना न रहना, सारा विखर जाय, भङ्ग हो जाय ऐसा ज्ञान। जैसे, बालू का ढेर विखर जाय ऐसा ज्ञान।

भय-ञाण — भयज्ञान, दूषित संस्कारों को भयावह समझना।

भव — जिस कर्म से भव उत्पन्न होता है, वह भव है। कर्म ही भव है। बनते ही जाना भव है।

भवङ्गचित्त— इस भव का चित्त।

भवङ्गपात — चित्त-सन्तति का निरोध।

भवचक्क — भवचक्र, संसार चक्र, जन्ममरण का चक्र।

भवतण्हा — भवतृष्णा, जीवित रहने की तृष्णा, मृत्यु के बाद भी 'मैं' सदा बना रहूँ जीवन मुक्त होने पर भी 'मैं' मुक्ति का सुख भोगने वाला बना रहूँ ऐसी भावना।

भावना — चित्त मे उत्पन्न करने योग्य याने अभिवृद्धि करने योग्य धर्म। 'शमथ भावना' एव 'विपश्यना-भावना' भावना है।

मग्गचित्त — मार्गचित्त। गोत्रभूचित्त उत्पन्न होने पर उसका निरोध होकर मार्ग-चित्त की उत्पत्ति होती है, जिससे निर्वाण का साक्षात्कार होता है।

मग्गफल — मार्गफल। मार्गचित्त उत्पन्न होकर फलचित्त की उत्पत्ति होती है, यही निर्वाण का साक्षात्कार है।

मग्गामग्गञाणदस्सन-विसुद्धि — मार्गामार्गज्ञान-दर्शन-विशुद्धि। यह मार्ग है, यह अमार्ग है ऐसे निर्वाण के साक्षात्कार तक ले जाने वाला ज्ञान। (अनुभूति की सच्चाई के साथ चलना 'मार्ग' है। और वैसे न चल कर मार्गफल की प्राप्ति का प्रयास करना 'अमार्ग' है।)

मन — चित्त, नाम।

मनसिकार — मन पर विचार करना।

महाभूत —पृथ्वीधातु, अग्निधातु, वायुधातु और जलधातु ये चार महाभूत हैं।

महासमण — महाश्रमण, स्थविर, महाथेर। (३० वर्ष के श्रमण जीवन के बाद महाथेर होता है।)

मिच्छादिट्ठि — मिथ्यादृष्टि। सत्य-धर्मो को न मान कर विपरीत दृष्टि को मानना जो अपायगति मे पडने का मूल कारण है।

मुञ्चितुकम्मता-ञाण — मोक्तुकामता- ज्ञान। संस्कार-धर्मो मे भयज्ञान होने से, उनमे दोष देख कर उनसे विराग होते हुए साधक को इन संस्कार-धर्मो से छुटकारा पाने की इच्छा वाला ज्ञान।

मुदिता ब्रह्मविहार — दूसरो को सम्पन्न देख कर मुदित होना, हर्षित होना।

मेत्ताधातु — मैत्री-भावना का स्वभाव।

मेत्ता ब्रह्मविहार — मैत्री ब्रह्मविहार। जीवो के प्रति स्नेह और सुहृद्भाव प्रवर्तित होना 'मैत्री' है। मैत्री की प्रवृत्ति निष्काम परहित साधन है। राग के उत्पन्न होने से इस भावना का नाश होता है। मैत्री का सौहार्द तृष्णावश नही होता, किन्तु जीवो की हितसाधना के लिए होता है। मैत्री का स्नेह मोहवश नही होता, किन्तु ज्ञान-पूर्वक होता है ऐसी अवस्था।

मेत्ताभावना साधना — मैत्री-भावना साधना, मङ्गल मैत्री की साधना।

रूप — भौतिक शरीर एव अन्य भौतिक पदार्थ। प्राणी, वस्तु, पदार्थ आदि।

रूपकलाप — अष्टकलाप। (देखे - अष्टकलाप।)

रूपक्खन्ध — रूपस्कन्ध, अष्टकलापो का पुञ्ज, शरीर प्रपच। शरीरधारा, भौतिक प्रवाह, जिसमे निरन्तर उखड रहा है, उदय-व्यय हो रहा है, परिवर्तन हो रहा है।

रूपलोक — रूपी ब्रह्मलोक मे सूक्ष्म रूप प्रकाश की अवस्था मे होता है।

लोकिया समाधि — लौकिक समाधि। चित की एकाग्रता जो शमथ यान है।

लोकुत्तरा समाधि — लोकोत्तर समाधि। प्रज्ञा की भावना जो विपश्यना यान है वह लोकोत्तर निर्वाण के साक्षात्कार तक पहुँचाता है।

वट्टकुसल — वृत्तकुशल। (देखे, पुण्याभिसस्कार।)

वायोधातु — वायुधातु। वायु और उसके गुणधर्म (हलनचलन, धूजन, कम्पन)

विकार — राग, द्वेष, क्रोध, ईर्ष्या, मत्सर, लोभ, मोह, काम, भय, अहकार आदि चित्त के मैल। (ये चित्त पर जागते रहते है और सञ्चित होते रहते है। सक्षेप मे राग, द्वेप, मोह के संस्कार इन मे सभी विकारो का समावेश हो जाता है।)

विचारज्झान — विचारध्यान। चित्त पर उसी आलम्बन का वारवार विचरण होना। (यह दूसरा ध्यानाङ्ग है।)

विचिकिच्छा — विचिकित्सा, सदेह, सशय। (यह पाचवा नीवरण है।)

विञ्ञाण — विज्ञान। एक अर्थ है – पदार्थो का ज्ञान जिसको 'सायन्स' कहते है। दूसरा अर्थ है — चित्त का वह खण्ड जो जानने का काम करता है। यही शुद्ध चित्त है। (इन्द्रियो के द्वार पर जब जब बाहरी विषय टकराते है, तब वह वह विज्ञान उत्पन्न होता है।

जैसे, चक्षुविज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिव्हाविज्ञान कायविज्ञान, और मनोविज्ञान ।)

वितक्कज्झान — वितर्क-ध्यान । चित्त पर आलम्बन का प्रथम स्पर्श होता है, टूट जाता है, फिर होता है, लगातार कडी नही बन्धती ऐसी ध्यानावस्था । (यह प्रथम ध्यानाङग है ।)

विनेय्य — विनेय्य, नि सग, असग ।

विपरिणाम — वदलना, परिवर्तन होते रहना ।

विपल्लास — विपरीत देखना ।

विपस्सना — विपश्यना, विशेपरूप से देखना, अन्तर्मुखी होकर स्थूल सच्चाई का विभाजन करते करते अन्तिम सूक्ष्मतम सच्चाई तक पहुँचने का दर्शन, प्रज्ञा का कर्मस्थान, चित्तशुद्धि का मार्ग, संचित संस्कारो की उदीर्णा होकर निर्जरा करने की भावना ।

विपस्सना भावना — विपश्यना भावना । अपनी ही काया के भीतर प्रज्ञा को विपश्यना द्वारा वढाना, फैलाना, पुष्ट करना ।

विभवतण्हा — विभवतृष्णा । विभव याने भव का न होना । इसी जीवन मे भोगलिप्सा की पूर्ति की तृष्णा (कारण मृत्यु के पश्चात् पुनर्जन्म नही है ऐसा विश्वास) । सुख-वैभवो की कामनापूर्ति के लिए अच्छे-बुरे कोई भी कर्म करना । शरीर छूटने पर 'मै' मुक्त हो जाता है ऐसा मानना ।

विरिय — वीर्य । प्रयत्न, परिश्रम, पुरुपार्थपूर्वक जो सजगता के और विवेक के साथ है और जो कुशलोत्साह उत्पन्न करता है, वह वीर्यवान् है ।

विसुद्धिमग्ग — विशुद्धि-मार्ग । चित्त की निर्मलता का, चित्त-शुद्धता का मार्ग, जो विपश्यना भावना है और जो निर्वाण के साक्षात्कार तक पहुँचाता है ।

वुट्ठानगामिनी विपस्सना — व्युत्थानगामिनी विपश्यना । मार्गधर्म को 'व्युत्थान' कहते है । इसको प्राप्त करने की विपश्यना अनुलोम-ज्ञान है । यह ज्ञान संस्कारोपेक्षा-ज्ञान से व्युत्थित याने उत्तीर्ण है ।

वेदना — सवेदना । चित्त का वह खण्ड जो सवेदनशील होता है । (सुखद, दु खद असुखद-अदु खद सवेदनाएँ होती है ।)

वेदनानुपस्सना — वेदनानुपश्यना । अपनी ही काया मे संवेदना के आधार पर विपश्यना करना ।

यापाद — द्वेश, घृणा, हिंसा । (यह एक नीवरण है ।)

संयोजन -- बन्धन। एक भव से दूसरे भव मे पुन. पुन· उत्पन्न होने के लिए बन्धन करने वाला धर्म। (ये दस हैं — (१) दृष्टि, (२) विचिकित्सा (३) शीलव्रत परामर्श (४) कामराग (५) प्रतिघ (द्वेष) (६) ईर्ष्या (७) मात्सर्य (८) मान (अहकार) (९) भवराग (१०) अविद्या। ये दु.ख के कारण हैं।)

संवरसील — संवर-शील। (ये पाच हैं — (१) प्रातिमोक्ष-संवर, (२) स्मृति-सवर, (३) ज्ञान-सवर, (४) क्षान्ति-सवर, (५) वीर्य-संवर।)

संवुतिसच्च — संवृति-सत्य। भासमान्, दृश्यमान् सत्य।

संसारचक्क — ससारचक्र, भवचक्र, जन्ममरण का चक्र।

सकदागामी — सकृदागामी। (यह दूसरा मार्गफल है। यह प्राप्त होने पर ही काम-भूमि मे जन्म होता है।)

सक्कायदिट्ठि — सत्कायदृष्टि। पचस्कन्ध मे 'मैं' 'मेरा' 'अह' को देखना। आत्मा है यह देखना, ऐसा भाव रखना।

सङखार — सस्कार। चित्त का वह खण्ड जो प्रतिक्रिया करके कर्मसंस्कार वनाता है। (चित्त की चेतना से उत्पन्न होने वाले समस्त कर्मो के फलस्वरूप भी सस्कार वनते हैं।)

सङखारुपेक्खा-ञाण -- संस्कारोपेक्षा-ज्ञान। विपश्यना मे उभर कर आने वाले सस्कार-धर्मो की सजग और समता से निरीक्षण का ज्ञान सस्कारो की उपेक्षा का ज्ञान।

सच्च — सत्य। अपनी अनुभूति पर विपश्यना द्वारा जो सच्चाई सामने आती है, कल्पना नही।

सञ्ञा — सज्ञा। चित्त का वह खण्ड जो पहचानकर 'प्रिय है या अप्रिय है' ऐसा मूल्याकन करता है।

सतिपट्ठान —स्मृतिप्रस्थान। सजगता प्रतिस्थापित करना। आलम्वन की सजगता मे मन को दृढतापूर्वक प्रस्थापित करना। (सजगता प्रज्ञा के साथ होनी चाहिए, वीतराग, वीतद्वेष, वीतमोह होनी चाहिए। सतिपट्ठान चार है — १) कायानुपश्यना, (२) वेदनानुपश्यना (३) चित्तानुपश्यना (४) धम्मानुपश्यना।)

सति-सम्पजञ्ञ —स्मृति-सम्प्रजन्य। सजग एव प्रज्ञापूर्वक समता-भाव से निरीक्षण

सत्त — सत्त्व, जीव।

सन्तति — निरन्तर उत्पाद। उदय-व्यय निरन्तर चल रहा है। उदय होकर व्यय होता है और फिर उसी का पुनश्च उदय होता है, वही पूर्व की

सन्तति है। पूर्व पूर्व उत्पाद की पश्चिम पश्चिम उत्पाद सन्तति है।

सद्द — शब्द।

सद्धा — श्रद्धा।

समण — श्रमण, सन्त।

समथ — शमथ, चित्त की एकाग्रता, समाहित चित्त।

समाधि — चित्त को एकाग्र करना, चित्त को वश में करना।

समुदय — उत्पन्न होना।

सम्पजान — सम्प्रजान, बहुत होश वाला, प्रज्ञा में सावधान।

सम्पदाय — सम्प्रदाय। अपने अपने कर्मकाण्ड, वेशभूषा, पूजापाठ, देवता, मन्त्रजाप मंदिर, दर्शनशास्त्र आदि को मानने वाले मानवसमाज, जो अलग, अलग धर्म के नाम से प्रचलित है। जैसे — हिन्दु, मुस्लिम-ईसाई, बौद्ध, जैन आदि।

सम्बोध — परम ज्ञान।

सम्भार — अङ्ग।

सम्मसन-ञाण — सम्मर्शन-ज्ञान। बुद्धि के स्तर पर अनित्य, दुःख, अनात्म लक्षणों का ज्ञान, जिससे विपश्यना की जाती है।

सम्मा दिट्ठि — सम्यक् दृष्टि, यथाभूतज्ञान-दर्शन।

सम्मा वायाम — सम्यक् व्यायाम। विवेक के साथ ठीक प्रयत्न, परिश्रम, पुरुषार्थ से दुर्गुण समाप्त करना, जो दुर्गुण नहीं है वह आने नहीं देना, जो सद्गुण है उसका संवर्धन करना और जो सद्गुण नहीं है वह सपादन करना।

सम्मा सङ्कप्प — सम्यक् सकल्प। विकार विरहित विचार. चिंतन-मनन, संकल्प।

सम्मा सति — सम्यक् स्मृति। प्रतिक्षण की ऐसी सजगता. जो विकार-विहीन है।

सम्मा समाधि — सम्यक् समाधि। चित्त की एकाग्रता, जिसका आलम्बन विकार-विहीन है।

सम्मा सम्बुद्ध — सम्यक् सम्बुद्ध। जिसने सम्यक् सम्बोधि प्राप्त की है।

सम्मा सम्बोधि — सम्यक् सम्बोधि। सम्यक् याने यथार्थ. शुद्ध। सम्बोधि याने परमसत्य का, निर्वाण का स्वयं स्वप्रयत्नों द्वारा साक्षात्कार करना।

सस्सतदिट्ठि — शाश्वत दृष्टि। आत्मा है, आत्मा नित्य है और अगले भव मे भी वही रहता है, ऐसा मानना।

सळायतन — षडायतन। छः इन्द्रियाँ (आँख, कान, नाक, जिव्हा, काया और मन।)

सामणक — श्रामणक, श्रमण के लिए योग्य।

सामणेर — श्रामणेर, भिक्षु बनने की पूर्व-अवस्था वाला।

सावक — श्रावक। श्रुतज्ञान द्वारा सत्य के मार्ग पर चलने वाला, तथता (सत्य) के मार्ग पर चलने वाला भिक्षु या गृहस्थ कोई भी हो। (जैनियों मे केवल गृहस्थ को ही श्रावक कहते है।)

सिक्खापद — शिक्षापद। शिक्षा, नियम ग्रहण करना।

सील — शील, सदाचार।

सीलब्बतपरामास — शीलव्रतपरामर्श। बाह्य कर्मकाण्डो मे (जैसे— माला, तिलक वेशभूषा, बाह्य आडबर, नदी-स्नान, तीर्थाटन, कथापाठ, उपवास-व्रतादि) चिपकाव। अपनी दार्शनिक मान्यताओ मे चिपकाव। इन सब को धर्म मान कर मुक्ति हो जायगी, ऐसे मानना।

सील-विसुद्धि— शील-विशुद्धि। काय, वाक्, मन से शील-सदाचार मे सम्पन्न होना।

सोत — श्रोत, कान।

सोतापन्न — स्रोतापन्न। (यह पहले मार्गफल की अवस्था है। निर्वाण मे पहली डुबकी लगने पर साधक स्रोतापन्न होता है। स्रोतापन्न होने पर अधिक से अधिक सात भव (जन्म) हो सकते हैं। साधक की निर्वाण में डुबकी लगने पर चित्त निर्मलता के स्रोत मे पड जाता है।)

हदयवत्थु — हृदय-वस्तु। मनोधातु व मनोविज्ञान-धातु का आश्रयस्थान।

हेतु — हेतु का एक अर्थ है – कारण। दूसरा अर्थ है— कायिक, वाचिक, मानसिक कर्म के प्रत्येक क्षण मे जो मन स्थिति होती है वह। (हेतु छ: है– लोभ, द्वेप, मोह, अलोभ, अद्वेप, अमोह।)

शुद्धि पत्रक (हिन्दी)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
(प्रारभिक) २२	३	लवुकण	लघुकण
(,,) २४	१०	विन	विना
(,,) २८	१९	कार्यकारण-सवन्ध	कार्यकारण-सम्बन्ध
५	२५	ढुंढना	ढूढना
१३	३	द्वदिता	द्वद्विता
१९	२	होते की	होते ही
२८	६	मढता	मूढता
३२	८	घुमते	घूमते
३३	२०	क्षत्रो	क्षेत्रो
३४	९	अनुभति	अनुभूति
४२	१	घन-समहो	घन-समूहो
६६	१३	प्रोट्रॉन्स	प्रोटोन्स
६६	१९	प्रोट्रॉन्स	प्रोटोन्स
७३	१५	पक्षिओ	पक्षियो
८०	३४	त्येक	प्रत्येक
८७	४	विचखाते	विचरवाते
८८	२५	अलम्वन	आलम्वन
९१	१	वातव	वास्तव
१०९	१६	भिक्षुओ	साधको
११८	२३	पातञ्जली	पातञ्जल
१२२	१०	प्रज्ञाति—सत्य	प्रजप्ति—सत्य
१४७	१	खव	खूव
१४७	३	अनुभतियों	अनुभूतियो
१५०	१२	द्वद	द्वंद्व
१५७	१	अथ	अर्थ
१७०	५	घनीभत	घनीभूत
१७४	६	कामभव	कर्मभव
१७६	९	उत्तराध	उत्तरार्ध

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२०६	१३	अनुभति	अनुभूति
२०८	२०	स्थल	स्थूल
२०९	९	तो वह	वह तो
२४७	८	शीलसम्पन्न	शीलसम्पन्नता
२४९	१	समुच्छद	समुच्छेद
२५३	२३	चैतिसिको	चैतसिको
२५४	२९	आदिनवानु	आदीनवानु
२६२	१४	स्थल	स्थूल
२६३	३०	आदिनव-ज्ञान	आदीनव–ज्ञान
२६२	१७	खल	खेल
२७१	९	आवजैन	आवर्जन
२७९	८	द्वे	द्वेप
२८६	१०	इन्द्रियाँ	इन्द्रिय
२८६	१९	धर्मविचय-प्रज्ञा चैतसिक	धर्मविचय-प्रज्ञा चैतसिक
२८६	१९	काय–प्रश्रब्दि	काय–प्रश्रब्धि
२८६	१९	चित्त–प्रश्रब्दि	चित्त-प्रश्रब्धि
२९३	२६	प्रत्युपकार	प्रत्यपकार
२९५	३१	द्वप	द्वेप
२९९	२१	मढ	मूढ
३१९	२१	आनापाना	आनापान
३२३	२०	प्रात	प्राप्त
३२६	१०	आपसी	आपस
३२८	१२	सध्विया	साध्विया
३३१	२	आपनी	आपने

शुद्धि--पत्रक (पालि)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
(प्रारंभिक) २८	१९	पटिच्चसमुत्पाद	पटिच्चसमुप्पाद
२०	४	कुतोभय	कुतो भय
२३	३०	पदुठ्ठेन	पदुट्ठेन

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३८	२७	पञ्ञाति	पञ्ञात्ति
४३	२२	अठ्ठकलाप	अट्ठकलाप
६७	२१	पकम्पतो	पकम्पितो
८६	२६	सन्दिठ्ठिको	सन्दिट्ठिको
८९	२७	रूप	रूपं
८९	२९	रूप्पति	रुप्पति
८९	३०	पी	पि
८९	३१	सम्फ स्सेन	सम्फस्सेन
८९	३३	सयुत्त निकाय	संयुत्तनिकाय
८९	३३	खज्जनीय सुत्तं	खज्जनीयसुत्त
१०३	२४	सम्मादिटिठ्	सम्मा दिट्ठि
१०३	२४	सम्मासङकप्पो	सम्मा सङकप्पो
१०३	२४	सम्मावाचा	सम्मा वाचा
१०३	२४	सम्माकम्मन्तो	सम्मा कम्मन्तो
१०३	२५	सम्मासति	सम्मा सति
१०३	२५	सम्मासमाधि	सम्मा समाधि
१०५	१८	विञ्जति	विज्जति
१०५	२०	विञ्जति	विज्जति
११२	१९	उप्पनानं	उप्पन्नानं
१३५	८	विजट्ये	विजटये
१३५	११	पञ्ञ्ञाच	पञ्ञाञ्च
१४७	८	सुखो	सुखं
१४७	३०	क्षीणं	खीणं
१४७	३०	नव–	नव
१५५	१९	विसङखार गतं	विसङखारगतं
१५६	२४	सळायत निरोधो	सळायतननिरोधो
१५८	२२	परिच्च	पटिच्च
१६०	१८	अध्य	अध्व
१६५	९	अञ्ञा	अञ्ञा
१७०	३	आदिनव	आदीनव (नोट– जहाँ यह शब्द आया है सुधार कर लेवे)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१८३	१८	(नानत्व)	(नानात्व)
२०९	४	सम्पजन्य	सम्पजञ्ञ
२०९	६	पीतिपामोज्यं	पीतिपामोज्ज
२३८	२२	मेत्तमुत्त	मेत्तासुत्त
२४७	३	दिट्ठीविसुद्धि	दिट्ठिविसुद्धि
२४७	३	काङखा..	कङखा...
२४८	९	पट्ठा-नयन	पट्ठान-नय
२४९	७	काङखा...	कङखा...
२७३	२८	अनिच्चा	अनिच्च
२७९	२३	आर्हीक्य	अह्रीक्य
२८१	२	पवुच्चत्ति	पवुच्चति
३६३	९	आनेज्जाभिसङखार	आनेञ्जाभिसङखार
३६३	१०	कामधोतु	कामधातु

कितने दिन भटकत फिरे, अंधी गलियों मांहि ।
अब तो पाया राजपथ, वापस मुडना नांहि ॥

– मंगल कामना –

सब का मंगल सब का मंगल, सब का मंगल होय रे ।
तेरा मंगल तेरा मगल, तेरा मंगल होय रे ॥
दृश्य और अदृश्य सभी जीवों का मंगल होय रे ।
जल के थल के और गगन के, प्राणी सुखिया होय रे ॥
दसों दिशाओं के सब प्राणी, मगल लाभी होय रे ।
निर्भय हों निर्वैर बनें सब, सभी निरापद होय रे ॥
अन्तर्मन की गाठे छूटे, मानस निर्मल होय रे ।
जन जन मंगल जन जन मंगल, जन जन सुखिया होय रे ॥
सब का मंगल सब का मंगल, सब का मंगल होय रे ॥

पूज्य गुरुजी **श्री सत्यनारायणजी गोएन्का**